

वीर सेवा मन्दिर दिल्ली



क्रम संख्या

काल तः

सं०

गोभिलगृह्यसूत्रम् ।

गोभिलाचार्येणप्रणीतम्

सामवेदस्य कौथुमिशाखाया
गृह्यकर्मप्रतिपादकम् ।

श्रीपं०सत्यव्रतसामश्रमिणोव्याख्यासमलङ्कृतम्।

क्षत्रियकुमारेण श्रीमद्-उदयनारायण वर्मणा
नागरीभाषयाऽनुवादितम् ।

तच्च

मधुरापुरस्थ शास्त्रप्रकाश कार्यालये
(डा० बिदुदूपुर, मुजफ्फरपुर)
नाम्निस्थाने प्रकाशितम् ।

संवत् १९६३ सन् १९०६ ई० ।

—○—०:०—○—०:०—○—

THE

GRIHAYA SUTRAS OF GOBHIL

With

SANSKRIT COMMENTARY OF
PANDIT SATYAVARTA SAMASHRAMI

Translated into Nagari and published—by
Kshatriyakumar—Udaya Narain singh, shastri
Publishing office Madhurapur, Bidhupur,
Mozaffarpur.

—○—०:०—○—०:०—○—

Printed at Brahma Press Etawah.

To

His Highness,

Honorable the Maharaja,

SIR UDAYA PRATAP SINGHA C. S. I.

of Bhinga State.

This work is dedicated with Profound respect.

By his most humble.

Servant,

KSHATRIYA KUMAR—UDAYA NARAIN SINGH.

Tranlator &. Publisher.

॥ वेद ॥

वेद से बढ़कर दुनियां भर में कोई प्राचीन एवं प्रामाणिक अलौकिक ग्रन्थ नहीं है, मनुष्यों के हितार्थ इस से बढ़कर किसी भी भाषा वा धर्म-सम्प्रदाय में ग्रन्थ नहीं। इस विषय में एक सुप्रसिद्ध विदेशी विधर्मी-जार्जन विद्वान् * भट्ट मैक्समूलर साहब यों लिखते हैं कि वैदिक संहिता का भाव, भाषा, तात्पर्य रचना प्रणाली और व्याकरण घटित वैतथ्य की विवेचना कर देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा में—संसार के विभिन्न जाति और देश की किसी भाषा में वैदिक संहिता की बराबर कोई पुस्तक नहीं यह अति पुरातन संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ‘ऋग्वेद’ संहिता है। यही मनुष्य जाति के हितार्थ प्रथम पुस्तक, मानवीय सभ्यता का एक मात्र प्रथम निदर्शन मनुष्य जाति का प्राचीनतम इतिहास और धर्म विश्वास का प्रथम पथ प्रदर्शक है—अत एव यह मनुष्य मात्र ही को आदरणीय है। मनुष्य जाति के जिस समय का इतिहास कहीं नहीं पाया जाता, जिस समय की चिन्ता, धर्म, विश्वास, सभ्यता, उपासना, पद्धति, देवोत्थापन, सामाजिक रीति नीति, आशा भरोसा और हृदय का भाव काल के अनन्त स्रोत के गर्भ में विलीन हुए हैं, जिस समय के इतिहास के उद्धार के लिये अन्य-उपाय विद्यमान नहीं, उसी स्मरणातीत समय का इतिहास सुप्रणालीबद्धरूप ऋक् संहिता में सोने के अक्षरों में लिपिबद्ध हैं। इसी निमित्त सभ्य जगत के सर्वत्र परिचित सगङ्गली में ऋग्वेद संहिता का इतना सम्मान और आदर है।

* The Veda has a two-fold interest : it belongs to the history of the world, and to the history of India. In the history of the world, the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill. It carries us back to times of which we have no records any where, and gives us the very words of a generation of men, of whom otherwise we could form but the vaguest estimate by means of conjectures and inferences. As long as man continues to take an interest in the history of his race, and as long as we collect in libraries and museums the relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, belong for ever to the Rig Veda, the most ancient of books in the library of mankind, which is more ancient than the Zendavesta and Homer (910-850 B. C.)

Prof. Max. Muller's History of Ancient Sanskrit Literature P.63.

वेद के अङ्ग ।

हमारे जिस वेद की प्रशंसा उक्त जर्मनदेश आदि के पवित्रतम मिष्पण होकर करते, आज हम उस आलौकिक वेदज्ञान से शून्य हो रहे हैं। इस वेद के अति गम्भीर अर्थ को समझने के लिये 'शिक्षा' आदि (वेदाङ्ग) वेद के छः अङ्ग प्रवृत्त हुये हैं। इस शिक्षा प्रभृति को अथर्ववेदीय भाष्यकोपनिषद् में 'अपरा विद्या' कहा है जैसे "ब्रह्मवादीगण कहते हैं कि विद्या दो प्रकार की है एक परा, दूसरी अपरा। इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ये सब अपरा विद्या हैं। और जिस के द्वारा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो उसी का नाम 'परा विद्या' है।

धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का साधन है। साधन स्वरूप धर्मज्ञान का कारण कहकर षडङ्ग सहित कर्मकाण्ड (वेद का कर्मबोधक भाग) अपरा विद्या है। जो कि ब्रह्मज्ञान परमपुरुषार्थ है इसीकारण उपनिषद् को 'पराविद्या' कहते।

वर्ण, स्वर, प्रभृति उच्चारण प्रकार जिस में कहे गये हैं, वही शास्त्र "शिक्षा" है। तैत्तिरीय शाखाध्यायीगण उपनिषद् के आरम्भ ही में कहते हैं कि "शिक्षा का व्याख्यान करेंगे"। वर्ण-अकारादि। शिक्षा ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है। शिक्षा ज्ञान विना-वेद मन्त्रों का उच्चारण, हम लोग ठीक २ नहीं कर सकते। अब कल्प नामक दूसरे अङ्ग का वर्णन करेंगे।

कल्पसूत्र ।

आपस्तम्ब, वौधायन, आश्वलायन आदि सूत्रों का नाम "कल्पसूत्र" है। याग प्रयोग-इसी "कल्प" ग्रन्थ में कल्पित अर्थात् समर्थित हुए हैं इसी लिये इस का नाम "कल्प" है। इस पर यह शङ्का हो सकती है कि आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्र संहितानुसार कल्प सूत्र रचे हैं या ब्राह्मण भागानुसार? यदि कहो कि मन्त्र संहितानुसार, तो यह उत्तर असङ्गत है; क्योंकि उन ने सब से पहिले "दर्शपौर्णमास याग" की व्याख्या आरम्भ किया है। यदि मन्त्रकाण्ड अनुसार प्रवृत्ति होती, तो ऋग्वेद के सब से प्रथम मन्त्र "अग्नि मीले" इत्यादि जिस यज्ञ में, पहिले आवश्यक होना है, उसी यज्ञ की प्रथम व्याख्या करते। ऋग्वेद का "अग्नि मीले" इत्यादि मन्त्र दर्श पूर्णमास इष्टि में कहीं नहीं प्रयुक्त होता। यदि यह कहो कि ब्राह्मण भागानुसार कल्पसूत्र रचे गये हैं, तो यह भी कहना अनुचित है। "दीक्षणीया इष्टि में अग्नि विष्णू देवताक (अग्नि विष्णु देवता के उद्देश से जो दान किया जायेगा) एकादश कपाल, (११ मही के पात्रों में जिस का संस्कार किया है।

पुरोडाश (यज्ञपिष्टक) निर्व्याप करे (अर्थात् उस पुरोडाश द्वारा यज्ञ करे) इस प्रकार ब्राह्मण भाग में सब से पहिले दीक्षणीयेष्टि का वर्णन है । (यदि ब्राह्मण भागानुसार आश्वलायन कल्पसूत्र होता, तो दीक्षणीया इष्टि पहिले लिखना उचित था) यहां इन सब युक्तियों के उत्तर में यह कहा जाता है कि ब्रह्म यज्ञादि (अध्ययन वा अध्यापन) जप (मन्त्र जप) के अनुसार मन्त्रकाण्ड प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठान प्रणाली से नहीं । (जो याग पहिले करना पड़ता, उन के मन्त्र पहिले लिपिबद्ध हैं, ऐसा नहीं । जो सब से पहिले शिष्य को पढ़ाना पड़ता अर्थात् पढ़ने की प्रथा है एवं कितने मन्त्रों का जप करने से याज्ञिक लोग जिस प्रणाली का अवलम्बन करते, तदनुसार मन्त्रों का आगे पीछे पाठ करना होता है) ब्रह्मयज्ञ का भी विधान देखा जाता है जैसे—एक भी ऋक्, साम, या यजुर्वेद का, जो पाठ करना पड़ता वही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ या वेदाध्ययन में (ऋक्संहिता पढ़ने से) सबसेपहिलेअग्नि मीले” इत्यादि पढ़ने का नियम है। वाचस्तोम में सब ऋक्, सब यजु; और सब, साम, उच्चारण करे, ऐसा विधि है । [यहां सम्प्रदाय सिद्ध अर्थात् गुरु परम्परा चलित क्रम अनुसार पाठ करना पड़ता] “आश्विन ग्रह” पर्यन्त जाने पर भी यदि सूर्योदय न हो, सब दाशतरी मन्त्र पाठ करे, ऐसा विधान है । और प्रतिग्रहकारी प्रभृति उपवासी को तीनवार वेदाध्ययन (प्रायश्चित्त) करनेका विधान दिखलाते हैं । [यहां भी सम्प्रदाय सिद्ध क्रम आदरणीय है] इन सब मन्त्रकाण्डों का विनियोग अर्थात् जहां जिन कई मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उस स्थान (यज्ञादि) में अध्यापक [वेदपाठक] सम्प्रदाय प्रचलित क्रम—[पूर्वापरभाव] को सादर ग्रहण करना पड़ता । किसीएकमन्त्र को किसी एक कार्य में विनियुक्त करने में (सीमांसादर्शन प्रतिपादित) श्रुति, लिङ्, वाक्य, प्रकरण, प्रभृति प्रमाणानुसार आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्रों का विनियोग किया है । (श्रुति, लिङ्ग, प्रभृति का विशेष विवरण सीमांसादर्शन में देखो) यदि ऐसा हुआ तो मन्त्रकाण्ड का क्रम न होने पर भी कोई विरोध नहीं । “इषेत्वा” इत्यादि मन्त्र सब जिस प्रकार अवलम्बन कर यागादि कर्म करना होता, उसी क्रमानुयायी भाव से विधि बद्ध किया गया है । आश्वलायन, गोभिल आदि ने इसी नियमानुसार कल्पसूत्र निर्माण किया है । उसी नियम से आम्नात हुआ है अतएव जपादि में वही नियम प्राप्य है ।

यद्यपि ब्राह्मणभाग में दीक्षणीया इष्टि सब से पहिले कही गयी है, तथापि दीक्षणीया इष्टि सब से पहिले दर्शपूर्णमास इष्टि की विकृति है इसी कारण दर्शपूर्णमास की अपेक्षा करती है। (दर्श पूर्णमास को पहिले न कहने से दीक्षणीया इष्टि का कहना पूरा नहीं होता, क्योंकि दर्श पूर्णमास इष्टि की प्रक्रिया दीक्षणीया इष्टि में अतिदिष्टा हुयी है।) पस, आश्वलायनादि को पहिले दर्शपूर्णमास याग की व्याख्या करना उचित हुआ। इस से यह ज्ञात हुआ कि कल्पसूत्र मन्त्र विनियोग द्वारा यज्ञानुष्ठान का उपदेश देकर उपकार करता है। यदि इस पर कोई ऐसी आपत्ति दे कि “प्रबोराज” इत्यादि सामधेनी ऋक् (एक जातीय ऋक्) मन्त्रों का विनियोग आश्वलायन कर सकते हैं क्योंकि उन को वे आम्नात (पठित) हैं। किन्तु “नम प्रवक्त्र” इत्यादि ऋचाओं का विनियोग क्योंकर करेंगे? क्योंकि उनने उन मन्त्रों की पढ़ा ही नहीं। जिस प्रकार जो मन्त्र आम्नात हुए तदनुसार ही विनियोग करना उचित है जो आम्नात हुए नहीं, उनका विनियोग कैसे होगा? आश्वलायन ने निज वेद शाखा में उसे न पाकर भी विनियोग क्योंकि या? इस का उत्तर यह कहा जा सकता है कि इस में कोई दोष नहीं, क्योंकि शाखान्तर में जो मन्त्र आम्नात हुए हैं, उन सब का भी ब्राह्मणान्तर में विनियोग सिद्ध है, यहां भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस कारण जिस शाखा में जो गुण (आदिकर्म) उपदिष्ट क्यों नहो, कर्मके निर्वाह के लिये वे सब ही मन्त्र एकत्र किये जा सकते। (एकत्र विहित कर्म अन्यत्र विहित गुण अपेक्षा करता, इस लिये शाखान्तर गत मन्त्र अन्यत्र विनियुक्त हो सकते हैं।) सीमांसा शास्त्र से जो अवगत हैं उन का कथन है कि सब ही शाखाओं में यह कर्म प्रतिपादित हुआ है। इसी लिये वेद ज्ञान के लिये जिस प्रकार “शिक्षा” पढ़ना अत्यावश्यक है, उसीप्रकार कल्पशास्त्र भी वेदार्थ विचार में परमावश्यक है। कल्प सूत्र में मन्त्र विनियोग द्वारा यागों के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। इस शास्त्र को न जानने से यागादि विषय में जो सब सन्देह होता उन का निरास करना नहीं बन सकता। इसी प्रकार व्याकरण आदि ४ अङ्गों के भी भिन्न २ प्रयोजन हैं जिनके ज्ञान बिना वेद ज्ञान होना असम्भव है।

यह “कल्पसूत्र” दो भागों में विभक्त है, एक “श्रौतसूत्र” दूसरा “गृह्यसूत्र” जिसमें साक्षात् श्रुति विहित अग्निष्टोम आदि अनुष्ठित होते, उस अग्नि को श्रौताग्नि कहते एवं उस अग्नि के सम्बन्ध में जो सब अनुष्ठेय कार्य हैं, उन सबको, और ये कार्य सब प्रक्षालिवद्ध जिस ग्रन्थ में उपदिष्ट

हुए हैं उसे भी “श्रौत” कहते हैं। इसी प्रकार जिस अग्नि को अवलम्बन कर विवाहादि गृह्य कार्यों का अनुष्ठान किया जावे, उस अग्नि को, उन सब सम्पूर्ण कार्यों को, एवं उन सब कार्यों के प्रणाली विधायक ग्रन्थ को “गृह्य” कहते हैं। यद्यपि “श्रौतसूत्र” प्रत्येक वेद के एक से अधिक हैं किन्तु अमुक शाखा का अमुक श्रौतसूत्र ग्राह्य है ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, अतएव सायनाचार्य कहते हैं कि “सर्वशाखा प्रत्येकमेकं कर्म” * ।

अर्थात्—सकल शाखाबोधित कार्यानुष्ठान एक ही है। मीमांसा-चार्य-जैमिनि ने भी ऐसी ही व्यवस्था कियी है (मीमांसा प्र० ९ पा० २) और अधिकरण मालादि में भी यह बात कही गयी है। परन्तु गृह्यसूत्र आदि शाखा भेद से विभिन्न हैं, सुतरां जिस वेद की जितनी शाखा हैं, उस वेद के गृह्यसूत्र भी उतने ही मानने पड़ते। सामवेदीय श्रौतसूत्र प्रणेता लाट्यायन एवं तदीय कौथुमी शाखा के गृह्य-ग्रन्थ प्रणेता आचार्य का नाम गोभिल है। इन्हीं गोभिल प्रणीत सूत्र आदि की व्यवस्थानुसार उक्त शाखा ध्यायी ब्राह्मणों के विवाहादि सब कार्य हुआ करते। एवं इसी सूत्र की प्रमाणता से महामहोपाध्याय भवदेव भट्ट ने विवाह आदि पटुति का प्रचार वङ्गदेश में किया है। अन्यान्य देशों में भी और २ पटुतियाँ हैं। इन्हीं गोभिलाचार्य के गृह्यसूत्र, संध्यासूत्र, स्नानसूत्र, और आहुतिसूत्र, ये चार ग्रन्थ हैं। यदि पाहकों की रुचि हुयी, तो इन ग्रन्थों की भी हम सानुवाद प्रकाशित करेंगे ॥

यद्यपि इस गो० गृ० सू० पर नारायणोपाध्याय कृत वृत्ति पायी जाती है परन्तु इस में लेखक की अनवधानता मे इतनी अशुद्धियाँ हैं, जिन को सम्भार कर छपवाना एवं नूतन टीका करनी, दोनों में समान परिश्रम है। इस लिये इस से उपेक्षा कियी गयी। इस गृ० सू० पर दूसरी संस्कृत टीका पं० चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार जी की है। यह टीका अन्यान्य शाखानुयायी गृ० सू० के मत के साथ एकता सम्पादन पूर्वक रची गयी है जिस कारण यह टीका अति बृहत् हुयी है। हमारी समझ में जिस शाखा के जो गृह्यसूत्र हों उस २ की टीका तद् २ शाखा के अनुकूल ही होनी चाहिये क्योंकि, अपनी २ शाखानुसार ही अपने २ गृह्यसूत्रादि में स्व २ शाखानुसार कसेद्य लिखे गये हैं।

ऐसी संस्कृत टीका—इस गृह्यसूत्र पर पं० सत्यव्रत सामश्री जी ने कियी है, हमने इसी संस्कृत टीका के अनुयायी भाषानुवाद किया है।

इस गोभिलगृह्यसूत्र में ४ प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में दश २ खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एकाधिक सूत्र हैं। यों इस में ४ प्रपाठक, ३९ खण्ड एवं १००९ सूत्र हैं। और इस में सात मुख्य २ प्रकरण हैं। १ सर्वकर्मसाधारण विधि, २ अस्त्रयज्ञ, ३ दर्शपौर्णमास, ४ विवाहादि संस्कार, ५ गृहिकर्तव्य इकान्यकर्म और ७ अर्हणीय प्रकरणा हैं।

वेदों की शाखा ।

वरणव्यूह नामक—महर्षि शौनक प्रणीत यजुर्वेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ में अनेक प्रकार की वैदिक शाखाओं का उल्लेख देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'वरणव्यूह' ग्रन्थ बनने के बहुत काल पूर्व ही से विभिन्न वेदों की नाना प्रकार की शाखायें विद्यमान थीं। 'वरणव्यूह' बनने के पूर्व जो सब वैदिक 'वरण' और 'शाखा' विलुप्त, या शाखान्तर के साथ मिल गयी थीं, उन सब की नामावली उस में नहीं पायी जाती, वरण उस की रचना समय में जो २ शाखायें विद्यमान थीं, उन की नामावली निःसंशय उस में सम्मिलित है। ऋग्वेदीय शाकल, वास्कल, शांरुयायन, माण्डुकायन, एवं आश्वलायन,—इन पांच, शाखाओं का नाममात्र उल्लेख है। परन्तु ऋग्वेद के ऐतरेयी, कौषीतकी प्रैङ्गी, शैशिरीय, प्रभृति प्राचीन शाखाओं का कोई भी उल्लेख नहीं है। ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में भी शाकल, शांरुयायन, आश्वलायन, माण्डुकायन, और वास्कल शाखा प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख है। जैसे—

“ऋचां समूह ऋग्वेदस्त नभ्यस्य प्रयत्नतः ।

पठितः शाकलेनादी, चतुर्भिस्तदनन्तरम् ।

शांरुपाश्वलायनौ चैव, माण्डुको वास्कलस्तथा ।

बह्वृचां ऋषयः सर्वे, पठन्ते एक वेदिनः” ॥—(शौनकीय प्रातिशाख्ये)

एक वेदीय विभिन्न शाखा में कोई शिष्य पार्थक्य था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु किसी स्थान में किसी शब्द वा मन्त्र का व्यतिक्रम, और परिवर्तन, किसी स्थान में दो चार मन्त्र नूतन संयोजन, किसी स्थान में मन्त्रों का परस्पर स्थान विपर्यय, किसी स्थान में मन्त्रों का पुष्कारण पठित अभेद भिन्न २ शाखाओं में दीख पड़ते हैं। वेदाध्यापक प्रति आचार्यों के शिष्य परम्परा से, एक ही 'संहिता' (वेद) का शाखा भेद पठित यत्सामान्य अकिञ्चित् कर परिवर्तन के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं दीखता, तात्पर्यतः सब शाखाओं की संहिता—एक ही हैं।

सामवेद की शाखा ॥

सामवेदीय शाखा प्रवर्तक आचार्यों की नामावली विष्णु पुराण में (अ० ३ । अंश ६) इस प्रकार दी है कि जैमिनि, सुमन्तु और सुकर्मा, उत्तरोत्तर सामवेदसंहिता अध्ययन और अध्यापन करते थे । जैमिनि के पौत्र सुकर्मा का हिरण्य नाम और पौष्पिष्ठी नामक दो शिष्य थे, उन में से कोशल देश वासी हिरण्यनाभ के १५ शिष्य प्राच्यसामग नाम से प्रसिद्ध थे । उन में से कृति नामक ऋषि के २४ शिष्य द्वारा सामवेद की बहुत सी शाखाएँ हुईं । सुकर्मा का अन्यतर शिष्य पौष्पिष्ठी के लोकाक्षि, कुथुनि, कुसीदि और लाङ्गलि नाम से ४ प्रधान शिष्य थे * विष्णु पुराण के मत से सामवेद के १००० शाखाएँ थीं । निरुक्त के भाष्य कार दुर्गाचार्य के मत से भी सामवेद सहस्र शाखाओं में विभक्त था ।

इस प्रकार चरण व्यूह आदि के लेखानुसार ४ वेदों की ११३१ या ११३७ शाखाएँ हैं । और चरण व्यूह में राणायनीय, शाठ्य, मुग्र्य, कालाय, महाकालाय, शाद्दूल, लाङ्गुलायन और कौथुम; सामवेद की इन सात प्रधान शाखाओं का उल्लेख है । आसुरायन, वातायन, प्राञ्जलि, द्वैतभूत, प्राचीनयोग्य, और नैगेय, ये पाँच कौथुम शाखा के अन्तर्भुक्त उपशाखा मात्र हैं । कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा कर्णाट में और राणायनीय शाखा, महाराष्ट्र देश में प्रचलित हैं । वङ्ग देश में कौथुम शाखा की छोड़ सामवेद की अन्य शाखा के ब्राह्मण नहीं मिलते ।

“सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः ।

क्रमेण येन नैत्रेय बिभेद ऋणु तन्मम ॥ १ ॥

सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूत्, सुकर्मास्याप्यभूत्सुतः ॥

अधीतवन्ता वेदैकां, संहितां तौ महामुनी ॥ २ ॥

सहस्रं संहिताभेदं, सुकर्मा तत्सुतस्ततः ।

चकार तं च तच्छिष्यो, जगृहाते महामती ॥ ३ ॥

हिरण्यनाभः कौशल्यः, पौष्पिष्ठीश्च द्विजोत्तम ।

उदीच्य सामगाः शिष्यास्तेभ्यः पञ्चदशस्यूताः ॥ ४ ॥

लोकाक्षिः कुथुनिश्चैव कुसीदीलाङ्गलिस्तथा ।

* यहविंशति के कथनानुसार यजुर्वेद की १०१ शाखा, सामवेद की १०००, ऋग्वेद की २१ और अथर्व वेद की ६ शाखा हैं ॥ ** एक शतमध्वर्यु शाखाः सहस्र वर्त्मा सामवेदः । एकविंशतिर्वहृत् नवधाऽअथर्ववेदः । महाभाष्ये ॥

पौष्यश्लिष्यास्तद्भेदैः संहिता बहुली कृताः ॥ ५ ॥

हिरण्यनाभःशिष्यश्च, चतुर्विंशति संहिताः ।

प्रोवाच कृति नामासौ शिष्येभ्यः सु महामतिः ॥ ६ ॥

तैश्चापि सामवेदोऽसौ शाखाभि बहुली कृतः ॥ ७ ॥—विष्णुपुराण ३।६।

क्या व्यासजी से वेदों की शाखायें प्रवृत्त हुयीं?

बहुत से लोग कहते हैं कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन (महर्षि व्यास) वेदों के विभाग कर्त्ता, मन्त्र द्रष्टा और शाखा प्रवर्त्तक थे । पुराणों में भी इसी प्रकार (विष्णुपुराण तथा भागवत पु०) लिखा है परन्तु यह बात ठीक नहीं है । महर्षि व्यास वेद के अद्वितीय वंत्ता थे, इन्होंने ने इधर उधर से विकीर्ण वेद मन्त्रों का और भी उत्तम रीति से एकत्र कर, जिस वेद के जो मन्त्र थे उन्हें, यथा स्थान रक्त्व भिन्न २ संहितानुसार अनेक शिष्यों को उपदेश दिया और उन के पूर्व की जो शाखायें थीं, जो काल वशतः लुप्त हो गयीं थीं, उन्हें भी जहां तहां से लेकर बड़े उद्योग से प्रकाशित किया और अपने चार शिष्यों को पढ़ाया इन के समय में वेद की श्रम उन्नति थी और ये ही, उस समय वेद के अद्वितीय उच्चायक थे, अपने बुद्धि तप, और अध्यवसाय से यथा साध्य इनने वेद की सब शाखाओं का पता लगा कर ठीक किया । इस बात को लेकर “वेद व्यास” जी से वेद प्रवृत्त हुए कहलाया । “शाखाप्रणयनं चैव द्वापरे समभूदिदम्” अर्थात् शाखाओं की रचना द्वापर में हो चुकी, यह लिखा है है, इसका अभिप्राय यह है कि द्वापर पर्यन्त वेदों की शाखा बढ़ती रही । क्योंकि द्वापर के पहिले त्रेता युग में भी शाखायें थीं, जैसा कि वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काण्ड में लिखा है कि “आचार्या स्तैत्तिरीयाणाम्” पुनः “एतेकठाः कलापाश्च” किन्तु पुराणों में इसके विरुद्ध कठ, कलाप आदि शाखा व्यास ही के शिष्योंमें प्रवृत्त हुई लिखा है । इस का तात्पर्य पहिलेही लिखा गया ।

सामवेद के आचार्यगण ।

सामवेद के सम्प्रदाय प्रवर्त्तक आचार्यों की नामावली * इस प्रकार लिखी है—ब्रह्मा ने बृहस्पति को उपदेश किया, उन ने नारद को, पुनः उन से विश्वक्सेन, उन ने पराशर के पुत्र व्यास को, व्यास ने जैमिनि को, उन ने

* अथास्य सामविधानस्य सम्प्रदायप्रवर्त्तकानाचार्यान्नुक्रमेण संकीर्त्तयति । सोऽयं प्राजापत्यो विधिः । तमिमं प्रजापतिर्बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिर्नारदाय । नारदो विश्वक्सेनाय । विश्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय । व्यासः पाराशर्यो जैमिनये । जैमिनिः पौष्पिण्ड्याय, पौष्पिण्ड्यः पाराशर्याय गाय । पाराशर्यायणो बादरायणाय । बादरायणस्तारिङ्गशायानिर्भ्या । तारिङ्ग—शायानिर्भ्या बहुभ्यः ॥ सामवेदीय सामविधान ब्राह्मणे ।

पौष्पिबह को, उन ने पराशर्यायण को उनने वादरायण को उनने तारिड और शाटयानको, इन दोनोंने बहुत शिष्यों को पढ़ाया”सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या * प्रसिद्ध भाष्यकार पं० कुमारिल भट्ट अपने तन्त्र वार्त्तिक नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लिखते हैं:-१ ताराङ्ग (प्रौढ, महा या पञ्चविंश), २ षड्विंश ३ उपनिषद् (छान्दोग) ४ संहितोपनिषद् (जैमिनीय या तलवकार), ५ सामविधान, ६ देवताध्याय, ७ आषय और ८ वंश ब्रह्मण । इन में से षड्विंश ब्राह्मण जो ताराङ्ग ब्राह्मण का परिशिष्ट मात्र है-इस के छठे का नाम अद्भुत ब्राह्मण है, दशाध्यायी छान्दोग के शेष ८ अध्याय छान्दोग उपनिषद् है, तलवकार ब्राह्मण का शेष अध्याय केन या तलवकार उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वाक्त ८ ब्राह्मणों में से शेषोक्त ४ ब्राह्मण साम-वेदीय-अनुक्रमणी भिन्न कुछ नहीं है ।

उपलब्ध सामवेदीय ग्रन्थों की सूची ।

१-सामवेदमन्त्रसंहिता । २-सामसूची । ३-आरण्यसंहिता । ४-लाटयायनश्रौतसूत्र । ५-अष्टविकृति । ६-विकृतिवल्ली । ७-अक्षर-तन्त्र । ८-सामप्रातिशाख्य । ९-सामगायनहरी । १०-ताराङ्गवडाब्राह्मण । ११-आषेय ब्राह्मण । १२-सामविधानब्राह्मण । १३-देवतब्राह्मण । १४-देवताध्याय ब्राह्मण । १५-मन्त्रब्राह्मण । १६-वंशब्राह्मण । १७-षड्विंशब्राह्मण । १८-गृह्यसंग्रह । १९-गोभिलगृह्यसूत्र । २०-यज्ञपरिभाषा । २१-निदानसूत्र । २२-उपग्रन्थसूत्र । २३-सामप्रकाश । २४-शान्तिपाठ । २५-स्वराङ्कुश । २६-नारदीय शिखा । २७-सामपद संहिता । २८-सन्ध्यासूत्र । २९-स्तानसूत्र । *३०-आहुसूत्र

यजमान और पुरोहित, या ऋत्विग्गण ।

यजमान उसे कहते हैं जो स्वयं अपने घर यज्ञानुष्ठान करते और ऋत्विक् उस को कहते हैं जो निर्दिष्ट समय में अपने या दूसरे के मङ्गल कार्य के निमित्त यज्ञ कार्य सम्पादन करे, 'पुरोहित' वा 'पुरोधा' भी इसी का नामान्तर है । काल क्रम से यज्ञीय आङ्गम्बर की वृद्धि के साथ २ ऋत्विक् लोगोंकी क्षमता और संख्या भी बढ़कर, सनातन आर्य्यसमाज या वैदिक समाज में शीर्ष स्थानीय स्वतन्त्र एक श्रेणी में परिणत हुयी । पहिले सनातन

* * ब्राह्मणानि हि यान्येष्टौ सरहस्यान्यधांयते । छन्दोगास्तेषु सर्वेषु न कश्चिन्नियतः स्वरः ॥३॥

आर्यसमाज में यजमान स्वयं ही काष्ठ घिसकर अग्नि उत्पन्न कर प्रज्वलित अग्नि में अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये पवित्र आज्याहुति प्रदान करते । ऋत्विक् नियोग व्यवसाय व्यापार होने से केवल, धनी लोग ही पुरोहित द्वारा यज्ञ कराते। अर्थात् धनी लोगोंही में ऋत्विग् गण आवद्ध थे * । पीछेकाल क्रमसे उस के सम्पादन का भार मन्त्रज्ञ ऋत्विक् (पुरोहित) लोगों के हाथ समर्पित हो, उन का प्रभाव और माहात्म्य सविशेष बढ़ चला । होता (बह्वृच) पुरोहितों के लिये 'ऋग्वेदसंहिता' निर्दिष्ट हुयी । 'उद्गाता' (छन्दोग) और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये यथाक्रम साम और यजुर्वेदसंहितार्थ नियत हुयीं । इन भिन्न २ अंगी पुरोहितों के यथार्थ कर्त्तव्य ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखे गये बह्वृच पुरोहितों के लिये ऋग्वेदीय एतरेय और कौषित की ब्राह्मण, उद्गाताओं के लिये ताण्ड्य ब्राह्मण; और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेदीय के लिये गोपथ ब्राह्मण नियत हुए । ब्राह्मण ग्रन्थोंकी रचना पश्चात् अपने २ वेदों की शाखानुसार कल्प वा श्रौत और गृह्यसूत्र बनने लगे । और श्रौत ग्रन्थानुसार बड़े २ यज्ञ एवं गृह्यसूत्रानुसार स्मार्त कर्म होने लगे । जब वेदोंका पढ़ना पढ़ाना कम हुआ और वैदिककर्म में बाधाये होने लगीं, राजा लोग वेदविद्या से मूर्ख होने लगे, उस समय से पुरोहितों में परस्पर ईर्ष्या द्वेष की नेत्र पड़ी और लगे एक दूसरे के विरुद्ध निन्दा लिखने यहां तक कि जो होता (ऋग्वेदी) अध्वर्यु, (यजुर्वेदी) उद्गाता (सामवेदी) और ब्रह्मा (अथर्ववेदी वा चतुर्वेदेवेत्ता) एकसाथ एक यज्ञ में परस्पर आनन्द के साथ अपना २ कर्त्तव्य पालन कर, यज्ञकार्य सम्पादन करते वे स्वतन्त्र २ ग्रन्थ बना, उस में अपनी २ प्रशंसा और अन्यवेदी की निन्दा लिखने लगे, जिस का परिणाम यह हुआ के राजा तथा प्रजा एवं मनुष्यमात्र में साम्प्रदायिक * निदारुण विद्वेष फैलकर भारतवर्ष का सर्वनाश हुआ । इस के उदाहरण में हम "अथर्वपरिशिष्ट" नामक ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं ॥

पुरोहितां में साम्प्रदायिक निदारुणविद्वेष !!!

"अथर्वपरिशिष्ट" ग्रन्थ के ११२ में अध्याय में लिखा है कि ऋग्वेदी 'बह्वृच' पुरोहित यजमान का राज्य, और यजुर्वेदीय अध्वर्यु (ऋत्विक्) यजमान के पुत्र कलत्रादि का विनाश करते हैं; सामवेदी छन्दोग जिस यजमान के पुरोहित होते उन का धन नष्ट हो जाता । अज्ञानता, या प्रमाद

* महर्षि आपस्तम्ब ने यज्ञ परिभाषा, नामक ग्रन्थ में यों लिखा है कि:—स (यज्ञः) त्रिभिर्वेदैर्विधीयते ॥१॥ ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदैः ॥२॥ ऋग्वेदेन होता कर्तेति ॥३॥ सामवेदेनोद्गाता ॥४॥ यजुर्वेदेनाध्वर्युः ॥५॥ सर्वैर्ब्रह्मा ॥६॥

से जो 'बह्वृच' ब्राह्मण को पीरोहित्य कर्म में वरण (मुकर्रर) करते, निःसन्देह उन के देश, राज्य, नगर, और मन्त्री विनष्ट हो जाते हैं । जो राजा, अध्वर्यु ब्राह्मण को अपना पुरोहित नियत करता, वह, धन, और यान (रथ) आदि से विहीन हो अस्त्राघात से शत्रु के हाथ शीघ्र ही मारा जाता । पङ्गु व्यक्ति, जिस प्रकार गन्तव्य मार्ग में चलने से असमर्थ होता, अण्डे से सद्योजात पक्षी जिस प्रकार अण्डाश गामी प्रौढवयस्क विहङ्गम की नाईं आकाश मार्ग में परिचरणा करने में असमर्थ होता; सामवेदी छन्दोग पुरोहित द्वारा राजा भी उसीप्रकार उत्कृति लाभ करनेमें असमर्थ होता है । और अथर्व वेदी * जलद और 'मौद्ग' शाखाध्यायी ब्राह्मण जिस राजा के पुरोहित होते, १० या १२ महीने में वह राजा, राज्यच्युत हो जाता है । अथर्ववेदी ब्रह्मा पुरोहित ही पुरोहितों में सब से श्रेष्ठ हैं, वे भयानक कार्य उत्पादन और उस की शान्ति कर सकते, यज्ञ की अनेक विघ्न एवं विपद से बचा सकते हैं ।

अङ्गिरा ही, यज्ञके एकमात्र नियामक अधिपति हैं । ब्रह्मवेदज्ञ अथर्ववेदी ब्राह्मण दिव्य, आन्तरीक्ष, और भौम, इन नाना विधियज्ञोत्पात के उपशमन विधान करते हैं । अध्वर्यु, छन्दोग, क्या बह्वृच कोई भी यज्ञ कालीन अनेक प्रकार के उत्पात प्रशमन नहीं कर सकते इत्यादि । साम्प्रदायिक निदारुण विद्वेष द्वारा परिचालित हो, क्रोधान्ध ग्रन्थकारों ने अपर वेदी और स्ववेदीय भिन्न २ शाखाध्यायी पुरोहितों के प्रति नितान्त अबैध यह कटूक्ति वर्षण पुरः सर अपनी प्रधानता जतलाने के लिये काण्डाकाण्ड विहीनता का परिचय दिया है ।

* बह्वृचो हन्ति वैराष्ट्रं अध्वर्युं नाशयेत् सुतान् ।

छन्दोगो नाशयेत् धनं, तस्मादथर्वणो गुरुः ॥

अज्ञानाद् वा प्रमादाद् वा, यस्य स्याद् बह्वृचो गुरुः ।

देशराष्ट्र-पुरामात्य, नाशस्तस्य न संशयः ॥

यदि वाध्वर्यवं राजा, नियुनक्ति पुरोहितम् ।

शस्त्रेण बध्यते क्षिप्रं परिहीणार्थं वाहनम् ॥

यथैव पङ्गुगुरध्वानं, अपक्षी चाण्डजो नभः ।

एवं छन्दोगगुरुणा, राजा वृद्धिं न गच्छति ॥

पुरोधा जलदो यस्य, मौद्गो वा स्यात् कथञ्चन ।

अब्दाद् दशेभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रन्शं स गच्छति ॥
 अथर्वो मृजते घोरं, अद्भुतं शमयेत्तथा ।
 अथर्वो रक्षते यज्ञं, यज्ञस्य पतिरङ्गिराः ॥
 दिव्यान्तरीक्षभौमानामुत्पाताना मनेकधा ।
 शमयिता ब्रह्मवेदज्ञः, तस्माद्दक्षिणतो भृगुः ॥
 ब्रह्मा शमयेन्नाध्वर्युं न हृन्दोगी न बहवृषः ।
 रक्षांसि रक्षति ब्रह्मा, ब्रह्मा तस्मादथर्ववित् ॥-(अथर्वपरिशिष्टः)

॥ संस्कार ॥

आर्यऋषिगण ने दिव्य दृष्टि से देखा था कि उच्छृङ्खल मनुष्यजाति नियम-रहित होने से उत्तरोत्तर अवनति ही की ओर अग्रसर होगी, कभी म-
 ड्डल मय साधुमार्ग पर पैर न रक्खेगी, प्रत्युत अनुराग प्रणोदित हो निरन्तर
 असत् कर्म का अनुष्ठान करेगी । सुतरां ऐसी अवस्था में समाज का शरीर
 अक्षत नहीं रह सकता और मानव-हृदय में धर्मभाव भी प्रस्फुटित नहीं हो
 सकता । इस कारण प्रत्येक जीव एवं समस्त समाज का ऐहिक और पार-
 लौकिकहित साधन उद्देश्य से महर्षियों ने विशेष नियम व्यवस्था विधिवद्
 किया है । सकान-मजवूत करनेसे पहिले उसकी नेव मजवूत देनी पड़ती है,
 इसकारण मानवशिशु भूमिष्ठ होनेके पहिले ही ऋषि ने सावधान किया है कि-

“निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितोविधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारःस्यान्नेतरस्य कदाचन ॥, (मनुः।१।)

अतएव गर्भाधान आदि संस्कार सब यथा समय सम्पादन करना आर्य-
 मात्र को कर्त्तव्य है । संस्कार-का अर्थ शोधन करना, दोषों को हटाकर गुणों
 को मिलाना । अर्थात् संस्कार द्वारा कहीं तो वस्तुगत दोष विनष्ट होते
 और कहीं वस्तुमें गुण विशेष संयोजित होते । जैसे आर्द्रेना स्वभावतः स्वच्छ
 और प्रतिबिम्बग्राही होता है, किन्तु उनमें दोष विशेष से मालिन्य उप-
 स्थित हो जाता एवं जिस समय तक उष्ण का मैलापन दूर नहीं होता,
 उतने समय तक उस की प्रतिबिम्बग्राहिता, या स्वच्छता कुछ भी प्रकाश
 नहीं पाती, इस कारण उस में संस्कार का प्रयोजन पड़ता है । चर्षण आदि
 क्रिया द्वारा वह आगन्तुक मालिन्य, दूर होने पर पुनः दर्पण का दर्पणत्व
 प्रकाश पाता है ।

यही प्रथमोक्त संस्कार का फल है। इसीप्रकार किसी स्थिति में वस्तु का किसी प्रकार दोष दूर नहीं होता किन्तु उस में एकप्रकार गुण या उत्कर्ष मात्र उत्पादन करता है। उसी प्रकार जीव, या जैव अमृतः करण भी स्वभाव से स्वच्छ है किन्तु कामादि संसर्ग फल से उस में मालिन्य, या अज्ञान उपस्थित होता, मालिन्य उपस्थित होने से उस में पुनः विवेक ज्ञान प्रकाश नहीं पाना, विवेक के अप्रकाश से जीव का अधः पतन अवश्यम्भावी, और अधः पतित जीवों को सर्वत्र ही अशान्ति होती, यह स्थिर सिद्धान्त है। सब अनर्थों का मूल स्वरूप उस मालिन्य को दूर कर स्व २ तेज उद्दीपित करना ही संस्कारों का प्रधान प्रयोजन है। शास्त्र कारों ने भी इस विषय में सुन्दररूप से समझाया है:-

चित्रं कर्म्मनिर्कैरङ्गै रन्मील्यते यथाशनैः ।

ब्राह्मरायमपितद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

जिस प्रकार लघ्वि, चित्रकर और रचना की कुशलता से क्रमशः अङ्ग प्रत्यङ्ग द्वारा प्रकाशित, या सम्पूर्ण होती, ब्राह्मण्यतेज भी उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कार कार्य के वार २ अनुष्ठान से पूर्णत्व लाभ करता है। उल्लिखित संस्कार किसी के मत से १६, किसी के मत से १७, किसी के मत से इससे भी न्यून या अधिक हैं जैसे-१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूड़ाकरण, ९ कर्णवेद, १० उपनयन, ११ वेदारम्भ, (ब्रह्मचर्य) १२ समावर्तन, १३ विवाह, १४ गृहाश्रम, १५ वानप्रस्थ, १६ सन्यास और १७ अन्त्येष्टि ॥

१ गर्भाधान ।

पूर्व ही कहा गया है कि “मनुष्यों के तेज” का संवर्धन ही सब संस्कारों द्वारा साधारण और असाधारण का मुख्य उद्देश्य है। घर सुदृढ़ रखने के लिये उस की चेष्टा आरम्भ ही से करनी पड़ती है। सर्वलोक हितैषिणी जननीकस्या यह श्रुति, उस निगूढ़ उच्चतम उद्देश्य सिद्धि के अभिप्राय से कहती है कि पितृ, मातृ शरीर में जो दोष रहता, वह सन्तान शरीर में संक्रामित होता है। यह बात विज्ञानशास्त्र भी मुक्तकण्ठ से कहता है। प्राणी मात्र में ऐसे अनेक दृष्टान्त भी मिलते हैं, अधिक क्या पिता माता की मनोवृत्ति पर्यन्त भी सन्तान में संक्रामित हुआ करती है। मनु कहते हैं कि गर्भाधान, आदि संस्कार द्वारा द्विजाति शिशु के बीजदोष (पिता माता के असत्) संकल्पादि रूप बीज या उपादानगत दोष एवं गार्भिक (माता के शरीर जरायुसंक्रान्त, दोष सब दूर होते हैं)

“गर्भेर्होमैर्जातकर्मचौरमौञ्जीनिबन्धनैः ।

गार्भिकं वैजिकं चैव द्विजानामपमृज्यते” ॥ मनुः । २।२९ ॥

तात्पर्य यह है कि सन्तान पिता माता के संस्कार को पाता है, सुतरां माता में किसी प्रकार अवैध कुत्सित भाव उपस्थित हो तो वह सन्तान के हृदय में भी अवश्य जम जाता है। महाभारत में लिखा है कि एक समय वीरवर अर्जुनने सुभद्रा को एक युद्ध वृत्तान्त सुनाया था, कथा का आधा अंश वाकी ही था कि सुभद्रा सो गयीं। उस समय सुभद्रा का गर्भस्थ अभिमन्यु भी पिता का कहा हुआ युद्ध वृत्तान्त के अर्द्धांश मात्र से अवगत हुआ। और माता के सो जाने के कारण अवशिष्ट अर्द्धांश नहीं जान सका। शास्त्रानुसार देखा जाता है कि उक्तप्रकार संस्कारों से संस्कृत द्विजातिगण धर्म व्रत के यथार्थ अधिकारी एवं अध्यात्म शास्त्र ग्रहण में भी पूरे अधिकारी होते हैं।

२ पुंसवन ॥

प्रत्येक कार्यो का कुछ न कुछ उद्देश्य रहता ही है, सुतरां पुंसवन संस्कार का भी एक उद्देश्य रहना आवश्यक है, सो क्या है? गर्भरक्षा। तात्पर्य यह है कि साधारणतः तीसरे मास से चौथे मास पर्यन्त गर्भ गिर जाने का एक प्रधान समय है, इस प्रबल विपत्त पात से गर्भिणी को उद्धार करना ही इस संस्कार का प्रधान प्रयोजन है। द्वितीय कार्य, पुत्र सन्तानोत्पादन अर्थात् कुक्षिस्थ भ्रूण से लड़का होगा या लड़की? सो तीसरे मास तक स्थिर नहीं होता, कारण यह है कि तीसरे मास के पहिले गर्भस्थ सन्तान का ‘स्त्री’, या ‘पुं’, चिन्ह कुछ भी नहीं उत्पन्न होता (आयुर्वेद के अनुसार) सुतरां उस समय में पुत्रसन्तानोत्पादनार्थ पुंसवन क्रिया सम्पादन करना विशेष आनन्द कर होता, इस में सन्देह नहीं। पति, संस्कार आदि कार्य सब सम्पादन कर, जिस समय गभेवती पत्नी को उद्देश्य कर कहता है कि “मित्रावरुणौ” ये दो देव पुरुष हैं—अखिनी कुमार भी पुरुष, एवं ‘वरुणदेव भी’ पुरुष हैं (इन के अनुग्रहसे) तुम्हारे उदर में भी पुरुष सन्तान प्रादुर्भूत हुआ है” इत्यादि। ऐसे समय गर्भिणी रमणी जो समधिक आनन्द से उत्फुल्ल और शान्ति शालिनी होती, यह निश्चित है। और उस समय शरीर की दुर्बलता, मूर्च्छा, अतृप्ति, * प्रभृति दोषों से अवसन्न प्रायः देह में कुछ उत्साह और आनन्द न होने से गर्भ विशेष शेष का उपाय नहीं। * अत एव पुंसवन संस्कार भी तत्त्वान्वेषियों के पक्ष

* पुंसवन काल में यव, और उड्दी के साथ बड़ का दो फल लेकर गर्भिणी को संपाना होता है। आयुर्वेद में लिखा है कि अश्वों के दोष को दूर करने की यह एक उत्तम औषधि है ॥

में उपेक्षणीय नहीं। प्रत्यक्ष फल के अतिरिक्त अदृष्ट फल भी है।

३ सीमन्तोन्नयन ।

तीसरे मास से चौथे मास तक जिस प्रकार गर्भच्युति का समय है, उसी प्रकार छठे मास से ८ मास पर्यन्त गर्भभ्रंश का दूसरा एक समय है। गर्भिणी का चित्त जितना ही खिन्न होगा एवं शरीर भी जितना ही दुर्बल, या आलस्य ग्रस्त होगा, गर्भ-भ्रंश की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। उसी अवसाद और दैहिक दुर्बलता दूर करने के लिये यह सीमन्तोन्नयन संस्कार है।

सीमन्त-का अर्थ “केशवीथी” (सर.सांग) उन्नयन-उठाना अर्थात् स्त्री के वालों को विधिपूर्वक सम्भारना। स्वामी स्वयं एक वृन्तगत दो उदुम्बर की शलाका और स्वस्तिका आदि और भी कई एक साङ्गलिक द्रव्य एकत्रित कर, सूत्र द्वारा गर्भिणी के जूरे को बांधे। अनन्तर स्वामी कुश, गुच्छ और मरकाष्टिका प्रभृति द्वारा गर्भिणी के जूरे को उत्तोलन करने में जिन मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उन सब मन्त्रों का भाव भी अति मधुर और गम्भीरता से स्त्री को समझावे ॥

४ जातकर्म ।

यह चतुर्थ संस्कार है। बालक के भूमिष्ठ होने के पीछे एवं नाभि काटने के पूर्व यह कार्य सम्पन्न करना पड़ता एवं उसी समय मन्त्रोच्चारण पूर्वक, सद्योजात शिशु का घृत, मधु, को मिला कर सोने की शलाका से जिह्वा में “ओ३म्” ऐसा लिखना पड़ता। इस से शिशु कटे के बल वीर्य, और तेज की वृद्धि होती है। यह धर्म शास्त्र की बात हुयी, अब सुनिये वैद्यक और विज्ञान शास्त्र की बात:-

यौगिक प्रक्रियानुसार जाना जाता है कि विभिन्न गुण सम्पन्न दो या इस्से अधिक पदार्थ मिलने पर एक अभिनव गुणान्तर उत्पादन करता, जिस प्रकार श्वेत चूना, और पीत हरिद्रा मिलने पर एक नूतन लाल रंग की सृष्टि करता इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण हैं। अतएव कथित संस्कार समय परस्पर संमिश्रित घृत, मधु, सुवर्ण आदि वस्तु भी जो उसी प्रकार एक अभिनव दूसरा गुण उत्पादन करेगा इस में आपत्ति या अनुयपत्ति कुछ नहीं। यह वस्तु-शक्ति जो सद्योजात शिशु का विशेष उपकार साधन करती यह भी आश्चर्य का विषय नहीं, वरं पदार्थतत्त्व विचारानुसार वह नवजात सन्तान के शरीर में बल और पुष्टिकर, वायु और पित्तहर एक परम रसायन कहकर

पहण करता है। हमारे वैद्यकशास्त्र में उक्त घृत आदि के गुण यों लिखा है कि—

१ गव्यघृत—आंख का विशेष उपकारक, शीतल और वात, पीत, कफ का दूर करने वाला शुक्र और अग्निवर्द्धक, बल और आयुष्कर एवं बुद्धि और स्मृति के पुष्टि कारक ।

[विशेषण चक्षुर्हितत्वं शीतलत्वं वातपित्तकफनाशित्वं शुक्राग्निस्वादु-पाकमेधालावण्यकान्त्योजस्तेजोवृद्धिवयःस्थिरवनायुर्हितकारित्वं , रसायनत्वं रोचणत्वं बुद्धिस्मृतिपुष्टिपुः स्थैर्यकारित्वं असोपशमनत्वं बहुगुणात्वञ्च । (एते गव्यघृतगुणाः) इति भावप्रकाशः] ।

२ मधु—शीतल, अनुग्रह, जिह्वा का रुचिबर्द्धक तीनों दोष का नाशक एवं स्वाश, काशादि निवर्त्तक है । *

सुवर्ण—मधुर, कषाय, हृद्य, स्वरूप, बल कारक, नेत्रोपकारी, शरीर तेज और बल वर्द्धक एवं आयुः मेधा और वाक्य शुद्धिकर, क्षय, उन्माद आदि कठिन २ रोग सब भी इससे प्रशमित होते हैं । * *

यव—कषाय, मधुर, बल वर्द्धक, रुक्ष, गुरु, शीतल, एवं मूत्र, मेद, और दोष निवारक है । इसी प्रकार अन्यान्य चूड़ाकरणा आदि संस्कार के अनेक प्रयोजन हैं जिन को हम विस्तार भय से यहां नहीं लिखते ।

विवाहसमयमीमांसा ॥

प्रथम हम इस अंश में इसी गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवंगुह्यातोदारान्

कुर्वीतासगोत्रान् । १-४ । मातुरसपिण्डा ॥ ५ ॥ प्र० ३ खं० ४

अर्थात्—ब्रह्मचारी वेद को आद्योपान्त पढ़ कर उपनयन की दक्षिणा गुरुदेव को देकर उन की आज्ञा से अपना विवाह ऐसी कन्या से करे, जो अपने गोत्र की न हो और माता की सपिण्डा न हो । पुनः

अनग्निकातु श्रेष्ठा ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

तत्र 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत् यावच्च नग्ना उलङ्घापि विवरिन्तु शङ्नुपात्, सा नग्निका तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्त-यौवना सैव "श्रेष्ठा" प्रशस्याः कन्याया ऋतौ सज्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्वमुपयु-ज्यते तदैव च 'सोमोऽददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते; नान्यथेत्येव दार

* शीतलत्वं मृदुत्वं स्वादुत्वं त्रिदोष व्रणनाशित्वं रुक्षत्वं चक्षुष्यं स्वासकाशनाशित्वं (एते मधुगुणाः)

* सुवर्णं तिक्तमधुरं कषायं गुणलेखनं हृद्यं रसायनं वल्यं । चक्षुष्यं कान्तिदं शुचि ॥ आयुर्मेधावल-स्थैर्यवाक्विशद्विप्रदं नृणां क्षयं उन्मादगदातोनां शमनं परमुच्यते ॥ इति राजवल्लभः ॥

कर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएव मनुरपि “देवदत्तां पतिर्भार्यां चिन्दते नेच्छयात्मनः (९, ९५)”-इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौवनापि नोद्वाह्येति फलितम् ।

भा०:-जो कन्या उलङ्घ्य भाव से खेल करने में लज्जित न होवे, उसे नग्निका कहते इस के विरुद्ध अर्थात् जिस कन्या का ऋतु प्रकाश पागया है, ऐसी प्राप्त यौवना कन्या को ‘अनग्निका’ कहते । अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये श्रेष्ठा है; ऐसी कन्या समयानुसार न मिल सके तो जिस की यौवन अवस्था आरम्भ हो गई हो वह भी विवाहने योग्य है । यदि इस पर कोई नीचे लिखे वचन के आश्रय से यह आपत्ति देवे कि-

अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी ।

दशवर्षा भवेत् कन्या तत उर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठोभ्राता तथैव च ।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

अर्थात् आठ वर्ष की (कन्या) गौरी, नववर्ष की रोहिणी, दश वर्ष की कन्या कहलाती है और इस के उपरान्त रजस्वला होती, एवं रजस्वला कन्या को देखकर माता, पिता, और बड़े भाई, ये नरक को जाते हैं ॥ तो इस के विरुद्ध अधिक पुष्ट प्रामाणिक वचन गौरी, रोहिणी आदि कन्या के विषय में “अनग्निका” शब्द की निरुक्ति करते हुए ये हैं कि-

“नग्निका तु वदेत् कन्यां यावज्जन्तुमती भवेत् ।

ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्स्वनग्निकाम् ॥ १३ ॥

अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी ।

अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना तु नग्निका ॥ १८ ॥

व्यञ्जनेस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।

पयोधरैस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्तितः ॥ १९ ॥

तस्मादव्यञ्जनोपेता, अरजा अपयोधरा ।

अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥ २० ॥

अर्थात्:-जब तक कन्या को मासिक धर्म न हो, तब तक उसे ‘नग्निका’ कहते अतएव अनग्निका ही कन्या को विवाहे ॥ १३ ॥ जिस कन्या को रजो धर्म न हो, उसे “गौरी” और जिस के शरीर में ‘रज’ प्राप्त हो गया हो, उसे ‘रोहिणी’ और जिस कन्या को युवा अवस्था के कोई चिह्न न हुआ हो, उसे ‘कन्या’ और ‘कुचहीना’ (स्तन रहित) को नग्निका कहते हैं ॥ १८ ॥

युवा अवस्था के चिह्न वाली कन्या को सोम भोगते, पयोधर वाली को गन्धर्व और रजस्वला को अग्नि भोगते ॥ १९ ॥ इस लिये विन यौवनावस्था के चिह्न हुए, रजो धर्म हीन, पयोधर रहिता और सोमादि से अभुक्ता कन्या विवाह के लिये प्रशस्त नहीं । गृह्यसंग्रह २ ॥ १११-२० ॥ (ग्रन्थ) के वचन हैं अब इधर वैद्यक का प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत कहता है कि—

“रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञा प्रवर्तते ॥

तद्दर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशत् क्षयम् ॥ सुश्रुते० अ० १४

अर्थात्—बारह वर्ष के पीछे कन्या का रजो धर्म आरम्भ होकर ५० वर्ष के बाद घटने लगता है । पुनः

पिता ऋतून् स्व पुत्र्याश्च गणये दाहितः सुधीः ।

दिनावधि गृहे यत्नात् पालयेच्च रजस्वलाम् ॥ १ ॥

संस्कारकौस्तुभ पृ० २१ सुम्बई मुद्रित (शाके १८०४ ई०)

अर्थात्—पिता अपनी कन्या के ऋतु को आदि से ही गिने जितने ऋतु पर्यन्त कन्या को घर में पालन करने का विधान है, उतनीवार जब कन्या ऋतुमती हो जावे, तो उस कन्या का विवाह सम्बन्ध होना चाहिये, इससे न्यून कदापि नहीं प्रत्युत अधिक होतो—और भी अच्छा है ।

कन्या वर का विवाह शास्त्र एवं युक्ति अनुसार किस समय होना चाहिये इन अंश में बनारस के सुप्रसिद्ध पण्डित श्रीमान् महामहोपाध्याय पं० राममिश्र शास्त्री (स्वर्गवासी) जी अपनी “उद्वाहसमयमीमांसा नामक” पुस्तक की भूमिका में यों लिखते हैं कि—

PREFACE.

At the present time in various parts of India among those who profess to be followers of the Vaidik religion and practices, the custom of marrying girls in mere infancy is a common one, and people think that if they do not conform to this custom they incur sin. But the truth is that the rule about the infant marriage of girls enjoined in the Dharmasastras is not what is called nitya (a fixed and obligatory duty the non-performance of which is a sin), but kamya (optional and to be performed only through the desire of obtaining some particular benefit), and the principal age for marriage is that of twelve and upwards as clearly declared by Manu, only it is necessary that the marriage ceremony should take place before the age of puberty is

attained, (that is before the commencement of menstruation). Although, owing to deffering climatic conditions, the age of puberty is not the same in all parts of India, and therefore no fixed age is stated in the Dharmasastras, nevertheless they enjoin that the rite of marriage should be performed at some time prior to that age as indicated above. Hence the infant marriage of females is a useless and needless practice, and one that ought to be abandoned as often entailing the evil of child-widowhood.

The next point for consideration is, at what age the marriage of males should take place. This, too, in accordance with the Dharmasastras, should never be in infancy; nor, to speak generally, before the age of eighteen, which is the essential meaning of the injunctions contained in those Sastras. But the present Practice of marrying boys in mere infancy results from ignorance both of what is physically right and of what is religiously enjoined, and is a fruitful cause of rendering those who are thus married puny, sickly, diseased, and miserable throughout their lives, to say nothing of the condition of their offspring.

Lastly, as regards cohabitation, the Dharmasastras (e.g. Asvalayana, Manu, and Yama) with one voice declare that it should commence only after puberty, (i. e. after the appearance of the catamenia). Among the upper classes, people of all the four castes observe this rule, and with them cohabitation is never allowed beforehand, not only out of regard for the injunctions of the Dharmasastras, but also because to act otherwise would be opposed to their traditional customs. In the warmer parts of India, such as Bengal, Madras, and Bombay, females reach this state of maturity usually about the twelfth year, and in the colder regions of Rajputana and the Panjab about the thirteenth, and among the poorer classes still later. On this account the great physicians and rishis of this country, Charaka & Sushruta, have laid down the general rule that the wife should not join her husband before she has reached the age of twelve at least. (In those places in the Mahabharata & Brahma Purana where the age for the marriage in the case of females is declared to be sixteen, eighteen, or twenty, this applies to former times--in former times women attained maturity later, & retained their vigour longer).

I entertain the hope that by means of this book people will come to know that marriage at the age of twelve or thirteen is not prohibited by the Sastras, so long as it takes place before the period above indicated. Hence the marriage of mere infants is wrong. In any case, as appears from what I have stated above, males should not marry before eighteen, & in no rank of life should the wife join her husband till she is past the age of eleven.

My earnest prayer is that the princes & wealthy nobles of this country will exert themselves in this matter, and freely provide means for the circulation of this work throughout India. Then, if they follow the course therein advocated, will the inhabitants of Bharatavarsha become wiser, more powerful, energetic, and courageous, & better qualified to understand and take part in abstruse and difficult political concerns.

A true friend of the India People.

PANDIT RAMA MISRA SASTRI

Banaras.

7th December, 1890.

क्या कोई संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो अपने कुल गोत्रकी वृद्धि और ससृष्टि न चाहें ? और स्वाभाविक बल, पुष्टि, शरीरतेज और अङ्गसौष्ठव की इच्छा न करते हों ? मुझे तो दृढ़ निश्चय है कि समस्त ही संसार के मनुष्य एक स्वर से स्वीकार करेंगे कि इन सब पूर्वोक्त फल की कामना स्वभावसिद्ध समस्त ही विचारशक्तिवाले जन्तुमात्र को है, इतना ही प्रभेद है कि बुद्धिमान लोग फल की कामना होते ही उपाय की चिन्ता करते हैं और उसे किसी न किसी प्रकार से पाप भी जाते हैं और सिद्धि कर लेते हैं, और बुद्धिहीन आलसी दैवहत लोग सर्वदा फलकी इच्छा ही करते २ प्राणान्त पाय जाते हैं उपाय की तो नाम मात्र भी भावना कभी नहीं जानते, और यह भी समस्त जन स्वीकार करेंगे कि जो बात पूर्वही बिगड़ जाती है उसे फिर खनाना कठिन है और विशेष करके पुरुषार्थ चतुष्टय के साधन का महोपाय-स्वरूप शरीर का, जिस की रक्षा करने से चारो ही पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं, और जिसकी उपेक्षा से चारो ही पुरुषार्थ रसातल में लीन हो जाते हैं।

* If people cannot all at once conform, as I think they should conform to the directions of Manu and Susruta, and make the age of twelve the earliest.

तो, यहां पर विचारना उचित है कि शरीर कौन वास्तु है ? । इसके उत्तर में आस्तिक, नास्तिक, वैद्य, हकीम, डाक्टर, सबी फिरके के और समस्त ही मत के लोग ऐकमत्य से कहेंगे कि, माता पिता के शुक्र और शोणित से बना, और विविध खाद्य पेय से पोषित, पाञ्चभौतिक हासवृद्धियुक्त एक विचित्र मांस-पिण्ड है जिसके दृष्टान्त देने के अर्थ भूपृष्ठ पर कौन कहे नाकपृष्ठ पर भी कोई वस्तु नहीं देख पड़ती । जिस पिण्ड के भीतर शुक्र, वामदेव ऐसे विरक्त महानुभाव लोगों के वैराग्यमय चित्त का चित्र बना है; प्रल्हाद, पराशर ऐसे हरिभक्तजनों के भक्तिभाजन अन्तःकरण का चित्र खचित है । और जिस के भीतर भीम जैसे वीर, अर्जुन ऐसे कीर्त्तिमान और विविध विद्याविशारद, कर्ण ऐसे दानशील, दधीचि ऐसे परोपकारी लोगों के समस्त व्यवहार और सदाचार का मूलभूत कोई विलक्षण तत्त्व बैठा है; इसका वर्णन कहां तक हो सकता है, यही संसारस्वरूप महावटवृक्ष का परमनिदान बीज है इसी से आप लोग सन्तोष करिये और यह भी जान लीजिये कि इस शरीर की तुलना में समस्त संसार की समृद्धि अति तुच्छ है । बादशाहों की बादशाही, राजों का राजत्व, विद्वानों की विद्वत्ता, पराक्रमी लोगों का पराक्रम, सबही इस का छोटासा विलास है । अब यही निश्चय करके आज मैं इस बात में तत्पर हुआ हूं कि आप लोगों को इसका कुछ परिचय दे सकूं कि शरीर किस चाल से उत्तम होता है । प्रिय भारतवर्षीय जनसमूह ! ध्यान रखना, जबतक बीज अच्छा नहीं होता, तब तक भूमि कभी उत्तम फल नहीं देती, क्या कभी कच्चे बीजसे भी उत्तम फल उत्पन्न हुआ है ? आप लोग अपने छोटे २ बच्चों का विवाह कर देते हैं और कच्ची अवस्था ही में बालक स्त्रीप्रसङ्ग के घोर अनर्थ में पड़ जाते हैं । यह सब जानते हैं कि समस्त ही वस्तुकी एक पूर्वावस्था और दूसरी उत्तरावस्था, इसीप्रकार एक आगमावस्था और दूसरी अपायावस्था होती है । इन में से आत्मावस्था मनुष्य की पूर्वावस्था होती है और यही अवस्था—

बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, शरीरकी लावण्य, पुष्टि, इन सबकी आगमावस्था होती है । और आगमावस्था ही में यदि कोई व्यय करने लग जाय तो कैसी उस की दुरवस्था होगी ? यह विचार आप स्वयं कर सकते हैं । यदि तालाब में पानी के आगमन ही के समय से प्रवाह होना आरम्भ हो जाय तो कदापि वह तालाब नहीं भर सकता, चाहे कैसे ही वेग से उस में जल का आगमन

क्यों न हो। यही एक दृष्टान्त, वाल्यविवाह की कुरीति से आप लोगों की कैसी हानि होती है, इसे दिखाने की भरपूर है ॥

इस अवसर पर कितने देश के शत्रु निज कुलनाशक यह कह बैठेंगे कि “विवाह वाल्य में होता है तो क्या हुआ, स्त्री का प्रसङ्ग तो योग्य समय पर ही होता है,” तो यहां पर हम यहां कहेंगे कि यह महा ही अनर्थ की बात है कि वृथा किसी की कन्या को बहू बनाय बालवैधव्य के घोर दुःखाग्नि-उग्राला के सामने हाथ पैर काट के विवाहरूप महाकठोर अनिवार्य लोहे की सांकल से बांध देना, जिस सांकल से बहु बालिका को मातृकुल, पितृकुल और भ्रातृ मित्रवर्ग कोई भी नहीं छुड़ा सकते, हां नये समाजी, पुराने ब्रह्मवादी इत्यादि लोग ऐश्वरीशक्ति के बल से भले ही छुड़ाकर घोर अपवाद का सामान जुटा सकें, पर जब यही घोर अनर्थ इस वाल्यविवाह के संनिहित रहता है तो इसे खुद्विमान भी कभी करें यहां बड़ा अनर्थ है। कितने लोग इस पर आंख मीचकर यह भी कहेंगे कि “संसार में सब ही अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है, यदि तरुण पुरुषका विवाह होय तो क्या वैधव्य भय नहीं है? सुख दुःख तो केवल ईश्वर के अधीन है, हगने अनेक बालकों को देला है कि जिन का विवाह अत्यन्त वाल्य में हुआ है और वे सब ही प्रकार जन्म भर अच्छे रहे हैं और कितने तरुण भी विवाह के नासही के भीतर अपनी नवीन तरुणी को छोड़कर यम मन्दिर की यात्रा कर गये हैं, इस हेतु वाल्यविवाह पर दोष देना केवल निरीश्वर जगत् को मानने वाले लोगों ही का शोभा देता है”। इस पर हम बहुत शास्त्रार्थ और विचार न करके इतना ही कहते हैं कि रणजीतसिंह, शिवाजी, और हैदर अली इन तीनों महाशयों ने अपना नाम लिखना भी नहीं सीखा था और बहुत बड़े पुरुष हो गुजरे, यह ऐतिहासिक बात है, इसे सब ही को स्वीकार करना होगा, तो आप अब अपने कुल में किसी को भी लिखना पढ़ना मत सिखलाइये, वरन जुआ और डकैती की शिक्षा दीजिये क्योंकि, इन सब कार्यों में भी अनेक लोग बड़े धनी और नामी हो चुके हैं, विशेष करके हैदर ने इतना नाम और देशसम्पत्ति को जो पाया था सो प्रायः बेईमानी के बल से और शिवाजी ने डकैती से; तो अब आप बेईमानी और डकैती ही के भरोसे से बड़े होने की चेष्टा कीजिये। यदि कहें इस पर आप भूल कर यह कह बैठेंगे कि, “होना न होना तो केवल ईश्वर के हाथ है, परन्तु मनुष्य को चेष्टा तो अच्छी ही करनी उचित है” तो अब

आप हमारे पथ पर आगये, यही मेरा भी वक्तव्य है कि मनुष्य को चेष्टा अच्छी करनी उचित है; यों तो “बने की बात है” यह मसल मशहूर है। एक समय बड़े सिकन्दर ने किसी डाकू को पकड़ा और उस से पूछा कि तुम ऐसा काम क्यों करते हो ? तब उस ने इस के उत्तर में यही कहा कि “तू बड़ी फौज, बहुत जहाज और बड़े २ सामान लेकर देशों को लूटता है और मैं थोड़े सामान और थोड़े आदमी के साथ उसी काम को करता हूँ परन्तु “बने की बात है” तू तो बड़ा डकैत है पर तुझे तो लोग बड़ा बादशाह करके जानते मानते हैं और मुझे डकैत कहते हैं,” तो इस दृष्टान्त से माना कि ‘बने की बात है’ परन्तु धोरी डकैती बुरी है और भले काम तो भले ही है यह सब ही को मानना होगा। तो फिर यह भी आप विचार कर लीजिये कि कदाचित् किसी को बाल्यविवाह करने पर भी किसी घटनान्तर से शरीर अच्छा रहा यह बात कदाचित् हो सकती है। परन्तु बाल्य विवाह अनर्थ का हेतु, और तारुण्य का विवाह सर्वथा उचित और शरीर सुख बल का हेतु है, यह तो अवश्य ही मानना होगा। तो अब आप निश्चय कीजिये कि संसार सबही के देशों में बालकों की मृत्यु की अपेक्षा अधिक वय वाले लोगों का मरना अल्प होता है, जैसे २ अधिक वय होता है तैसे २ शरीर चिरस्थायी होता जाता है। इस में आम वृत्त के पुष्प आने के समय से फल की पुष्टि पर्यन्त अवस्था ठीक दृष्टान्त है; जितने संख्या में पुष्प गिरते हैं उतने टिकोरे नहीं गिरते और जितने टिकोरे गिरते हैं, उतने पुष्ट आम नहीं गिरते और यही मनुष्य की संतति की भी दशा है तो, आप व्यर्थ पौत्र और दौहित्र के मुखनिरीक्षण की इच्छा से बालिका कन्या को एक बालक (जिसे धोती कहा है यह भी ज्ञान नहीं है) के साथ काहे नष्ट करते हैं, उसे तो आप ब्रह्मचर्य में रख कर विद्या सिखलाइये कि जिस में वह लोक द्वय का अभिज्ञ बन जाय और आप का कुलभूषण हो जाय और जगत का भार भूत न होय। यहां पर कितने अस्पृष्ट, बाल्य विवाह के इठी यह भी कह बैठते हैं कि “यह ब्रह्मचर्य का समय नहीं है, अब तो कलिकाल में बालक अवस्था ही में लड़के जोरू खोजने लगते हैं इस हेतु इन का बाल्यदशा ही में विवाह करना उचित है, नहीं तो खिगड़ जाते हैं”। परन्तु यहाँ, इस बुद्धि पर, एक बालक के ब्रह्मचर्य के निर्वाह कराने में तो पिता माता असमर्थ हैं और विवाह के अनन्तर जब वे दो भये और प्रतिवर्ष तीन, चार, पांच होने लगे

तो उनका पालन पोषण से निर्वाह वे कैसे कर सकेंगे ! बड़ी अंधेर की बात है जो बालक का ब्रह्मचर्य निर्वाह नहीं कराया सके, वे तब पौत्र सुक्त का भरख पोषण कैसे कर सकेंगे, इसका विचार नहीं करते । यहां पर एक यह भी बात ध्यान देने की है कि मैं तीस और पचीस वर्ष की अवस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य के उपदेश करने में उद्योग नहीं करता, मेरा केवल यही वक्तव्य है कि निज देश के जल वायु क अनुकूल और भोजनाच्छादन के योग्य निज वित्त के अनुसार जिस देश में जितने वय पर यौवन शरीर में दृढ़बद्ध होजाय और अस्थि मीढ़ हो जाय, तब आप अपने बालकों की शादी कीजिये जिसमें वैधव्य भय भी आपेक्षिक अत्यल्प होजाय, बालकों के अङ्ग भी दृढ़ हो जाय और आगे उनकी संतति भी निरोग दृढाङ्ग * उत्पन्न होय। परन्तु सब देश में पुरुष की स्त्री का प्रसङ्ग अठारह वर्ष की अवस्था के पूर्व कदापि न होना चाहिये, यह सब देश और सब काल का नियम है इसे तो कदाचित् भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये “तिरिया तेरह मरद अठारह” यह प्राचीन काल से पामर पर्यन्त की कहावत प्रसिद्ध है इसे याद रखिये और स्त्रियों को भी विना यौवन आये पुरुष संपर्क अहितहेतु है और सर्वथा धर्मशास्त्र और वैद्यकशास्त्र के विरुद्ध है। यह समस्त वृत्त संस्कृत में हमने विशदरूप से लिखा है उसे देखने से ही यथार्थ परिचय हो जायगा । आज कलह के अतिवलिका विवाह के कारण संसार का अस्वास्थ्य होता है और प्रजा अल्पायुष, स्मृतिशक्ति हीन, दीन, विपत्तिग्रस्त होती जाती है इत्यादि सब बात हम ने संस्कृत में वर्णन की है, दैजे में धन ठहरा कर बालकों का विवाह करना अथवा धन लेकर कन्या को देना वा वृद्धावस्था में विवाह करना तथा घर की अपेक्षा बड़े वय की कन्या से विवाह करना इत्यादि भी शास्त्र में निषिद्ध है, यह सब निरूपण किया गया है ॥

अब इस अवसर पर अनेक जन (जिन की समाज में प्रतिपत्ति अल्प है) असावधानता से बालविवाह के विरुद्ध कानून के शरक लेने का मनोरथ करते हैं और वैदिक पवित्र विवाह विधि को कलङ्कित करके आप भी अपना हृदय-दौर्बल्य दिखाते हैं परन्तु सरकार ऐसी नहीं है कि वह भी अपना दौर्बल्य * दिखावे, वह तो एक बहुत ही उत्तम नीतिपरिपूर्ण विश्वसनीय न्याय से विशाल निरालस और दयावान है, इस हेतु हमें हमारे धर्म के विरोधी अथवा न जानने वाले मिथ्या चमंडी और हमारे पवित्र सनातन वैदिक-

* धर्मशास्त्र में दृढाङ्ग सन्तति उत्पन्न करना लिखा है फिर यह बात बालसंपर्क से क्योकर होसकता है ॥

* सरकार जिन पर कानून बनाता है उन्हें बिना पूछे उस का प्रचार कभी नहीं करती ॥

वर्षपर आश्रित पहुंचाने की इच्छा करने वाले देशी और विदेशियों का अनुमान भी भ्रम नहीं है कि वे हमारा इंग्लैण्ड में मिथ्या वकालत नामा ले-कर कुछ धर्माघात कर सकें तथापि हमें अपनी तरफ से प्रकाशरूप से अपने निवाह इत्यादिक सामाजिक कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिये । यद्यपि हमारे यहां सामाजिक उपदेश देनेवाले नगर के निवासी परमविद्वान् पण्डितों से लेकर ग्रामनिवासी साधारण पाधा पुरोहित पर्यन्त हैं, और वे प्रायः उत्तम ही कार्य कहते हैं, परन्तु अधिक जक २ नहीं करते और न इंग्लैण्ड में जाते और न तो इधर उधर अपना पत्र व्यवहार करके अपने मांघे में देश हितैषी का कलगी खींचते हैं, केवल उन में इतनी त्रुटि है कि न तो वे कोई दिशाज्ञ प्रयत्न करते और न तो समाज के अगुवा होने का घमंड दिखाते तथापि कार्य करते ही हैं । वस्तुतः उन में और कोई त्रुटि नहीं है । प्रतिदिन सर्व बुद्धिमान् ब्राह्मण बालविवाह; अति बालिकाविवाह, और वृद्धविवाह को अपने वृद्धविवाह को अपने घर से और वेदानुयायी चातुर्वर्ण्य समाज से उठाते जाते हैं, और भी जो कुछ समाज में दोष पाये जाते हैं उन्हें भी शनैः २ सुधारते हैं । अति बालिका से संपर्क करना, यह तो वेदानुयायी उच्चजातीय चातुर्वर्ण्यमें संभव ही नहीं है, क्योंकि गरीब से गरीब और अपठित के घर भी स्त्रियों के नवीन ऋतु होने पर पुष्पोत्सव होता है जिसे “फूलचौक” कहते हैं । और पुष्प तो स्त्रियों को बाल्य से उत्तीर्ण होने ही से होता है । यह बात सर्वथा सुपरोक्षित है और ऋतु होने के अनन्तर किसी सुसूहृत् से स्त्री की शुद्धि के पश्चात् गर्भाधान संस्कार होता है, फिर क्योंकि हम लोगों में बालिका संपर्क की संभावना हो सकती है ? यह संभावना तो उन लोगों में हो सकती है जिन के यहां स्त्री संभोग पशुसंप्रदाय और केवल इन्द्रियपरायणता ही से हो होगा, हमारे वैदिक मार्ग तो यह परमपवित्र संपर्क बड़े २ विधि विधान से वैदिक मन्त्रपर्वक होता है ॥

रहा अब बालविवाह तो उस की यह दशा है कि कितनी तो हमारे देश में ऐसा संप्रदाय है कि जिनमें युवावस्था ही में विवाह पुरुषों का होता है । जैसे कि मिथिलादेश में मैथिल मात्र का विवाह २० बीस वर्ष की अवस्था के पहिले नहीं होता (बल्कि ३० और ३५ तथा चालीस तक होता है जिस कि समयानुसार हम उत्तम नहीं समझ सकते) और यह तो स्वाभाविक बात है कि जब जिस देश में बड़ी अवस्था के पुरुष का विवाह होगा तब उस देश में अतिबालिका के संग नहीं हो सकता, एक बड़े विद्याप्रधान मिथिला देश की तो बात ही चुकी रहा कर्णकुण्ड देश, सो वहां तो बालिकाविवाह की कीम कथा, वृद्धकुमारी का भी विवाह होता है, जिस के रोकने का

उपाय कान्यकुब्ज भी करते हैं और अन्य लोग भी करते हैं और आशा है कि शीघ्र ही हम लोग इस अनर्थ को निवृत्त कर सकेंगे। यह तो ईश्वर का नियम है कि जहां बड़ी अवस्था में कन्याओं का विवाह होता है वहां प्रायः घर छोटे नहीं हो सकते तो कान्यकुब्ज देश में भी विवाह समय प्रायः ठीक ही है ॥

रहा राजपूताना तो, वहां पचास वर्ष के पूर्व, सर्व ही वर्ष में अधिक वय के वर के संग अधिक वय की कन्या का विवाह होता था, परन्तु जब से सरकार अंगरेज की असलदारी में वहां के वैश्य कलकत्ता, बंबई, मद्रास, चीन, ब्रह्मा, इत्यादि मुलकों में जाकर तिजारत के कारण धनी होने लगे, तब से उन्हें उन के अभाग्यवश (१) बाल्यविवाह ने घेरा है बल्कि वृद्धविवाह (२) और बड़ी उमर की कन्या के संग छोटी वय के लड़के के व्याहृरूप धोर अन्धकार ने भी उन्हें दबाया है और उन के संग उस देश के अपठित ब्राह्मणादिक भी इस दुराचार से दूर नहीं हैं, परन्तु परमेश्वर की दया से राजपूतजाति में तो यह दुराचार नहीं है और आशा है कि यह जाति इस दुराचार से दूर भी रहेगी। और राजपूताना के निकटस्थ होने ही के कारण दिल्ली के प्रान्त और ब्रज के निकटस्थ देशों में भी यह बाल्यविवाह की आग फैली थी, परन्तु धन्यवाद है भारत की ब्राह्मणमण्डली को कि उस ने इस के रोकने के उत्तम २ उपाय किये हैं और सुफल भी होते जाते हैं। पञ्जाब में भी युवावस्था ही के वरवधू का विवाह होता था और अभी अतिबाल्यवस्था में नहीं होता, परन्तु कुछ रीति बिगड़ गई है तो अब पठित ब्राह्मण मण्डली ने अपनी उपदेशवीरता से उसे भी सुधार देने का यत्न किया है और नित्य २ सामाजिक संशोधन होते जायेंगे क्योंकि वहां के रहस लोगों की भी इस तरफ विशेष दृष्टि है ॥

बङ्गदेश के विषय में हम यही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह देश धर्मशास्त्र की मर्यादा रखकर अपना साजिक संशोधन कर लेवे, और आशा है कि उड़ीसा भी बङ्गानुयायी होवे। और यही वक्तव्य मद्रास और बम्बई के उन प्रान्तों के विषय में है जहां संस्कृत विद्या जीवंत शीर्ष है और उस के स्थान पर नई २ विद्या और ख्यालार्त सरगर्भ हैं ॥

अब रहा नर्मदा पार और गुजरात तो, वहां की इन दिनों यह दशा है कि एक ओर तो धर्मशास्त्र के नाम ही पर घृणा करते हैं और एक ओर वे लोग हैं जो जानते हैं कि सात आठ वर्ष की कन्या के विवाह न करने से न तो कोई धर्म की हानि है और न समाज की क्षति ही है, परन्तु हठ वश अतिबालिका के विवाह में वैधव्यदोष अधिकतर देखते हैं तो भी जानबूझ

कर आग में गिरते हैं। यद्यपि नभंदा पार में बालकों का विवाह प्रायः उचित समय पर होता है न कि अठारह बीस वर्ष के भीतर, परन्तु उधर कुछ कन्याओं के वय में अधिक करने ही से ठीक हो जाता है उस पर ध्यान देना अव्यावश्यक है ॥

यहां पर मुझे उन दोनों दलों का (जो केवल जनमाना आइनी विवाह चाहते हैं, और वे जो शास्त्र का तात्पर्य के जान पुरानी लकीर के फकीर हो वृथा अतिबालिका के विवाह में आग्रह किये हैं) हठ देख बड़ा कष्ट होता है, और यही कहना पड़ता है कि ये दोनों दल मिल के काम करें तो सोना और सुगन्ध हो जाय इस के अर्थ प्रतिनगर ग्राम देशों में पञ्चायत होकर धर्मशास्त्र के अविरुद्ध तत्तद्देश के जल वायु के अनुसार विवाहकाल (३) निर्णय होजाय तो, जो आज बालविवाह के कारण हमारे देश में बल, वीर्य, पराक्रम, तीव्र बुद्धि, और नवीन शास्त्रीय तथा लौकिक कल्पना शक्ति का अभाव हो गया है और नाना प्रकार के अज्ञातनाम रोग उत्पन्न होते हैं वे एकान्ततः मिट जायें ॥

आशा है कि हमारे देशभाई और पुरानी पण्डितमण्डली (जिसे आज भी लोग भारतवर्ष में बहुत मानते हैं) इसे गौरव से विचार करेंगे और हठ न करके ईश्वर और अन्धकार को त्याग यथार्थ कार्य का अनुष्ठान करेंगे ॥

ब्रह्मासुतवर्षिणी सभा } आप लोगों का वही शुभचिन्तक
बनारस । } रामनिश्र शास्त्री

गुरुमन्त्र-मीमांसा ॥

गुरु मन्त्र-मीमांसाके पहिले, गुरु किसे कहते हैं इस का विचार करतेकरना चाहिये इस "गुरु" शब्द की परिभाषा हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने यों कियी है कि:-

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥

सम्भावयति चाज्जेन स विप्रो गुरु रुच्यते ॥ १४३ ॥

पुनः-पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषंभ ॥

प्रज्ञां ददाति * चाचार्यस्तस्मात्स गुरु रुच्यते ॥३॥ बालमी० अ० स० १११

(१) इस के अतिरिक्त इन में सर्व ही वैश्य गुण हैं परन्तु "जहां गुलाब तहां कांटे" ।

(२) होली के दिनों में जहां मारवाड़ी वैश्य, और ब्राह्मणों को जम घटा होता है वहां (बाला ने परणाय जोषनों खोये हैं) इसे हफ से गाते हैं ॥

(३) जैसा कि ऋतु के पूर्व इस पुस्तक में काल निर्णय किया है उसे देशानुसार कर लेना ही अवसिष्ट है ॥

(४) आचिनोति हि शास्त्रार्थ माचारे स्थापयति ॥ स्वयमाचरते यस्माच्चाचार्यः परिकीर्तयते ॥१॥ ऐतरेयब्राह्मणके अ० १ के० सायणभाष्यः । यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः ॥१३॥ स हि विद्यातरतं जनयति ॥१५॥ तच्छ्रेष्ठं जन्म ॥१६॥ आपनन्मन्वीय धर्ममन्त्रे प्र० १ प० १ ख० १

पुनः-त्रयः पुरुषास्याति गुरुवोभवन्ति; माता, पिता, आचार्यश्च ॥३१॥ विष्णु स्मृतिः।

पुनः-कस्मादाचार्यः आचारं ग्राहत्याचिनोत्यर्णानाचिनोति बुद्धिमिति वा॥

निरुक्त प० अ० १ पा० २ ख० २

अर्थात्-गर्भाधानादि संस्कार करके पुत्र की पालना करने से पिता की भी गुरु कहते हैं। यद्यपि माता पिता आदि भी बालक के गुरु हैं। परन्तु वेदादि विद्याओं के पढ़ाने से आचार्य ही मुख्य गुरु हैं ॥ १४२ ॥ पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और आचार्य बुद्धि को देता है, जिस से शिष्य को सत्यासत्य का विवेक होता है-इस से आचार्य ही को गुरु कहते हैं ॥ ३ ॥ मनुष्य के तीन गुरु होते-माता, पिता, आचार्य ॥ ३४॥ अब निरुक्तकार का मत सुनो। आचार्य्य उस को कहते हैं जो आप सर्व विद्यार्थ सम्पन्न हो के मनुष्यों को अत्युत्तम आचार सिखाकर सर्वार्थ सम्पन्न करता है ॥ इत्यादि अनेक प्रमाणों से आचार्यों ही का गुरु होना सिद्ध होता है, और प्राचीन इतिहास के देखने से भी यह बात सिद्ध होती है कि पूर्वकालमें भारतवर्ष में ब्राह्मण पुरोहित आचार्य्य हुआ करते और वैदिक गुरु मन्त्र गायत्री का उपदेश करते थे। जैसा कि नीचे लिखे प्रमाणों से सिद्ध होता है।

सद्यस्त्वेव गायत्रीन् ब्राह्मणायानु ब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥९॥ त्रिष्टुभं जगती वैश्यस्य ॥ ८ ॥ जगती वैश्यस्य ॥ ९ ॥ सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥ १० ॥ ३।

हरिहरभाष्यम्-सद्य एव गायत्रीं ब्राह्मणायानु ब्रूयात् कथयेत् कुतः आग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः। आग्नेयो अग्निदैवत्यः ब्राह्मण इति वेद वचनात्। त्रिष्टुभं जगती वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीम्। क्षत्रियस्य त्रिष्टुभं त्रिष्टुप् छन्दोयस्याः सा त्रिष्टुप् तां त्रिष्टुभं सावित्रीम्। जगती छन्दोयस्याः ऋचः सा जगती तां जगतीं सावित्रीं वैश्यस्य विशः सावित्रीं मनु ब्रूयादित्यनुषज्यते। सर्वेषां वा गायत्रीं यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्री मेव गायत्री छन्दसका मेव सावित्रीं सवितृदेवताकां तत्सवितुरिति सकल वेदशाखास्नातां ऋचमनु ब्रूयात् ॥ पारस्करगृह्यसूत्रे।

अर्थात्-गायत्री ब्राह्मण की, 'त्रिष्टुप्' क्षत्रिय की और 'जगती' वैश्य की उपदेश देवे। या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्णों को गायत्री ही का उपदेश करे। यह पक्ष (१० सूत्रोक्त) वेद की सब शाखाओं के अनुकूल है। इसी प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र में भी सब के लिये गायत्री मन्त्र का विधान है।

“अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवीत्विति ॥ ३८ ॥ तस्मा

अन्वाह पक्षोर्द्वैर्द्वैश्च ऋकश्च इति महाव्याहृतीश्च विहृताञ्जकारान्ताः ॥३९॥४०॥

गौ० प्र० २ खं० १०

भा०—(उपनयन समय) अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़कर मन्त्रता से प्रार्थना करे कि हे गुरो ! मुझे वेद पढ़ावें, गायत्री उपदेश करे ॥३८॥ इस प्रकार बालक कर्त्तृक वेदाध्ययन और उस का प्रारम्भ सूचक सावित्री मन्त्र का, आचार्य्य एक २ चरण कर उपदेश करे ॥ ३९ । ४० ॥

यहां—यह नहीं लिखा गया है कि—ब्राह्मण आदि भिन्न २ वर्णों को गायत्री, त्रिष्टुप् आदि भिन्न २ मन्त्रों का उपदेश करे, किन्तु सब के लिये एक ही गायत्री गायत्री के उपदेश का विधान है ।

क्या स्त्री को भी पुरुष के समान गुरु से—शिष्य होना चाहिये ?

गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि स्त्रियों का केवल एक पति ही गुरु है, अन्य नहीं, बल्कि इस बात को अन्यान्य प्राचीन एवं नवीन सब ही शास्त्रों में निषेध है कि “पतिरेको कुलस्त्रीणां” अर्थात् स्त्रियों का गुरु, केवल पति ही है, जो कुछ सांसारिक या पारमार्थिक कार्य हो, सब ही पति के उपदेशानुसार स्त्री करे। स्त्री को तीर्थ गमन, व्रतोपवास, सब ही का निषेध है, केवल पति ही की सेवा करना उस का प्रधान कर्त्तव्य है ।

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥ गौ० प्र० २ खं० ३८ ॥

‘अनुमन्त्रिता’ सा वधूः ‘गोत्रेणा’ प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती ‘गुरुं’ पतिम् ‘अभिवादयते’ ॥ १२ ॥

पत्नी इस प्रकार वाक्य बोलती हुयी अमुक गोत्रा, अमुक नामवाली आप को (पति को) अभिवादन करती हूँ” चरण छूकर प्रणाम करे। अंगरेजी बाल के अनुसार “गुडमौनिंग” या केवल नमस्ते न करे) इसी प्रकार अन्यान्य ग्रन्थसूत्र, धर्मसूत्रों में प्रमाण हैं ।

॥ मधुपर्क में गौ का क्या होता था ? ॥

आचार्य या ऋत्विक् आदि बड़े पुरुष के आने से उन की पूजा*मधुपर्क-विधि से करनी चाहिये, यह हमारे शास्त्रों का लेख है । और प्राचीन समय जब आर्य धर्म यथावत् उन्नति शर चढ़ा हुआ था, उस समय वैसी ही विधि से पूजन भी हुआ करता था, यह बात भी इतिहासों में प्रसिद्ध है । अब वह बात अत्यन्त ही अपरिचित हो गयी अतएव उस विषय में कई प्रकार के संशय, भी उत्पन्न होने लगे हैं । १ आसन, (विष्टर) २ पाद्य, ३ अर्घ्य, ४

* राजतर्विक स्नातकाचार्य गुरुस्वसुर मातुलाः । मधुपर्केण संपूज्याः परिसम्भत्सरान्पुनः । भ० ३ । ११६

आचमन, ५ मधुपर्क, एवं गौ, ये कः वस्तु आगत महात्मनाओं के सत्कारार्थे दीयी जाती थी । (१) बैठने के लिये आसन, पैर धोने के लिये "पाद," हाथ धोने को "अर्घ्य"; मुख शुद्धि के लिये "आचमन," भक्षण के लिये दधि, घृत, मधु आदि से बना "मधुपर्क" और भेंट के लिये 'गौ', ये कःओं बात होने से वह पूजन साङ्गोपाङ्ग होता । अब यहां यह प्रश्न है कि मधुपर्क में जो गौ दीयी जाती थी उस का क्या होता था ? क्या यह गौ आये हुये महात्मा को भेंट दीयी जाती थी, या उस गौ का बध करके आये हुये अतिथि को उस उस का मांस खिलाया जाता ? वेद के वाक्य ऋषियों के धर्मशास्त्र, और कल्पसूत्रों की जो रीति और प्रसिद्ध पण्डितों के उदाहरण देखते हैं तो उक्त दोनों ही बातें होती थीं यही प्रतीत होता है क्योंकि " आतिथ्येष्टि " प्रकरण की ब्राह्मण श्रुति में (२) यह लिखा है कि जब किसी मनुष्य का राजा आवे या और कोई पूज्य पुरुष अपने घर पर आवें तो, कई लोग क्या तो किसी उष्टा (बैल) को, या बन्ध्या गौ को बध कर उस का सम्मान किया करते, इत्यादि । स्मृति में लिखा है कि (३) क्या तो किसी बड़े कृषभ, को या कोई बड़े बकरे को आये हुए श्रोत्रिय के लिये बलि देवे, कल्पसूत्रकार आश्वलायन भी लिखते हैं कि आगत श्रोत्रिय यदि गोबध कराया चाहे तो "नष्ट हुआ मेरा पाप, पाप मेरा नष्ट हुआ"—(४) इस मन्त्रको अपने 'हां, करो' इसप्रकार बधकी आज्ञा दे । तथा सामवेदीय लाटपायनसूत्र में लिखा है, कि जब गौ सम्मुख लाके खड़ी कर दीयी जावे, तब उसके बधार्थ अतिथि यह वाक्य बोले कि "हां, करो" इत्यादि विविध वाक्यों से प्रतीत होता है कि मधुपर्क के समय अवश्य गौ का बध होता था, यदि कल्पसूत्रोक्त "कुरुत" कारयिष्यन्(५) इत्यादि पदों का और ही कुछ अर्थ है बध अर्थ नहीं, ऐसा कहो तो, आश्वलायन आगे लिखते हैं कि (६) बिना मांससे मधुपर्क ही नहीं होता और किसी पशु के मांस का वहां कहीं विधान है नहीं सिवाय गौ के । सुतरां उसी का वहां विधान समझना होगा इत्यादि प्रमाण से प्रतीत होता है कि मधुपर्क में गोबध होता था । परन्तु उन्हीं

(१) विष्टरः पाषमर्ष्यमाचमनीयं मधुपर्कं गौरितिप्रत्येकं निर्वेदयन्ते । आश्वलायन गृ० । १ । २४ । ७

(२) तथैवान्ये मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन् वार्हन् युष्माकं वेहतं वाचयन्ते ॥ आ० शतपथ ब्राह्मणः

(३) महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् या० स्मृ० आ० श्रौ० १६

(४) हतोमे पापमा पापमा मे हतशति जपित्वो कुरुतेति ब्रूयात्तां कारयिष्यन् आ० गृ० सू० १ । २४ । २४

(५) कुरुतेति गविप्रापताया ब्रूयात् ॥ ला० श्रौ० सू०

(६) नामासोमधुपर्कः । आश्वला० गृ० १ । २४ । २६

श्रुति स्मृति और कल्पसूत्रों की सम्मति से यह भी सिद्ध होना है कि मधुपर्क में गोबध नहीं भी होता था ? श्रुति में लिखा है (१) कि “पह गौ रुद्र-देवताओं की माता है, वसु देवताओं की पुत्री है, आदित्य देवताओं की बहिन है और असृत स्वरूप दुग्ध के उत्पत्ति का स्थान है। इसलिये मैं ने जिज्ञासुमान जनों के प्रति वार संकहा है कि इस अखण्डनीय निरपराध गौ का बध मत करी “इत्यादि”। तथा स्मृति में लिखा है कि (२) जो शरणागत को मारे, या लोक जननी गौका बध करे, वे महा पापी होते हैं। तथा कल्पसूत्रकार ने जैसा बध पक्ष लिखा है (३) यथा “माता रुद्राणां” इत्यादि मन्त्र को अप के कहे कि “हां, इस को छोड़ दो यह घास चरे” लाटघायन ने भी ऐसा ही कहा है (४) इत्यादि। दोनों पक्ष के वाक्य देख के यही सिद्धान्त होता है कि गौ का बध और उत्सर्जन दोनों ही बातें होती थीं। यद्यपि स्थान २ में गौका नाम “अघ्न्या” और “अदिति” आते हैं जिन से वेदोक्त मत में गौ की अबध्यता और अखण्डनीयता निश्चित है परन्तु “तद्यथैवान्ये” इत्यादि उक्त ब्राह्मणोक्त वाक्य में जब स्पष्टतः गोवध का विधान लिख दिया है तो उक्त नाम लिखने ही से जो गोबध न किया जावे, यह एक मात्र सामान्य बात है जैसे “न हिंस्यात् सर्वभूतानि, यह श्रुति कहती है कि किसी जीव को भी हिंसा मत करो, किन्तु “अग्नीसोमीयं पशु मालाभेत” यहां “अग्निसोमयागी” में श्रुति, पशुहिंसा का विधान करती है।

मीमांसक लोग जैसे यहां पूर्व श्रुति को सामान्य विधि और अग्निम को प्रज्वल और यथार्थ समझते हैं। इसी विशेष विधि मान के पूर्व श्रुतिकी उपेक्षा कर, यागीय हिंसा विधि ही को प्रकार यहां भी हिंसा पक्षवादी लोग (तद् यथैव) श्रुति के बल से हिंसापक्ष ही को यथार्थ समझते हैं, सुतरां उन के मत से जो (मधुपर्क में) श्रुति गौहिंसा होती थी वह कुछ अयोग्य नहीं समझी जाती थी। यद्यपि श्रुति में उत्सर्जन पक्ष भी लिखा है किन्तु जो लोग मांसभक्षी थे, वे इस (त्याग पक्ष) को पसन्द नहीं करते। मांस ही का देना और खाना अतिथि का सत्कार समझते थे। सुतरां मांस भक्षियों के लिये जहां पूज्य और पूजक दोनों मांस भक्षी होते, वे, मधुपर्क में गोबध होना अच्छा समझते और

(१) माता रुद्राणां दुहिता वसुनां स्वसा रुद्राणां मातृतस्य नाभिः अस्तुबोचं चिकितुषेजनाय मागामनगामदितिं वधिष्ट॥

(२) शरणागतं यो हन्याद्गौं वा लोकस्य मातरम् ॥

(३) माता रुद्राणां दुहिता वसुनामिति जपित्वोत्सृजनेतितामुत्सि सृञ्चन् ॥

(४) उत्सृजन् गौं तृणान्यं तु गौरिति वा ॥

जो लोग मांसभक्षण से निवृत्त, थे, वे, उत्सर्जन अर्थात् मधुपर्क के समय गौ का बध न करके त्याग ही की उत्तम समझते। इसी बात का आभास महा कवि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित नाटक में दिखाया है (१) अस्तु। यदि ऐसा कहो कि मांसभक्षी सभी लोग मधुपर्क में गोबध करते थे, यह भी ठीक नहीं, बहुत लोग “अह्नया” नाम की लाज करते, किन्तु “अमांसी मधुपर्कौ न भवति” इस बात के पालनार्थ बकरे का मांस अवश्य भक्षण करते थे, इसलिये “महोक्षं वा महाजं वा” यहां स्मृति में याज्ञवल्क्य ने गोबध से निवृत्ति लोगों के लिये “महाजं” इस पद से बकरे का बध भी लिखा है, और याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याता मिताक्षराकार ने तो इस का अभिप्राय ही दूसरा लिखा है (२)। वह लिखते हैं कि ओत्रिय के आगमन समय में न तो कुछ बैल, या बकरा, उन के भेंट करे और न उस का बध ही करे। जब ओत्रिय पूजन, गृहस्थमात्र का धर्म है, तो प्रत्येक ओत्रिय के लिये वेचारे गृहस्थ कहां से बैल और बकरे ला सकते हैं, क्योंकि कोई ओत्रिय तो गृहस्थ के घर में नित्यप्रति आया ही करेगा। यदि बधपक्ष की बात की बात कहे, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जिस बात से स्वर्ग की हानि और लोक निन्दा खड़ी हो जावे, वह बात चाहे धर्म कह कर विहित भी हो, तौ भी करनी उचित नहीं, (३) इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य हैं।

यद्यपि उक्त दोनों ही पक्ष सदा से चले आते हैं, किन्तु उन में सत्यत्व एवं मिथ्यात्व का निर्णय करना मीमांसा शास्त्र का काम है, अतएव हम मीमांसा शास्त्रके अनुसार ही उक्त बातका विचार करते हैं। केवल यही बात मान लें कि ये दोनों बात सदा से ही होती हैं, तो दोनों ही प्रमाण या यथार्थ हैं। यह नहीं हो सकता, क्योंकि भली बुरी दो प्रकार की बातें सदा ही होती रही हैं जिस में सदा की बात मान के खोरी या व्यभिचार आदि बुरी बातें कभी अच्छी या प्रमाण नहीं हो सकतीं। यदि कदाचित् वेद प्रमाण से गोबध प्रमाण कहो तो वेदप्रामाण्य का विचार तो मीमांसा के

(१) भाण्डव्यनिः। समांसीमधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्य मानाः ओत्रियायाऽमागतस्य वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनं तं हि धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति—अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पमृषयो मन्थन्ते निवृत्तमांसस्तु तत्र भगवान् जनकः। चतुर्थार्द्धके ॥

(२) महान्तं मुक्षार्थं धीरेयं महाजं वा ओत्रियाय उक्तलक्षणाया उपकल्पयेत्। भवदर्थं मयमस्माभिः परिकल्पित इति तत् प्रोक्त्यर्थं न तु दानाय व्यापादनाय वा। यथा सर्वमेतद् भवदीयमिति। प्रतिओत्रियं मुक्षाऽसम्मवात्। “अस्वर्ग्यं लोकं विद्वेष्टं धर्मं मप्याचरेन्नतु। इति निषेधाच्च ॥

(३) “लोकविक्रुष्टं मेवच”, मनुस्मृतौ ॥

अधीन है। कौनसा वेदवाक्य किसी रीति से प्रमाण हो सकता है, इस का निर्णय बिना सीमांसा के नहीं हो सकता, यदि सब ही वेदवाक्य प्रमाण हो जायें तो “वनस्पतयः सत्रमासत” “सर्पाः सत्रमासत” अर्थात् वृक्षों ने यज्ञ किया, इत्यादि वाक्यों का भी प्रमाण होना चाहिये, परन्तु इन का प्रमाण नहीं माना गया है, क्योंकि अचेतन वृक्ष आदि यज्ञ नहीं कर सकते। उक्त वाक्य का प्रामाण्य रखने के लिये भगवान् जैमिनि—कहते हैं (१) कि “समस्त वेद का तात्पर्य कर्म कराने में है, जिन वेद वाक्यों में कर्म की विधि नहीं पायी जाती वे सब अनर्थक वचन हैं, किन्तु विधि वाक्य के साथ जहां उन की एकता हो जाती है, तो वे भी वाक्य प्रमाण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। यद्यपि अचेतन वृक्ष यज्ञ नहीं कर सकते तथापि इस वाक्य से यज्ञ विधि की प्रशंसा है, जैसे कोई कहे कि देखो ! “फलवान् होने से वृक्ष भी अपना सिर झुका लेते हैं” तो इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि ऐश्वर्यवान् को सदा नम्र ही रहना चाहिये इत्यादि, इसप्रकार यहां भी यही तात्पर्य है कि अचेतन वृक्ष भी जब यज्ञ करते हैं, तो चैतन्य मनुष्य को तो वह अवश्य ही करना चाहिये। इसी अभिप्राय से जैसे “वनस्पतयः सत्रमासत” इस वाक्य को सार्थक किया है, वैसे यहां भी विचारना चाहिये।

“तदयथैवान्ये” इत्यादि वाक्यों में जो गोवध से आगत महत् पुरुषों के पूजन करने का लेख आता है, इस का भी तात्पर्य कुछ गोवध करने पर नहीं है। किन्तु उस का तत्त्व यह है कि वह “आतिथ्येष्टि” प्रकरण का वाक्य है, वह प्रकरण अतिथि पूजन का है, वहां जितने का जितने वाक्य है, उन का तात्पर्य अतिथि के उत्कृष्ट पूजन एवं उस की स्तुति में है, अतएव उक्त वाक्य का भी यह अभिप्राय है कि जब गौ की हिंसा करके भी लोग अतिथि का पूजन करते कराते हैं, तो अन्यान्य रीति से तो सभी प्रकार उसे (अतिथिपू०) करना ही चाहिये वस ! यही बात उक्त श्रुति में है, कुछ गोवध का विधान नहीं है, यह उक्त वाक्य को गोवध का विधान मानें तो “मागा मनागामदितिम्बधिष्ट” इस हिंसा निषेधक श्रुति वाक्य का विरोध होवेगा, अतएव यहां यह व्यवस्था समझनी चाहिये कि हिंसा बोधन करने वाला उक्त वाक्य केवल अर्थवाद वाक्य है। और हिंसा विधान की पोषक कोई युक्ति उस में लिखी नहीं किन्तु “मगा मना गाम्” इत्यादि वाक्य विधि हैं। और उस में “अनागाम्” अर्थात् “निरपराधिनीम्” यह हिंसा निषेध की

(१) आम्नायस्य किमर्थत्वाद् आनर्थक्यं मतं दधानाम्—विधिनान्तर्गक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधानं स्युः ॥

पोषक युक्ति भी लिखी है अतएव पहिला वचन निर्बल एवं “हिंसा निषेधक वचन प्रबल है। तथा यह भी एक मीमांसाशास्त्र का मत है कि जिस वाक्य में “यत्” “तत्” “अन्य” “इव” और “अदः” इत्यादि शब्द आते हैं, वह वाक्य विधि वाक्य के आगे निर्बल पड़ जाता है। अतएव यहां भी “तद्” “यथा” “अन्य” इत्यादि पद घटित “तद् यथ धाम्ये०” इत्यादि गोबध-सूचक आह्वयवाक्य की अपेक्षा “मागा मनागा मदिति वधिष्ट” इस संहि-तोक्त विधि वाक्य का विशेष प्राबल्य है, सुतरां जो लोग हिंसा एवं मांस के लोलुप थे और इस मीमांसाशास्त्र के गहन आशय को न समझते, वे ही लोग पहिले अतिथि पूजन में गोहिंसा या किसी अन्य जीव की हिंसा करते, परन्तु शास्त्रानुसार मुख्य बात तो हिंसा का निषेध पक्ष या उत्सर्जन पक्ष ही प्रमाण है, वध पक्ष प्रमाण नहीं * ।

** श्री रामचन्द्रायनमः ।

स्वस्ति श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मणे शुभ माशीः ।

तामसपूजापेक्षया सार्विकपूजा देवताया अधिक सन्तोषाय पूजयितु-ञ्चाधिककल्याणाय भवतीति ममापि सम्मतम् । परं मूल्यद्रव्ये न्यूनता न करणीया वासनावैचित्र्येण तामसप्रवृत्तावेव विश्वासभाजान्तु सार्विके दृढश्रद्धा सम्पादनं विना प्रवृत्तिपरिवर्त्तनं न कार्यम् । इति शिवम् भाद्र शुक्ल ७ रविः ॥

श्री पण्डित शिवकुमार शर्मा ।

भाषार्थः—तामस पूजा की अपेक्षा सार्विक पूजा देवता के सन्तोष एवं पूजा करने वाले का कल्याण का निमित्त होता है। इस में मेरी भी सम्मति है। परन्तु पूजा के मूल्य द्रव्य में कमी न करनी वासना की विचित्रता से तामस प्रवृत्ति में विश्वास करने वालों की, सार्विक में दृढश्रद्धा के विना प्रवृत्ति का परिवर्त्तन न करे ॥

पशुसंज्ञपन वा यज्ञ में हिंसा ॥

श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी की सम्मति ॥ (आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र भूमिका पृ० ४-५)

* यह यज्ञ में हिंसा विषय पर सम्मति सुप्रसिद्ध सम्पादक “धर्म दिवाकर (भाग ४ मयूख ४ सम्बत् १९४३ पृष्ठ १३२—३७)” की है ॥ यह पत्र कलकत्ते से निकलता था, अब बन्द हो गया ॥

** मध्य हिन्द में एक सुठालिया—छोटी सी रियासत है, यहां के माननीय श्रीमान् राजा सुठालियाधीश ने श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी से नवरात्रि के समय दुर्गा पूजा में बकरे आदि के बलि की प्रथा रोकने में शास्त्रीय व्यवस्था मांगी थी जिस पर उक्त पण्डित जी ने इस अंश में सम्मति लेने के लिये बनारस के सुप्रसिद्ध श्रीमान् पं० शिवकुमार शारश्री जी से पत्र द्वारा पूछा था इसी पत्र का उत्तर ऊपर दिया है ॥

हमारे पाठक महाशय इस बात का भी विशेष ध्यान रखें कि इन सूत्र ग्रन्थों की अब हम ठीक प्रामाणिक मान लेते हैं तब यह सिद्ध है कि जिस देश काल में और जिस रीति से जो काम, शास्त्र में, जिस के लिये कर्त्तव्य कहा है, वह उसी देश काल में, उसी रीति से किया हुआ, उसी मनुष्य के लिये उचित धर्म है। अन्यथा किया हुआ, वही अधर्म हो जाता है। जैसे अपने शयन स्थान में ऋतु काल में रात के समय विवाहित स्त्री से गमन करना गृहस्थ के लिये धर्म और गृहस्थ वैसा न करे, तो अधर्म है। ब्रह्मचारी संन्यासी को वैसा करनेसे अधर्म है, तीर्थ यात्रादि देश में, वन में प्रातःकालादि दिन में गृहस्थ को स्वभार्या गमन में भी अधर्म है। यदि शास्त्र की आज्ञा न मानें, तो धर्म, अधर्म, कुछ नहीं बनता। रोना सर्वत्र बुरा समझा जाता है, परन्तु (अन्यत्र त्वदुरुदयाः संविशन्तु) वंद प्रमाणानुसार पिता के घर से पति-गृह को जाती हुयी कन्या का रोना अच्छा माना जाता है। गाली देना सर्वत्र बुरा काम है, पर विवाह में स्त्रियां तथा पुरुष गालियों को शुभ मानते हैं। इसी के अनुसार यज्ञादि में पशुओं का आलम्बन भी पूर्वकाल में बुरा नहीं माना जाता था। परन्तु लोक रीति से अपना मांस बढ़ाने के लिये शास्त्र विरुद्ध पशु-हिंसा अत्यन्त बुरी मानी जाती थी। अब कुछ ऐसा समय आगया है कि शास्त्र में लिखी बातों से तो लोग अधिक चीकते हैं, परन्तु मांसहारी लोगों के लिये नित्य २ हजारों गौ आदि पशु मारे जाते हैं, जिस को सभी जानते हैं, उन से इतने नहीं घबराते, पर जब ऋषि आचार्यों ने ऐसा विकराल समय आते देखा तब पहिले से ही (लोकविकृष्ट मेव च) लिख गये कि जो धर्म जिस समय लोक में बुरा समझा जावे, उस समय वह कर्त्तव्य नहीं है, इस लिये “पश्वालम्ब” कर्म इस समय कर्त्तव्य नहीं है। इस कारण ऐसे विचार इन ग्रन्थों में देखकर उद्वेग वा संकोच नहीं करना चाहिये। देखिये विवाह यज्ञोपवीत की सभी पट्टतियों में (ममव्रतेते हृदयं) मन्त्र से कन्या के हृदय का स्पर्श करे ऐसा लिखा है। सो पहिले लोगों का सिद्धान्त तो (अर्थ कामेष्व सक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते) के अनुसार था कि धर्म के सामने लोभ और कामासक्ति उन के विचार से पृथक् सूर्य के सामने अन्धकार के तुल्य समूल नष्ट हो जाती थी, तब विवाह के समय कन्या के हृदय का स्पर्श करने में कुछ भी संकोच नहीं होता था, पर अब ऐसा करने में सभी को संकोच जान पड़ता है। सो इसका कारण अन्तःकरण का काम लोभादि से दब जाना है। वैसे पश्वालम्ब में अन्तःकरण में शुद्ध धर्मभाव न रहने से लज्जा भय वा संकोच होता है। इसीलिये हम लोग इन कामों के अधिकारी नहीं रहे।

सारांश यह है कि हमारे पाठक महाशय (पशुसंज्ञपन) कर्म को अपने विचारानुसार सर्वथा अनुचित ही समझें तो भी यह समझें कि हमसे ऐसे कर्म करने करानेका कोई आग्रह भी तो नहीं, करता, प्रत्युत धर्मशास्त्र मना करता है इसलिये हमको ग्रन्थोंमें लिखेहोने मात्रसे दोष करना व्यर्थ निष्प्रयोजन है। हमको अपनी दृष्टिसिद्धि के लिये समयानुसार जो २ बातें इन ग्रन्थोंमें उपकारी प्रतीत हों, उनसे लाभ उठाना चाहिये। सब काम सब देशकालों में सब के लिये, जब कदापि हो ही नहीं सकते तो, इन्हीं ग्रन्थों का सब लेख हमारे अनुकूल कैसे हो जावेगा? जैसे, शीतकाल में खसखस की टही व्यर्थ होने पर भी फिर गर्मी आने पर स्वयं सार्थक हो जाती है, वा जैसे गर्मी के दिनों में वा गर्मदेश में शीतके वस्त्र ओभासामात्र व्यर्थ प्रतीत होने पर भी फिर शीत का देश वा काल आने पर सार्थक उपकारी हो जाते हैं। तथा जैसे पंसारी की दूकानमें रक्खाहुआ विष कभी किसी अधिकारी के लिये अमृतवत् उपकारी हो जाता है इसलिये उस से द्वेष घृणा वा अरुषि करने वाले की भूल है, वैसे ही इन ग्रन्थोंके पशु संज्ञापनादि विषयों से द्वेष घृणा कुछ नहीं करे

ह० भीमसेन शर्मा, सम्पादक ब्राह्मणसर्वस्व—इटावा

उपसंहार ।

अन्त में निवेदन यह है कि इस गोभिलगृह्यसूत्र को अनुवाद में हमें पं० सत्यव्रत सामश्री जी की संस्कृत टीका से बड़ी सहायता मिली इस लिये इन महात्मा की हम अन्तःकरण से कोटिश; धन्यवाद देते हैं; पुनः इस के मुद्रण कार्य में श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी ने प्रूफ संशोधनादि कार्य में हमें सहायता दी है। इस कारण हम इन पण्डित जी के भी कृतज्ञ हैं।

यह पुस्तक पं० सत्यव्रत सामश्री जी मुद्रापित ५) रुपये को मिलती है, परन्तु इस में एक भारी त्रुटि यह है कि गृह्यसूत्रोक्त संस्कारों के साथ संस्कृत टीकामें मन्त्रों की प्रतीकें दियीं तो हैं परन्तु मन्त्र नहीं दिये हैं और मन्त्र ब्राह्मण अलग लेने से ५) और देने पड़ते हैं इस प्रकार यदि सर्वाङ्ग सम्पन्न गोभिलगृह्यसूत्र कोई लेना चाहे तो उसे १०) रुपये खर्चने पड़ेंगे। हमने मन्त्र ब्राह्मणोक्त सब मन्त्रों की यथास्थान (जहां २ जस्करत हुई) छपवा दिये हैं और ४० पृष्ठ पर भूमिका एवं भाषानुवाद होने पर भी मूल्य केवल २॥) ही रक्खा है। द्वितीय निवेदन यह है कि गृह्यसूत्रोक्त कई एक विषयों पर हमने भूमिका में—इस लिये विशेष विचार नहीं किया है—अब ही वेदों के भिन्न २ शाखा के भिन्न सब गृह्यसूत्र हैं मिले नहीं हैं जिन का अन्वेषण हो रहा है, आशा है कि हम आश्वलायन और पारस्करगृह्यसूत्र की भूमिका में गृह्यसूत्रोक्त प्रत्येक विषयों पर पूर्ण विचार लिखेंगे।

भवदीय—

शास्त्रप्रकाश कार्यालय—मधरापुर
डाक—बिदूपुर (मुजफ्फरपुर)

} क्षत्रियकु० उदयनारायणसिंह

गोभिलगृह्यसूत्रस्य विषयसूचीपत्रम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

विषयाः	पृष्ठानि
(सर्वकर्मसाधारणविधयः)	१
१ ख० अधिकार्यादिनिर्णयः	२
अग्न्याधानम्	३
नित्यहोमकालः	७
२ ख० उपवीतविधिः	९
आचमनविधिः	११
(अथ ब्रह्मयज्ञप्रकरणम्)	
३ ख० वैश्वदेवविधिः	१६
४ ख० बलिहरणम्	२०
(अथ दर्शपौर्णमासप्रकरणम्)	
५ ख० कालनिर्णयः	२९
उपवासदिनकर्त्तव्यता	३२
६ ख० उपवासदिनाकर्त्तव्यता	३५
तृणनिरसनम्	३७
ब्रह्मस्थापनम्	३८
७ ख० तण्डुलविधिः	३९
स्थालीपाकविधिः	४०
आज्यविधिः	४३
८ ख० उपघातहोमविधिः	४५
उपस्तीर्णाभिधारितविधिः	४५
स्विष्टकृदोमविधिः	४७
महाव्याहृतिहोमः	४८
आवापकालनिर्णयः	४८
परिसमूहनादीनां तन्त्रविधिः	४८
मेक्षणाद्यनुप्रहरणम्	४९
मन्त्रभेदप्रकरणम्	४९
यज्ञवास्तुकर्म	५०
९ ख० यागान्तर्यकर्माणि	५१
महावामदेव्यसाम	५७

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

(विवाहादिसंस्कारप्रकरणम्)

१ ख० कन्यापरीक्षणम्	५७
ज्ञातिकर्म	५९
कुशकण्डिकाकृत्यम्	६०
२ ख० परिणयविधिः	६३
पाणिग्रहणम्	६५
३ ख० उत्तरविवाहः	६८
४ ख० वध्वानयनम्	७२
५ ख० चतुर्थीकर्म	७५
गर्भाधानम्	७६
६ ख० पुंसवनम्	७८
७ ख० मीमन्तकरणम्	८२
सोप्यन्तीहोमः	८४
जातकर्म	८५
मेधाजननम्	८५
८ ख० निष्क्रामणम्	८७
नामधेयकरणम्	८८
पौष्टिककर्म (जन्मतिथिः)	९०
मूर्द्धाभिघ्राणम्	९१
९ ख० चूडाकरणम्	९२
१० ख० उपनयनम्	९७
॥ अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥	
१ ख० समावर्त्तनंगोदानं वा	१०६
ब्रह्मचारिकृत्यम्	११२
महानाम्नीसाम	१२२
३ ख० उपाकर्म	१२५
अनध्यायविधिः	१२८
अद्रुतविधिः (दुःस्वप्नं)	१३०
४ ख० स्नातकविधिः	१३२
५ ख० समावृत्तविधिः	१३९

६ ख० गोपालनविधिः	१४४	दारिद्र्यनाशकामकर्म	१८४
गोपालनविधिः	१४४	यशस्कामकर्म	१८५
भोजनः	१४६	स्वस्त्यनकामकर्म	१८६
ऋषभपूजा	१४७	आचितशतकामकर्म	१८६
अन्नपूजाः	१४७	७ ख० वास्तुनिर्माणकर्म	१८८
७ ख० अवशाकर्म	१४८	अस्त्यङ्गः	२०१
८ ख० आश्वयुजीकर्म	१५२	८ ख० अवशाग्रहायणीशेषाक्षतैः	} २०३
नवपञ्चः	१५४	काम्यकर्म	
९ ख० आग्रहायणीकर्म	१५७	(२) प्रसादकामकर्म	२०४
१० ख० अष्टकाविधिः	१६१	शङ्कुशतहोमः	२०४
(१) अपूपाष्टका	१६२	(अथकामकर्म)	२०४
(२) मांसाष्टकापूर्वकृत्यानि	१६४	स्थण्डिलहोमः	२०५
॥ अथ चतुर्थः प्रपाठकः ॥		(पश्यकामकर्म)	२०६
१ ख० मांसाष्टकाहोमः	१६७	यशस्कामकर्म सहायकामकर्म	२०७
२ ख० अन्नपूजा	१६९	९ ख० पुरुषाधिपत्यका०	२०७
३ ख० अन्नपूजा	१७६	आचितसहस्रकामकर्म	२०९
४ ख० पिण्डपितृयज्ञः	१८३	पशुकामकर्म	२०९
(३) शाकाष्टका	१८४	तुद्रपशुकामकर्म	२०९
वसाहोमः	१८४	वृत्त्यविच्छिन्निकामकर्म	२०९
ऋणहोमः	१८५	विषदोषनाशकामकर्म	२०९
हलाभियोगः	१८५	स्नातकस्वस्त्यनकर्म	२०९
(अथ काम्यकर्मप्रकरणम्)		क्रिमिनाशकामकर्म	२१०
५ ख० होमपूर्वकृत्यानि	१८७	(अथ अर्हणीयप्रकरणम्)	
भोजननियमः	१८९	१० ख० उपस्थानविधिः	२११
ब्रह्मवर्षकामकर्म	१९०	विष्टग्रहणविधिः	२१२
पुत्रपशुकामकर्म	१९०	पाद्यग्रहणविधिः	२१२
उभयकामकर्म	१९०	अर्घ्यग्रहणविधिः	२१३
पशुस्वस्त्यनकामकर्म	१९०	आचमनीयग्रहणविधिः	२१३
(१) प्रसादकामकर्म	१९१	मधुपर्कग्रहणविधिः	२१३
पार्थिवं कर्म	१९१	बहुगोमुक्तिप्रकारः	२१४
भोगादिकामकर्माणि	१९२	गजालम्बनालम्बनयोर्व्यवस्था	२१५
६ ख० अकालमृत्युपापरोगाभ्यां	} १९४	अर्हणीयपरिगणनम्	२१५
आत्मदेहरक्षाकामकर्म		गोभिलीयटीकापरिशिष्टम्	२१७

सामवेदीयम् ॥

अथ गोभिल-गृह्यसूत्रम् ॥

—○:‡:‡:○—

अथातो गृह्याकर्माण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

‘अथ’ घन्धारम्भद्योतकोऽयं निपातः । ‘अतः’ तदानीन्तनाचार्याणां वचोभङ्गीप्रयुक्तमिदम् । ‘गृह्याकर्माणि’ गृहाय हितो गृह्यः, योगकृत्वा अ-
अग्निरिति बुध्यते ; वक्ष्यत्यनुपदमेव ‘स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति (२१ सू०)’
इति ; तत्र, कर्तव्यानि ‘कर्माणि’ नित्याग्निहोत्रहोमादीनि, तदङ्गभूता-
न्यग्न्याधानादीनि च ‘उपदेक्ष्यामः’ तत्तदितिकर्तव्यतां बोधयिष्यामः । गृह्ये-
तिदीर्घश्चान्दसः ॥ १ ॥ अथ तत्र सर्वकर्मसाधारणविधीनाह—

भा०—इस के अनन्तर “*गृह्य” अग्नि में कर्तव्य नित्य अग्निहोत्र आ-
दिक और उस के उपयोगी “अग्न्याधान” प्रभृति कर्मों का उपदेश करेंगे॥१॥

यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम् ॥ २ ॥

‘यज्ञोपवीतिना’ किञ्च ; ‘आचान्तोदकेन’ उदाकाचमनं कृतवत्तैव पुरु-
षेण ‘कृत्यम्’ कार्यम्, वक्ष्यमाणकार्यजातमिति ॥ २ ॥

*अग्नि सामान्यतः तीन प्रकार का होता है १ श्रौताग्नि, २ गृह्याग्नि, और ३ लौकिकाग्नि । अर्थात् ब्राह्मण भाग में जिस का व्यवहार व्यवस्था आदि सु-
नी गयी है, उसी को “श्रौताग्नि” कहते हैं, जैसे गार्हपत्य (अग्नि) प्रभृति ।
इस के अतिरिक्त और वेदोक्त अर्थात् वेद में गृही के उपयोगी एवं कर्तव्य
कह कर जानने पर भी जिस की व्यवहारप्रणाली सुनी नहीं जाती अतएव
गोभिल आदिक की स्मृति द्वारा उपदिष्ट अग्नि को भी ‘गृह्याग्नि वा स्मा-
र्त्ताग्नि’ कहते हैं । और वेद में जिस के लिये न तो विधि है और निषेध ही
है, पर अन्न पाकादि कार्य के लिये जिस अग्नि का लोक में व्यवहार होता है
उसे ‘लौकिकाग्नि’ कहते हैं ।

भा०—आगे कहे जाने वाले कर्मों को यज्ञोपवीत ‡ धारण कर और आचमन करके करना चाहिये ॥ २ ॥

उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्त्तनादन्हः कालं विद्यात् ॥ ३ ॥

‘उदगयने’ उत्तरायणे ‘पूर्वपक्षे’ शुरुपक्षे ‘पुण्येऽहनि’ मेघाच्छादि-
दोषशून्यदिने ‘अन्हः’ दिवसस्य ‘आवर्त्तनात्’ परिवर्त्तनात् ‘प्राक्’ पूर्वं
पूर्वाह्णमेव ‘कालम्’ समयं ‘विद्यात्’ जानीयात्, वदयमाखकर्मणां सर्व-
यामेवेति ॥ ३ ॥

भा०—जहां २ (इस ग्रन्थ में) समय की कोई व्यवस्था नहीं कियी गई हो
कि ‘अमुक समय अमुक कार्य करना;’ ऐसे स्थानों में समस्त कार्य उत्तरायण
शुरुपक्ष, निर्दोष (बादल रहित) दिन में दोपहर के पहिले करना
चाहिये ॥ ३ ॥

यथादेशञ्च ॥ ४ ॥

यथादेशमपि कालं विद्यात् । यत्र यत्र च विशेषतः कालमादेशयामस्तत्रतत्र
स सएव काल आदरणीयो न तु सामान्यतः उक्त उदगयनादिकइति ॥ ४ ॥

भा०—जहां २ जिस २ कालादिक की व्यवस्था करेंगे, वहां २ वही २
काल माननीय होगा, सामान्यतः ३ सूत्रोक्त काल नहीं ॥ ४ ॥

सर्वाण्येवान्वाहार्यवन्ति ॥ ५ ॥

‘सर्वाणि’ गृह्यकर्माणि ‘आहार्यवन्ति एवं’ आहरणीयानि कुशाद्य-
पकरणानि तद्विशिष्टान्येवेति ॥ ५ ॥

भा०—सब ही गृह्य कर्मों में कुशा प्रभृति अनेक “उपकरण” (सा-

‡ उपवीत—जो वामस्कन्ध से दहिने पार्श्व में लटकता हो उसे ‘यज्ञोप-
वीत’ और जो दहिने स्कन्ध से वामपार्श्व में लटकता हो उसे ‘प्राचीनावीत’
और जो माला की नाईं गले में पहना जाता उसे “निवीत” कहते हैं ॥
पितृ कार्यों में “प्राचीनावीती,” देव कार्यों में “यज्ञोपवीती” और
जिस समय देव या पितृ कार्य कुछ न हो, ऐसे समय एवं मल मूत्रत्याग, या
भ्रमणादि शारीरिक कार्य करते समय “निवीती” होना चाहिये । यह
एक प्रकार का संकेत है । पूर्वकाल में प्रायः सब ही लोग अधिक समय देव
कार्य में व्यतीत किया करते थे सुतरां वे ही लोग प्रायः “यज्ञोपवीती”
रहते थे । इस समय के कर्मभ्रष्ट द्विजों को “निवीती” होना ही उचित
है, इन के प्रमाण क्रतवः इसी ग्रन्थ में आगे मिलेंगे ।

सामग्री) आवश्यक होते हैं ॥ ५ ॥

अपवर्गेऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ॥ ६ ॥

‘अपवर्गे’ कर्मसमाप्तौ ‘अभिरूपभोजनम्’ अभिरूपः शास्त्रबोधिततया यथोपयुक्तः; तस्य तयोः तेषां वा भोजनं ‘यथाशक्ति’ स्वकीयायाद्यनुगतं कार्यमिति ॥ ६ ॥ इति सर्वकर्मसाधारणविधयः ।

भा०:—सब ही कर्मों की समाप्ति में यथाशक्ति यथाशास्त्र उपयुक्त एक, दो, या अधिक व्यक्ति को भोजन कराना चाहिये ॥ ६ ॥

—:—:—

अथाग्न्याधानविधीनाह—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्यांश्च समिधमाधास्यन् ॥ ७ ॥

उक्तं ‘गृह्याकर्माणि’ इति, तत्र कोऽसौ गृह्योऽग्निः? प्रथमन्तावत् स एव उपदिश्यते ‘ब्रह्मचारी’ इत्यारभ्य ‘गृह्योऽग्निर्भवति’ इत्यन्तेन ग्रन्थमन्तर्भवति । ‘ब्रह्मचारी’, ‘वेदम् अधीत्य’ गुरुकुले स्थित्वा वेदाध्ययनं समाप्य ‘अन्त्यां’ ब्रह्मचर्यसमापिकां ‘समिधमाधास्यन्’ समिधमाधातुं प्रवृत्तः “अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)” इत्यनेन सम्बन्धः । प्रतिदिनं यथाऽऽचार्याग्नावेव समिधमाधत्ते तदानीं न तथा आदधीत अपितु अपप्राहरणादिपूर्वकं अग्निप्रक्षयनं कृत्वैव तत्र स्वकीयेऽग्नौ तामन्त्यां समिधमादधीतेति ॥ ७ ॥

भा०:—ब्रह्मचारी (गुरुकुल में रह कर) वेदाध्ययन के अन्त में शेष ‘समिध’, (होमीय काष्ठ) हवन करने में प्रवृत्त होकर ॥७॥

जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मचर्यसमापिकान्त्यसमिदाधानकालेऽग्निग्रहणं न कृतं भवेत्, तदा पूर्वपूर्वदिनवत् गुरोरग्नावेव ता मन्त्यां समिधमादधीत । पुनः कोऽग्निग्रहणकालः? इत्याह—‘वा’ अथवा ‘जायायाः’ ‘पाणिं’ ‘जिघृक्षन्’ ग्रहीतुमिच्छन्, पाणिग्रहणात् पूर्वमेव ‘अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)’ इति ॥८॥

भा०:—या जाया के पाणिग्रहणार्थ (विवाह के लिये) समुद्यत होकर ॥८॥

अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवर्णं देशंश्च समं वा परिसमुह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीं लेखामुल्लिख्योदीचीञ्च सत्वं हतां पश्चात् मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥

तदग्निप्रक्षयनाय कीदृशः स्थानसंस्कारश्च ? इत्युच्यते—‘अनुगुप्ताः’ वि-
गमूत्रप्रक्षेपतैलाभ्यङ्गादिवारणेन सुरक्षिताः ‘अप’ उदकानि ‘आहत्य’ ‘प्रा-
गुदक्प्रवण’ प्राक् उदक् वा क्रमनिम्नं यस्य ईदृशं, ‘समं’ समतलं ‘वा’ ‘देशं’
स्थानं तैसदकैः ‘परिममूह्य’ ‘मध्यतः’ तत्स्थानस्यान्तरे ‘प्राचीं’ प्रागग्रां,
‘च’ अपिच ‘पश्चात्’ तस्यैव पाददेशे ‘उदीचीं’ उदगग्रां ‘संलग्नां’ प्रा-
चीरेखया संहता मपरां, ‘लेखां’ रेखां, ‘मध्ये’ मध्यस्थले ‘तिस्रः प्राचीः’
एव अपराः रेखाश्च ‘उल्लिख्य’ तत् स्थानम् ‘अभ्युक्षेत्’ कुशाद्यजलविन्दुभिः
सिञ्चेत् । तदेतत् स्थानं “स्थण्डिल” मुच्यते । ८

भा०:—*(जिस तालावादिक में जल, मैला फेके जाने, या मूत्र त्याग, या
तैलाभ्यङ्गन, या सेवार आदि द्वारा दूषित नहीं होता, किन्तु राज आज्ञा
आदि शासन में विशेष सावधानी से रक्षित हो, ऐसा जल-स्थान से) दोष
शून्य जल लाकर उस से स्थान को लीपे । यह स्थान पूर्व या उत्तर दिशा में
क्रम-निम्न समतल (वरावर) होना आवश्यक है । इस लीपे हुए स्थान के
बीच में पूर्वाग्र एक रेखा अङ्कित करे और उसी के नीचे एक रेखा उत्तराग्र
करके उसी में मिलावे, मध्य में और भी तीन रेखा खींचे, पीछे उक्त लाये
हुए जल को उस पर छिड़क देवे इसी को “स्थण्डिल” कहते हैं ॥ ८ ॥

लक्षणावृद्धेया सर्वत्र ॥ १० ॥

‘एषा’ अपआहरणादिका क्रिया ‘लक्षणावृत्’ उच्यते; ‘सर्वत्र’ एव अग्नि-
प्रक्षयने व्यवहर्त्तव्येति । १०

भा०:—इस क्रिया का नाम “लक्षणावृत्” है । यह अग्निप्रक्षयन मात्र में
सब जगह व्यवहार के योग्य है ॥ १० ॥

भूर्भुवःस्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥

‘भूर्भुवःस्वः’ इति मन्त्रेण ‘अभिमुखं’ यथास्यात् तथा कृत्वा ‘अग्निं’ ‘प्रण-
यन्ति’ । ‘लिङ्ग्ये लेट् (पाणिनीये ३।४।१)’-इति लेटि, रूपम्; प्रणयेयुः । सर्वकर्तृणो
सर्वैः कर्मिभिरैवैव मग्निप्रणयनं कार्यमिति सामान्यविधित्वस्यापनायैव बहुवच-
नम्, सर्वे प्रणयेयुरिति । ११

गृहस्वामी पितादिर्जीवितइति ब्रह्मचर्यावसानसमये पाक्षिग्रहणकालेऽप्य-
ग्निग्रहणं न भवेच्चेत्—गृहस्वामिनि मृते, यदैव गृहस्वामी म्रियेत तदैव अग्नि-
ग्रहणं कर्त्तव्यमित्याह—

*अग्नि प्रक्षयन करने के लिये कैसा स्थान प्रस्तुत करना चाहिये इस का
उपदेश किया जाता है ।

भा०:—उस के बाद उस अभ्युक्षित स्थान में “भूर्भुवः स्वः”—इस मंत्र को पढ़कर अपने सम्मुख अग्नि स्थापन करे ॥ ११ ॥

प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम् ॥ १२ ॥

‘वा’ अथवा ‘गृहपतौ’ पित्रादौ ‘प्रेते’ सृते तदैव परमेष्ठीकरणम् कृतञ्चि-
प्रत्ययस्यैतद्रूपम्, क्रियाविशेषणम्; परमेष्ठितया अग्नेः स्वीकरणं यथास्यात्तथा
‘अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)’ इति । परमेष्ठिकरणमिति ह्रस्वेकारयुक्तपा-
ठस्तु कापि पुस्तकेऽनुपलब्धत्वात् युक्तः । १२

भा०:—यदि ब्रह्मचर्य की समाप्ति या विवाह समय तक पिता आदि घर
के मालिक जीते हों, तो ब्रह्मचारी को अग्नि ग्रहण कब करना चाहिये इस
पर कहते हैं कि घर के मालिक के मरने ही पर वह अग्नि ग्रहण करे ॥ १२ ॥

अग्निग्रहणस्य सामान्यतः कालत्रयमुक्तम्, तत्रैव विशेषमाह—

तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ॥ १३ ॥

‘तथा’ अग्न्याधाने यथा अन्त्यसमिदाधानादिः कालोऽपेक्षितस्तद्वदिति ।
तिथिनक्षत्रपर्वणां त्रयाणामेवैषां शुभानां समवाये—(उत्तरेण सम्बन्धः) ॥ १३ ॥

तादृशसमवायः शीघ्रो न घटेत् चेदाह—

भा०:—अन्त्य समिदाधान के लिये जिस प्रकार काल अपेक्षित होता
है उसी प्रकार अग्नि स्थापन में भी तिथि, नक्षत्र, पर्व का एकत्र होना
आवश्यक है * ॥ १३ ॥

*गुरु गृह में वास पूर्वक वेदाध्ययन समय में प्रतिदिन ही गुरु के गृह्या-
ग्नि में ब्रह्मचारी गण समिदाहुति दिया करते, किन्तु पाठ समाप्त होने पर
शेष आहुति पूर्ववत् न होकर ब्रह्मचारी के स्व सम्पादित अग्नि में आहुति
होनी उचित है, यदि किसी प्रकार की रुकावट से इस समय अग्नि ग्रहण न
हो, तो विवाह के पूर्व उसे ग्रहण कर (उसी) अपने ही अग्नि में लाजा
होमादि पूर्वक पाणिग्रहण कर्तव्य है । परन्तु उस समय यदि पिता वा अपर
गृहस्वामी जीवित रहें, तो एकान्त स्थल में, उस समय भी अग्नि ग्रहण करना
अनावश्यक है, अतएव गृहस्वामी के मरने ही पर अग्नि ग्रहण करना चाहिये ॥

सामान्यतः अग्नि ग्रहण के ये तीन काल कहे गये हैं । १ ब्रह्मचर्य समा-
पिका समिदाहुति समय, २ विवाह के समय और ३ गृहस्वामी के मरने पर ।
अब इस सूत्र एवं अगले सूत्र द्वारा और भी विशेष रूप से काल बतलाया
जाता है ॥

दर्शं वा पौर्णमासे वाऽग्निस्माधानं कुर्वीत ॥१४॥

‘वा’ अथवा ‘दर्शं’ अमावास्यायां, ‘वा’ अथवा ‘पौर्णमासे’ पौर्णमास्याम्, ‘अग्निस्माधानम्’ अग्नेः सम्यक् स्माधानं धारणं पोषणञ्च ‘कुर्वीत’ ॥१४॥
अग्निं सः कुतो यास्य ? इति विधत्ते—

भा०—तिथि, नक्षत्र, पर्व इन के यदि एकत्र मिलने में विलम्ब जान पड़े तो किसी अमावास्या या पूर्णिमा तिथि को अग्नि ग्रहण करे ॥ १४ ॥

अग्निकहां से लाकर स्थापन करे—सो कहते हैं कि—

वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीषाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात् ॥ १५ ॥

‘वैश्यकुलाद् वा’ वैश्यजातिगृहस्थगृहात्, अथवा ‘अम्बरीषाद्वा’ आष्ट्राद् वा ‘अग्निम्’ ‘आहृत्य’ ‘अभ्यादध्यात्’ अभ्याधानं ग्रहणं कुर्वीतेति ॥ १५ ॥

भा०—वैश्य जाति के गृहस्थ के घर से, या आष्ट (भार) से अग्नि लाकर स्थापन करे ॥ १५ ॥

अपिवा बहुयाजिनएवागाराद्ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा ॥ १६ ॥

‘अपिवा’ अथवा ब्राह्मणस्य वा ‘राजन्यस्य वा’ ‘वैश्यस्य वा’ ‘बहुयाजिनः एव’ ‘आगारात्’ अग्नि माहृत्येत्यादि पूर्वण सम्बन्धः । बहुयाजिनोऽग्न्याहरणं विधेयम्, स च बहुयाजी, त्रयाणामन्यतमो यः कश्चन भवेत्तामेति । अत्र वैश्यस्यानुल्लेखे ब्राह्मणक्षत्रिययोरन्यतरबहुयाजिनोऽग्निः ग्रहणीयः स्यात् न तु वैश्यस्य बहुयाजिनः, पूर्वत्रानुक्ते तु बहुयाजिन एव वैश्यस्य स्यात्, तदतिरिक्तस्यापि वैश्मनोऽग्निग्रहणमिष्टं तत्र भवेदित्युभयत्रैव वैश्यस्योल्लेखः ॥ १६ ॥

भा०—या बहुयाजी (जिस के यहां प्रायः यज्ञ होते हों) के घर से अग्नि लाकर स्थापित करे । उक्त बहुयाजी चाहे ब्राह्मण हो, या क्षत्रिय, वा वैश्य, इस में कोई हानि नहीं ॥ १६ ॥

अपिवाऽन्यमथित्वाऽभ्यादध्यात् ॥ १७ ॥

‘अपिवा’ अथवा ‘मथित्वा’ अरणिद्वयमन्यमं प्रकृत्यैव ‘अभ्यादध्यात्’ ‘अन्यम्’ अपरं नूतनम् अग्निमिति ॥ १७ ॥

भा०—या ‘अरणि’ (एक प्रकार की लकड़ी होती है जिस के दो लकड़ी को परस्पर रगड़ने से आग स्वयमेव निकलआती है) मचकर दूसरा अग्नि ग्रहण करे ॥ १७ ॥

पुण्यस्त्वेवा नर्दुको भवतीति ॥ १८ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ १९ ॥

‘अनर्दुःकः’ अद्विगुण्यः ‘पुण्यः तु एव’ पुण्यमात्रजनकएव भवति, अयमा-
रक्ष्योऽग्निरिति शेषः । ‘इति’ अतो हेतोः ‘यथा कामयेत तथा कुर्यात्’ स यदि
आमुष्मिकफल सृष्ट्यादिकं कामयेत वैश्यकुलादेरग्निं गृह्णीयात्, यदि तु तत्र न
प्रवृत्तिः परं पुण्यमात्रं कामयेत तर्हि अरणिं निर्मयैव गृह्णीयादिति ॥ ८-१९ ॥

भा०:-इस ‘अरणि’ से नवीत्पन्न अग्नि में वक्ष्यमाण अनुष्ठानों के करने
पर पुण्य तो होता है परन्तु* सम्पत्ति नहीं होती ॥ १८

भा०:-इस लिये जैसी कामना हो वैसा करे १४-१७ (सू० पक्षों में से कोई) ॥ १९ ॥

स यदेवान्त्यां^३ समिधमभ्यादधाति जायाया वा पाणिं
जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ॥ २० ॥

‘सः’ पुरुषः ‘यत् एव’ यस्मिन्नेवाग्नौ ‘अन्त्यां समिधम् आदधाति’, ‘वा’
अथवा ‘जायायाः पाणिं जिघृक्षन् जुहोति’ लाजादिकान्, ‘तम्’ अग्निम् ‘अ-
भिसंयच्छेत्’ यत्नेन रक्षेत् । २०

भा०:-इस प्रकार अग्नि आहरण पूर्वक जिस में शेष “समित्” की आहुति देवे,
या विवाह कार्य के लाजा, होम आदि जिस में सम्पन्न करे उस अग्नि को
बड़े यत्न से रक्षे ॥ २० ॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ॥ २१ ॥

‘सः एव अग्निः’ ‘अस्य’ ग्रहीतुः ‘गृह्यः’ गृहाय हितः गृहकर्मापयोगी अत-
एव ‘गृह्यः’-इत्येतज्जाम्ना प्रसिद्धो भवति । २१

भा०:-यही उस का ‘गृह्य’ अग्नि है अर्थात् इसी अग्नि में उसे बहुत
दिनों तक अपने सब गृह्य कार्य सम्पन्न करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ॥ २२ ॥

‘च’ अपिच, ‘तेन एव’ अन्त्यसमिदाधानेन लाजादिहोमेन वा एव ‘प्रा-
तराहुतिः’ ‘हुता’ हुतैवेति सिद्धा भवति; तद्दिने अपरा प्रातराहुतिर्नापेक्ष्य-
तइति भावः । ‘इति’ अग्न्याधानप्रकरणसमाप्तिसूचकोऽयमिति शब्दः । २२ ।

अथनित्यहोमकालादिः—

भा०:-और यही ‘अन्त्याहुति’, या ‘लाजाहुति’ ही उस की प्रातः कालिक

* यह अर्थवाद है।

आहुति सिद्ध होगी, उस दिन दूसरी प्रातःकालिक आहुति की आवश्यकता नहीं ॥ २२ ॥

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्द्धं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ॥ २३

तद्दिनस्य प्रातराहुतिस्तेनैव सिद्धा परन्तु तद्दिने एष सायमाहुति रूपदे-
ष्टव्येवेति 'सायमाहुत्युपक्रमे एव' वदामि—'अत ऊर्द्धं' अग्न्याधानोपदेशात् परं
'गृह्येऽग्नौ' तस्मिन्, 'होमो विधीयते' सायं प्रातश्च होमप्रकार उपदिश्यते
इति ॥ २३ ॥

भा०—उस दिन की प्रातः कालिक आहुति उस प्रकार सिद्ध होने पर भी
उस दिन भी सायं आहुति की विधि उपदेष्टव्य है; इसलिये इस के पश्चात्
सामान्यतः सब दिन के लिये ही इस गृह्य अग्नि में सायं और प्रातःकाल का
होम कहा जाता है ॥ २३ ॥

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायंप्रातरनुगुप्ता अपआहरेत्

परिचरणीयाः ॥ २४ ॥

अपि वा सायम् ॥ २५ ॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥ २६ ॥

पुरास्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ॥ २७ ॥

पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं

जुहुयात् ॥ २८ ॥ १ ॥

बोधसौकर्याय प्रथमन्तर्वात् सप्तविंशाष्टविंशसूत्रयोर्व्याख्यानं प्रकृत्यैव च-
तुर्विंशादीनि सूत्राणि व्याख्यायन्ते—

'अस्तमयात् पुरा' यावत् सूर्यास्ती न भवति तावदेव 'अग्निं' 'प्रादु-
ष्कृत्य' सन्दीप्य, 'अस्तमिते' सूर्ये 'सायमाहुतिं जुहुयात्'—इत्युक्तः सा-
यमाहुतिकालमात्रः (२७) । 'उदयात् पुरा' यावत् सूर्यो नोदेति तावदेव 'प्रादु-
ष्कृत्य' अग्निम्, 'उदिते' सूर्ये 'अनुदिते' उदयसमये वा 'प्रातराहुतिं जु-
हुयात्,—इत्युक्तः प्रातराहुतिकालमात्रः (२८) । 'सायं' 'प्रातः' च द्विवा-
रमेव 'प्रादुष्करणवेलायाः पुरा' अग्निसन्दीपनकालात् प्रागेव काले 'अनु-
गुप्ताः' सुरक्षिता निर्मलाः 'परिचरणीयाः' आचमनादिपरिचर्योपयुक्ताः
'अपः' उदकानि 'आहरेत्' (२४) । 'अपिवा' अथवा 'सायम्' प्रति-
दिनि मेकवारं सायङ्काले अग्निसन्दीपनकालात् पूर्व मेव अप आहरेत्, तेनैव

प्र० १ खं० २ सू० १]

उपवीतविधिः ॥

६

प्रातश्चाभसननदिकाः क्रियाः कर्तव्याः; न तु पुनः प्रातराहरेदिति (२५) ।
 'अपिवा' अथवा एकदैव सायं प्रातर्वा अग्निमन्दीपनात् प्राक्काले अमुगुता
 अथ आहृत्य कुम्भे मणिके वा स्थापयेत्; प्रतिदिनं ततएव 'कुम्भाद्वा' 'म-
 णिकाद्वा' साः सायं प्रातश्च 'गृह्णीयात्' । २६ ।

इति गोभिलगृह्यसूत्रो-प्रथमप्रपाठके प्रथमखण्डस्य

व्याख्यानम् ॥ १, १ ॥

भा०:-सायंकाल में-सूर्यास्त होने के पहिले ही उसी रक्षित अग्नि को खूब जलाकर सूर्यास्त होने पर उस में आहुति प्रदान करे ॥ २७ ॥ प्रातः काल में-सूर्योदय के पहिले उसी रक्षित अग्नि को सन्दीपित कर सूर्योदय के पीछे या उदय हो रहा, हो ऐसे समय उस में आहुति प्रदान करे ॥ २८ ॥ सायं और प्रातःकाल में, (दोनों काल में) अग्नि प्रज्वलित काल के पहिले आचमनादि के उपयुक्त सुरक्षित जल लावे ॥ २९ ॥ या सायंकाल में एकवार इस जल को लाने ही से दोनों समय का काम हो सकता है ॥ ३० ॥ अथवा एक दिन सायंकाल में, या प्रातःकाल में अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व ही इस जल को लाकर कलसे या मणिके (पानी रखने का बड़ा वर्तन) में रख देना चाहिये, पीछे प्रतिसायं और प्रातः समय आवश्यकतानुसार उस से जल लिया करे (२६) *२४-२८ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के प्रथमखण्ड का अनुवादपूरा हुआ १९१॥

— (C) : * : (C) —

अथ उपवीतविधिः—

यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वाऽपि वा कुशरज्जुमेव ॥ १ ॥

पूर्वमुक्तं 'यज्ञोपवीतिना कृत्यम्'-इति, इदानीं तद्यज्ञोपवीतमेवोपदि-
श्यते-

‘सूत्रं’ ‘वय’ अथवा ‘वस्त्रं’ ‘अपिवा’ अथवा ‘कुशरज्जुमेव’, यदा यत्र यत् सुलभं, तदा तत्र तदेव ‘यज्ञोपवीतं’, ‘कुरुते’, लेटोरूपमिदम्, कुर्वीतेत्यर्थः । १

* सुगमता से समझने के लिये पहिले २७ और २८ सूत्र का अनुवाद करके इस के बाद २४, २५, २६, सूत्रों का अनुवाद किया गया है।

भा०:—सूत, या दख, या कुशरज्जु, जिस समय जो आसामी से मिल सके, उस समय उसी के यज्ञोपवीत से काम करना चाहिये + ॥ १ ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येऽसे प्रतिष्ठापयति

दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ॥ २ ॥

तत्र 'दक्षिणं बाहुम्', 'उद्धृत्य', उत्क्षिप्य, 'शिरः', 'अवधाय', वेष्टयित्वा 'सव्येऽसे', वामस्कन्धोपरि 'प्रतिष्ठापयति', तत्र 'दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं', दक्षिणकक्षान्तलम्बमानम् 'भवति', भवेत् । 'एवम्', प्रकारेण सूत्राद्यन्यतमस्य धारणेन 'यज्ञोपवीती', भवति । प्रसङ्गात् प्राचीनावीतिनोऽपि लक्षणमुच्यते—

भा०:—उस (जनेऊ) को दाहिने कांधे पर रखकर, शिर में लपेट कर और वामस्कंध से दक्षिण कक्ष (वगल) के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार से जनेऊ पहनने वाले को "यज्ञोपवीती" कहते हैं ॥ २ ॥ *

सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं

कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति ॥ ३ ॥

'सव्यं', वामम् । अन्यत् सव्यं पूर्ववद् व्याख्येयम् । ३

भा०:—इसीप्रकार बायें कांधे के ऊपर जनेऊ को रख कर, शिर में लपेट कर पहना और दाहिने कांधे से वामे कक्ष के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार जनेऊ पहनने वाले को "प्राचीनावीती" कहते हैं ॥ ३ ॥

पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीती भवति ॥ ४ ॥

'पितृयज्ञे' आहुतादौ 'तु' 'प्राचीनावीती एव' 'भवति' भवेत् । एवञ्च देवपितृकार्याभ्यामन्यत्र निवीत्येव तिष्ठेदिति सुतरां लभ्यते ॥ ४ ॥
अथ आचमनविधिरुपस्पर्शनविधिर्वा—

+ जनेऊ नौ गुण का होना चाहिये, तीन तागे का और दो जनेऊ, या तीन जनेऊ पहनना चाहिये, इत्यादि यहां कुछ नहीं लिखा है । जैसे २ संसार की सृष्टि होती गई है वैसे २ आहम्बर भी बढ़ता गया है ॥

*—यह यज्ञोपवीत की लम्बाई का प्रमाण हुआ । इस के विरुद्ध जो किसी अन्य शाखा के ग्रन्थों में जनेऊ की लम्बाई का विधान है, वह सा-सवेदीय कौशुमीय शाखाध्यायी द्विजों के ग्रहण योग्य नहीं ॥ २ ॥

भा०:-केवल पितृयज्ञ में “प्राचीनावीती” होना चाहिये । इस्से यह सिद्ध होता है कि देवकार्य एवं पितृकार्य को छोड़ कर अन्य समय में “निवीती” होना चाहिये ॥ ४ ॥ +

उदङ्गमेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचा-

मेदु द्विः परिमृजीत ॥ ५ ॥

पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ॥ ६ ॥

इन्द्रियाण्यद्विः संस्पृशेत् ॥ ७ ॥

अक्षिणी नासिके कर्णाविति ॥ ८ ॥

यद्वयन्मीमांशस्य स्यात्तत्तद्विः सत्सृशेत् ॥ ९ ॥

उक्तञ्च ‘आचान्तोदकेनैव कृत्यम्’-इति, इदानीं तदितिकर्तव्यतादि-
कमुपदिश्यते—

‘अग्नेः’ ‘उदङ्’ उत्तरतः ‘उत्सृप्य’ सर्पलेन गत्वा, ‘पाणी पादौ’ च प्रक्षाल्य, ‘उपविश्य च’,—‘त्रिः’ त्रिवारम् ‘आचामेत्’ जलं पिबेत्; ‘द्विः’ द्विवारं ‘परिमृजीत’ ओष्ठाधरलग्नमुदकं मार्जयेत्; ततश्च ‘पादौ अभ्युक्ष्य’ पादयोरभ्युक्ष्यं प्रकृत्य, ‘शिरः’ ‘अभ्युक्षेत्’ । ततश्च ‘अक्षिणी’ अक्षिगोल-
कद्वयम्, अनन्तरं ‘नासिके’ नासिकारन्ध्रद्वयं, तदनन्तरञ्च ‘कर्णौ’ कर्णश-
ङ्कुलिद्वयम्;—इति षट् ‘इन्द्रियाणि’ ‘अद्विः’, ‘संस्पृशेत्’ । ततोऽनन्त-
रनपरमप्यङ्गं ‘यत् यत्’ ‘मीमांस्यं’ अवबोध्यं ‘स्मात्’ ‘तत्तत् अपि’
‘संस्पृशेत्’ । ५—९

+ सर्व कर्म साधारण विधि-प्रकरण के द्वितीय सू० में (दैवकार्य में) यज्ञोपवीती हो कर कार्य करने की व्यवस्था कियी गयी है ? एवं इस स्थल में विशेषतः पितृयज्ञ में प्राचीनावीती होनेकी व्यवस्था कियी है । इस से जिस समय पितृकार्य या दैवकार्य कुछ न हो ऐसे अवसर पर, या शारीरिक मलमूत्र त्यागते समय यज्ञोपवीती या प्राचीनावीती रहने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस्से यह भी सिद्ध होता है कि जिस समय दैव वा पितृकार्य में व्यापृत न रहे उस समय (बोध होता है कि) “निवीती” ही रहना उचित है । मनु कहते हैं—कि ‘निवीती कण्ठ सज्जने’ (२ अ० ६३ श्लो०) अर्थात् कण्ठ में माला की भाँई जनेऊ-धारी को “निवीती” कहते हैं ॥ ४ ॥

भा०:—अग्नि के कुछ उत्तर की ओर सरक कर जावे और दोनों हाथ पेर धोकर उचित स्थान में बैठकर तीन बार आचमन करे । उस के बाद दो बार ओठ और अधर में लगा जल साफ करे, उसके पीछे दोनों पैर और नाथे पर जल छिड़के, तदनन्तर दोनों आंख, नाक के दोनों छिद्र और दोनों कान, इन छः इन्द्रियों के स्थान में जल स्पर्श करे, तदनन्तर और भी जिस २ अङ्ग को अवबोधित करने की इच्छा हो उस २ अङ्ग को जल से स्पर्श करे ॥ ५, ६, ७, ८, ९ ॥

तत्रैतदाहुः—॥ १० ॥

‘तत्र’ आचमनविषये ‘एतत्’ मद्बुद्धिस्थमोष्ठागतं वक्ष्यमाणम् ‘उच्चि-
ष्टो ह्येवातोऽन्यथा भवति’ (सू० ३०)—इत्यन्तग्रन्थम् आहुः केचनेति शेषः ॥ १० ॥

तद्यथा—

भा०:—इस आचमन के विषय में कोई २ आचार्य कहते हैं—कि ॥ १० ॥

नोपस्पृशेद् व्रजन् ॥ ११ ॥

‘व्रजन्’ इत्येतच्च भ्रमन् ‘न’ उपस्पृशेत् अपइति शेषः ॥ ११ ॥

भा०:—भ्रमण करते समय आचमन न करना चाहिये ॥ ११ ॥

न तिष्ठन् ॥ १२ ॥

‘तिष्ठन्’ दण्डायमानः सन् ‘न’ उपस्पृशेदित्यनुवर्तते ॥ १२ ॥

भा०:—खड़े होकर ‘भी’ आचमन न करे ॥ १२ ॥

न हसन् ॥ १६ ॥

‘न हसन्’ हास्यं कुर्वाणः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

भा०:—हंसते समय ‘भी’ आचमन न करे ॥ १३ ॥

न विलोकयन् ॥ १४ ॥

‘विलोकयन्’ अपरं किमपि ईक्षमाणः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥

भा०:—अधर उधर ताकता हुआ (अन्य मनस्क होकर) भी आचमन न करे ॥ १४ ॥

नाप्रणतः ॥ १५ ॥

‘अप्रणतः’ क्रोधदम्भादिभिरुग्रमूर्तिः सन् ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १५ ॥

भा०:—क्रोध, दम्भ आदि के कारण अनम्र होकर आचमन न करे ॥ १५ ॥

नाङ्गुलीभिः ॥ १६ ॥

‘अङ्गुलीभिः’ अङ्गुल्यग्रेषु जलं गृह्णन्नाद्यामुद्धृत्या ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १६ ॥

भा०:-अङ्गुली के अग्र भाग में जल लेकर (अग्राक्ष्य बुद्धि से) आचमन न करे ॥ १६ ॥

नातीर्थेन ॥ १७ ॥

‘अतीर्थेन’ तीर्थं ब्राह्मणादिकं मन्वादिभिरुक्तम्, तदतिरिक्तेन यथा ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

भा०:-अतीर्थ द्वारा (घातु पात्रादि में मुंह से जल ले कर या कण्ठ में ढाल कर) आचमन न करे ॥ १७ ॥

न सशब्दम् ॥ १८ ॥

‘सशब्दं’ क्रीडाभिप्रायेण शब्दं यथा भवेत् तथैव कुर्वाणो ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

भा०:-शब्द करके (जल क्रीडानुसार) आचमन न करे ॥ १८ ॥

नानवेक्षितम् ॥ १९ ॥

‘अनवेक्षितम्’ हस्तगृहीतमुदकं अनवेक्ष्यैव यथालब्धं दृश्यकीटादिसहितं ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १९ ॥

भा०:-जल की भली भांति देखे बिना आचमन न करे ॥ १९ ॥

न बाह्यांशः ॥ २० ॥

‘बाह्यांशः’ बाह्यौ वहिर्भूतौ जान्वोः, अंसौ स्कन्धौ यस्य, तादृशः सन् ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २० ॥

भा०:-दोनों जानु के बाहर स्कन्ध रहने से (वक्र शरीर) आचमन न करे ॥ २० ॥

नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ॥ २१ ॥

‘अन्तरियैकदेशस्य’ परिहितवसनस्यैकांशस्य ‘उत्तरीयतां’ कल्पयित्वा ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २१ ॥

भा०:-एक ही वस्त्र को पहन कर उसी के एक अंश को ओढ़ कर आचमन न करे ॥ २१ ॥

नोष्णाभिः ॥ २२ ॥

‘उष्णाभिः’ वह्न्यादितप्ताभिः अद्भिः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २२ ॥

भा०:-गरम जल से आचमन न करे ॥ २२ ॥

न सफेनाभिः ॥ २३ ॥

‘सफेनाभिः’ केनादियुक्तैर्नलिनैरद्भिश्च ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २३ ॥

भा०: केनैले जल से आचमन न करे ॥ २३ ॥

न च सोपानत्कः क्वचित् ॥ २४ ॥

‘ च ’ अपिच ‘ क्वचित् ’ स्थानविशेषे , यत्रानावश्यकं तत्र , ‘ सोपान-
त्कः ’ उपानद्द्विशिष्टः सन् ‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

भा०:—और अनावश्यक स्थान में दोनों पैर में जूता पहन कर आचमन
न करे ॥ २४ ॥

कासक्तिकः ॥ २५ ॥

गले वद्धः ॥ २६ ॥

चरणौ न प्रसार्य च ॥ २७ ॥

के मस्तके आसक्तिर्बन्धनं यस्य स ‘ कासक्तिकः , ’ ‘ गले ’ गलदेशे ‘ वद्धः ’
गलाधः करखे व्याघातः स्यादेवं दृढबद्धः , ‘ च ’ अपिच ‘ चरणौ ’ ‘ प्रसार्य ’
‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥ २५—२७ ॥

भा०:—मस्तक या गले में दृढ़ बन्धन रहते या दोनों पैर फैला कर आ-
चमन न करे ॥ २५, २६, २७ ॥

अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ॥ २८ ॥

‘ अन्ततः ’ आचम्यारब्धकर्मकेण अनारब्धकर्मकेण वा शयनादीनामन्ते
‘ प्रत्युपस्पृश्य ’ अनुपद-वक्ष्यमाणप्रत्युपस्पर्शनं प्रकृत्यैव ‘ शुचिर्भवति ’ ॥ २८ ॥

भा०:—सो कर अपने पर इत्यादि समय दोबारे आचमन न करने से शु-
द्धि होगी ॥ २८ ॥

हृदयस्पृशस्त्वेवापआचामेत् ॥ २९ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—‘ हृदयस्पृशः ’ यावन्त्यः पीताः हृदयं स्पृश-
न्ति, तावन्तएवापः हृदयस्पृशः ताः ‘ आपः ’ ‘ आचामेत् ॥ २९ ॥

भा०:—जितना जल पीने से हृदय पर्यन्त सिक्त हो सके, न्यून से न्यून
उतने जल से अवश्य आचमन करना चाहिये ॥ २९ ॥

उच्छिष्टोहैवातोऽन्यथा भवतीति ॥ ३० ॥

‘ अतोऽन्यथा ’ उक्तादन्यप्रकारकृताचमनः ‘ उच्छिष्टः एवं ’ अशुद्धएव ‘ इ’
निश्चयं ‘ भवति ’—‘ इति ’ ‘ आहुः ’ (सू० १) इति पूर्वशान्वयः ॥ ३० ॥

भा०:—ऐसा नहीं करने पर (हृदय तक जल नहीं पहुंचने से) उच्छि-
ष्ट ही रह जाता है ॥ ३० ॥

अथ प्रत्युपस्पर्शनानि ॥ ३१ ॥

‘अथः’ अनन्तरम् ‘प्रत्युपस्पर्शनानि’ कीदृक्स्थलकृताचमनं प्रत्युप-
स्पर्शनसंज्ञां लभते ? तत् उपदेक्ष्यामि इति ॥ ३१ ॥

भा०:—किस २ स्थान के आचमन को “ प्रत्युपस्पर्शन ” कहते हैं ? सो
कहा जाता है ॥ ३१ ॥

सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा विपरिधाय च
रथ्यामाक्रम्य श्मशानञ्चाचान्तः पुनराचामेत् ॥ ३२ ॥

‘सुप्त्वा’ स्वापानन्तरम् १, ‘भुक्त्वा’ भोज्यभोजनानन्तरम् २, ‘क्षुत्वा’
क्षवनानन्तरम् ३, ‘स्नात्वा’ स्नानानन्तरम् ४, ‘पीत्वा’ पेयपानानन्तरम् ५,
‘विपरिधाय’ वसनादिपरिधानानन्तरम् ६, ‘च’ अपिच ‘श्मशानम्’ ‘र-
थ्याम्’ ग्राम्यमार्गम् ७, ‘आक्रम्य’ विचरणानन्तरम् ८ ‘आचान्तः च’ या-
गाद्यनुरोधतः प्रथममाचान्तोऽपि पुनराचामेत् द्वितीयमाचमनं कुर्वीत । अत्रेदं
तत्त्वम् स्वापाद्यनन्तरमाचामेत्, तत्रैकमेवाचमनं कर्तव्यम् ; अथ आचम्यारब्ध-
कर्मकेषु तु स्वापाद्यनन्तरं पुनश्च द्वितीयमाचमनं कर्तव्यम् ; तदिदमेवंस्थानि-
कमाचमनमेव प्रत्युपस्पर्शनमुच्यते इति ॥ ३२ ॥

इति श्रीगोभिलीय-गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके

द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १, २, ।

भा०:—सो कर उठने पर, भोजन करने पर, हिचकी आने पर, स्नान
करने पर, रसादि पीने पर, वसन, भूषणादि पहनने के श्रम के ‡ उपशमार्थं

‡ शयनादि के पीछे जो आचमन किया जाता है उसी को “ प्रत्युपस्पर्-
शन ” कहते अर्थात् नीन्द टूटने पर आचमन अवश्य करना चाहिये ; यदि
किसी देवानुष्ठानादि कार्य करते २ आलस्य जात तन्द्रा रूप निद्रा, या कि-
सी प्रकार आहार या हिचकी हो तो ऐसे स्थान में पुनर्वार आचमन करे ऐसा
न समझे कि एक बार आचमन कर चुका हूँ फिर क्या आवश्यकता है ॥
एवं गली और मुँह जलाने के स्थान में श्रमण करने पर, या इस के पूर्व अपर
किसी कार्य के अनुरोध से आचमन किया गया हो, तो ऐसे स्थलों में भी पुनः
आचमन करे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड

का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, २ ॥

(इति सर्वकर्मसाधारण-प्रकरणं समाप्तम्)

(अथ ब्रह्मयज्ञप्रकरणम्)

अग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेना-
ग्निमदितेऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

‘अग्निम्’ पूर्वोक्तप्रकारेण (१, २७-२८) ‘उपसमाधाय’, ‘परिसमूह्य’ वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण, ‘दक्षिणजान्वक्तः’ दक्षिणं जानु अर्कं भूमिगतं यस्य, ता-
दृशः सन्—‘अदितेऽनुमन्यस्व’ हे अदिते ! देवि ! एतत्कर्मकरणे अनुमतिं देहि
‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अग्निम् दक्षिणेन’ कृत्वा ‘उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥१॥

भा०—पूर्वोक्त (१, २७-२८) अग्नि उपसमाधान कर, परि समूहन करके
दक्षिण जानु भूमि पर टेककर, हे अदिते ! मुझ को इस कार्य के करने में अ-
नुमति देओ’, इस मन्त्र से अग्नि के दक्षिण भाग में उदकाञ्जलि सींचे ॥ १ ॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चात् ॥ २ ॥

‘अनुमतेऽनुमन्यस्व’ हे अनुमते देवि ! अत्रानुमतिं देहि—‘इति’ मन्त्रेण
‘पश्चात्’ अग्नेः पश्चिमतः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ २ ॥

भा०—‘हे अनुमते ! मुझ को इस कार्य के करने में अनुमति देओ’—इस
मन्त्र से अग्नि के पश्चात् भाग में दूसरी उदकाञ्जलि सींचे ॥ २ ॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः ॥ ३ ॥

‘सरस्वत्यनुमन्यस्व’ हे सरस्वति ! देवि ! अत्रानुमतिं देहि—‘इति’ म-
न्त्रेण ‘उत्तरतः’ अग्नेः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ ३ ॥

भा०—और ‘हे सरस्वति ! मुझ को इस कार्य के करने में अनुमति देओ’
इस मन्त्र से अग्नि के उत्तर में तीसरी उदकाञ्जलि सेंचन करे ॥ ३ ॥

देवसवितः प्रसुवेति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा ॥ ४ ॥

‘देवसवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्योगन्धर्वः केतपूः के-
तन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचन्नः स्वदतु’ इत्यनेन मन्त्रेण (म० ब्रा० १ क०)
‘अग्निं प्रदक्षिणं’ यथाभवंत् ‘सकृत् वा’ एकवारं वा ‘त्रिर्वा’ अथवा
वारत्रयं ‘पर्युक्षेत्’ उदकधाराभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

भा०—एकवार या तीनवार ‘देव सवितः प्रसुव’ इस मन्त्र से अग्नि की
प्रदक्षिणानुसार जल धारा गेरे । इसी को पर्युक्षण कहते हैं ॥ ४ ॥

पर्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्युक्षन् होमीयम् ॥ ५ ॥

‘पर्युक्षणान्तान्’ अङ्गयागान् ‘व्यतिहरन्’ व्यवहरन् ‘होमीयम्’ होमी-

पयोगितया सङ्गृहीतं वस्तुजातम् ' अभिपर्युक्षन् ' उदकविन्दुभिः सिञ्चन् ॥५॥

भाः—उक्त प्रकार ' पर्युक्षन् ' पर्येत कार्यो को शेष कर अनन्तर होम के उपयोगी अन्नादि को जल विन्दु से सींचे। इसी को ' पर्युक्षण ' कहते हैं ॥५॥

अथ हविष्यस्यान्वस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा ॥६॥

' अथ ' अनन्तरम् ' अग्नौ ' तस्मिन् ' कृतस्य ' वा पक्वस्य वा ' अपक्वस्य वा ' हविष्यस्य ' अन्नस्य यवादेः (अंशमिति शेषः) ' जुहुयात् ' ॥६॥

भा०—अनन्तर उसमें अग्नि में का पका या कच्चा हव्य हवन करे ॥ ६ ॥

अकृतञ्चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ॥७॥

तच्च होमीयं ' अकृतम् ' अपक्वं ' चेत् ' तत् ' प्रक्षाल्य ' उदकैः, ' प्रोदकं ' जलाद्रं च ' कृत्वा ' ' जुहुयात् ' ॥७॥

भा०—यदि अग्नि-पक्व भात आदि होम के योग्य न हो, प्रत्युत सङ्कुल या फलादि ही हवनीय हो, तो उन सब को अच्छे प्रकार धोकर जल से भीगे ही दशा में हवन करे ॥ ७ ॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कथंसेन वा चरुस्थाल्या वा
स्रुवेण वै वा ॥८॥

' अथ ' तत्रापि यदि दधि पयः यवागूं ' वा ' होतव्यं भवेत् तदा ' कंसेन वा ' कांस्यपात्रेण वा ' चरुस्थाल्या वा ' चरुपाकपात्रेण ' वा ' अथवा ' स्रुवेण ' ' वै ' एव जुहुयात् न तु साक्षात् हस्तेन ॥८॥

भा०—विशेषता—यदि दही, दूध या यवागूं होम करना हो, तो उसके धोने की आवश्यकता नहीं, जैसा ही उसी प्रकार विन धोये ही कांस्यपात्र चरुस्थाली में रक्त्व कर उस से या स्रुवा से हवन करे (हाथ से नहीं) ॥८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्वां तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजिता-
याञ्चैव दिशीति सायम् ॥९॥

' मध्ये ' अग्नेर्मध्यस्थले ' पूर्वां ' प्रथमामाहुतिम् " अग्नये स्वाहा " इति अनेन मन्त्रेण ' अपराजितायां ' दिशि अग्नैरैशान्यां ' उत्तराम् ' द्वितीयामाहुतिम् ' तूष्णीम् ' मन्त्रशून्याम् जुहुयात् । ' इति ' एवं ' सायम् ' सायङ्कालीनो होमः ॥९॥

भा०—प्रथम आहुति तो " अग्नये स्वाहा " इस मन्त्र से अग्नि के बीच में और द्वितीय आहुति ईशान कोण में बिना मन्त्र ही करे। यही सायङ्काल के होम का विधि हुआ ॥ ९ ॥

अथ प्रातः,—सूर्याय स्वाहेतिपूर्वा, तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये
चैवापराजितायाद्धैव दिशि ॥१०॥

“अथ प्रातः—” ‘पूर्वाम्’ प्रथमासाहुति “सूर्याय स्वाहा” “इति” अनेन मन्त्रेण । अन्यत् समानं पूर्वण ॥१०॥

भाः—प्रातःकाल के होम की व्यवस्था भी इसी प्रकार, होगी, केवल “अग्नये स्वाहा” मन्त्र के बदले “सूर्याय स्वाहा” मन्त्र से आहुति होगी इतना ही इस में विशेषता है ॥ १० ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्य तथैवोदकाज्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वम-
थस्था इति मन्त्रविशेषः ॥११॥

सायं प्रातश्चोभयत्रैव होतानन्तरम्—‘समिधम्’ ‘अमन्त्रकमेव आधाय’ तत्राग्नीं पुत्वा ‘अनुपर्युक्ष्य’ पुनः पर्युक्ष्यं कर्तुं प्रवृत्तः ‘तथैव’ पूर्ववदेव ‘उदकाज्जलीन्’ प्रसिञ्चेत् । तत्र ‘अन्वमस्था’—‘इति’ अयमेव भूतार्थपद-प्रयोगएव ‘मन्त्रविशेषः’ मन्त्रे विशेषः कर्त्तव्यः ॥ ११ ॥

भा०—‘सायं’ या ‘प्रातः’ दोनों ही काल में होम के पीछे अग्नि में एक समित् (होम की लकड़ी) बिना मन्त्र के डाल कर पहिलेकी नाई फिर ‘पर्युक्ष्य’ करने को प्रवृत्त होकर उदकाज्जलि रोचि । इसी को ‘अनुपर्युक्ष्य’ कहते हैं । इसी ‘अनुपर्युक्ष्य’ में पूर्व मन्त्र के बदले में ‘हे अदिते ! तू ने मुझे इस कार्य के करने में अनुमति प्रदान कीयी थी’ (मैंने भी उस के अनुवापी कार्य सम्पन्न किया)—इसी मन्त्र का व्यवहार करना चाहिये यही विशेषता है ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापाथशेषं निनीय पूरयित्वा चमसं
प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥ १२ ॥

उक्तानुपर्युक्ष्यानन्तरम्—‘अग्निं’ ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘परिक्रम्य’ ‘अपाम्’ अहुगुप्तानां कुम्भादेर्गृहीतानां वा ‘शेषं’ ‘निनीय’ पुनर्गृहीत्वा, तेनैवोदकशेषेण ‘चमसं’ पानपात्रं ‘पूरयित्वा’ ‘प्रतिष्ठाप्य’ मंद्यं च ‘यथार्थम्’ यथा-प्रयोजनम् एतदुत्तरवक्ष्यमाणं सायं सायसाशादिकं प्रातः प्रातराशारिकञ्च कुर्वीतेति ॥ १२ ॥

भा०—उक्त “अनुपर्युक्ष्य” के पीछे प्रदक्षिण द्वारा अग्नि परिक्रमा

करके, गृहीत जल के अवशिष्ट को 'चमसि' में ढाल कर यथा आवश्यक कार्य के लिये रख खड़ा ॥ १२ ॥

एव मत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीवितावभृ-
थात् ॥ १३ ॥

'अतः ऊर्ध्वम्' एतद्विषयत ऊर्ध्वम् 'आ जीवितावभृथात्' जीवितं जी-
वनम्, अवभृथञ्च अश्वमेधादिसहायागक्रियान्त्यकर्म, तयोः समाहारः तस्मात्
यः वज्जीवनं महाक्रतुसम्पादनान्तं वा प्रतिदिनमेव सायं प्रातश्च 'एवम्' अनेन
प्रकारेणैव तत्र 'गृह्ये अग्नौ' जुहुयात् वा' स्वयम्, 'हावयेद्वा' अपरेण प्रतिनि-
धिना ॥ १३ ॥

भा०—जिस दिन अग्नि ग्रहण पूर्वक प्रथम होम करे, उस दिन से याव-
ज्जीवन या अश्वमेधादि महायाग में 'अवभृथ (अन्तिम स्नान) स्नान करने
पर्यन्त प्रतिदिन सायं और प्रातः दोनों ही समय उपदिष्ट प्रकार से स्वयं
होम करे या प्रतिनिधि (अपने बदले में दूसरे किसी के) द्वारा इस होम
को करावे ॥ १३ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ १४ ॥

'अथा' अत्र विषये 'उदाहरन्ति अपि' अपरेण हावने विशेष विधिसम्य-
नेके वदन्ति ॥ १४ ॥

भा०—इस प्रतिनिधि के विषय में कतिपय लोग यह (विशेष) कहने हैं ॥ १४ ॥

कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहाः पत्नी
गृह्यएषोऽग्निर्भवतीति ॥ १५ ॥

'एषः अग्निः' 'गृह्यः' गृहाय हितएव 'भवति',—'पत्नी' च 'गृहाः' गृहा,
'इति' अतीहेतोः 'गृह्ये अग्नौ' अत्र 'पत्नी', 'कामं' यथा स्यात्तथा, इच्छेत्
'सायंप्रातर्होमौ' यथोक्तौ द्वावेव, 'जुहुयात्' ॥ १५ ॥

भा०—पत्नी को गृहा (गृह कार्य की उपयोगिनी) कहते हैं एवं इस
अग्नि की भी गृह्याग्नि कहते हैं अर्थात् घर के काम के उपयोगी अतएव पत्नी
इच्छा करने पर सायं और प्रातः दोनों ही होम करे ॥ १५ ॥

निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रवाचयेत् ॥ १६ ॥

अनन्तरम्, 'सायमाशप्रातराशे' सायं सायम्भोजने प्रातः प्रातर्भोजने च
'निष्ठिते' अनुष्ठिते, ततः 'भूतम्' इदानीं कर्तव्यजातं सम्पन्नम् 'इति' मनसि

विद्यार्थ्यं अन्तेवासिनो विज्ञाप्य वा 'प्रवाचयेत्' स्वाध्याय मध्यापयेत्; स्वान्ते वासिन इति शेषः । एष एव ब्रह्मयज्ञः ॥ १६ ॥

भा०—अनन्तर सायङ्काल में सायङ्काल का भोजन और प्रातःकाल में प्रातःकाल का भोजन प्रस्तुत होने पर छात्रों (विद्यार्थियों) को अध्ययन कराये । (इसी को ' ब्रह्मयज्ञ ' कहते हैं) ॥ १६ ॥

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा—॥१७॥

प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मै नमस्तन्माक्षा इत्युपांशु ॥ १८ ॥

ब्रह्मयज्ञकाले 'भगया वाचा ऋते' वेदवाक्यं विना अपरं किमपि लौकिकं प्रवृत्त 'अशुचिः भूत्वा, तदशुचित्वं दूरीकर्तुम् 'उच्चैः ओम् इति' किञ्च 'उपांशु' नीचैः ' तस्मै नमस्तन्माक्षाः ' 'इति' मन्त्रद्वयं 'प्रतिजपति' प्रतिवार वाचद्वारं लौकिकं वदेत् तावद्धारमेव जपेदिति ॥ १७-१८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१॥ ३॥

भा०—(ब्रह्मयज्ञ काल में) जिस वाक्य से कल्याण हो ऐसे वाक्य को छोड़, अन्य वाक्य का व्यवहार करने ही से अशुचि होगी ॥ १७ ॥

अपवित्र—वाक्य के व्यवहार से अशुचि होने पर प्रकट में “ ओम् ” कह कर, मन ही मन “ उन को नमस्कार दे इस प्रकार कहने से फिर प्रवृत्त नहीं करते ” इस मन्त्र का जप करे ॥ १८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के तृतीय

खण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १. ३ ॥

अथ वाग्यतो बलीन् हरेत् । १

'अथ' प्रकरणारम्भद्योतकः । 'वाग्यतः' नियतवाक् हास्यकौतुकादिनिमित्तकमनृतभाषणाद्यनियतवाचं परित्यज्य 'बलीन्' बल्यर्थपाकादीनि प्रथमकर्त्तव्यानि 'हरेत्' आहरत् सम्पादयेदित्यर्थः ॥१॥ उक्तनियतवाक्यमेव विशदयति—

भा०—हंसी जीलगी (हास्य कौतुकादि) के निमित्त भी झूठ बोलना आदि अनियत वाक्य को छोड़ कर अर्थात् काम में मन लगा कर “बलिकर्म” करना चाहिये विचार पूर्वक पाकादि सम्पादन करना उचित है ॥ १ ॥

भापेतान्नसंतिष्ठिमतिथिभिः कामथ्सम्भापेत । २

'अन्नसंतिष्ठिं' अन्नसम्बन्धिनीं संतिष्ठिं विकलृत्त्यादिविषयणीं 'कथां

प्रश्नोत्तरादिकां 'भाषेत' न तत्र निषेधः । किञ्च 'अतिथिभिः' समागतैः सह 'कामं' यथेच्छं विनयादिकं 'सम्भाषेत' तत्रापि न निषेधः ॥ २ ॥ वैश्वदेववि-
धिस्तु यते—

भा०—हां, अन्नपाक सम्बन्धी बातचीत (कथोपकथन) करने का नि-
षेध नहीं और आये हुये अतिथियों के साथ भी नम्रता से बात करने में
कोई बाधा नहीं ॥ २ ॥

अथ हविष्यस्यान्नस्फोट्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्याग्नौ जुहु-
यात्तूष्णीं पाणिनैव ॥ ३ ॥

'अथ' पाकनिष्पत्त्यनन्तरं, 'हविष्यस्य अन्नस्य' तस्यैव पक्वस्य हविष्यस्य-
पान्नस्य किञ्चिद् 'उद्धृत्य' गृहीत्वा, 'हविष्यै व्यञ्जनैः' सूपादिभिः 'उपसिच्य'
गृहीतं तत् सस्मिन्नथ, 'अग्नौ' पूर्वाक्तत्तत्वे गृह्ये, 'तूष्णीम्' अस्फुटवाक् सन्
'पाणिनैव' जुहुयात्, न तत्र स्तुवादेरपेक्षा ॥३॥ तत्र मन्त्रदेवते विधीयते—

भा०—पाक प्रप्तुत होने पर उस हविष्यान्न में वे कुछ लेकर हविष्य
व्यञ्जन के साथ उसी अग्नि में बिना मन्त्र पढ़े एक आहुति देवे । इस आहुति
में 'स्तुवादि' की अपेक्षा नहीं, हाथ ही से उस का काम चल जावेगा ॥ ३ ॥

प्राजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरा ॥ ४ ॥

'प्राजापत्या' प्राजापतिदेवताका, तथाच मनसा प्राजापतिं प्रजानामीशानं
सृष्टिस्थितिलयकर्तारं परमदेवं विचिन्त्य 'प्राजापतये स्वाहा'—इत्यस्फुटमेवोक्त्वा
'पूर्वाहुतिः' प्रथमा आहुतिः 'भवति' सम्पद्यते । 'सौविष्टकृती' स्विष्टकृदेवताका,
स्विष्टं शोभनाभिलाषं करोति पूरयति यः तमेव सर्वान्तर्यामिणं परमेशं मनसा
विचिन्त्य 'स्विष्टकृते स्वाहा' इत्यस्फुटएवोक्ते 'उत्तरा' आहुतिः भवति । इत्य-
मुपदिष्टो देवयज्ञापरनामको नित्यहोमाभिधो वैश्वदेवः ॥ ४ ॥

भा०—प्राजापति देवता अर्थात् जो इस विश्व (सम्पूर्ण) राज्य का
प्रकृत (असल) राजा होकर प्रजारूप विश्व संसार को पालन कर रहे हैं
उन्हीं परमेश्वर का मन ही मन चिन्तन कर प्रथम आहुति और स्विष्टकृत्
देवता अर्थात् जो एक मात्र सम्पूर्ण संसार का अन्तर्यामी और सुमनोरथ
पूरण करने वाला है उन को मन ही मन चिन्तन करके द्वितीयाहुति देवे
इसी को " देवयज्ञ " " नित्यहोम " और " वैश्वदेव " कहते हैं ॥ ४ ॥

अथ बलीन् हरेत्, बाह्यतोवान्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ॥ ५ ॥

‘अथ’ देवयज्ञापरपर्यायवैश्वदेवहोमानन्तरम्:—

‘वाह्यतः वा अन्तर्वा’ अग्न्यागारस्येति शेषः, ‘सुभूमि’ मार्जनादिभिर्भूमि-
शीघ्रं ‘कृत्वा’ ‘बलीन्’ भूतयज्ञात्मकान् पशुपक्षिपिपीलिकादीनामाहारदान
रूपान् ‘हरेत्’ सम्पादयेत् ॥ ५ ॥

भा०:—देवयज्ञ नामक उक्त होम के पीछे अग्नि-गृह के बीच में हो
या बाहर । अर्थात् यथायोग्य चाहे जिस किसी स्थान में हो, काडू आदि
से भूमि की भली भाँति साफ कर उस २ स्थान में पशु, पक्षी, पिपीलिका
आदि को आहार देकर “ बलिकाव्यं ” पूरा करे ॥ ५ ॥

सकृदपो निनीय चतुर्धा बलिं निदध्यात्, सकृदन्ततः परि-
पिञ्चेत् ॥ ६ ॥

‘सकृत्’ एकवारम् ‘अपः’ उदकानि ‘निनीय’ भूमौ सिञ्चनं प्रकृत्य ‘बलिं’
पार्थिवभूताद्युद्देश्यकं दानं ‘चतुर्धा’ चतुःप्रकारं यथा स्यात् तथा ‘निदध्यात्’
तत्र मार्जितजलसिक्ते च स्थाने संरक्षेत; ‘अन्ततः’ बलिनिधानान्ते पुनरपि
पूर्ववत् ‘सकृत्’ एकवारम् अपः ‘परिपिञ्चेत्’ ॥ ६ ॥

भा०:—मार्जित (साफ किया हुआ) भूमि में पहिले एक वार जल छीट
कर ४ भाग बलि अलग २ रखे और फिर उस पर जल छिड़के ॥ ६ ॥

एकैकं वानुविधानमुभयतः परिपिञ्चेत् ॥ ७ ॥

‘वा’ अथवा ‘अनुविधानम्’ एकस्य पश्चादपरमिति क्रमेण चतुर्णामेव
बलीनां स्थापनं कार्यमिति शेषः, किञ्च ‘एकैकम्’ एव ‘उभयतः’ स्थापनात्
पूर्वस्मिन् पश्चादपि ‘परिपिञ्चेत्’ ॥ ७ ॥

भा०:—या एक २ भाग करके ही बलि स्थापन करे और प्रत्येक भाग
के रखने के पहिले एकवार और पीछे एकवार जल छिड़के ॥ ७ ॥

स यत् प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवत्यथ यद् द्वितीयं
स वायव्यो यत् तृतीयं स वैश्वदेवो यच्चतुर्थं स प्राजापत्यः

‘स’ बलिप्रदाने प्रवृत्तः पुरुषः ‘यत् प्रथमं निदधाति’, ‘सः’ प्रथमो ‘बलिः’
‘पार्थिवः’ पृथिवीदेवताको भवति । ‘अथ’ अनन्तरं ‘यत् द्वितीयं’ निदधाति,
‘स’ बलिः ‘वायव्यः’ वायुदेवताको भवति । ‘यत् तृतीयं’ निदधाति, ‘सः’ बलिः
‘वैश्वदेवः’ विश्वदेवदेवताको भवति । ‘यत् चतुर्थं’ निदधाति, ‘सः’ बलिः
‘प्राजापत्यः’ प्रजापतिदेवताको भवति ॥ ८ ॥

भा०:—बलि के उक्त ४ भागों में से प्रथम बलि पृथिवी देवी का, द्वितीय वायु देवता का, तृतीय विश्वेदेवा देवता का, चतुर्थ प्रजापति देवता का है ॥८॥

अथापरान् बलीन् हरेदुदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्याब्दैवतः
प्रथमोबलिर्भवत्योषधिवनस्पतिभ्योद्वितीय आकाशायतृतीयः ९

‘अथ’ तद्बलिषु पृथग्विधानानन्तरम् ‘अस्य’ बलिनिधातुः ‘उदधानस्य’ यस्मिन् गृहे परिचरणीया आपो रक्षिताः तस्य ‘द्वारस्य’ मध्यम् मध्यतः अपरान् बलीन् ‘बलीन्’ ‘हरेत्’ सम्पादयेत् । तत्र, ‘प्रथमः बलिः’ ‘अब्दैवतः’ ‘भवति’; ‘द्वितीयः’ ‘ओषधिवनस्पतिभ्यः’ ओषधिवनस्पतिदेवताकः भवति; ‘तृतीयः’ ‘आकाशस्य भवति; तोषायेति सर्वत्र शेषणीयः ॥८॥

भा०:—इन चार बलि के स्थापन के पीछे यह बलि स्थापयिता (रखने वाला) के निज गृह के अर्थात् जिस गृह में “ परिचरणीय ” जल रक्षित रहता हो, उसी घर के द्वार के मध्य देश में अन्य तीन बलि रखे । उन में से प्रथम बलि जल देवता का, द्वितीय औषधि-वनस्पति का, और तृतीय आकाश का होता है ॥ ९ ॥

अथापरं बलिं शयनं वाधिवर्चं वा स कामाय वा
बलिर्भवति मन्यवे वा ॥ १० ॥

‘अथ’ उक्त बलित्रयहरणानन्तरम् ‘अपरम्’ अपि एकं ‘बलिम्’ ‘हरेत्’ सम्पादयेत् । तस्य स्थानं निर्दिशति—‘ शयनं वा अधिवर्चं वा ’ शयनागृहस्य मध्ये शयनस्थानं वा तद्गृहमध्ये एव अधिवर्चं सूत्रत्यागादिस्थानं वा अभिलक्ष्येति । देवतां विधत्ते—‘ सः ’ शयनस्थाने वा स्थापितो बलिः ‘ कामाय ’ भवति, अधिवर्चस्थाने वा स्थापितो बलिः ‘मन्यवे’ भवति ॥ १० ॥

भा०:—इन तीन बलियों के रखने के बाद शयन गृह में चाहे सोने ही की जगह हो, या मूल सूत्रत्याग आदि स्थान ही में ही, एक और बलि रखे । उन में से शयन-स्थान वाला बलि ‘ काम देवता ’ का और अधिवर्च स्थान (सूत्र त्यागादि स्थान—जो सोने के घर में होता है) का बलि ‘मन्यु देवता’ का होता है ॥ १० ॥

अथ सस्तूपं स रक्षोजनेभ्यः ॥ ११ ॥

‘अथ’ अनन्तरं ‘सस्तूपं’ गृहावर्जनादिप्रक्षेपस्थानं मभिलक्ष्य तत्रापि बलि मेकं प्रक्षिपेत् । ‘सः’ बलिः ‘रक्षोजनेभ्यः’ भवति ॥ ११ ॥

भा०:—उस के पश्चात्—कूड़ा आदि फेंकने के स्थान में एक बलि देवे, यह बलि राक्षसों का होगा ॥ ११ ॥

अथैतद्बलिशेषमद्विरभ्यासिच्यापसलवि दक्षिणानिनयेत्
पितृभ्यो भवति ॥१२॥

‘अथ’ तदनन्तरम्, ‘एतद्बलिशेषम्’ अद्विः अभ्यासिच्य जलसेकेन धौत-
प्रायं प्रकृत्य ‘अपसलवि’ अपसद्येन पितृतीर्थेन ‘दक्षिणा’ दक्षिणस्यां दिशि
‘नियेत्’ विकिरेत्। स एव विकीर्णो बलिः ‘पितृभ्यः’ पितृदेवताकः ‘भवति’ १२

भा०:—उसके बाद पात्रस्थ बचे हुए अन्न को जल में धोकर हाथ की
पैत्र अंगुली से दक्षिण की ओर फेंके, वह बलि पितृगण का होगा ॥ १२ ॥

[इस से गोभिलाचार्य के मत से १० भूतबलि निर्णित हुए । उन में
से ४ अग्निगृह में, ३ जलगृह के द्वार पर, एक शय्या-स्थान में ही या सूत्र-
त्याग स्थान में हो, शयन-के कक्ष (वगल) में एक, और कूड़ा रखने की
जगह एवं शेष को मकान के दक्षिण भाग में । किन्तु साधारणतः उत्तरीतर
जल की तीन रेखा करके उस के ऊपर क्रमोद्ध्व भाव से ४ करके १२ बारह
एवं सव के उत्तर एक और मख के दक्षिण एक इस प्रकार १४ बलि * का
व्यव-हार इन दिनों देखा जाता है]

आसीन एवाग्नौ जुहुयात् ॥ १३ ॥

आसीनः पितृभ्यो दद्यात् यथोपपादमितरान् ॥१४॥

‘आसीनः’ उपविष्टः ‘एव’ ‘अग्नौ जुहुयात्’ पूर्वोक्तप्रकार मथ हवि-
षस्यान्नस्योद्धृत्येत्यादिकं वैश्वदेवहोमं कर्त्तव्यम् । ‘पितृभ्यः’ अपि अथैत-
द्बलिशेषमित्युक्तं बलिशेषम् ‘आसीनः’ एव ‘दद्यात्’ । ‘इतरान्’ अथा-
परानित्याद्युक्तान् उदधानादिबलीन् ‘यथोपपाद’ यथा यथा उपपद्यते
तथातथैव तिष्ठन् प्रहूश्चलन् वा दद्यात् । १३, १४ ॥

* (१)—जैसे— ०—ब्रह्माणेन मः १२ ०—कामाय नमः ८ ०—प्रजापतये नमः ४
०—वासुकीये नमः ११ ०—आवराशाय नमः ७ ०—विश्वेभ्योदेवेभ्यो नमः ३
१३ रक्षोजनेभ्यः ० ०—पितृभ्यःस्वधा १४
०—इन्द्राय नमः १० ०—ओषधिवनस्पतिभ्यो नमः ६ ०—वायवे नमः २
०—मन्यवे नमः ६ ०—अदृभ्यो नमः ५ ०—पृथिव्यै नमः १

इस प्रकार १४ बलि की चाल वा प्रणाली यद्यपि अमूलक नहीं, परन्तु जिस कारण गोभिलाचार्य ने नहीं
कहा है, इस लिये कौथुमी शाखा वाले द्विषजों को ये १४ बलि कर्त्तव्य है ऐसा नहीं बोध होता है ॥ १२ ॥

भा०—पूर्वोक्त वैश्वदेव होन बैठकर ही करे ; पितृगण को देने योग्य बलि-शेष भी (सू० १२) बैठ कर ही प्रदान करे । अन्य अर्थात् पूर्वोक्त जल गृहादि में देने योग्य बलि आदिक जिस २ प्रकार सम्पन्न हो सके उस २ प्रकार करे अर्थात् खड़े होकर, बैठ कर, निहुर कर, (जहां जैसा सुभीता हो वहां वैसा) करे ॥ १३, १४ ॥

स्वयन्त्वेवैतान् यावद्वसेद् बलीन् हरेत् ॥ १५ ॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥ १६ ॥

दम्पती एव ॥ १७ ॥

‘ एतान् ’ ‘ बलीन् ’ ‘ यावद् ’ ‘ वसेत् ’ स्वगृहे , तावत् ‘ स्वयमेव ’ ‘ हरेत् ’ । ‘ अपिवा ’ पीडादौ ‘ अन्यः ब्राह्मणः ’ प्रतिनिधिरपि अत्र अधिकारी । अत्र कार्ये ‘ दम्पती ’ भार्या पतिश्च उभौ ‘ एव ’ तुल्याधिकारिणौ ॥ १५, १७ ॥

भा०—ये बलि जिस समय सकान पर रहे उस समय स्वयं ही सम्पन्न करे अथवा (पीडा आदि होने के कारण स्वयं असमर्थ होने पर) अन्य ब्राह्मण द्वारा भी कराने से हो सकत है । इस कार्य के लिये स्त्री पुरुष दोनों ही समान अधिकारी हैं । इससे पत्नी भी बलिहरण कर सकती है ॥ १५, १६, १७ ॥

इति गृहमेधिव्रतम् ॥ १८ ॥

‘ इति ’ एतत्खण्डोक्तं वैश्वदेवादिकं ‘ गृहमेधिव्रतम् ’ गृहमेधिनः गृहस्थस्य व्रतम् अवश्यं प्रतिपाल्य नियमितकार्यम् ॥ १८ ॥

भा०—यह (इस खण्ड के आरम्भ से अब तक जो कुछ कहा गया है) गृहस्थों के लिये अवश्य कर्तव्य है ॥ १८ ॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥ १९ ॥

‘ सायं स्त्री ’ ‘ प्रातः पुमान् ’ कुर्यादिदं बलिहरणम् ‘ इति ’ एवं नियमः कस्यचिदाचार्यस्य अभिमतः । अत्राप्यस्य गोभिलस्य नासम्मतः ॥ १९ ॥

भा०—‘ प्रातः काल में गृहस्वामी ही और सायंकाल में उस की पत्नी ही बलिहरण करे ’ यह भी किसी २ आचार्य का मत है ॥ १९ ॥

सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा

स्वस्त्ययनस्य वाऽर्थार्थस्य वा ॥ २० ॥

* पत्नी विना वेद मन्त्र पढ़े बलिकर्म करे ऐसा आचार्य ने नहीं कहा । मनु में स्त्रियों को विना मन्त्र पढ़े बलि हरण करे ऐसा लिखा है वह उन लोगों के लिये है जिन की मान्य शाखा है ॥

‘ पित्र्यस्य वा ’ पितृकर्मार्थं शृतस्य, ‘ स्वस्त्ययनस्य वा ’ स्वस्त्ययनार्थं कल्याणार्थं ब्राह्मणभोजनाय शृतस्य वा, ‘ अर्थार्थस्य वा ’ अर्थः प्रयोजनं किं अपि प्रयोजनं स्वभोजनादिकमुद्दिश्य पक्वस्य वा ‘ सर्वस्य एव ’ सर्वप्रकारस्य-
यज्ञस्य ‘ एतान् बलीन् हरेत् ’ बलिहरणे इदमेवान्नं ग्राह्यमिति न नियमः ॥२०॥

भा०:—पितृ कार्य के लिये हो, या ब्राह्मण भोजनादि कल्याण कार्य के लिये हो या अपने ही पेट भरने के लिये हो, सब ही प्रकार के अन्न से बलि कार्य सम्पन्न कर सकते हैं ॥ २० ॥

यज्ञादेव निवर्त्तते ॥ २१ ॥

‘ यज्ञात् ’ ज्योतिष्टोमादिकं यज्ञमारभ्य (त्यज्जलोपे पञ्चमी) ‘ एव ’ ‘ निवर्त्तते ’ इतः कर्मणः पुरुषइति यावत् । यज्ञे दीक्षितस्य नास्त्यत्रातिकर्त्त-
व्यतेति भावः ॥ २१ ॥

भा०:—ज्योतिष्टोमादि जिस किसी यज्ञ का क्यों न हो, अनुष्ठान आरम्भ करने पर फिर यह बलिकार्य करना उचित नहीं ॥ २१ ॥

यद्येकस्मिन् काले ब्रीहियवौ प्रक्रियेतान्यतरस्य

कृत्वा कृतं मन्येत ॥ २२ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् काले ’ ब्रीहियवौ ‘ उभयविधे अन्नेप्रक्रियेताम् प्रस्तु-
तीकृते स्यातां, तर्हि ’ अन्यतरस्य ‘ ब्रीहेर्यवस्य वा बलिहरणं ‘ कृत्वा ’ ‘ कृतम् ’
सम्पन्नं विधिविहितं बलिहरणमिति ‘ मन्येत ’ जानीयात् ॥ २२ ॥

भा०:—यदि एक ही समय ‘ तण्डुल ’ और “ यव ” दोनों ही प्रकार का अन्न प्रस्तुत हो, तो दोनों प्रकार के अन्न से बलि कार्य न करना चाहिये, चाहे दोनों अन्न में से किसी से हो एक ही से बलि कार्य हो सकता है ॥२२॥

यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद्

बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २३ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् काले ’ ‘ पुनः पुनः ’ भृशम् ‘ अन्नं पच्येत, ’ तर्हि
प्रथमपक्वेनान्नेन द्वितीयाद्यैर्वा ‘ सकृत् ’ एकवारमेव ‘ एतद् ’ ‘ बलितन्त्रं ’ ‘ कुर्वीत ’ ॥२३॥

भा०:—यदि एक ही समय दो, तीन, या इससे भी अधिक बार, अन्न पके तो प्रतिवार बलिकार्य नहीं करना किन्तु एक ही बार करे ॥ २३ ॥

यद्येकस्मिन् कुले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसा-

देवैतद्बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २४ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् कुले ’ बहुभ्रात्राद्यधिकृते एकवेश्मन्यपि पृथग्वत्त्वाद् बहुमहानसेषु सत्सु बहुधा अन्नं पच्येत ’, तर्हि ‘ गृहपति-महानसात् ’ तेषां मध्ये यस्य गुरुत्वादेर्हेतोः स्वामित्वं तस्यैवेकस्य महानसात् पाकस्थानात् ‘ एव ’ एतद् बलितन्त्रं ’ ‘ कुर्वीत ’ न तु प्रतिमहानसात् ॥ २४ ॥

भा०:—यदि एक ही मकान में एक वंश के अनेक व्यक्ति भिन्न २ पाक करके रहते हों, तो उन में से जो सब से श्रेष्ठ होने से घर के स्वामी या मालिक बने हों, वही पाकशाला से इस बलि कार्य को करें; प्रत्येक ‘ महानस ’ (रसोई घर) से बलि कार्य न करना चाहिये ॥ २४ ॥

यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येन्नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्रं ब्राह्मणाय
दत्त्वा भुञ्जीताः ॥ २५ ॥

यस्यो जघन्यं भुञ्जीतवेति ॥ २६ ॥

‘ एषाम् ’ एकगृहस्थितानां पृथग्वत्त्वानां भ्रात्रादीनां मध्ये ‘ यस्य तु ’ ‘ अग्रतः सिध्येत् ’ अन्नमिति यावत्, सः किञ्चिदन्नम् ‘ अग्नौ ’ नियुक्तं ‘ कृत्वा ’ अनन्तरम् ‘ अग्रं ’ पक्वान्नस्याग्रभागं ‘ ब्राह्मणाय ’ अतिथये ’ ‘ दत्त्वा ’ ततः स्वयं ‘ भुञ्जीत ’ । ‘ यस्य उ ’ यस्य तु निधन्नाग्रपाकस्य ‘ जघन्यम् ’ अरुचिकरं कदर्यमन्नं पाकादिदोषेण स्यात्, स तु ‘ भुञ्जीत एव ’ न तेनान्नेनातिथिं सेवयेत् अपितु तदनन्तरकृतपाकएवातिथिं सत्कुट्यात् ॥ २५, २६ ॥

भा०:—यदि एक घर में अनेक पाक वाले (लोग) रहते हों तो उनमें से जिस का भोजन सब से पहिले प्रस्तुत हो वही थोड़ा अन्न अग्नि में डाल कर पके अन्न में से अतिथि सेवा के पश्चात्, आप भोजन करें; परन्तु यदि वह अन्न पाकादि दोष से अग्रात्त (खराब) हो जावे तो उस से अतिथि सेवा न करके उसे स्वयं भोजन करें; और फिर से पाक करके अतिथि सेवा करें* ॥ २५, २६ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ २७ ॥

‘ अथापि ’ अपरमपि किञ्चित् ‘ उदाहरन्ति ’ वदन्ति पूर्वाचार्याः, अत्रैवेति शेषः । तथाहि— ॥ २७ ॥

भा०:—पूर्वाचार्यगण इस “ बलिहरण ” के विषय में और भी कुछ विशेषता कहते हैं ॥ २७ ॥ जैसे:—

* इसमें नरमेध अर्थात् अतिथि सेवा में जिस का जिस दिन पहिले पाक हो और अच्छा पाक हो उस दिन उसी को अतिथि सेवा करनी आवश्यक है, अन्य लोगों को इच्छा रहा करें या न करें ऐसा सूचित होता है २५, २६

एतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रवीत भवति हैवास्य २८

‘एतस्यैव बलिहरणस्य’ ‘अन्ते’ अनन्तरं कामं स्वाभिलाषं ‘प्रब्रवीत’ प्रार्थनीयम् । ‘अस्य’ प्रार्थकस्य ‘ह’ निश्चयं ‘भवति’ प्रार्थितसिद्धिरिति ॥२८॥

किं कुर्वन् कामं प्रब्रवीतेत्यत्रोत्तरमाशस्यबलिहरणं कुर्वन्निति, तदेव स्वयं विप्रदयितुमासस्यबलिहरणं विधत्ते—

भा०:—इस बलि के करने पश्चात् जैसी अपनी इच्छा हो “ वर ” मांगे (अर्थात् परमात्मा से मन ही मन) यह प्रार्थना निश्चय सिद्ध होगी ॥ २८ ॥

स्वयन्त्वेवाशस्यं बलिं हरेत् यवेभ्योऽध्याब्रीहिभ्यो ब्रीहिभ्यो
ऽध्यायवेभ्यः सत्वाशस्यो नाम बलिर्भवति ॥२९॥

दीर्घायुर्हैव भवति ॥३०॥

‘आशस्यं बलिं हरेत्’ एतेनैव कामप्रार्थनं सम्पन्नं भवेत्काम । तच्च बलिं ‘स्वयम्’ एव हरेत्, नात्र प्रतिनिधिः कार्यः । कीदृशश्च स आशस्यबलिरित्याह— ‘अध्याब्रीहिभ्यः’ ब्रीह्यन्तोत्पत्तितः पूर्वं ‘यवेभ्यः’ यवाधारोपरि, किञ्च ‘अध्यायवेभ्यः’ यवशस्योत्पत्तितः पूर्वं ‘ब्रीहिभ्यः’ ब्रीह्याधारोपरि बलिं हरेत् ‘स तु’ स एव ‘आशस्यो नाम बलिर्भवति’ । ‘ह’ निश्चयम् ‘एवं’ एतेन बलिप्रदानेन ‘दीर्घायुः भवति’ पुरुष इति । २९, ३० ॥

भा०:—उक्त वर प्रार्थना करनी हो तो एक “ आशस्य ” नामक ‘बलि’ स्वयं (प्रतिनिधि द्वारा नहीं) प्रदान करे । जिस समय तक हेमन्त ऋतु का धान्य शस्य (खेत में लगा हुआ अनाज) प्रस्तुत न हो तब तक यव के अन्न होने के पूर्व और तत्पश्चात् जब तक यव शस्य प्रस्तुत न हो तब तक धान्यकी उत्पत्ति के निकट एक बलि होना चाहिये । इसी को आशस्य बलि कहते हैं । इस बलिप्रदान से अवश्य ही दीर्घायु लाभ होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥

विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिं हरेत्
स रौद्रौ भवति स रौद्रो भवति ॥३१॥ ४ ।

इदानीं तत्राशस्ये बलौ द्रव्यं विधत्ते—‘फलीकरणानां’ वितुषीकृतानां धान्यानां यवानां वा ‘विश्राणिते’ पाकसिद्धे सति, ‘आचामस्य, मण्डस्य’ ‘अपां’ मण्डद्रवीभूतानामिति यावत्, अंशं गृहीत्वा तेनैव ‘बलिम्’ आशस्यं ‘हरेत्’ । तत्रैव देवतां निर्दिशति,—‘सः’ बलिः ‘रौद्रः’ रुद्रदेवताको ‘भवति’ । एतेन ‘रुद्राय रमः’—इत्येव तत्र मन्त्रः इत्यपि सूचितम् । अभ्यासः खण्डसमाप्ति सूचकः ३१ इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१॥ ४॥

[प्र० १ खं० ४ सू० २८-३१ खं० ५ सू० १-४] दर्शपौर्णमासप्रकरणम् ॥ २९

भा०:—यह बलि, यव या भात को माण्ड से सम्पन्न करे और “ रुद्राय नमः ” इस मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥

अथ दर्शपौर्णमासयोः ॥१॥

इत्यधिकारसूत्रम् । प्रपाठकान्तमधिकृतं वेदितव्यम् ॥१॥

भा०:—अब यहां से दर्श और पौर्णमासयाग के विषय में उपदेश आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

सन्ध्यां पौर्णमासोमुपवसेदुत्तरामित्येके ॥२, ३ ॥

‘सन्ध्यां पौर्णमासीं यस्मिन्नहनि प्रातःसन्ध्याकालतस्तत्पूर्वत एव वा पौर्णमासी आरब्धा, तसेवाहः ‘उपवसेत्’ । ‘एके’ आचार्याः ‘उत्तराम्’ अस्तमितोदयानुचैरुदयां वा पौर्णमासीमुपवसेत् ‘इति’ आहुः, तत्रापि न दोष इत्याशयः २-३

भा०:—दर्श पौर्णमासयाग करना ही तो, उस २ दिन के पूर्व उपवास रहना चाहिये । उसी विषय में कहा जाता है कि सन्ध्या पौर्णमासी * लक्ष्य करके उस दिन उपवास करे; उत्तरा पौर्णमासी में अर्थात् अस्तमितोदया * वा उचैरुदया * में ही उपवास करना योग्य है । यह कतिपय आचार्य लोग कहते हैं । अर्थात् गोभिलाचार्य के अपने मत से जिस दिन सूर्योदय में पूर्णिमा हो, पश्चात् अपरान्ह में या रात्रि में प्रतिपत् (परिवा) हो, या अरुणोदय पर्यन्त ही पूर्णिमा हो, उसी दिन उपवास कर्त्तव्य है । किसी २ के मत से उत्तरा पौर्णमासी उपवास के योग्य है । अर्थात् जिस दिन चतुर्दशी होकर पीछे सूर्यास्त समय या उसके पीछे पूर्णिमा हो उस दिन उपवास करे ॥२, ३॥

अथ यदहश्चन्द्रमा न दृश्येत ताममावास्याम् ॥४॥

उपवसेत्तेत्यनुवर्तते । एतेन गताध्वाऽमावास्या नोपास्येति फलिता ॥ ४ ॥

भा०:—जिस दिन चन्द्र दर्शन की कोई सम्भावना न हो, सूर्योदय ही से सम्पूर्ण अमावास्या वा पीछे प्रतिपत् हो, उसी दिन अमावास्या का उपवास होगा । इस से जिस दिन चतुर्दशी के पीछे अमावास्या हो जिस को ‘गताध्वा’ कहते हैं, उस में उपवास सुतरां निषिद्ध हुआ । फल तो पूर्णिमा और अमावास्या के उपवास में है, और दोनों ही में उदयातिथि पाया है, सुतरां पूर्वपक्ष याग की परिवा और अपर पक्षयाग के प्रतिपत्, सूर्योदय

में जिस दिन जो तिथि हो, वही प्राण्य है ॥ ४ ॥

पक्षान्ताउपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः ॥ ५ ॥

यावज्जीवं सर्वेषामेव मासानां 'पक्षान्ताः' अमावास्याः पूर्णिमाश्च 'उपवस्तव्याः' तासु उपवासः कार्यः । किञ्च 'पक्षादयः' कृष्णानां शुक्लानाञ्च सर्वेषामेव पक्षा-
खामादिभूताः प्रतिपदः 'अभियष्टव्याः' तासु वक्ष्यमाणलक्षणयोगः कार्यः ॥५॥

भा०—जवतक जीवें, प्रतिमास के पक्षान्त में अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा में उपवास करना चाहिये एवं प्रतिमास के पक्षादि में अर्थात् शुक्ल और कृष्ण दोनों परिवा तिथि में याग करे ॥ ५ ॥

आमावास्येनहविषापूर्वपक्षमभियजतेपौर्णमास्येनापरपक्षम् ६

अमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपदि यद्विह्वयते तेनैव 'आमावास्येन' हविषा 'पूर्वपक्षम्' शुक्लपक्षं पञ्चदशाहं समग्रमेव 'अभि' व्याप्य 'यजते' यागं कृतमिति स्वीकृतं स्यात् । एवं 'पौर्णमास्ये' हविषापि 'अपरपक्षं' सर्वमिति ॥६॥

अत्र प्रसङ्गात्, उपवास्य-पौर्णमास्यामावास्यानिर्णयाय च पौर्णमास्यादि लक्षणं तत्तद्वेदनिर्णयश्चाह—

भा०—अमावास्या को उपवास करके शुक्ल पक्ष की परिवा को जो "याग" किया जायेगा, वही याग सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में व्याप्तयाग किया हुआ मानना चाहिये, और पूर्णिमा में उपवास करके कृष्णपक्ष की परिवा में जो याग किया जायेगा, उसी में समस्त कृष्णपक्ष व्यापी याग सम्पन्न हुआ—समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः

सङ्कर्षः सामावास्या ॥७॥

'सूर्याचन्द्रमसोः' ग्रहयोः मिथः 'यः' यस्यां तिथौ "परमः" अतिशयितः 'विकर्षः' विप्रकर्षः दूरतोऽवस्थानम् (उभयोर्मिथः सप्तमराशिस्थित्वात्), 'सा' तिथिः 'पौर्णमासी' ; 'यः' यस्यां तु 'परमः' अतिशयितः 'सङ्कर्षः' सन्निकर्षः सान्निध्यम् (उभयोरेकराशिस्थित्वात्), 'सा' तिथिः 'अमावास्या' ॥७॥

भा०—सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों ग्रहों के जिस तिथि में परम विकर्ष हो अर्थात् परस्पर सप्तम राशि में स्थिति होने से अति दूर में अवस्थिति होती है, उसी तिथि को 'पौर्णमासी' कहते हैं । एवं जिस तिथि में इन दोनों ग्रहों के परम सङ्कर्ष घटे (अत्यन्त निकट) उस तिथि को अमावास्या कहते हैं ॥७॥

यदहस्त्वैव चन्द्रमा न दृश्येत ताममावास्याङ्कुर्वीत दृश्य-
मानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति ॥८, ९॥

‘यदहः’ यस्मिन् दिने ‘तु’ ‘चन्द्रमा न दृश्येत एव’, ‘ताम्’ तिथिम्
‘अमावास्यां’ ‘कुर्वीत’ स्वीकुर्वीत । ‘एकदा’ एकस्मिन् काले अहोरात्रयोः दृश्य-
मानेऽपि चन्द्रमसि, सा ‘गताध्वा’ प्राप्तपथा अमावास्यायेति लब्धनामा ‘भवति’
‘इति’ गतमिदं पौर्णमास्य वास्यालक्षणम् ॥ ८, ९ ॥ पौर्णमासी त्रिविधेत्याह—

भा०—जिस दिन रात्रि में चन्द्रदर्शन की सम्भावना नहीं, उस को अमा-
वास्या कहते हैं । एकवार केवल कुछ समय के लिये चन्द्रदर्शन की सम्भा-
वना के स्थानमें भी अमावास्या स्वीकार कियी जाय उस को ‘गताध्वा’
कहते हैं । अर्थात् आरब्धगति अमावास्या कहने से इस से जिस सूर्योदय
काल में या उस के पीछे सन्ध्या के पीछे तक भी चतुर्दशी हो किन्तु रात्रि
में अमावास्या हो उसी को “ गताध्वा ” कहते हैं, एवं जिस दिन सूर्योदय
से अमावास्या, सम्पूर्ण रात्रि भी अमावास्या वा कुछ रात्रि बीते पर भी
प्रतिपदा आरम्भ हो; उस को भी अमावास्या ही कहते हैं । इस प्रकार दो
प्रकार की अमावास्या निश्चित हुई ॥ ८, ९ ॥

त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति सन्ध्या वास्तमितोदिता
वोच्चैर्वाऽथ यदहः पूर्णोभवति ॥१०, ११॥

‘अथ’ ‘यदहः’ यस्मिन् दिने ‘पूर्णोऽभवति’ चन्द्रमा, सैव पौर्णमासीति
शेषः । ‘पौर्णमासीकालाः’ ‘त्रयः भवन्ति ।’ तथाहि—सन्ध्येत्यादि । सूर्योदयात्
तत्पूर्वतो वा पूर्णिमा यत्र सा सन्ध्या-पौर्णमासी, सूर्यास्तमितेन साकमेव
पूर्णादयो दृश्येत चेत् सा अस्तमितोदिता-पौर्णमासी, सूर्यास्तात् उच्चैः ऊर्ध्वं
रात्रौ पूर्णश्चेत् चन्द्रः, सैव उच्चैः—पौर्णमासीत्युक्तास्त्रयः कालाः ॥ १०, ११ ॥

भा०—जिस दिन रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा की सम्भावना हो, उसी दिन
पूर्णिमा होती है । यह पूर्णिमा तीन प्रकार की है । प्रथम, सन्ध्या पूर्णिमा,
अर्थात् प्रातःसन्ध्या के पहिले आरम्भ, रात्रि में पूर्णिमा वा प्रतिपदा होती
है । द्वितीय, अस्तमितोदया पूर्णिमा; यह सूर्यास्तकाल में आरब्ध सुतरां दिन
में चतुर्दशी एवं रात्रि में और उस के पीछे दिन बहुलण-पूर्णिमा होती है ।
तृतीय, उच्चैः पूर्णिमा, अर्थात् सूर्यास्त के पीछे चतुर्दशी छोड़ कर पूर्णिमा जो
पर दिन बहुत रात्रि तक रहेगी ॥ १०, ११ ॥

पृथगेवेतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवत्यधीयीत वा तद्विद्वयो वा
पर्वावगमयेत ॥१२॥

‘एतस्य ज्ञानस्य’ ग्रहनक्षत्रकालादिवोधस्य ‘पृथगेव’ ‘अध्यायः’ पाठ्योग्रन्थः
‘भवति’ ज्योतिःशास्त्रमिति । ‘अधीयीत वा’ तं ग्रन्थं समग्रं ‘तद्विद्वयः’ ज्योति-
र्वेत्तृभ्यः, सम्पूर्णशास्त्राध्ययनेऽप्रसृत्तश्चेत् ‘पर्वे’ पक्षान्तकालः तन्मात्रमेव ‘अवग-
मयेत्’ अवगतं स्यात् । अतोऽप्रकृतवर्णनाविस्तारोऽत्रास्माभिर्न क्रियत इति भावः ॥१२॥

भा०—ग्रह नक्षत्रादि की स्थिति गत्यादि विषय विशेष जानने से, ये सब
बातें भली भांति जानी जासकती हैं । यदि यह जानना हो तो इस के लिये
भिन्न ज्योतिषशास्त्र है उसी को उपाति विद् परिष्ठित के निकट पढ़ें या सामा-
न्यतः इस को कुछ २ जान लेने से भी होसकता है ॥१२॥

अथ यदहरूपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातरा-
हुतिं हुत्वैतदग्नेः स्पण्डिलं गोमयेन समन्तम्पर्युपलिम्पत्य-
थेध्मानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा खादिरपा-
लाशालाभे विभीतकतिल्वकवाधकनीवनिम्बराजवृक्षशा-
ल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जं सर्ववनस्पतीना-
मिध्मोयथार्थं स्याद्विशाखागि प्रति लूनाः कुशावर्हिरूप-
मूललूनाः पितृभ्यस्तेषामलाभेशूकतृणशरशीर्ष्यवत्वजमुतव-
नलशुण्ठवर्जं सर्वतृणान्याज्यं स्थालीपाकीयान् ब्रीहीन्
वा यवान् वा चरुस्थालीं मेक्षणं सुवमनुगुप्ता अप इति
यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामो न तदहः प्रसृज्येत दूरादपि
गृहानभ्येयादन्यतस्तुधनं क्रीणीयान्न विक्रीणीताबहुवादी
स्यात् सत्यं विवदिषेदथापराह्ण एवाप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती
भुञ्जीयातां यदेनयोः काम्यं स्यात् सर्पिर्मिश्रं स्यात् कु-
शलेन ॥१३-२६॥ ५

‘अथ’ कालनिर्णयानन्तरमुपवासदिनकर्त्तव्यतां वदामइति । ‘यदहः’
यस्मिन् दिने ‘उपवसथः’ उपवासः कर्त्तव्यः ‘भवति’, ‘तदहः’ तस्मिन् दिने,
अर्घतः पूर्वपक्षयागाय अमावास्यायामपरपक्षयागाय सन्ध्यातामपौरुषास्यां

च 'पूर्वाह्णे एव', प्रातराहुतिं हुत्वा' अग्निहोत्रीयप्रातर्होमं समाप्य इमानि कर्त्तव्यानि । तानि च यथा—'एतद्गनेः' प्रातराहुत्यादिमाधनार्गनेः 'स्थण्डिलं' 'गोमयेन' 'समन्तं पर्युपलिम्पति' समन्तात् सर्वत उपलिम्पेत् इत्येकम् । 'अथ' तदनन्तरम् । 'खादिरान् वा पालाशान् वा' 'इध्मान्' इन्धनकाष्ठान् उपकल्पयते' उपकल्पयेत् उपस्थितान् कुर्वीतेति द्वितीयम् । तत्र 'खादिरपालाशालाभे' एतत्सूत्रपरिगणितद्विभीतकादकतिपयवृक्षैध्मवर्जं 'सर्ववनस्पतीनाम्' एव 'इध्मः' 'यथायं' अर्थः प्रयोजनं सिद्धं यथा स्यात् तथा कृत्वा ग्रहणीयः 'स्यात्' । 'विशाखानि' येभ्यः स्थानेभ्यः शाखा विश्लिष्टा भवन्ति, तानि सन्धिस्थानानि 'प्रति' लक्ष्मीकृत्य 'लूनाः' 'द्विजाः' 'कुशाः' कुशवृक्षानि 'वर्हिम्' वर्हिषे वर्हिरास्तरणादिदेवकार्यार्थं उपकल्पयेतेति तृतीयम् । 'उपलूनमूलाः' मूलैः समीपतश्चिह्नाः कुशाः कुशवृक्षानि 'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थमुपकल्पयेतेति चतुर्थम् । तत्र 'तेषां' कुशानाम् 'अलाभे' शूकादिकवर्जम् 'सर्ववृक्षानि' एव ग्राह्याणि । 'आन्य' घृतं सम्पाद्यमिति पञ्चमम् । 'स्थालीपाकीयान्' स्थालीपाके पक्तव्यात् 'ब्रीहान् वा यवान् वा' सम्पादयेदिति षष्ठम् । 'अरुस्थालीं' पाकपात्रं सम्पादनीयमिति सप्तमम् । 'मेतणं' दर्वीविशेषमासाद्यमित्यष्टमम् । 'खुवम्' आहुतिसाधनमासाद्यमिति नवमम् । 'अनगुप्ता अपः' पूर्वोक्त लक्षणाः आलादनीया इति दशमम् । अन्यानि 'यानि च' अनुकल्पम् पश्चादिहैव दर्शपौर्णमासयागकर्त्तव्यानि 'उदाहरिष्यामः' वक्ष्यामः, तान्यपि सर्वाणि सम्पाद्य स्थण्डिले उपस्थाप्यानि । अथ तद्दिनप्रतिपाद्यनियमानाह—'तदहः' तस्मिन्नहनि 'न प्रसृज्यत' गृहत्यागं न कुर्वीतेति प्रथमनियमः । यदि पूर्वं दूरगतं स्तिष्ठेत् तर्हि तद्दिने तस्मात् 'दूरादपि' 'गृहान्' स्वकीयान् 'अभ्येयात्' आगरुच्छेदिति द्वितीयनियमः । 'अन्यतस्तु' वणिजादेः सकाशात् 'धनं' ऋयद्रव्यं 'क्रीणीयात्' 'न विक्रीणीयात्' इति तृतीयनियमः । 'अग्रहुवादी' मितभाषी 'स्यात्' इति चतुर्थनियमः । 'सत्यं' 'विवदिषेत्' वक्तुमिच्छेत् "सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः" (ऐ० ब्रा० ३. १. ३.)—इति श्रुतिपरिचयाज्जिज्ञेयमेव सवतः सत्यपालने न विद्यते शक्तिर्मनुष्याणामिति यावच्छब्दं सत्यमेव वदेदिति पञ्चमनियमः । 'अथ' इध्मादिसम्पादनानन्तरम् 'अपराह्णे एव' 'दम्पती' यजमानस्तस्य पत्नी च उभावैव स्नानं प्रकृत्य 'औपवसयिकं' उपवासदिननियमसेव्यं मन्त्रादिकं तथा च 'लवणं' मधु मांसं च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत, नोरुरात्री च किञ्चन—इति गृह्यान्तरव्रतानुगतमिति यावत् (उरुरात्री समधिकारात्री;

अधिकरान्निभोजनेन पीडासम्भवस्तथा च सत्यां परदिनकार्यव्याघातः स्यादित्य-
भिप्रायः) । 'एतयोः' दम्पत्योः 'यत्' किञ्चन 'काम्यम्' ईप्सितं 'स्यात्' तदेव
'सर्पिमिश्रं' घृतसहितं 'कुशलेन' सन्तुष्टमनसा 'भुञ्जीयाताम्' ॥ १३-२६ ॥
इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १।५ ॥

भा०:—इसके अनन्तर उपवास दिन के कर्त्तव्य आदि उपदेश करते हैं ।
जिस दिन उपवास कर्त्तव्य हो, उस दिन जब कि सूर्योदय में पूर्वोक्ता हो
और जिस दिन सूर्योदय में अमावास्या हो उस दिन पूर्वोक्त में अग्निहोत्र
की प्रातराहुति समाप्त कर ये सब कार्य करे अर्थात् प्रथम गोबर से अग्निगृह
अच्छी प्रकार लीपे । दूसरे, खैर, या पलाश के इन्धन इकट्ठा करे । यदि खैर
या पलाश के संग्रह करने में कठिनता हो तो बहेड़ा (विभीतक) लोध,
वाधक (?) कदम्ब, निम्ब, राजवृक्ष, शालमली, अरलु, दधित्य, इन ग्यारह
को छोड़ कर अपर जो कोई काष्ठ हो यज्ञीय इन्धन हो सकता है । तृतीय,
देव कार्य के लिये स्कन्ध से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे । चतुर्थ, पितृ कार्य
के लिये मूल से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे । यदि कुशा संग्रह करने में
कोई कठिनता हो तो, शुकतृण, शर, शीर्य, खल्वज, मुतव, (?) इन सात
प्रकार के तृणों को छोड़ कर अपर जो कोई तृण हो यज्ञार्थ व्यवहृत हो सकता
है । ५ म घृत, ६ ठे, स्थाली पाक में पाक के उपयुक्त कतिपय धान्य या
यव, सप्तम, चरुस्थाली (पाकपात्रं), ८ म, मेक्षला; ९ म, स्तुव; १० म, रक्षित
जल इन उक्त १० को एवं आगे जो दो कहे जायेंगे इन सब को सम्पादन कर
अग्निगृह में उपस्थित करे । उस दिन वक्ष्यमाण कतिपय नियम भी प्रतिपालन
करना चाहिये । प्रथम, गृहत्याग नहीं करना, दूसरे, दूरस्थ होने पर भी
ऐसे अवसर में अपने घर को लौट आवे; तीसरे, अन्य व्यक्ति से वस्तु मोल
तो ले, पर अपनी वस्तु बेचे नहीं; चतुर्थ, मितभाषी अर्थात् प्रयोजन से अधिक
नहीं बोलना; पाचवें, सम्पूर्ण रूप से सत्य ही बोलने की इच्छा रखनी ।
अनन्तर स्त्री, पुरुष, दोनों ही अपराह्न में स्नान कर उपवास दिन के निय-
मानुसार * जो इच्छा हो वही धी मिलाकर तृप्ति के साथ भोजन करे ॥ १३-२६ ॥
गो० गृ० सू० के प्रथमाध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १, ५ ॥

मानतन्तव्यो होवाचाहुता वा एतस्य मानुष्याहुति-

* अर्थात् उपवास दिन लवण, मधु, मीस, अपर जिस २ वस्तु से शरीर में चारोंश उत्पन्न हो, उस २ को
नहीं खाना । इसे छोड़ सब वस्तु खा सकते हैं परन्तु अधिक (रात्रि में) नहीं खाना अर्थात् जिस से पचने में
अजोर्ण होकर दूसरे कार्य करने में व्याघात हो ॥

भवति य औपवसधिकं नाश्रात्यनीश्वरो ह क्षोधुको भवत्य-
काम्यो जनानाम्पापवसीयसी हास्य प्रजा भवति य औप-
वसधिकं भुङ्क्त ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानां
वसीयसी हास्य प्रजा भवति तस्माद्यत् कामयेतौपवसधिकं
भुञ्जीयातामथ एवैताथ् रात्रिथ् शयीयातान्तौ खलु जाग्र-
न्मिश्रावेवैताथ् रात्रिं विहरेयातामितिहासमिश्रेण वा केन-
चिद्वा जुगुप्सेयातान्त्वेवाव्रत्येभ्यः कर्मभ्यो न प्रवसन्नुपव-
सेदित्याहुः पक्ष्या व्रतं भवतीति ॥१-६॥

‘मानतन्त्यो’ नामाचार्यः ‘उवाच ह’ निश्चयत्वेन कथितवान् । तथाहि
आहुतेत्यादि पक्ष्या व्रतं भवतीत्यन्तम् । ‘यः’ यजमानः ‘औपवसधिकम्’
उवाच स-दिन-भोज्यं भोजनं ‘न अश्नाति’ निराहारएव तिष्ठति, ‘एतस्य’
‘मानुष्याहुतिः’ मनुष्योपकारार्था आहुतिः यागक्रिया ‘वै’ निश्चयम् ‘आ-
हुता’ निष्फला ‘भवति’ एवञ्च ‘क्षोधुकः’ क्षुद्युक्तः पुरुषः ‘ह’ निश्चयमेव
अनीश्वरः ‘व्रतकर्मकरणे दौर्वल्यादसमर्थः’ भवति ‘किञ्च’ जनानाम्’ लोक-
साधारणानामपि ‘अकाम्यः’ अप्रियः भवति । अपिच ‘ह’ निश्चयमेव ‘अस्य’
क्षुद्युक्तस्य ‘प्रजा’ सन्ततिः ‘पापवसीयसी’ पापबुद्धिवशीभूता ‘भवति’ ।
पक्षान्तरे-‘यः औपवसधिकं भुङ्क्ते’ सः सुतराम् ‘अक्षोधुकः’ क्षुब्धन्यः
‘ईश्वरः’ व्रतकर्मकरणे सञ्चलत्वात् ‘भवति’ । किञ्च ‘जनानां’ लोकसाधारणा-
नामपि ‘काम्यः’ प्रियः भवति । अपिच ‘ह’ निश्चयमेव ‘अस्य’ क्षुब्धन्यस्य
‘प्रजा’ सन्ततिः ‘वसीयसी’ स्ववशभूता ‘भवति’ । तस्मात् ‘क्षुद्युक्तस्य’
यजमानस्य एवं निन्दाश्रवणात् ‘औपवसधिकम्’ उपवस-दिन-भोज्यं ‘यत्’
कामयेत् ‘भुञ्जीयाताम्’ दम्पतीति । ‘एताम्’ उपवासदिवसीयां ‘रात्रिम्’
‘अथः’ नीचैः ‘शयीयाताम्’ । किञ्च ‘तौ’ दम्पती ‘खलु’ निश्चयम् ।
‘एतां रात्रिं’ ‘जाग्रन्मिश्री’ अंशशो निद्रितौ अंशशो जागरितौ ‘एव’
‘विहरेयातां’ यापयेताम् । तत्र जागरणोपायमभिगमयितुमाह-इतिहासमिश्रेण
वा ‘इतिहासो वैदिकेतिवृत्तः “ब्रह्मह व इदमेक सप्रश्नासीदित्यादिः” तदा-
लोचनामिश्रितेन स्वापेन रात्रिं यापयेताम्; ‘वा’ अथवा ‘केनचित्’ येन-
केनाप्यभियुक्ततरजनेन साकं धर्मालोचनया जागरितौ रात्रंशं यापयेताम्, न

तु सर्वा रात्रिम् अस्ताद्यद्यान्तां जहाविष सुप्ती भवेतामिति भावः । ' तु ' परन्तु जाग्रदवस्थायाम् ' अव्रत्येभ्यः कर्मभ्यः ' स्त्रीसंसर्गादिभ्यः ' जुगुप्सेयाता-मेव ' आत्मनो रक्षणं कुर्यायातमेवेति । ' प्रवसन् ' प्रवासं कुर्वन् ' नउपवसेत् ' इति आहुः ' केचनेति । परं तथापि गृहे पत्नीस्याद्येत् तथा ' पत्न्या ' व्रतं भवति ' न तु व्रतभङ्गाशङ्केति भावः । ' इति ' खण्डारम्भादि एतत्पर्यन्तं सम-स्तमेव मानतन्तव्याचार्याभिमतमिति यावत्, समाप्यभिमतमेवेति प्रदर्शितम् । १-९

भा०:—'मानतन्तव्य' नामक आचार्य कहते हैं कि " जो कोई यजमान उपवास दिन में उस दिन के नियमानुसार यदि भोजन न करे तो उस के मनुष्योपकारार्थं कियी हुयी सम्पूर्ण यागक्रियायें निष्फल होती हैं । पूर्व दिन निराहार रहने से परदिन में लुधा से व्याकुल होकर चञ्चलता के कारण यागक्रिया करने में अवश्य असमर्थ होगा । * और साधारण लोगों को भी अप्रिय होगा । एवं उसके पुत्र, पौत्रादि प्रजा भी पापबुद्धि (१) के वशी भृत होंगी (२) । तात्पर्य यह है कि लुधा रहित होकर अर्थात् भोजन करके कार्य करने से मन स्थिर रहने से यागक्रिया सब सम्पन्न होगी और साधारण लोगों को प्रिय भी होगा, एवं उस के पुत्र, पुत्रादि, प्रजा भी वश में रहेगी । इस लिये लुधातुर होकर कोई कार्य नहीं करना, स्त्री पुरुष दोनों ही (उपवास दिन के भोज्य वस्तु) यथेच्छ भोजन करे । उपवास के दिन रात्रि में खाट के ऊपर शयन न करे एवं ऐदिक इतिहास की आलोचना में या अन्य लोगों के साथ जिस किसी प्रकार हो धर्म के बिचार में रात्रि का आद्यन्त काल जाग कर व्यतीत करे अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि गाढ़ निद्रा में विभूत न रह कर, थोड़ा सोना, परन्तु स्त्री संभर्गादि व्रतनाशक कार्य से आपे को बचावे । प्रवास में रहने से उपवास नहीं रहना चाहिये या घर में स्थित पत्नी द्वारा भी यह व्रत हो सकता है ॥ १-९ ॥

यथा काययेत तथा कुर्यात् ॥ १० ॥

उपवासदिने भोजनफलमभोजनफलञ्च द्वे एवोक्ते, तदत्र यथा कामयेत तथा कुर्यात् ' अनीश्वरत्वादिक्लिच्छेत् अभोजनएव स्यात्, अपीश्वरत्वादि क्लिच्छेद् भोजनं कुर्यात् ॥ १० ॥

* लुधातुर बलवन्ति व्यक्ति किसी काम के योग्य नहीं । (१)-अपने शरीर में कष्ट देखकर क्या कोई भार प्रसन्न होगा । (२) पितृ गण के दृष्टान्तानुसार निराहार रह कर कार्य करना चाहिये, ऐसा जान कर सन्तति गण उत्कट चुनकट सहने के कारण दोनों ही नित्य कर्म के करने से अलग रहेंगे अर्थात् छोड़ देगे, सुतरां वे लोग पितृगण के अवश एवं पाप वश हैं यह कौन नहीं कहेगा ॥

भा०:—भोजन करके याग क्रिया करने में क्या फल है एवं भूखे रह कर करने में क्या विशेषता है सो कहा गया—इन दोनों में से जैसी इच्छा हो करे ॥१०॥

एवमेवाहिताग्नेरप्युपवसथो भवति यन्नाम्नायो विदध्यात् ॥११, १२॥

‘ एवं ’ कथितप्रकारः ‘ एव ’ आहिताग्नेः ‘ अपि नित्याग्निहोत्रिणीऽपि ‘ उपवसथः ’ उपवासनियमः ‘ भवति ’, ‘ यश्च ’ उपवसथकार्यं स्थविहललिम्पनादिकम् ‘ आम्नायः ’ वेदः ‘ विदध्यात् ’ विधातुं युज्यते, तदेवास्माभिः संस्मृत्य विहितमिति श्रुतोत्पादनम् ॥ ११, १२ ॥

भा०:—उक्त उपवास के नियमादि सब “ आहिताग्नि ” के लिये भी हुए, इसी प्रकार वेद का विधि (हो सकता) है ॥ ११, १२ ॥

अथ पूर्वार्ह एव प्रातराहुतिं हुत्वाऽग्नेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन् सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या ब्रह्माऽऽसनात् तृणमभिसङ्गृह्य दक्षिणापरमष्टमं देशं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति ॥ १३, १४ ॥

‘ अथ ’ अनन्तरं तत्परदिने प्रतिपदि पूर्वार्ह एव प्रातराहुतिं हुत्वा ‘ अग्निम् ’ ‘ अग्नेः ’ सम्मुखीकृत्येति यावत् ‘ परिक्रम्य ’ प्रदक्षिणीकृत्य ‘ अग्नेः ’ ‘ दक्षिणतः ’ दक्षिणस्यां दिशि ‘ प्रागग्रान् ’ पूर्वस्यां दिशि कृताग्रभागान् ‘ दर्भान् ’ ‘ आस्तीर्य ’ पातयित्वा ‘ तेषां ’ पातितदर्भाणां ‘ पुरस्तात् ’ सम्मुखे ‘ प्रत्यङ्मुखः ’ पश्चिमाभिमुखः ‘ तिष्ठन् ’ स्थितिं कुर्वाणः ‘ सव्यस्य पाणे ’ वामहस्तस्य ‘ अङ्गुष्ठेन ’ ‘ उपकनिष्ठिकया ’ अनामिकया ‘ अङ्गुल्या च ’ ब्रह्मासनात् ब्रह्मानामस्थिज उपवेशनाय पातिताद् दर्भपुष्पात् ‘ तृणम् ’ एकम् ‘ उपसंगृह्य ’ गृहीत्वा ‘ दक्षिणापरं ’ दक्षिणस्याः अपरस्याः पश्चिमायाश्च दिशोरन्तरालं नैर्ऋतं कोशम् ‘ अष्टमं देशं ’ प्रति ‘ निरस्तः परावसुः ’—इति मन्त्रेण निरस्यति प्रक्षिपेत् ॥ इति तृकनिरसनम् ॥१३, १४॥

भा०:—अनन्तर उस के पर दिन में अर्थात् प्रतिपदा को पूर्वार्ह ही में यथानियम प्रातराहुति होम समाप्त कर तदनन्तर अग्नि को अपने सम्मुख रख, प्रदक्षिण करके, अग्नि के दक्षिण में कई एक कुशा गिरावे, उन कुशाओं के अग्रभाग पूर्व दिशा में रहेंगे । उस हाले हुए कुशासन पर सम्मुख पश्चिमाभिमुख कर वाम हाथ की अङ्गुष्ठ और अनामिका अङ्गुली के द्वारा ब्रह्मा

के लिये डाले हुए कुशासन से एक तृण लेकर 'निरस्त परावशु' इस मन्त्र से नैऋत कोण में फेंके। इसी को 'तृणनिरसन' कार्य कहते हैं ॥ १३, १४ ॥

अपउपस्पृश्याथ ब्रह्माऽऽसनउपविशत्यावसीः सद्ने
सीदामीत्यग्निमभिमुखो वाग्यतः प्राञ्जलिरास्तआकर्मणः
पर्यवसानाद्भाषेत यज्ञसं०सिद्धिन्नायज्ञीयां वाचं वदेद्यज्ञीयां
वाचं वदेद्वैष्णवीमृचं यजुर्वा जपेदपि वा नमोविष्णवे इत्येवं
ब्रूयात् ॥१५-२०॥

'अथ' अनन्तरम् 'ब्रह्मा' नाम सर्वकार्यपर्यवेक्षक ऋत्विक् 'अपः' उदकानि 'उपस्पृश्य' स्पृष्ट्वा 'आसने' तत्र 'आवसीः सद्ने सीदामि' 'इति' मन्त्रमुच्चारन् 'उपविशति' उपविशेत् । 'आ कर्मणः पर्यवसानात्' कर्मन्तं यावत् 'अग्निम् अभिमुखः' सुतरामुत्तरास्यः 'वाग्यतः' नियमितवाक् यज्ञीयवचनातिरिक्तवाक् शून्यः, 'प्राञ्जलिः' कृताञ्जलिपुटः सन् 'आस्ते' आसीत् । यदुक्तं वाग्यतइति तदेव स्फुटयति,—'यज्ञसंसिद्धिं' यज्ञानुकुलां वाणीं 'भाषेत' वदेत्, 'अयज्ञीयां वाचं न वदेत्', 'यदि' भ्रमादपि 'अयज्ञीयां वाचं वदेत्', 'वैष्णवीम्' विष्णुदेवताकां यां कामपि 'ऋचं' 'जजुर्वा' 'जपेत्' पठेत्, 'अपिवा' अथवा 'नमोविष्णवे, 'इति' एतदेव 'ब्रूयात्' ॥ १५-२० ॥

भा०—अनन्तर ब्रह्मा नामक सब कार्य के निरीक्षक एक प्रधान पुरुष जल से हाथ पांव धोकर उस डाले हुए कुशासन पर अग्नि की ओर सम्मुख करके सुतरां उत्तर मुख हो दोनों हाथ जोड़ "आवसीः सद्ने सीदामि" अर्थात् यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त इसी स्थान में रहूंगा ऐसा कह कर नियमित वाक्य मात्र बोलने की मन ही मन दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कार्य समाप्ति पर्यन्त बैठे । यज्ञ-सम्बन्ध में जो कुछ उपदेश देने की बात होगी उसे ही कहे, अन्यान्य कोई वाक्य नहीं बोले, यदि भ्रम से कोई दूसरी बात बोले तो उसी समय विष्णु देवता की स्मारिका किसी ऋचा वा यजुर्वेद का मन्त्र पाठ करे; किम्वा 'नमो विष्णवे' इतना कहने से भी निर्वाह होगा ॥ १५-२०॥

यद्यु वा उभयं चिकीर्षेद्वैत्रञ्चैव ब्रह्मत्वञ्चैवैतेमैव कल्पेन
द्वयं वात्तरासङ्गं वेदकमण्डलं दर्भवटुं वा ब्रह्मासने निधाय
तेनैव प्रत्याब्रज्याथान्यच्चेष्टेत् ॥२१-६॥

'यदि उ वै' यदि 'वैत्रं च ब्रह्मत्वञ्च' उभयमेव एकः 'चिकीर्षेत् कर्तुं'—

[प्र० १ खं० ६ सू० १५-२१ खं० ७ सू० १-३] दर्शपौर्णमासप्रकरणम् ॥ ३९

छेत्, तर्हि 'एतेनैव कल्पेन' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण 'छत्रं', 'वा' अथवा 'उत्तरीय-
सङ्गं' उत्तरीयकम्, 'वा' अथवा 'उदकमण्डलं' उदकपूर्णं कमण्डलुं 'वा' अथवा
'दर्भवटुं' कुशानिर्मितं ब्राह्मणं ब्रह्मामने' तत्रैव 'निधाय' संस्थाप्य 'तेनैव'
पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रदक्षिणादिना 'प्रत्यावर्ज्य' प्रत्यावृत्य 'अथ' तदनन्तरम्
'अन्यत्' इह दर्शपौर्णमासे चरुप्रकरणादिकं यत् किमपि विशेषकार्यजातमप्ये-
वहयति, तदतिरिक्तम्, अग्निहोत्रप्रकरणे कथितं भूमिजपादिकं सर्वमविशे-
षेण 'घृष्टेत्' कुर्वीत ॥२१॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१-६॥

भा०:—यदि होतृ-कार्य और ब्रह्मत्व इन दोनों क्रियाओं को एक ही
व्यक्ति करने की इच्छा करे तो ब्रह्मा के लिये उसी डाले हुए आसन पर
उसी प्रकार छत्र या उत्तरीय या जल पूर्ण कमण्डलु या कुशा निर्मित ब्राह्मण
स्थापन करके उसी प्रकार प्रदक्षिणा आदि पूर्वक स्वीय होतृ-के आसन पर
वापस आवे। अनन्तर इसके अग्नि कार्य मात्र ही साधारण कार्य सब अर्थात्
अग्निहोत्र प्रकरणोक्त भूमि जपादि सब ही करे। (चरु-पाकादि जो कुछ
इस में विशेष कर्त्तव्य है, उस विषय में विशेष विधि पीछे कहा जावेगा ॥२१॥
गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१६॥



अथोलूखलमुसले प्रक्षाल्य शूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान्
दर्भान्नास्तीर्योपसादयति ॥१॥

'अथ' तदनन्तरम् 'उलूखलमुसले' 'शूर्पञ्च' 'प्रक्षाल्य' 'अग्नेः पश्चात्'
'प्रागग्रान् दर्भान्' आस्तीर्य तदुपरि प्रक्षालितानि तानि 'उपसादयति' उप-
स्थापयति ॥१॥

भा०—तदनन्तर उलूखल, मूसल, और शूर्प अच्छे प्रकार जल से धोकर
अग्नि के पीछे भाग में कई एक प्रागग्र कुशा डाल कर उसके ऊपर रखे ॥१॥

अथ हविर्निर्वपति ग्रीहीन् वा यवान् वा कथंसेन वा
चरुस्थाल्या वामुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवतानामादे-
शं सक्तुद्विस्तूष्णीम् ॥२-३॥

'अथ' तदनन्तरमुपसादिते तत्रोलूखले 'हविः' हविषे हविर्योग्यान् 'ग्रीहीन्
वा यवान् वा' 'निर्वपति' निर्वपेत् प्रक्षिपेत्। 'कसेन वा चरुस्थाल्या वा' तत्र

प्रक्षेपः कर्तव्यः । 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामि' अत्रामुष्मै-पद-श्रुतेः यत्र यद्दे-
वताकं हविः कार्यं तत्र तथैवोल्लेखः, अग्न्यर्थहविर्निर्वापे 'अग्नये त्वा जुष्टं
निर्वपामि' इत्यादि यथा, 'इति' अनेन मन्त्रेण 'देवतानामादेश' देवताना-
मोल्लेखं 'सकृत्' एकवारं, 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्यं देवतानामोच्चारण
रहितमपि निर्वपतीत्यनेन सम्बन्धः । इति निर्वापः ॥२॥ ३॥

भा०-तदनन्तर हविः पाकके उपयोगी करने के लिये चाहे धान्य हो या
यव, कांसे के वर्तन से या चरुस्थाली से फेंके (प्रक्षेप करे) जितना धान्य या
हवि के योग्य करना हो वह तीन ही बार में प्रक्षिप्त करदे उनमें से एकवार
'अमुक देवता के सेवने योग्य करने के लिये धान्य या यव तुम को इस उलू-
खल में डालता हूँ'-इस मन्त्र से, अपर दोवार विना मन्त्र के डाले ॥२-३॥

अथ पश्चात् प्राङ्मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां
पाणिभ्यान्त्रिः फलीकृताथ्स्तण्डुलाथ्स्त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालये-
दित्याहुर्द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्य इति ॥ ४ ॥ ५॥

'अथ' निर्वापानन्तरं 'पश्चात्' उलूखलस्य 'प्राङ्मुखः' तिष्ठन् 'दक्षिणोत्त-
राभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्याम्', 'अवहन्तुम्' उपक्रमते । तत्र 'त्रिः' त्रिवारं
'फलीकृतान्' कण्डितान् 'तण्डुलान्' धान्यानां यवानां वा गृहीत्वा, देवेभ्यः
देवकार्यार्थं 'त्रिः' त्रिवारम्, 'मनुष्येभ्यः' ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं द्विः द्विवारम्,
'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थं 'सकृत्' एकवारमेव 'प्रक्षालयेत्', 'इति' एवम् 'आहुः'
पूर्वतनाः । इति अवहननम् ॥४-५॥

भा०-अनन्तर उलूखल के पीछे पूर्वाभिमुख खड़े होकर दोनों हाथ में
मूखल पकड़ कर कूटे । कूटने से-तुष-विमुक्त धान्य या यव के तण्डुल *
आदि तीनवार साफ कूट कर देवकार्य के लिये, ब्राह्मण भोजनादि मनुष्य-
कार्य के लिये दोवार, एवं पितृकार्य के लिये एक ही बार जल में धो लेवे ।
यही प्राचीन आचार्यों की सम्मति है ॥ ४५ ॥

पवित्रान्तर्हिताथ्स्तण्डुलानावपेत्कुशलशृतमिव स्था-
लीपाकथ्श्रपयेत्प्रदक्षिणमुदायुवज्जृम्भितमभिघार्योदगुद्वारस्य
प्रत्यभिघारयेत् ॥६-८॥

‘तद्वहलान्’ तान् पवित्रान्तद्विषान् प्रक्षालनार्थं पवित्रस्य कुशानिर्मित-
बहुच्छिद्रपात्रविशेषस्य मध्ये स्थापितान् ततएव ‘आ वपेत्’ स्थापयामिति
श्लोकः । ‘प्रदक्षिणं’ यथास्थातया ‘उदायुवनं’ मेक्षणेन मिश्री कुर्वन् ‘कुशलशृतम्
इव’ पाकपटुना पक्कमिव ‘स्थालीपाकं’ तं ‘अपयेत्’ । अपश्चानन्तरं तत्र
पक्नेऽग्रे ‘घृतमभिचार्यं’ घृताभि-चारणं प्रकृत्य अग्नेः ‘उदक्’ उत्तरस्याम्
‘उद्धास्य’, संस्थाप्य ‘प्रत्यभिचारयेत्’ पुनरपि तत्र घृतपातं कुर्यात् । इति
निष्पन्नः स्थालीपाकः ॥६-८॥

भा०—कुश का बना “पवित्र” (कुश का बहुत छिद्रवाला) (नामसे प्रसिद्ध)
में प्रक्षालनार्थं गृहीत उस तद्वहल को, उस में से लेकर स्थाली में डाले । पाक
समय में “मेक्षक” द्वारा मिलाकर ऊपर नीचे इस प्रकार पाक करे । यह पाक
एक प्रवीण पाक कर्ता के हाथ के बने हुए की नाई होना आवश्यक है । पाक
प्रस्तुत होने पर घृत का ढार दे अग्नि के उत्तर में उतार कर पुनः उस में
भागानुसार घृत मिलावे ॥ ६।१।८ ॥

अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्वृणुयात् पुरस्ता-
दक्षिणतउत्तरतः पश्चादिति सर्वतस्त्रिवृतम्पञ्चवृतं वा बहुल-
मयुग्मसं० हतम्प्रागग्रैर्मूलानिच्छादयन् पश्चाद्वास्तीर्य
दक्षिणतः प्राञ्चम्प्रकर्षति तथोत्तरेण दक्षिणोत्तराण्यग्राणि
कुर्यादेव परिस्तरणन्यायः सर्वेस्वाहुतिमत्सु ॥९-१५॥

वह्यत्यनुपदं बर्हिषि स्थालीपाकेत्यादि (१९ सू०), ततश्च स्थालीपाको-
त्तरणात् प्रागेव परिस्तरणं कर्तव्यमिति तत्प्रकार उच्यते;—‘अग्निम्’ ‘उप
समाधाय’ समिद्धिः प्रउवात्य, तस्य प्रउवलितस्याग्नेः ‘समन्तं’ समन्तात् सर्वतः
सर्वासु दिक्षु ‘कुशैः’ कुशासङ्घैः ‘परिस्वृणुयात्’ परिस्तरणमाच्छादनं कुर्वीत
तत्र क्रममाह—‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां, ततः ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां, ततः
‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां ततः ‘पश्चात्’ पश्चिमस्याम् ‘इति’ एवम् । तत्राप्यन्यदप्या-
ह ‘सर्वतः’ सर्वास्वेव दिक्षु ‘त्रिवृतं पञ्चवृतं वा’ परिस्तरणं कार्यम् । तत्रा-
पि ‘बहुलं’ बहुलं, परं तृणानां परस्परयोगेन युग्मत्वं संहतत्वं वा यथा न
स्यात् । द्वयोर्योगे युग्मत्वं त्रयादियोगे तु संहतत्वं मिति विवेकः । किञ्च
‘प्रागग्रैः’ पूर्वदिङ्मुखैर्दर्भैः ‘अग्रैः’ अग्रभागेः प्रथमस्तृतानां कुशानां ‘मूलानि
च्छादयन्’ एवमुत्तरत्रापि । ‘वा’ अथवा अग्रैर्मूलाच्छादनं न कुर्याच्चेत्
‘पश्चात्’ पश्चिमस्यां प्रथमतः ‘आस्तीर्य’ ‘दक्षिणतः’ ‘तथा उत्तरेण’ प्राञ्चं

पूर्वदिग्भागं ' प्रकर्षति ' प्रकृतं कर्षेत् आकर्षणपूर्वकं मिश्रयेत् । तत्र तथा कर्ष-
णाय ' दक्षिणोत्तराणि ' दक्षिणाभिमुखानि उत्तराभिमुखानि च ' अघास्ति '
कुशानां ' कुर्यात् ' । ' एषः ' उभयविधएव परिस्तरणन्यायः ' सर्वेषु आहुति-
मत्सु अनुष्ठानेषु क्षेयः ॥ ९-१५ ॥

भा०—उक्तीसर्वे सूत्र में स्थालीपाक उत्तरतान्तर आज्यसंस्कार कहा जावेगा इसलिये स्थालीपाक उतारने के पूर्व ही "परिस्तरण" करना चाहिये। जैसे—समित् प्रक्षेप आदि द्वारा अग्नि जलाकर उक्त अग्नि के चारो ओर कुशों से ढाक देवे। पहिले पूर्व दिशा में, अनन्तर दक्षिण दिशा में, उस के पश्चात् उत्तर दिशा में, अन्त में पश्चिम दिशा में, सब ही ओर तीन या पांच बार कुशा से आच्छादन करे किन्तु ऐसी युक्ति से आच्छादन करे कि जिसमें दो, तीन, या उससे अधिक कुशा एक स्थान में मिल न जावें और सबही कुशाओं का अग्रभाग पूर्व की ओर रहे और उन्हीं कुशाओं के अग्रभाग के द्वारा उन का मूल (जड़) आच्छादित रहे या (यदि कुश थोड़े हों) पश्चिम दिशा को छोड़ कर दक्षिणाय कुशा के द्वारा दक्षिण से एवं उत्तराय कुशा के द्वारा उत्तर से पूर्व की ओर आकषित होगा अर्थात् वृत्त या चतुष्कोण रूप नहीं आच्छादित कर त्रिकोणरूप आच्छादित करने से भी हो सकता है। इसी को "परिस्तरण" कहते हैं; यह सब प्रकार के आहुति विशिष्ट अनुष्ठानों में व्यवहृत होगा। ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५ ॥

परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पाणान् वा । १६

' एके ' आचार्याः ' शामीलान् ' शमीकाष्ठीयान् ' वा ' ' पाणान् ' पला-
शकाष्ठीयान् ' परिधीन् ' कर्मप्रदीपोक्तलक्षणान् सीमरूपान् कुर्वन्ति ' । १६

भा०—कोई २ आचार्य शमीकाष्ठ की, या पलाश काष्ठ की परिधि अर्थात् सीमास्थापन भी करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरतोऽपाम्पूर्णः स्तुवः प्रणीता भावेन वा स्यादित्येके। १७, १८

' उत्तरतः ' अग्रेरिति यावत्, ' अपां पूर्णः स्तुवः ' ' प्रणीता ' एतत् मंजको भवेत् । ' भावे ' पूर्वोक्तचमसपात्रस्य ' न वा स्यात् ' स्तुवः प्रणीता ' इति ' एवम् ' एके ' आचार्या वदन्ति तदपि न विरुद्धम् ॥ १७-१८ ॥

भा०—अग्नि के उत्तर में जल-पूर्ण स्तुव की रक्षा करे उस को प्रणीता कहते हैं। कोई २ आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त चमस पात्र में जल रक्षित रहने से, स्तुवा में जल स्थापन नहीं करने से भी हानि नहीं ॥ १७, १८ ॥

वर्हिषि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्याधायाज्याध्वंसंस्कुरुते
सर्पिस्तैलन्दधि पयो यवागूं वा । १९, २० ॥

‘वर्हिषि’ आस्तृते तत्र कुशासूत्रे ‘स्थालीपाकम्’ स्थाल्यां पक्वं चरुं तत्सहितस्थालीपात्रमिह ग्राह्यम् ‘आसाद्य’ संस्थाप्य, अषाज्यसंस्कारः ;— ‘इध्मम्’ इन्धनकाष्ठं पूर्वोक्तं पालाशाद्यन्यतमम् ‘अभ्याधाय’ अग्नी अभितः प्रदाय पुनरपि सुप्रज्वालयाग्नि-मिति यावत् । ततस्तत्र प्रज्वलितेऽग्नी ‘आज्यम्’ अनुपदवह्यमाणं सर्पिरादीनामन्यतमं ‘संस्कुरुते’ संस्कुरुवीत । तथा च ‘सर्पिः’ घृतं ‘तैलं’ तिलस्त्रेहं ‘दधि’ ‘पयः’ दुग्धं ‘यवागूं वा । १९, २० ॥

भा०—उस हाले हुए कुशाओं पर स्थालीपाक स्थापन करके पुनः इन्धन डालकर अग्नि जला कर उस में आज्यसंस्कार करे । आज्य—इस स्थल में घृत तैल, दधि, दुग्ध, या—यवागूं इन पांच वस्तुओं में से जो कोई वस्तु मिले उसी से हो सकता है ॥ १९ ॥ २० ॥

ततश्च पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं कर्त्तव्यमिति प्रथमं पवित्रनिर्माणमुच्यते;

ततएव वर्हिषः प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते ओषधिमन्त-
र्धाय च्छिनत्ति न नखेन पवित्रे स्थो वैष्णव्यावित्यैने अ-
द्विरनुमार्ष्टि विष्णोर्मनसा पूते स्थ इति । २१-२३ ॥

‘ततः’ पूर्वोक्तादितात् ‘वर्हिषः एव’ ‘प्रादेशमात्रे’ प्रादेशप्रमाणे ‘पवित्रे’ ‘कुरुते’ कुर्वीत । कथमित्याकाङ्क्षायां वदति,—‘ओषधिम्’ व्रीह्या-
दिकम् ‘अन्तर्धाय’ मध्ये स्थाप्य “ पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ ”—‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘छिनत्ति’ छिन्नात् ‘न नखेन’ । अथ तदनन्तरम् ‘एते’ पवित्रे ‘अद्विः’ “ विष्णोर्मनसा पूतेस्थः ”—‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमार्ष्टि’ अनुसृज्यात् । २१-२३ ॥ निर्मिताभ्याञ्च ताभ्यां पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं विधत्ते;—

भा०—अनन्तर उसी पूर्व संगृहीत कुशाओं के बीच से प्रादेश प्रमाण (वा-
लिशतभर) दो कुश ले कर ‘तुम विष्णुदेवता के हो सुतरां पवित्र हो’ इस मन्त्र का पाठ करते ओषधि के बीचोबीच छेदन करे । उसके अनन्तर, ‘विष्णु देवता के अभिप्राय से ही तुम पवित्र हो’ इस मन्त्र का पाठ करके उस की जल में धोवे ॥ २१-२३ ॥

सम्पूयोत्पुनात्युदग्राभ्याम्पवित्राभ्यामङ्गुष्ठाभ्याञ्चो-

पकनिष्ठकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रित्पुनाति
देवस्त्वासवितोत्पुनात्वच्छिद्रेणपवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मि-
भिरिति सकृद् यजुषां द्विस्तूष्णीम् ॥ २४, २५ ॥

‘ सम्पूय ’ ते पवित्रे पूर्वोक्तप्रकारेण शोधयित्वा शोधिताभ्यां ताभ्यामेव
‘ पवित्राभ्याम् ’ कीदृशाभ्याम् उदगग्राभ्याम् ‘ उत्पुनाति ’ आज्यमित्याशयः ।
आज्ये पतितं तृणादिकं ततउद्धृत्य अग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः । कथङ्कृत्वा ? कति-
वारम् ? केने मन्त्रेणेत्याकाङ्क्षात्रयं पूरयति;— ‘ अङ्गुलिभ्याम् ’ ‘ उपकनिष्ठि-
काभ्याम् ’ अनामिकाभ्यां ‘ च ’ ‘ अङ्गुलिभ्याम् ’ ‘ अभि ’ अभितः ‘ संगृह्य ’
‘ प्राक्शः ’ प्रागतं यथा स्यात्तथा, ‘ त्रिः ’ त्रिवारम् ‘ उत्पुनाति ’ । तत्र त्रिषु
वारेषु ‘ सकृत् ’ एकवारं ‘ देवस्त्वेत्यादिना ’ ‘ यजुषा ’ यजूरूपमन्त्रेण ‘ द्विः ’
द्विवारं ‘ तूष्णीम् ’ अमन्त्रक मेवेत्याज्योत्पवनम् ॥ २४।२५ ॥

भा०—उक्त प्रकार से दोनों “पवित्र” को शोध कर उत्तराय करके उसके
द्वारा आज्योत्पवन करे अर्थात् आज्य में पतित तृण आदि बाहर कर पूर्व
की ओर फेंक देवे “आज्योत्पवन” काल में दोनों “पवित्र” को अङ्गुष्ठ और
अनामिका अंगुलि से पकड़े एवं एकवार ‘देवस्त्वा’ इत्यादि ‘यजू’ रूप मन्त्र
पाठ करे, पुनः दोवार विना मन्त्र उत्पवन करना चाहिये ॥ २४, २५ ॥

अथैने अद्विरभ्युक्ष्याग्नावप्युत्सृजेदधैतदाज्यमधिश्चि-
त्योदगुद्वासयेदेवमाज्यस्य सत्त्वं स्करणकल्पो भवतीति ॥ २६—२८ ॥

‘ अथ ’ तदाज्योत्पवनानन्तरम् ‘ एने ’ पवित्रे ‘ अद्विः अभ्युक्ष्य ’ जल-
धौते प्रकृत्य ‘ अग्नौ अपि ’ ‘ उत्सृजेत् ’ क्षिपेत् । अपि शब्दबलादन्यत्र क्षेप-
क्षेपि दोषाभावः । ‘ अथ ’ अनन्तरम् ‘ आज्यं ’ तदेव ‘ अधिश्चित्य ’ ज्वल-
दङ्गारेषु कृत्वा ‘ उदक् ’ अग्नेरुत्तरस्यां दिशि ‘ उद्वासयेत् ’ स्थापयेत् । ‘ आज्यस्य
संस्करणकल्पः ’ ‘ एवम् ’ एव ‘ भवति ’ ॥ २६—२८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके सप्तमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १.७ ।

भा०—आज्योत्पवन के पीछे इन दो “पवित्रों” को जलमें धो कर अग्नि
में फेंक दे । अनन्तर अग्नि के उत्तर में जलते हुए कई एक अंगारे पर, “पूत-
आज्यपात्र” रखे । आज्यसंस्कार इत्यादि करे ॥ २६, २७, २८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १.७ ॥

पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः ॥ १ ॥

[प्र० १ खं० १ सू० २४। २५, खं ८ सू० १-४] दर्शपौर्णमासप्रकरणम् ॥ ४५

अग्नेस्तत्तरस्मिन्नेव 'पूर्वं' पुरस्तात्स्थानम् 'आज्यम्' आज्यसहितमा-
उपपात्रं भवेत्, किञ्च तत्रैव 'अपरः' तत्पश्चात्स्थानः 'स्थालीपाकः' पक्कवत्-
सहितस्थाल्याधारः भवेत् ॥ १ ॥

भा०-चरुस्थाली और आज्यपात्र इन दोनों के अग्नि के उत्तर में स्थापन करने के लिये व्यवस्था हुई है। (१।४।५, १।१।२६-२८) उन में पहिले आज्यपात्र रहेगा, और उस के पीछे चरुस्थाली रखे ॥ १५ ॥

**पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातः^३ होतु-
मेवोपक्रमते ॥ २ ॥**

'पर्युक्ष्य' अदितेऽनुमन्यस्वेत्यादिना पर्युक्तशान्तं प्रकृत्य, 'स्थालीपाके' चरौ 'आज्यं' सर्पिरादीनामन्यतमम् 'आनीय' क्षिप्य 'मेक्षणेन' दर्वी-
विशेषेण 'उपघातम्' उपस्तरणाभिधारणरहितं होमं 'होतुम्' 'उपक्रमते' प्रवर्त्तते। स्रुचि स्रुवेण प्रथममाज्यग्रहणं, ततश्चरुग्रहणं, ततः पुनराज्यग्रहणम् चेत् उपस्तीर्णाभिधारितं तदुच्यते होमीयम्; तत्र चरुग्रहणात् पूर्वमाज्यग्रहण-
मुपस्तरणमुच्यते, परस्ताच्छाभिधारणमिति। यत्र तु उपस्तरणमभिधारणञ्च न भवतः, स एव होम उपघात इति विवेकः ॥ २ ॥

भा०-अग्नि कार्यमात्र में अनुष्ठेय पूर्वोक्त 'अदितेऽनुमन्यस्व' प्रभृति 'पर्युक्षण' के अन्त में कार्य सब (१।३।१-५) सम्पन्न होने पर स्थालीपाक में आज्य प्रक्षेप कर 'उपघात' होम * करने के लिये उपक्रम करे ॥ २ ॥

यद्युवा उपस्तीर्णाभिधारितं जुहुषेदाज्यभागावेव प्रथमौ
जुहुयाच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पञ्चावत्तन्तु भृगूणामग्नये
स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शाजुहुयात् ३,४

'यदि उवा' यदैव 'उपस्तीर्णाभिधारितं' 'जुहुषेत्' 'हातुमिच्छेत्', तदैव 'प्रथमौ' उपघातनामोपक्रमरूपहोमसम्पादनोपयोगिनौ 'आज्यभागौ' उपर्युपरि होमद्वयनिष्पादकौ 'जुहुयात्' अग्राविति। एतावेव होमौ उप-
घातसंज्ञौ प्रकृतहोमस्योपस्तीर्णाभिधारितस्योपोद्घातरूपत्वात्। अत्रेतिक-
र्तव्यतादिकं ब्रूतेः—'चतुर्गृहीतम्' चतुःकृत्यः गृहीतं स्रुवेण स्रुचीति यावत्,

* स्रुच् के मध्य में चरुग्रहण क पहिले स्रुचा क द्वारा आज्य ग्रहण के उपस्तरण अर्थात् 'आस्तरण', एवं चरुग्रहण के पीछे आज्य ग्रहण को अभिधारण अर्थात् आच्छादन कहते हैं। तदनुयायी प्रथम आज्य पीछे चरु पुनः आज्य लेकर जो होम किया जाये उस को 'उपस्तरण' मेधारित कहते हैं। जिस होम में उपस्तरण या अभिधारण का आवश्यकता ना, उस 'उपघात' कहते अर्थात् उपस्तरण आवश्यक नम।

‘आज्य’ सपिरादीनामन्यतमम् ‘गृहीत्वा’ अग्निमध्ये एव, उत्तरतः, उत्तर-स्याम् ‘अग्नये स्वाहा’—‘इति’ ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां ‘सोमाय स्वाहा’ ‘इति’, ‘प्राक्शः’ प्राग्गतं यथा स्यात्तथा जुहुयात् । एतावेव होमौ उपघा-ताख्यौ । अत्र विशेषः—‘भृगूनां’ भृगुगोत्रोत्पन्नानां ‘तु’, ‘पञ्चावत्तं, पञ्चकृत्यः आज्यग्रहणमिति ॥ ३ । ४ ॥ इदानीमुपस्तीर्णाभिधारितहोमप्रकारं कथयति—

भा०—जिस समय “उपस्तीर्णाभिधारित” नामक होम करने की इच्छा करे, उसी समय उस के पूर्व दो “उपघातहोम” करे। इन ‘उपघातहोम’ के करने में सुव् (यज्ञपात्र) के मध्यमें प्रतिवार सुवाके धारा ऊपर चारवार आज्य ग्रहण करना होगा। एवं इस चारवार ग्रहण किया हुआ आज्य पहिले ‘अग्नये स्वाहा’ इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के बीच में उत्तर में और तत्पश्चात् ‘सोमाय’ इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के दक्षिण में, पूर्वदिग्गत करके होम करे। विशेषता—भृगु-गोत्रोत्पन्न गण के प्रति होम में पांचवार आज्य ग्रहण करना चाहिये ॥३, ४॥

अथ हविष उपस्तीर्यावद्यनिमध्यात्पूर्वाद्वाचतुरवत्ती चेद्ववति मध्यात्पूर्वाद्वात्पश्चाद्वादिति पञ्चावत्ती चेद्ववत्य-भिधारयत्यवदानानि प्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामता-याअग्नयेस्वाहेतिमध्येजुहुयात्सकृद्वात्रिवैतेनकल्पेन ॥५—१०॥

‘अथ’ उपघातहोमानन्तरम् ‘उपस्तीर्य’ आज्येन सूचं सस्त्रेहां प्रकृत्य तदुपरि ‘हविषः’ चरुन् ‘अविद्यति’ अवदाय गृह्णाति । अवदानप्रकारमाह—‘चतुरवत्ती’ भृगुवंशीयादन्यः ‘भवति चेत्’, ‘मध्यात्’ मध्यं लक्ष्मीकृत्य पूर्वाद्वात् अवद्यदीत्यनुवर्त्तते; किञ्च ‘पञ्चावत्ती’ भृगुवंशीयः ‘भवति चेत्’, ‘मध्यात्’ मध्यं लक्ष्मीकृत्य ‘पश्चाद्वात्’ अवद्यति; ‘इति’ एवमेव नियमः । अवदानानि चतुर्गृ-हीतानि पञ्चगृहीतानि वा तानि ‘अभिधारयति’ अभिधारयेत् तदुपरि पुनः सूत्राज्यधारापातं कुर्वीतेति यावत् । किञ्च “अवदानस्थानानि” चरुस्था-लीमध्यतो यतीयतः चरुन् चतुः पञ्च वा कृत्वा अवदाय गृहीतानि तानि, ‘अयातयामतायै’ यातयामता यागायोग्यता तदभावाय यागयोग्यतामेव रक्ष-यितुमिति यावत्, ‘प्रत्यनक्ति’ यत्र यत्र भेक्षणप्रवेशचिन्हं तानि सर्वाण्येव प्रति लक्ष्यान्वसिद्धानं कुरुते कुर्वीतेत्यर्थः । ततः तदेव उपस्तीर्णाभिधारितं हविः प्रगृह्य “अग्नये स्वाहा”—‘इति’ इमं मन्त्रमुत्तरन् ‘मध्ये’ अग्नेः ‘जुहुयात्’ अय-मेव होमोऽपस्तीर्णाभिधारित उच्यते । ‘एतेन कल्पेन’ कथितप्रकारेण ‘सकृत् वा’ एकवारं वा ‘त्रिषां’ त्रिवारं वा जुहुयात् ॥५ १०॥

भा०:-उपघात होम के पीछे उसी स्तुब्ध के स्तुब्ध के द्वारा एक बार आज्य ग्रहण करके उस के ऊपर 'मेक्षण' द्वारा चरु ग्रहण करे। उस में विशेषता यह है कि यदि वह भृगु गोत्र का हो तो चरुस्थाली के मध्य में पञ्चार्हु से एवं पांच बार चरु ग्रहण करे और यदि वह अन्य गोत्र का हो तो चरुस्थाली के बीच में पूर्वार्हु से एवं चारवार मात्र चरुग्रहण करे। पीछे जिस २ स्थान से 'मेक्षण' द्वारा चरु निकाल ले; आज्य द्वारा, उसी २ स्थान को सिद्धित करे, जिस से चरु सूख न जावे-याग के योग्य रहे। अनन्तर उसी गृहीत चरु के ऊपर फिर 'आज्य' दार कर उसी ऊपर नीचे आज्यविशिष्ट चरु से अग्नये स्वाहा इस मन्त्र के मध्य में हवन करे। इसी को उपस्तीर्णाभिधारित होम कहते हैं। इस प्रकार एक या तीन बार करे ॥ ५-१० ॥

अथ स्विष्टकृत उपस्तीर्ण्यावदात्युत्तरार्हुपूर्वार्हुत सकृ-
देव भूयिष्ठं द्विरभिधारयेद्यद्यु पञ्चावन्ती स्याद्विरुपस्ती-
र्यावदाय द्विरभिधारयेत् न प्रत्यनक्त्यवदानस्थानं यातया म
ताया अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरार्हुपूर्वार्हु जुहुयात् ॥११-१४॥

'अथ' अत्रायणशब्द न प्रकरणान्तरत्वमात्रं लक्षयति, नत्वानन्तर्यम्; स्विष्टकृदुमात् पुरस्तादेव प्रकृतयागस्य वक्ष्यमाणत्वात् (१६ मू०) । 'स्विष्टकृते' स्विष्टकृदुमसिध्यर्थम्, पूर्ववत् 'उपस्तीर्य' स्तुवाज्यं स्तुचि आस्तीर्य, तत्रैव चरुस्थालीमध्यतएव 'उत्तरार्हुपूर्वार्हुत' उत्तरार्हुस्य प्रथमार्हुत 'भूयिष्ठं' बहुतरं 'सकृत्' एकवारम् 'एव' अवद्यति अवदाय गृह्णाति; तदनन्तरं गृहीतं तं चरुं 'द्विः' द्विवारम् 'अभिधारयेत्' स्तुवाज्यधारया सिञ्चेत्। अत्र विशेषः कथ्यते,— 'यदि उ' 'पञ्चावन्ती' भृगुगोत्रः 'स्यात्' यज्ञमानः, तर्हि 'द्विः' द्विवारम् 'अवदाय' 'उपस्तीर्य' 'द्विरभिधारयेत्' द्विवारमेवाभिधारणं कुर्यात्। किञ्च स्विष्टकृत्यागे 'यातयामतायै' यागायोग्यताभिया 'अवदानस्थानं' 'न प्रत्यनक्ति' अस्यैव होमस्यान्त्यचरुहोमत्वान्नष्टेऽपि तस्मिन् क्षत्यभावादिति भावः। स्विष्टकृदुमस्य मन्त्रं स्थानं 'च' बोधयति,— 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा'—इति अनेन मन्त्रेण 'उत्तरार्हुपूर्वार्हु' अग्नेरुत्तरार्हुस्य पूर्वार्हु 'जुहुयात्' ॥ गतोऽयं स्विष्टकृदुमः ॥११—१४॥ अथापरोऽप्यस्ति होमः सर्वकर्मसाधरकस्तं विधत्ते—

भा०:- (उक्त "उपस्तीर्णाभिधारितहोम" के पीछे प्रकृत होम शेष होने

पर *) 'स्विष्टकृत् होम' करने के लिये भी पूर्ववत् सुवा के द्वारा आज्य ले कर सुच में लेने के अनन्तर उस चरुस्थली मध्यस्थित चरु के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध से एकवार मात्र, किन्तु कुछ अधिक परिमाण से चरुग्रहण करे एवं उसके ऊपर पुनः आज्य सिञ्चन करे। विशेषता यही है जो, कर्त्ता यदि भृगुगोत्रोत्पन्न हो तो उसे दो बार 'उपस्तरण' करना पड़ेगा। अनन्तर इस प्रकार चरुग्रहण और इस प्रकार दो बार अभिवारण करे। (और भी जो, स्विष्टकृत् भाग ही शेष अर्थात् इस के पीछे और होम के लिये चरु की आवश्यकता होती नहीं अतः एव) स्विष्टकृत् होम के लिये चरुग्रहण करके, उस चरु की ठीक २ रखने के लिये उस में आज्य सिञ्चन करना आवश्यक नहीं। इस गृहीत होमीय को 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इस मन्त्रद्वारा अग्नि के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध में हवन करे। इसी को 'स्विष्टकृतहोम' कहते हैं ॥ ११-१४ ॥

महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ १५ ॥

'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरितिमन्त्रेण 'आज्येन' 'अभिजुहुयात्' इति सर्वसाधारणहोमप्रकारः ॥ १५ ॥ इदानीं प्रकृतहोमकालं व्यवस्थापयति—

भा०—'भूर्भुवः स्वाहा' इस मन्त्र से आज्य द्वारा होम करे। इसी को 'महाव्याहृति-होम, कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राक् स्विष्टकृत आवापः ॥ १६ ॥

'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्धोमात् 'प्राक्' पुरस्तादेव 'आवापः' प्रकृतहोमः दर्शपौर्णमासीयो वैवाहिकादिश्च कार्यः ॥ १६ ॥

भा०—स्विष्टकृत होमके पूर्व ही 'आवाप' अर्थात् दर्शपौर्णमास का, या विवाहादि का प्रकृत होम करे ॥ १६ ॥

**गणेष्वेकम्परिसमूहनमिध्मोवर्हिःपर्युक्षणमाज्यमाज्य-
भागौ च सर्वेभ्यः समवदाय सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोति १७ ॥**

'गणेषु' बहुष्वावापेषु कर्त्तव्येषु आवापबहुत्वानुरोधतस्तत् पूर्वापरकार्या-
नामपि बहुत्वं न भवेदित्याह—'परिसमूहनमित्यादिकम् पूर्वोक्तं समस्तमेव
'एकं' सकृदेव भवेत्, किञ्च 'सर्वेभ्यः' 'समवद' य 'अवदानपूर्वकहोमान-
न्तरं' 'सौविष्टकृतं' 'सकृत्' एकवारमेव 'जुहोति' न तु आवापसङ्ख्यानु-
गुणमिति यावत् ॥ १७, १८ ॥

* दर्शपौर्णमास का प्रकृत होम पीछे कहा जावेगा (स० २२, २५)। विवाहादि समस्त कार्यों का ही प्रकृत होम होता है। प्रकृत होम को ही 'आवाप', कहते हैं। सब ही 'आवाप' के पहिले उपघातहोम और उपस्तो-
र्णाभिधारित—होम हुआ करते हैं और अन्त में स्विष्टकृत होम करना होता है। ये चार प्रकार के होम चरु हवन से निष्पन्न होते हैं ॥ ११—१४ ॥

भा०—जिस स्थान में बहुत आवाप कर्तव्य हों, वहां आवाप के बहुत होने से इधम (लकड़ी) ग्रहण आदि कार्य अनेकवार नहीं किये जावेंगे, और सब ही आवाप के लिये पहिले की नाईं चरुग्रहण पूर्वक होम आदि शेष पीछे सब के अन्त में एकही बार ' स्विष्टकृत् , होम करे ॥१७, १८॥
हुत्वैतन्मेक्षणमनुप्रहरेत्प्रक्षाल्य वैतेनोद्धृत्य भुञ्जीत १९, २०

' एतत् ' स्विष्टकृत् होमं हुत्वा ' अनु ' पश्चात् अनावश्यकमिति मखा तद्धोममात्रहोमसाधनं ' मेक्षणं ' ' प्रहरेत् ' प्रक्षिपेत् अग्राविति शेषः । ' वा ' अथवा ' प्रक्षाल्य ' तन्मेक्षणं रक्षेत् यथाकालम् ' एतेन ' मेक्षणेनैव ' उद्धृत्य ' अन्नं ' भुञ्जीत ' यजमानः । एवञ्च मेक्षणेन भोजनं यस्य सुखकरं स न प्रक्षिपेदिति भावः ॥१९, २०॥

भा०—इस ' स्विष्टकृत् ' होम के पीछे मेक्षण, अनावश्यक हो तो, उसे अग्नि में फेंक देवे या भोजनार्थ आवश्यक निश्चित होने पर उसे धो कर रखे एवं यथा समय उस के द्वारा भोजन करे ॥ १९ । २० ॥

न स्तुवमनुप्रहरेदित्येकआहुः ॥ २१ ॥

' एके ' आचार्याः स्तुवं न अनु प्रहरेत्—' इति आहुः ' तदपि सम्मतम् ॥२१॥
अथेदानीमाहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्दर्शपौर्णमासावापमन्त्रभेदमाह—

भा०—कोई २ आचार्य कहते हैं कि ' कार्य के अन्त में स्तुवा भी धोकर रखे; उसे अग्नि में न डारे, तौ भी कोई हानि नहीं ॥ २१ ॥

आग्नेय एवानाहिताग्नेरुभयोर्दर्शपौर्णमासयोः स्थालीपाकस्यादाग्नेयो वाग्नीषोमीयो वाऽऽहिताग्नेः पौर्णमास्यायामैन्द्रो वैन्द्राग्नो वा माहेन्द्रो वा अमावास्यामपि वाऽऽहिताग्नेरप्युभयोर्दर्शपौर्णमासयोरग्नेयएव स्यात् ॥ २२-२५

' अनाहिताग्नेः ' अग्निहोत्रिणः ' उभयोः, ' कयोरित्याह ' दर्शपौर्णमासयोः ' ' स्थालीपाकः ' स्थाल्यां पक्कुरुः ' आग्नेयः ' अग्निदेवताकः ' स्यात् ' उपस्तीर्णाभिचारितं चरुं गृहीत्वा ' अग्नेये स्वाहा ' इति मन्त्रेणैवापरोहोम आवापो दर्शपौर्णमासयोरनाहिताग्नेरित्येव पर्यवसितार्थः । ' आहिताग्नेः ' नित्याग्निहोत्रिणस्तु ' पौर्णमास्यायाम् ' ' आग्नेयः ' एव ' वा ' अथवा ' अग्निषोमीयः ' किञ्च ' अमावास्यायाम् ' ' ऐन्द्रः वा ऐन्द्राग्नः वा माहेन्द्रः वा ' स्थालीपाकः स्यादिति । ' अपिवा ' ' आहिताग्नेरपि ' ' उभयोः दर्शपौर्णमासयोः ' ' आग्नेयः एव ' ' स्यात् ' ; अस्मिन् पक्षे आहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्न

कोऽपि भेदइति फलितम् ॥२२-२५॥ यज्ञवास्तुनामकमपरमपि किञ्चिदुपदिशति—

भा०—इस के पीछे दर्शपौर्णमास के 'आवाप-मन्त्र' कहते हैं—यदि यजमान 'अग्निहोत्री' हो तो, 'दर्श' और 'पौर्णमास' दोनों याग में 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से 'उपस्तीर्णाभिघारित' चरु होम करे; और यदि अग्निहोत्री हो, तो 'पौर्णमासयाग' के आवाप 'होम' में 'अग्नये स्वाहा' या 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' यह मन्त्र व्यवहार करे। और 'अमा-वास्यायाग' में 'इन्द्राय स्वाहा' या 'इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा' मन्त्र व्यवहार करे। या अग्निहोत्री भी 'दर्श' 'पौर्णमास' दोनों ही याग में, अग्निहोत्री की नाई 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देवे ॥ २२-२५ ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्य यज्ञवास्तु करोति तत एव बर्हिषः कुष-
मुष्टिमादायाज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि
मूलानीत्यक्तं^१ रिहाणा व्यन्तु वय इत्यथैनमद्विरभ्युक्ष्याग्नावप्य-
र्जयेद्यः पशूनामधिपतोरुद्रस्तन्तिचरोवृषापशूनस्माकं माहि-
^२सीरेतदस्तु हुतन्तव स्वाहेत्येतद्यज्ञवास्त्वित्याचक्षते ॥२६-२९॥

'समिधम् आधाय अनु पर्युक्ष्य' पूर्वोक्तप्रकारेण समिदाधानं प्रकृत्य पर्युक्षणञ्च समाप्य तस्मिन्नेव काले 'यज्ञवास्तु' नाम किञ्चित् कार्यं 'करोति' कुर्यात् दर्शपौर्णमासादौ। कथमित्याह—'तत एव बर्हिषः' आस्तृतकुशसमू-
हादेव 'कुशमुष्टिम्' मुष्टिमितानि कुशतृणानि 'आदाय' संगृह्य 'आज्ये वा' पूर्वोक्तान्यतमे वा, 'हविषि वा' पक्वचरौ वा 'अग्राणि, मध्यानि, मूलानि' 'इति' एवं 'त्रिः' त्रिवारम् 'अवदध्यात्' अञ्जयेत् 'अक्तं रिहाणा व्यन्तु वयः'—'इति' अनेन मन्त्रेणेति। 'अथ' अनन्तरम्, तानि 'अद्विः' 'अभ्युक्ष्य' सिकत्वा यः पशूनामित्यादि स्वाहान्तेन मन्त्रेण 'अग्नी' 'अर्जयेत् अपि' क्षिपेच्च। 'एतत्' कर्म 'यज्ञवास्तु'—'इति आचक्षते' ॥ २६-२९ ॥ ८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके अष्टमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १.८

भा०—'दर्शपौर्णमासादि' याग में और एक कार्य करना होता है, उसे 'यज्ञवास्तु' कहते हैं। वह पूर्वोक्त प्रकार से 'समिदाधान' प्रभृति पर्युक्षण 'पर्यन्त कर्म के पीछे किया जावेगा। जैसे—आस्तृत कुशसमूह से एक मुट्ठी कुश लेकर आज्य या चरु में अग्र, मध्य, मूल, इस क्रम से 'अक्तरिहाणा' इस मन्त्र को पढ़ कर तीन बार जल सींचे। तत्पश्चात् उसे जल से साफ करके 'यः पशूनामधिपतिः' इत्यादि मन्त्र पाठ करके उसे अग्नि में छोड़ देवे, इसी को 'यज्ञवास्तु' कहते हैं ॥ २६-२९ ॥ १ । ८

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१.८॥



[प्र० १ खं० ८ सू० २६-२९, खं० ९ सू० १-१२] दर्शपौर्णमासप्रकरणम् ॥ ५१

अथैतद्विरुच्छिष्टमुदगुद्वास्योद्धृता ब्रह्मणे यच्छेत् तं
तितर्पयिषेद् ब्राह्मणस्य तृप्तिं मनु तृप्यामीति ह यज्ञस्य
वेदयन्तेऽथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धं स्यात् ॥ १-४ ॥

‘अथ’ महाव्याहृतिहोमानन्तरम् । ‘एतत्’ ‘उच्छिष्टम्’ अवशिष्टं
‘हविः’ सर्वकं ‘उदक्’ अप्रेरुत्तरस्मिन् ‘उद्वास्य’ संस्थाप्य ‘उद्धृत्य’ पात्रान्तरे
गृहीत्वा ‘ब्रह्मणे’ ब्रह्मनामर्त्विजे ‘प्रयच्छेत्’ । ‘तं’ ब्रह्मणः ‘तितर्पयिषेत्’
अतिशयेन तर्पयितुं तृप्तं कर्तुमिच्छेत् । ‘ह’ यतः ‘ब्राह्मणस्य तृप्तिम् अनु
तृप्यामि’—‘इति’ ‘यज्ञस्य’ यज्ञपुरुषस्य अभिसतं ‘वेदयन्ते’ ऋषयः ;
ब्राह्मणतृप्तयार्थमेव यज्ञानुष्ठानमिति भावः । ‘अथ’ किञ्च ‘अन्यत्’ अपरमपि
भक्तादिकं ‘यत् अन्नम्’ ‘अस्य’ यजमानस्य ‘उप’ समीपे ‘सिद्धं’ स्यात्
तदपि तस्मै देयमिति ॥ १-४ ॥

भा०:—यज्ञ का शेष कार्य कहा जाता है । प्रथम, इस महाव्याहृति
होम के पीछे अवशिष्ट चरु को अग्नि के उत्तर दिशा में रक्ख कर उसी चरु-
स्थाली से दूसरे पात्र में चरु लेकर ब्रह्मा, उसे ऋत्विक् को देवे, उस समय
यजमान के निकट में यदि और भी दूसरा अन्न, भात प्रभृति हो, तो उसे भी
उन को देना चाहिये । जिस किसी प्रकार हो उन्हें तृप्त करने की इच्छा
रक्खे; कारण, यह है कि ऋषिगण—कहते हैं कि ब्राह्मण की तृप्ति अनुमार
ही हम तृप्त होते हैं—यही यज्ञपुरुष का अभिप्राय है ॥ १-४ ॥

अथ ब्राह्मणान् भक्तेनोपेप्सेत् । ५ ॥

‘अथ’ अनन्तरं ‘भक्तेन’ अन्नेन ‘ब्राह्मणान्’ निमन्त्रितान् ‘उपेप्सेत्’ सम्बद्धु-
मिच्छेत् भोजयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

भा०:—अनन्तर द्वितीय कार्य—निमन्त्रित ब्राह्मण आदिक को भात
आदि खिलाकर ही परितृप्त करे ॥ ५ ॥

पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् कथं चमसं वा-
न्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वापि वा फलानामेवैतं
पूर्णपात्रमित्याचक्षते ब्रह्मैवैऋत्विक् पाकयज्ञेषु स्वयं होता
भवति पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणाऽपरिमितं परा-
ध्यमपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतं
सहस्राणि ददौ ॥ ६-१२ ॥

‘पूर्णपात्रः’ पूर्णपात्रम् ‘दक्षिणा’ भवति दर्शपौर्णमासादियागस्येति । ‘तं’ दक्षिणारूपं पूर्णपात्रं ब्रह्मणे ब्रह्मनामस्विजे ‘दद्यात्’ । किन्तु पूर्णपात्रमिति? वदति—‘कांसं’ कांस्यपात्रम्, ‘चमसं’ पानपात्रं ‘वा’ ‘कृतस्य’ पक्कस्य ‘अकृतस्य’ अपक्कस्य ‘वा’ अन्नस्य’ समूहैः, ‘अपि वा’ ‘फलानां’ समूहैः ‘पूरयित्वा’; ‘एतम् एव’ पूर्णपात्रम् इति आचक्षते । दर्शपौर्णमासादौ कर्मणि ब्रह्मा एव एकः ऋत्विक् वरणीयः बहुतराणामृत्विजां नापेक्षा । होतृकार्यं कथं भवेदित्याह—‘पाकयज्ञेषु’ दर्शपौर्णमासप्रभृतिषु ‘स्वयं’ यजमान एव ‘होता’ भवति’ भवेकाम । ननु दर्शपौर्णमासादिपाकयज्ञस्य पूर्णपात्रं दक्षिणा विहिता, ततोऽधिकदाने दोष सञ्जायते किम्? नेत्याह—‘पाकयज्ञानां’ पाकैः चर्वकैर्यजनीयानां दर्शपौर्णमासादीनां कर्मणां पूर्णपात्रः’ पूर्णपात्रम् ‘दक्षिणा’ ‘अवसः’ अवसम् अधमं न्यूनकल्पत इति यावत् । ‘अपरिमितम्’ बहुमङ्गलकस्वर्णादिकमेव दक्षिणा ‘पराधर्मम्’ उत्तमं प्रशस्तमित्यर्थः । अत्र बहुतरदानव्यवहारोऽपि निदर्शयते;—‘ह’ निश्चयम्; ‘पैजवनः’ पिजवनस्य पुत्रः ‘सुदाः’ ऋषिः ‘ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेन इष्ट्वा’ ‘शतं’ शतगुणितं ‘सहस्राणि’ तथा च लक्षं सम्पन्नम् लक्षम् ‘अपि’ दक्षिणाः ‘ददौ’ ॥६-१२॥

भा०—इस दर्शपौर्णमास याग की ‘दक्षिणा’ पूर्णपात्र होगा । वह ‘पूर्णपात्र’ ब्रह्मा नामक ऋत्विक् को देना चाहिये कच्चा या पका अन्न, या कतिपय फलों के द्वारा ‘कांस्यपात्र’ या ‘चमस’ को भर देने का नाम, पूर्णपात्र’ है । दर्शपौर्णमास प्रभृति कार्य में एक मात्र ब्रह्मा ही ‘ऋत्विक्’ होना चाहिये । पाक यज्ञ में अर्थात् चरुपाक मात्र करके जो यज्ञ किया जाता, इन सब यज्ञों में यजमान ही ‘होता’ होंगे । इस स्थानमें और भी जानने की बात है—जो, पाक यज्ञ को, उक्त पूर्णपात्र दक्षिणा न्यून कल्प (अधम) समझना चाहिये । यदि सामर्थ्य हो तो अपरिमित दक्षिणा देना उचित है । पिजवन नामक ऋषि के वंशधर सुदा ऋषि ने, इन्द्राग्नी देवता के उद्देश्य से स्थाली पाक द्वारा याग करके अर्थात् अमावास्या याग के अनन्तर लाख (सुवर्ण, या मुद्रा या गौ) दक्षिणा दीयी थी ॥ ६-१२ ॥

अथ यदि गृह्येऽग्नौ सायं प्रातर्होमयोर्वा दर्शपूर्णमासयोर्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादित्यासायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्याप्रातराहुतेः सायमाहुतिरामावास्यायाः पौर्णमासं नातत्येत्यापौर्णमास्या आमावास्या-

मेतेनैवावकाशेन हव्यं वा होतारं वा लिप्सेतापि वा यज्ञि-
यानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा अप-
यित्वा जुहुयादप्यप एवान्ततो जुहुयादिति ह स्माह पाकयज्ञ
ऐडो हुतं ह्येव ॥१३-१७॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरम् । ‘यदि’ गृह्याग्नी’ सायम्प्रातर्होमयोर्वो’ ‘दर्शपूर्णमा-
सयोर्वो, कर्मणोः’ ‘हव्यं’ हवनीयमाज्यादिकं ‘वा’ अपि ‘होतारं’ स्वयमशक्ती
प्रतिनिधिं ‘न अधिगच्छेत्’ नाप्नुयात्, तर्हि ‘कथं’ केन प्रकारेण ‘कुर्यात्’ सायम्प्रा-
तर्होमौ दर्शपूर्णमासौ चेत्याशङ्क्य । इमानाशङ्कामपनुदति, — ‘आ सायमाहुतेः’
सायमाहुतिकालं यावत् ‘प्रातराहुतिः’ प्रातर्हवनकालो ‘न अत्येति’ नातिक्रमते,
एवम् ‘आ प्रातराहुतेः सायमाहुतिः,’ किञ्च ‘आ अमावास्यायाः’ अमावास्यामा-
रभ्य ‘पौर्णमास’ यावत् अमावास्याहवनकालो ‘न अत्येति’; एवमेव ‘आ पौर्ण-
मास्याः’ पौर्णमास्यामारभ्य ‘अमावास्या’ यावत् पौर्णमास्याहवनकालो नात्ये-
त्येव । तदित्थं हव्यहोत्रोरन्वेषणाय सायम्प्रातराहुत्योश्चत्वारि यासा अवकाशः,
दर्शपूर्णमासयोस्तु पञ्चदशाहानि । ‘एतेन’ चतुर्यामरूपेण पञ्चदशाहात्मकेन वा
‘अवकाशेन एव’ ‘हव्यं’ होतारं वा ‘लिप्सेत’ लब्धुमिच्छेत् । ‘अपिवा’ होतृ-
लाभे ‘यज्ञियानाम्’ औषधिवनस्पतीनां फलानि पलाशानि वा एव अपयित्वा
जुहुयात् । ‘अपि’ तदलाभे च ‘अन्ततः’ अपएव उदकान्येव ‘जुहुयात्’, ‘ह’
निश्चयम्, ‘पाकयज्ञः’ पाकयज्ञनियमः ‘इति’ एवं ‘ऐडः’ नामर्षिः ‘आह स्म’, तथा च
फलाद्याहुतो अपि ‘हि’ निश्चयं ‘हुतम्’ एव स्वीकार्यमस्माकम् । १३-१७ ॥

भा०:-यदि किसी दैवी दुर्घटना से गृह्याग्नि में सायं और प्रातर्होम और
दर्श पौर्णमास याग करने के लिये ‘सामग्री’ इकट्ठी न हो, या पीड़ा आदि
निबन्धन से स्वयं और पत्नी दोनों ही असमर्थ हों और उस समय शीघ्र कोई
प्रतिनिधि (बदले में दूसरा व्यक्ति) भी दुर्घट्टा हो, तो ऐसे दशा में, सायं
होम करने पर्यन्त भी प्रातराहुति का समय अतीत न समझा जायेगा और
प्रातराहुति के समय पर्यन्त भी सायं होम का समय अतीत न समझा जायेगा
(ऐसी दशा में) अमावास्या से पूर्णिमा के पूर्व दिन पर्यन्त १५ दिन में चाहे
जिस दिन हो, ‘अमावास्या याग’ हो सकेगा । और पूर्णिमा से अमावास्या
के पूर्व दिवस पर्यन्त १५ दिन में से चाहे जिस किसी दिन हो ‘पौर्णमासयाग’
हो सकेगा इतने समय में जो कुछ सामग्री न हो, उसे इकट्ठी करे और होता
भी कहीं से ढूँढ़ कर लावे। यदि हवनीय अज्यादि इकट्ठा न हो, तो उससे भी

हानि नहीं, कल से भी हवन हो सकता है, यदि यह भी न हो तो धान्य, शस्य, वृक्ष का, या आश्र आदि वनस्पति के पत्र से भी होम का काम पूरा करे, एड नामक ऋषि कहते हैं कि निदान कुछ न मिलने पर केवल जल से भी याग करे (पर नियम न तोड़े) ॥ १३-१७ ॥

अहुतस्याप्रायश्चित्तंभवतीति नाव्रतोब्राह्मणःस्यादिति ॥ १८, १९ ॥

अथाप्युदाहरन्ति यावन्न हूयेताभोजनेनैव तावत् सन्त-
नुयादथ यदाधिगच्छेत् प्रति जुहुयादेमप्यस्य व्रतं सन्ततं
भवतीति ॥ २०-२३ ॥

‘अहुतस्य’ गृह्योष्णीं सायम्प्रातराहुती येन न हुते, नापि दर्शपौर्णमासयो-
हुते येन, तस्य ‘प्रायश्चित्तं’ कर्तव्यं ‘भवति’—‘इति’ हेतोः ‘ब्राह्मणः’ ‘अव्रतः’
नियमाहुतिदानशून्यः ‘न स्यात्’ ‘इति’ आदेशः । १८, १९॥

‘अथ अपि’ अपरमपि पक्षम् ‘उदाहरन्ति’ वदन्ति आचार्याः । तथाच—
‘यावत्’ कालं ‘न हूयेत्’ सायम्प्रातर्होमौ दर्शपौर्णमासहोमौ वा ‘तावत्’ ‘अभो-
जनेन’ भोजनमकृत्वैव ‘सन्तनुयात्’ कालहरणं कुर्यात् । ‘अथ’ अनन्तरं काला-
तीतेऽपि ‘यदा’ यस्मिन्नेव समये ‘अधिगच्छेत्’ दृश्यं होतारं वा, तदैव ‘प्रति
जुहुयात्’ सायमादिकालं, प्रतीक्ष्य जुहुयात् । ‘एवमपि’ अभोजनेन दिनकर्त्तने-
नापि ‘व्रतं’ नित्यानुष्ठेयं ‘सन्ततम्’ आवच्छिन्नं ‘भवति’; ‘इति’ गतमिदं प्रक-
रणं नित्यानुष्ठानस्य । २०-२३॥

भा०:—यदि ऐसी कोई घोर आपत्ति हो जावे कि जिससे जल मिलना भी कठिन
हो वा न मिले, तो जब तक होम का उपाय न हो, भूखे रहे, पश्चात् जिस समय
हवनीय पदार्थ पावे या ‘होता’ मिले, उसी समय ठीक समय पर सायं या
प्रातराहुति प्रदान करे और दर्श या ‘पौर्णमास याग’ करे । इस प्रकार भी
उक्त कार्यो की नियमित-कर्त्तव्यता रक्ता करे परन्तु ब्राह्मण किसी प्रकार भी
विना ‘व्रत’ न रहे, व्रतशून्य होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ॥ १८-२३ ॥

एषोऽत ऊर्ध्वं हविराहुतिषु न्यायः ॥ २४ ॥

‘अत ऊर्ध्वं’ इतः परं ‘हविराहुतिषु’ हविर्भिः चरुभिर्निष्पाद्येषु नेमिति-
केषु काम्येषु च सर्वेष्वेव होमेषु ‘एषः’ एव ‘न्यायः’ प्रकारः, अर्थात् पूर्वमुपचा-
तहोमद्वयं ततश्च उपस्तीर्णाभिचारितं प्रकृत्यैव हवनं कार्यमिति ॥ २४ ॥

भा०:—इस के पीछे चरुद्वारा होने योग्य जितने याग कहे जावेंगे,
उन सब स्थानों में भी ठीक २ उसी प्रकार उलूखल, मूसल, स्थापनादि कार्य
करना चाहिये ॥ २४ ॥

मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ॥ २५ ॥

‘मन्त्रान्ते’ हविःप्रदानमननमाधनवाक्यान्ते पूर्वत्र परत्र च सर्वत्रैव होमे ‘स्वाहाकारः’ स्वाहापदं प्रयोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

भा०:—आहुति के सब मन्त्रों ही के अन्त में ‘स्वाहा’ यह पद जोड़ कर प्रयोग करे (बोले) ॥ २५ ॥

आज्याहुतिष्व्राज्यमेव स०स्कृत्योपघातं जुहुयान्नाज्य-
भागौ न स्विष्टकृदाज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्च
महाव्याहृतिभिर्होमो यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्मण्युप-
नयने गोदाने च ॥ २६-२८ ॥

‘आज्याहुतिषु’ यत्र हविर्भिन्नं हवनं विधेयमपि तु आज्यैरेवाहुतयो विधा-
स्यन्ते, तत्र ‘आज्यमेव संस्कृत्य’ चरुपाकाद्यायोजनमनर्थकमित्यलूखलाद्युपसाद-
नादिकमकृत्यैव ‘उपघातं’ प्रकृतयागस्योपोद्घातरूपमेकमेव होमं ‘जुहुयात्’, ‘न
आज्यभागी’ चतुर्गृहीताद्याज्यभागद्वयात्मकमुपघातसवनं न कार्यम्; ‘न स्विष्टकृद्’
स्विष्टकृद्यागोऽपि तत्रानावश्यकः । अपिच ‘आज्याहुतिषु’ सर्वत्रैव ‘अनादेशे’
विशेषविध्यभावे सुतरां गर्भाधानादौ ‘पुरस्तात्’ प्रधानकर्मणः ‘उपरिष्ठाच्च’ तस्य
‘महाव्याहृतिभिः’ भर्भुवःस्वरिति समस्ताभिः ‘होमः’ एकएव कार्यः । ननु चूडा-
करणादावपि नास्ति कश्चिद् विशेषादेशइति तत्रापि किमेकएव होमो महा-
व्याहृतिभिरिति व्युदस्यत्यनेनातिदेशसूत्रेण,—‘पाणिग्रहणे’ पाणिग्रहणनिमित्ते
सति ‘यथा’ वक्ष्यामो होम-चतुष्टयम् ‘महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्च-
तुर्थीम्’ इति ‘चूडाकर्मणि, उपनयने, गोदाने च’ तथा एव कार्यं होमचतुष्ट-
यमित्यतिदेशसूत्रम् ॥ २६-२८ ॥

भा०:—जो २ होम केवल आज्य ही द्वारा होने योग्य हैं, उन में आज्य-
संस्कार मात्र करना योग्य है, उलूखल स्थापनादि की उन में आवश्यकता
नहीं । और ऐसे स्थान में चरु होम की नाई चतुर्गृहीत या पञ्चगृहीत (४ या
५ बार लिया हुआ) आज्यद्वारा दो ‘उपघात’ नामक होम करना आवश्यक
नहीं, एक ही बार ‘उपघात’ होम करे और ‘उपस्तीर्णाभिचारित’ होम भी
अनावश्यक है और ‘स्विष्टकृत’ होम भी न करे । आज्याहुति के बदले और
भी विशेषता है जो जिस किसी स्थान में विशेष विधि नहो * ऐसे स्थान में
प्रकृत (मुख्य) याग के पहिले और पीछे “भूः, भुवः, और स्वः” इन तीन

महाव्याहृतियों का पाठ कर एक २ आहुति प्रदान करे, परन्तु विवाह की जिस प्रकार व्यवस्था कियी जावेगी * * * दूहाकरण, उपनयन, और गोदान में भी उसी प्रकार होगी ॥ २६-२८ ॥

अपवृत्ते कर्मणि वामदेव्यगानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम् ॥ २९ ॥

'कर्मणि' नित्ये, नैमित्तिके, काम्ये वा सर्वत्रैव 'अपवृत्ते' समाप्ते सर्वान्ते-
इति यावत् 'वामदेव्यगानम्' वामदेव्यनामकस्य सामगानम् (ऊ० गा० १, १, ५)
कर्तव्यम्, तच्च 'शान्त्यर्थं' भवतीति शेषः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतिका ॥ २९ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥

इति गोभिल-गृह्यसूत्रे प्रथमः प्रपाठकः ॥

भा०:—क्या नित्य (प्रति दिन करने योग्य), क्या नैमित्तिक, (किसी निमित्त विशेष से करने योग्य), क्या काम्य (किसी कामना से) सब ही प्रकार के होम के अन्त में ' वामदेव्य ' * गान करे; उस से सब प्रकार की आयत्तियों की शान्ति होती है ॥ २९-९ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १.९ ॥

प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ १ ॥



—०:॥ महावामदेव्य साम ॥००:—

३ २ ४ २ ४२ ५

महावामदेव्यम् ॥ काऽध्या । नश्चा३ इत्रा३ आभुवात् ।

* विवाह में विशेष विधि यह होगा कि 'मूः, भुवः, स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों के द्वारा भिन्न २ तीन और फिर इन को एकत्र करके पढ़े और एक, 'सुतरां' ४ होम करना चाहिये । उक्त महाव्याहृति आदि भिन्न २ कर होम करने का ही नाम वारतुहोम है और एकत्रित पाठ पूर्वक होम करने को 'समस्तहोम', कहते हैं । विवाहादि में व्यस्त—समस्त (अलग और एकत्र) दोनों प्रकार होम होते हैं ॥

* छन्द आर्चिक के द्वितीय प्रपाठक के द्वितीयाद में तृतीय दशति के पञ्चम "कयानश्चित्र आ, ऋक् अबलम्बन करके तीन साम मन्त्र गाये गये हैं, वह 'गेय गान' के पञ्चम प्रपाठक के प्रथमाद में २३, २४, २५, है उन में तृतीय आर्षेय आक्षेप (१, १४) श्रुतिअनुसार 'वाम देव्य', उत्तरार्चिक के प्रथम प्रपाठक के प्रथमाद में द्वादश सूक्त के प्रथम भी 'कयानश्चित्र आ, ऋक्' एवं इस सूक्त के इस छन्द के और भी दो 'ऋक्', है, "यह योन्यां तदुत्तरयोगीयति", तावदय आक्षेपक इस श्रुति के अनुसार इन दो में भी "वामदेव्य", गान होता है । इन वामदेव्य का एवम् गान होने से महावामदेव्यगान कहाता है । यह महावाम देव्य उहगान के प्रथम प्रपाठक के प्रथमाद में पञ्चम साम है ॥

उ । तीसदा वृधःस । खा । औ३ हो हाइ । कया२३ शचाइ ।
 छयौहो३ हुम्मा २। वात्तो३ऽ५ हाइ (१) ॥ काऽ५स्त्वा ।
 सत्योऽ३ मा३ दानाम् । मा । हिष्ठोमात्सादन्ध । सा । औ३
 होहाइ । दृढा२३ चिदा । रुजौहो३ । हुम्मा२ । वाऽ३ सोऽ५
 हायि ॥ (२) ॥ आऽभी । युणा३ः सा३ रवीनाम् । आ । विता
 जरायित् । णाम् । औ२३ होहायि । शता२३ म्भवा । सि-
 यौ हो३ । हुम्मा२ । ताऽ२ योऽ५ हायि ॥ (३) सामवेद० उ०
 अ० १ खं० ३ । म० १ । २ । ३ ॥

अथ द्वितीयप्रपाठकः ॥

॥ ओं ॥ पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ १

‘पुण्ये नक्षत्रे’ ज्योतिःशास्त्रोक्ते ‘दारान्’ पत्नी ‘कुर्वीत’ स्वीकुर्वीत । १

भा०:-जिन नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा का समागम उत्तम होता है (रोहिणी आदि) ऐसे समय में विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन । २

कीदृशान् दारानित्याह-‘लक्षणप्रशस्तान्’ प्रशस्तलक्षणोपेतान् ‘कुशलेन’ लक्षणाभिज्ञजनेन परीक्ष्येति । २

भा०:-जी लोग सुलक्षणा कुलक्षणा समझ सकते, ऐसे एक अभिज्ञ जन कर्तृक परीक्षा करा कर प्रशस्त लक्षण वाली कन्या से विवाह करे ॥ २ ॥

तदलाभे पिण्डान् । ३

‘तदलाभे’ लक्षणपरीक्षकालाभे लक्षणविचारेण सुलक्षणाया अभावे च ‘पिण्डान्’ मृत्पिण्डग्राहणपरीक्षान् कुर्वीतेति । ३

भा०:-यदि उस समय स्त्री लक्षण पहचानने वाला कोई पुरुष न मिले,

या लक्ष्मण देखने से सब लक्ष्मणों से सुसम्पन्न कन्या न पाई जावे, तो कन्या को डेला खुला कर उस की इस प्रकार परीक्षा करे कि ॥ ३ ॥

वेद्याः सीताया हृदाद्गोष्ठाच्चतुष्पथादादेवनादादहना-
दीरिणात्सर्वेभ्यः सम्भार्यं नवमं समान् कृतलक्षणान् ॥ ४-६ ॥

‘वेद्याः’ ‘यज्ञीयवेदीतः’ ‘सीतायाः’ लाङ्गलकृष्टस्थानात्, ‘हृदात्’ अगाध-
जलस्थानात्, ‘गोष्ठात्’ गोस्थानात्, ‘चतुष्पथात्’ ‘आदेवनात्’ देवनं द्यूतस्थानं
तस्मात्, ‘आदहनात्’ श्मशानात्, ‘ईरिणात्’ उषरप्रदेशात् मृदो गृहीत्वा
‘समान्’ तुल्यप्रमाणादिकान् किञ्च ‘कृतलक्षणान्’ यतश्च यो मृत्पिण्डो गृ-
हीतः तद्द्योतकचिन्हीकृतान् पिण्डान् कुर्वीतेति अष्टौ पिण्डाः सम्पन्नाः ।
‘सर्वेभ्यः’ पिण्डेभ्यएव ‘सम्भार्यं’ किञ्चित् किञ्चिदाहतमपि पिण्डमेकं कुर्वीत,
तदेव ‘नवमं’ पिण्डानां भवेत् ॥ ४-६ ॥

भा०—यज्ञवेदी से, जोती हुई भूमि से, अगाधि जल स्थान से, या गोशाला
से, चतुष्पथ से, या द्यूतस्थान से, श्मशान से, उषर भूमि में से कुछ २ मिट्टी लेकर
आठ स्थानों में भिन्न २ उस मिट्टी को पिण्ड बनाकर रखे, और इन पिण्डों
में से कुछ २ मिट्टी निकाल कर एक पिण्ड रखे इस प्रकार ९ पिण्ड रखे ॥ ४-६ ॥

पाणावाधाय कुमार्या उपनामयेहतमेव प्रथम-मृतं
नात्येति कश्चनर्त्तइयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूया-
दिति तस्या नाम गृहीत्वैषामेकं गृहाणेति ब्रूयात्पूर्वेषां
चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् सम्भार्यमपीत्येके ॥ ७-९ ॥

उक्तान् पिण्डान् ‘पाणौ’ ‘आधाय’ ‘कुमार्याः’ विवाहार्थपरीक्षणीयायाः
‘उप’ समीपे ‘नामयेत्’ स्थापयेत् । तत्र मन्त्रः—ऋतमेवेत्यादिर्भूयादित्यन्तः ।
ततश्च ‘तस्याः’ कुमार्याः ‘नाम’ गृहीत्वा तां सम्बोधयित्वेति यावत्, ‘एषां’
पिण्डानां नवानाम् ‘एकं’ यं कमपि ‘गृहाण’—‘इति’ ब्रूयात् । तथाचोक्ते—
‘पूर्वेषां चतुर्णां’ वेदी-सीता-हृद-गोष्ठीयमृत्निर्मितानां यं कमपि ‘गृह्णन्तीम्’
ताम् ‘उपयच्छेत्’ उद्गृहेत् । ‘एके’ आचार्याः ‘सम्भार्यं’ नवमं पिण्डं गृह्णन्तीमपि
उपयच्छेत् इत्याहुः । चतुष्पथ-देवन-श्मशानोषरस्थानीयमृत्निर्मितपिण्डाना-
मेकतमं गृह्णन्ती दुर्लक्षणेति नोद्ग्राह्येति सुतरां फलितम् । इति कन्यापरीक्षणम् ७-९

भा०—उक्त नव पिण्डों को हाथ में लेकर जो कन्या विवाह के लिये
हो उस के निकट लावे, और ‘ऋत’ प्रभृति मन्त्रों का पाठ कर बोले कि

‘हे अमुकि । इन पिण्डों में से जिसे तुम्हारी इच्छा हो उसे उठा लो । इस प्रकार कहने पर वह, यदि उक्त चार में से एक अर्थात् वेदी, कृष्टभूमि, हृद, या गोशाला का पिण्ड लेवे तो उस को सुलक्षण समझ कर विवाह करे । कोई २ कहते हैं कि, नवम पिण्ड अर्थात् आठ प्रकार की मृत्तिका जिस में इकट्ठी हैं उसे जो ग्रहण करे, तो उस कन्या के साथ भी विवाह कर सकते हैं, किन्तु चतुष्पद, द्यूत स्थान, श्मशान, या उषर मृत्तिका के ग्रहण करने से कदापि विवाहने योग्य नहीं ॥ कन्यापरीक्षा पूरीहुई ॥ ७-८ ॥

क्रीतकैर्यवैर्मर्माषैर्वाऽऽप्लुताथ सुहृत् सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिर्मूर्द्धं न्यभिषिञ्चेत् कामवेद ते नाम मदोनामासीति समानयामुमिति पतिनाम तृह्णीयात् स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थमुत्तराभ्यां प्लावयेत् ज्ञातिकर्मैतत् । १०, ११ ॥

‘क्रीतकैः’ चूर्णीकृतैः ‘यवैः मासैः वा’ ‘आप्लुताम्’ मर्दिताङ्कां कन्यां ‘सुहृत्’ कन्यायाएव काचित् सखी ‘सुरोत्तमेन’ उत्कृष्ट जलेन ‘सशरीरां’ शरीरसहितां तां ‘मूर्द्धं’ मस्तके ‘त्रिः’ त्रिवारम् ‘अभिषिञ्चेत्’ । तत्र “काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुत्तरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्रे तपसो निर्मितोसि स्वाहा ॥२॥ इमन्त उपस्थं मधुना सथ्सृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम् । तेन पुथ्सोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञी स्वाहा ॥३॥ अग्निं क्रव्यादकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः । तेनाज्यमकृत्वाथ्स्रैशृङ्गत्वाष्ट्रं त्वयि तदधातु स्वाहा” ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० १, १,) ऋग्भिरभिषिञ्चनम् तत्र च समानयामुमिति मन्त्रे अमुमित्यस्य स्थाने ‘पतिनाम’ भाविभर्तृनाम ‘तृह्णीयात्’ । किञ्चीक्ताभिषिञ्चनमन्त्राणाम् ‘उत्तराभ्यां’ द्वाभ्याम् ‘उपस्थं’ कन्याया विशेषेण ‘प्लावयेत्’ धावयेत् । ‘एतत्’ अभ्यङ्ग-मर्दन पूर्वकमुपस्थधावनान्तं स्नानं ‘ज्ञातिकर्म’ इत्युच्यत इति गतं ज्ञातिकर्म ॥१०, ११॥

भा०—यव चूर्ण, या उड़द, कलाई के चूर्ण से कन्या का सर्वाङ्ग मर्दन कर कन्या ही की किसी सखी द्वारा उसी कामवेद प्रभृति स्वाहा कारान्त मन्त्रत्रय पढ़ कर कन्या के माथे पर तीन बार उत्तम जल ढाल दे, इस प्रकार जल ढाल देवे जिस से कन्या का शरीर अच्छे प्रकार धो जावे, विशेषतः इन तीन के शेष (३ य और ४ र्घ) दो का पाठ कर इस कन्या के उपस्थ इन्द्रिय (प्रजनन-प्रदेश) अच्छे प्रकार धो दे । इसी को ‘ज्ञातिकर्म’ कहते हैं ॥१०, ११॥

पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमा-
हितो भवति । १२

‘पाणिग्रहणे’ करणीये ‘शालायाः’ मध्ये ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि
‘अग्निः’ ‘उपसमाहितः’ संस्थापितः ‘भवति’ भवेत् । १२

भा०—पाणि-ग्रहण करने में अग्नि शाला के, या घर के बीच पूर्व दिशा
में अग्नि स्थापन करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपाङ्कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः
प्रावृतो वाग्यतोऽग्नेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽव-
तिष्ठते प्राजनेनान्यः शमीपलाशमिश्रात्थश्च लाजात्थश्चतुर-
ज्जलिमात्राञ्चूर्पणोपसादयन्ति पश्चादग्नेर्दृशत् पुत्रञ्च १३-१६

‘अथ’ अनन्तरं ‘जन्यानां’ कन्याज्ञातिजनानां मध्ये ‘एकः’ अन्यतमः
‘ध्रुवाणां’ अतिप्रखरतापेऽप्यशुष्कजलाशयोत्थितानाम् ‘अपां’ कलशं पूरयित्वा
‘प्रावृतः’ ब्रह्माच्छादितः, ‘वाग्यतः’ अनियमितवाक्शून्यः, ‘अग्निम्’ तम् ‘अग्नेण’
कृत्वा ‘परिक्रम्य’, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यामग्नेः ‘उदङ्मुखः’ उत्तराभिमुखश्च सन्
‘अवतिष्ठते’ अवतिष्ठेत अवस्थितिं कुर्यात् । ‘अन्यः’ तथैवैकः पुरुषः ‘प्राजनेन’
गवादिचालनदण्डेन साकं प्राजनहस्तइति यावत् अवतिष्ठेतेत्येव । ‘शमीप-
लाशमिश्रान्’ ‘चतुरज्जलिमात्रान्’ ‘लाजान् च’ सूर्पण, कृत्वा तत्रैव ‘अग्नेः’
पश्चात् प्रदेशे ‘उपसादयन्ति’ स्थापयन्ति स्थापयेयुः ये के आत्मीयजनाइति ।
‘दृशत्पुत्रं’ दृशदः पेषणाधारस्य शिलाखण्डस्य क्रोडे पुत्रवत् शंते य उपलः
पेषणकरः तम् ‘च’ अपि उपसादयन्तीत्येव ॥ १३-१६ ॥

भा०—इस के अनन्तर कन्या के आत्मीय कोई एक जन, जिस जलाशय
का जल कभी न सूखे ऐसे जल में कलश भर कर कपड़े से ढाक कर एकाग्र
हो, अग्नि को सम्मुख रख कर प्रदक्षिण क्रम से अग्नि के दक्षिण में उत्तर
मुख होकर बैठे । और भी एक व्यक्ति इसी प्रकार ढंहा हाथ में लेकर रहे ।
अग्नि के पश्चात् भाग में शमी पत्र मिला चार अज्जलि परिमित लाजा रखे
और एक पेषणकर (लोढ़ा) भी वहीं रखना चाहिये ॥ १३-१६ ॥

अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन् भवति सशिरस्काप्लुताभवति । १७

‘अथ’ अनन्तरं ‘यस्याः’ कन्यायाः ‘पाणिं’ ‘ग्रहीष्यन् भवति’ वरः, सा
कन्या ‘सशिरस्का, शिरःसहिता आप्लुतां स्नाता भवति’ भवेत् । इति विवा-
हदिवसीयकन्यस्नानम् । १७

भा०:-उस के बाद, वर जिस कन्या का पाणिग्रहण करे, उस को मस्तक पर्यन्त स्नान करा देवे। यह विवाह के दिन कन्या का स्नान होता है ॥१७॥

अहतेन वसनेन पतिः परिदध्याद् या अकृन्तन्नित्येतयर्चा
परिधत्त धत्त वाससेति च ॥ १८ ॥

एतत्स्नानानन्तरं 'पतिः' भावी "या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत, याश्च देव्यो अन्तानभितो ततन्व। तास्त्वा देव्यो जरसा संव्यन्त्वायुष्मतीदं, परिधत्स्व वासः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, १, ५) - 'इत्येतया ऋचा' "परिधत्त धत्त वाससैनाथं, शतायुषीथं कृणुत दीर्घमायुः। शतं च जीव शरदः सुवर्चा, वसूनि चार्ये विभृजासि जीवन्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, १, ६) - 'इति' अनया ऋचा 'च' 'अहतेन' अख-वहेन 'वसनेन' परिदध्यात् 'अहतं वसनं तां परिधापयेदित्यर्थः। इति कन्या-वासःपरिधापनम् ॥ १८ ॥

भा०:-इस स्नान के पीछे भावी-पति 'या अकृन्तन्' यह मन्त्र एवं 'परि धत्त धत्त वाससा' यह मन्त्र पढ़ कर उस कन्या को अखण्ड वस्त्र (किसी पूरे वस्त्र में से काढ़ कर न लिया हो) पहनावे। यही "कन्यावासपरिधापन" है ॥१८॥

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयज्जपेत् सोमोऽददद्ग-
न्धर्वायेति पश्चादग्नेः संवेष्टितकटमेवज्जातीयं वाऽन्यत् पदा
प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत् प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति
स्वयज्जपेदजपन्त्याम्प्रास्याइतिबर्हिषोऽन्तङ्कटान्तम्प्रापयेत् ॥ १९-२२

ततश्च 'प्रावृतां' आच्छादितां किञ्च 'यज्ञोपवीतिनीं' यज्ञोपवीतयुतां तां कन्याम् 'अभि' अभिसुखम् 'उत्' उत्कृष्टरूपेण 'आनयन्' समीपमानीय भावी पतिः "सोमोऽददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वाऽददद्मयेरयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो-इनाम्" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, १, ७) - 'इति' मन्त्रं 'जपेत्' पठेत्। अपिच 'अग्नेः पश्चात्' 'संवेष्टितं कटम्' एवज्जातीयं कटतुल्यम् 'अन्यत्' आस्तरणं वा 'प्रवर्त्तयन्तीं' पदा चालयन्तीं 'प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताथं' शिवा अरिष्टा पति-लोकं गमेयम्" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, १, ८) - 'इति' बर्धू 'वाचयेत्'। 'अजपन्त्यां' तस्यां "प्रास्याः पतियानः पन्थाः कल्पताथं शिवा अरिष्टा पतिलोकं गम्याः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, १, ९ वा) - 'इति' इमं मन्त्रं 'स्वयम्' एव जपेत्। एवमेव चालयन्तीं कटान्तं 'बर्हिषः' आस्तृतस्य 'अन्तं' समीपं 'प्रापयेत्' ॥ १९-२२ ॥

भा०:-पीछे उस कन्या को कपड़ा से ढाक कर, यज्ञोपवीतिनी (जनेउ

पहना कर) करके पति अपने सामने निकट लाकर ' सीमोददद् ' यह मन्त्र पढ़े, एवं अग्नि के पीछे स्थापित 'कट' या इसी प्रकार का अन्य आसन, उस कन्या के पैर से चलाकर अग्नि के समीप बिछाया हुआ 'बर्हि' तक ले आवे। उस समय इस भावी वधू को "प्र मे" मन्त्र पाठ करावे, वह यदि पाठ न कर सके तो भावीपति 'प्राप्त्या' मन्त्र स्वयं ही पढ़े ॥ १९-२२ ॥

पूर्वे कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशति दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ समन्वारब्धायाः पडाज्याहुतीर्जुहोत्यग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिर्महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम् ॥ २३-२६ ॥

'पूर्वे कटान्ते' कटस्य पूर्वप्रान्ते 'पाणिग्राहस्य' पाणिग्रहणे प्रवृत्तस्य भाविपत्युः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्याम् 'उपविशति' वधूरितिशेषः (२३) । दक्षिणेन पाणिना वरस्य 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्वारब्धायाः' अन्वारम्भणं पृष्ठतः स्पर्शनं तत् कुर्वाणायाः वध्वाः ग्रहणद्योतकमङ्गलकामनया "अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः, सोस्यै प्रजां मुञ्जातु सृत्युपाशात् तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां । यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ १० ॥ इमानग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः, प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोतु । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता, पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियथं स्वाहा ॥ ११ ॥ द्यौस्ते पृष्ठं रक्तु वायुरूतं अश्विनी च स्तनन्धयन्ते पुत्रांसविताभिरक्षत्ववासथं परिधानाद्, वृक्षपतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षतु पश्चात् स्वाहा ॥ १२ ॥ मा तं गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्दुदयः संविशन्तु । मा त्वं रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्री पतिलोके विराज, पश्यन्ती प्रजाथं सुमनस्यमानाथं स्वाहा ॥ १३ ॥ अप्रजस्यं पौत्रमस्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णः स्वर्गमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्जामि पाशं स्वाहा ॥ १४ ॥ परैतु सृत्युरसृतं न आगाद्, वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु परं सृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्यं इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ब्रवीमि मानः प्रजाश्वं रीरिषो मोत वीरांस स्वाहा" ॥ १५ ॥ १ (म० ब्रा० १, १, १०-१५)—इत्येतत् प्रभृतिभिः षड्भिर्मन्त्रैः 'षट् आज्याहुतीः' 'जुहोति' जुहुयात् पाणिग्राह इति शेषः (२४) । 'महाव्याहृतिभिः' तिसृभिः 'पृथक्' द्विभिः तिस्र आहुतीर्जुहुयात् (२५) । समस्ताभिः ताभिः 'चतुर्थीम् आहुतिं' 'च' जुहुयात् (२६) ॥ २२-२६ ॥ इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके प्रथमब्रह्मस्य व्याख्यानं समाप्तम् २, १

भा०—उस पैर से चलाई हुई चटाई के पूर्व प्रान्त में पाणिग्रहण के लिये प्रवृत्त पति के दाहिनी ओर बधू बैठे ॥ २३ ॥ कन्या अपने दाहिने हाथ के द्वारा, वर के दक्षिण स्कन्ध छू लेवे, एवं वर, कन्या के ग्रहण द्योतक कल्याण प्रार्थना करने में प्रवृत्त होकर 'अग्निरेतु प्रथमः', प्रभृति छः मन्त्र द्वारा छः आहुति प्रदान करे ॥ २४ ॥ पीछे 'भूः', भुवः और स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों का पाठ कर, भिन्न २ तीन होम करे ॥ २५ ॥ एवं इन तीन को एकत्र 'भू भुवः स्वः' पढ़ कर चतुर्थ होम सम्पन्न करे ॥ २६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २९ ॥

हुत्वापोत्तिष्ठतः ॥ १ ॥

'हुत्वा' महाव्याहृत्यन्तम् 'उपोत्तिष्ठतः' उपोत्थानं मियः पृष्ठतः स्कन्धा-
र्पितहस्तौ सन्तौ उत्थानं कुर्वतः दम्पतीति ॥ १ ॥

भा०—उस महाव्याहृति होम के अनन्तर दोनों एकत्र 'उपोत्थान' करे । अर्थात् उत्थान काल में वर के दाहिने हाथ में, कन्या के पीठ पर होकर दाहिने कन्धे पर, और कन्या के बायें हाथ, वर के पीठ पर होकर बायें कन्धे पर रहे ।

अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते

वध्वञ्जलिं गृहीत्वा ॥ २ ॥

'पतिः' 'अनुपृष्ठं परिक्रम्य' पृष्ठपरिक्रमणेन 'दक्षिणतः' पत्न्या दक्षिणस्यां गतः पतिः "वध्वञ्जलिं गृहीत्वा" 'उदङ्मुखः' सन् 'अवतिष्ठते' ॥ २ ॥

भा०—पति, बधू के पीठ की ओर हो कर दाहिने ओर चल कर, उस की अञ्जलि पकड़ कर उत्तर मुंह हो बैठे ॥ २ ॥

पूर्वा माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेद्-

श्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ॥ ३ ॥

'माता भ्राता वा' 'लाजान्' 'आदाय' गृहीत्वा स्वान्तिके 'वधू' 'दक्षिणेन प्रपदेन' 'अश्मानं' सोपलशिलापट्टकम् 'आक्रामयेत्' आरोहयेत् ॥ ३ ॥

भा०—माता, या भ्राता लाजा लेकर वधूको दाहिने पैरके अग्रभाग से 'अश्मा-
क्रामय' (शिलाहोहण) करावे । अर्थात् लोढ़ा सहित शिला पर (चलावे) ॥ ३ ॥

पाणिग्रहो जपतीममश्मानमारोहेति ॥ ४

तस्मिन्नेवाक्रमणकाले "इममश्मानमारोहामेव त्वयं स्थिरा भव । द्विष-

तमपवाधस्व मा च त्वं द्विषतामधः” ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, २, १) ‘इति’ इत्थं मन्त्रं ‘पाणिग्राहः’ पाणिग्रहणकारी पतिः ‘जपति’ जपेत् पठेदित्यर्थः ॥४॥

भा०—उत्त ‘अशमाक्रामण’ काल में पाणिग्रहणकारी ‘इममशमानमारोह’ इस मन्त्र को पढ़े ॥ ४ ॥

सकृत् संगृहीतं लाजानामञ्जलिं भ्राता वध्वञ्जलायाव-
पति तथ्सोपस्तीर्णाभिघारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्दत्यञ्ज-
लिमियं नार्घ्युपब्रूतेऽर्यमणं नु देवं पूषणमित्युत्तरयो हुते
पतिर्यथेतं परिव्रज्य प्रदक्षिणमग्निं परिणयति मन्त्रवान्
ब्राह्मणः कन्यलापितृभ्य इति परिणीता तथैवावतिष्ठते तथा
ऽऽक्रामति तथा जपति तथाऽऽवपति तथा जुहोत्येवं त्रिः ५-१०

‘सकृत्’ एकवारं ‘संगृहीतं’ ‘लाजानाम् अञ्जलिं’ ‘भ्राता’ ‘वध्वञ्जली’
स्वभगिन्या अञ्जली “आवपति” प्रयच्छति (५) । ‘सा’ वधूः ‘तम्’ भ्रातृदत्तम्
‘अञ्जलिं’ लाजाञ्जलिम् ‘उपस्तीर्णाभिघारितं’ पूर्वोक्तप्रकारेण (१।८। ४) प्रकृत्य
‘अविच्छिन्दती’ विच्छेदमञ्जलिभेदमकुर्वन्ती “इयं नार्घ्युपब्रूते” अग्नौ लाजा-
नावपन्ती । दीर्घायुरस्तु मे पतिः । गतं वर्षाणि जीवत्वेधन्तां ज्ञातयो मम
स्वाहा” ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, २, २)—‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अग्नौ’ ‘जुहोति’
जुहुयात् (६) ‘हुते’ लाजाहोमे सम्पन्ने अनन्तरं ‘मन्त्रवान्’ अधीतवेदो ‘ब्रा-
ह्मणः’ * ‘पतिः’ ‘यथा’ येन प्रकारेण पत्नीपृष्ठदेशेन ‘इतं, गतं, तथैव’ ‘अग्निं,
‘प्रदक्षिणं’ यथास्मात् तथा ‘परिव्रज्य, प्रत्यागत्य’ “कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं
यतीयमपदीक्षामयष्ट । कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि
द्विषः” ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, २, ५)—‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘परिणयति’
तां कन्या मिति शेषः; पतिलोकप्रापणं बोधयति कन्या मिति भावः; (९)
‘परिणीता’ च सा पत्नी ‘तथैव’ पूर्वोक्तप्रकारेणैव (२ सू०) ‘अवतिष्ठते’; ‘तथा’
एव ‘आक्रामति’ अशमानम् (३ सू०) ; ‘तथा’ एव ‘जपति’ (४ सू०) ‘पतिः’
‘तथा’ एव (५ सू०) ‘आवपति’ भ्राता; ‘तथा’ एव (६ सू०) ‘जुहोति’ वार-
द्वयम् कन्या स्वयमेव (९) । अत्र च ‘उत्तरयोः’ लाजाहोमयोः “अर्यमणं नु देवं

* मन्त्रनक्षत्रेणैव ब्राह्मणत्वं पतियोग्यत्वञ्चेत्येव श्रुतमित्युक्तं मिह पत्युरेव विशेषणद्वयम् । कचिदिह ‘वा,
पदमपि, पर’ मदीयतादिपुस्तकेषु सर्वत्रैवात्र ‘वा’ पदस्यादर्शनात् परिणयकाले कथमपि पत्युपस्थितेरसम्भवात्
प्रतिनिधयत्यन्तानावश्यकत्वाच्चासङ्गतएव तादृशः पाठ इत्यनिवृद्ध्यापि त्यक्तं मिह सुहृदो मन मादृतश्च तत्त्वका-
रस्येति सत्यः ॥

कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा” ॥३॥
 (म० ब्रा० १, २, ३)”—“पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवः पूषा प्रेतो
 मुञ्चातु मा मुत स्वाहा” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, २, ४)—‘इति एतौ मन्त्रौ यथा-
 क्रमेण प्रयोक्तव्यावित्येव विशेषः (१) । ‘एवम्’ प्रथमलाजाहोमेनोत्तरलाजाहो-
 मद्वयमेलनेन सङ्कलनया ‘त्रिः’ होमत्रयं सम्पन्नम् । (१०) । इति गता परिष्क-
 यक्रिया ॥ ५-१० ॥

भा०:—कन्या का भाई, एक ही बार एक अञ्जलि लाजा लेकर अपनी
 बहिन की अञ्जलि में देवे, उस भाई की दियी हुई लाजा की अञ्जलि को
 पूर्वोपदेशानुसार (१८३-४) ‘उपस्तीर्णाभिघारित’ कर अञ्जलि अलग २ न हीं
 जावे, इसप्रकार सावधानी से “ इयं नार्युपब्रूते ” इस मन्त्र से, वधू अग्नि में
 आहुति देवे । ६ । इस प्रकार आहुति देने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण पति ने जिस
 प्रकार गमन किया था, उसी प्रकार । अर्थात् कन्या को आगे लेकर अग्नि की
 प्रदक्षिणा कराते हुये, पुनः आकर ‘कन्यला पितृभ्यः’ इस मन्त्र का पाठ करके
 उस कन्या को ‘परिणीता’ करे । अर्थात् कन्या जो पति लोक पाती है, यह
 बात उसे समझा देवे ॥ ८ ॥ इस प्रकार वधू परिणीता होने पर और भी दो
 बार उसी प्रकार अवस्थान (सू० २), अश्माक्रामण (३ सू०), मन्त्र पाठ,
 (सू० ४), लाजा वपन (सू० ५), और लाजाहोम करे । (९) किन्तु इन
 दोनों होम में पूर्वमन्त्र नहीं पढ़े । प्रत्युत उसके बदले में ‘अर्यमसं नु देवं’
 एवं ‘पूषणं’, इन दो मन्त्रों का पाठ यथा क्रम से करे ॥ ७ ॥ इस प्रकार तीन
 लाजा होम सम्पन्न होंगे । इसी को ‘परिणय’ कहते हैं ॥ ५-१० ॥

शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामन्त्येकमिष-
 इति दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेन्मा सव्येन दक्षिण-
 मतिक्रामेति ब्रूयात् ॥ ११-१३ ॥

‘शेष’ लाजामम्, ‘शूर्पेण’ गृहीत्वा ‘अग्रौ’ ‘ओप्य’ असन्त्रकमेव निक्षिप्य
 ‘प्रागुदीचीम्’ ऐशानो विदिशम् “ एक मिषे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ६ ॥ द्वे ऊर्जे
 विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ७ ॥ त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ८ ॥ चत्वारि मयो
 भवाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ९ ॥ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १० ॥ षड् रायस्पो-
 षाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ११ ॥ सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १२ ॥
 सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमयथं सख्यं ते मायोषाः सख्यं ते मायोष्टयाः ॥
 १३ ॥ (१, २, ६-७)—‘इति’ सप्तभिः यजुभिः सप्तवारमुत्तरोत्तरम् अभ्युत्क्रामन्ति

सात्रादिपरिजना वधूमिति (११) तत्र आक्रामकक्रममुपदिशति;—‘दक्षिणेन पादेन’ ‘प्रक्रम्य’ भूमिम्, ‘अनु’ पश्चात् ‘सव्येन’ पादेन ‘क्रामेत्’ तामेव स्थलीम् (१२) । परं तत्रापि ‘सव्येन दक्षिणं ना अतिक्राम’—‘इति’ इमं सुपदेशं ब्रूयात् ताम् (१३) एवञ्च प्रथमं सव्यपादक्षेपणं, सव्येन पादेन दक्षिणपादाक्रमकञ्च निबिडुमिति । गतमिदं सप्तपदीगमनम् ॥ ११—१३ ॥

भा०:—तीन बार हुतावशिष्ट लाजा आदि, सूप में लेकर बिना मन्त्र पढ़े, अग्नि में डाले । ईशान कोण में ‘एक मिथे’ प्रभृति सात मन्त्र पढ़ कर वधू को यथा क्रम से, सात पग चलावे । उस में विशेष लक्ष्य यह हो कि पहिले बायां पैर आगे न रखे, और बायें पैर से दक्षिण पग आक्रान्त भी न हो । इसी को सप्तपदीगमन कहते हैं ॥ ११—१३ ॥

ईक्षकान् प्रतिमन्त्रयेत् सुमङ्गलीरियं वधूरिति ॥१४॥

तदनन्तरम् “सुमङ्गली रियं वधूः रिमौ समेत पश्यत । सौभाग्यं मयै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन” ॥१४॥ (म० ब्रा० १.२, ८) —‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् पाणिग्राहः ‘ईक्षकान्’ विवाहदर्शकान् सर्वानेवाविशेषेण ‘प्रति मन्त्रयेत्’ आशीः प्रार्थयेत् । इदमेव प्रेक्षकामन्त्रणम् ॥ १४ ॥

भा०:—उस के अनन्तर ‘सुमङ्गलीरियं वधू’ इस मन्त्र की पढ़ कर दर्शकों के निकट आशीर्वाद लेने का पात्र होवे ॥ १४ ॥ यही निरीक्षण (प्रेक्षण) है ।

अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्धदेशेऽवसिञ्चति तथेतराथ्समञ्जन्त्वित्येतयञ्चा ॥ १५

ततश्च ‘औदकः उदककुम्भयुक्तः कश्चन पुरुषः ‘अग्निस् अपरेण’ अग्नेः पश्चिमतः दम्पतीस्थानं ‘अनुसंव्रज्य’ समागत्य ‘पाणिग्राहं’ वरं ‘तथैव इतरां’ वधूञ्च “समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापोः हृदयानि नौ । सम्मातरिश्वा सम्धाता समुदेष्टी दधातु” ॥१५॥ (म० ब्रा० १.२, ९) ‘इति एतया ऋचा’ दम्पतीभ्यामुक्त्व-मानया स्नपनकालं संलक्ष्य ‘मूर्धदेशं’ तयोरुभयोरेव ‘अवसिञ्चति’ आ सिञ्चेत् उदकेनैवेत्यासिञ्चनम् ॥ १५ ॥

भा०:—अनन्तर कोई जलवाहक व्यक्ति अग्नि के पश्चिम भाग में आकर विवाह के लिये उद्यत वर और कन्या के माथे पर जल डाल कर स्नान करावे और, उसी समय दम्पती एक वाक्य से ‘समञ्जन्तु’ मन्त्र पढ़े ॥ १५ ॥

अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाञ्जलिमुपोद्गृह्यदक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिथं साङ्गुष्ठमुत्तानं गृहीत्वन्ताः षट्

पाणिग्रहणीया जपति गृभ्णामि त इति ॥ १६ ॥

‘अवसिक्तायाः’ वध्वाः ‘अञ्जलि’ ‘सवयेन पाणिना’ ‘उपोद्गृह्य’ स्वसमीपे ऊर्ध्वीकरसपूर्वकं प्रगृह्य, तस्याएव ‘साङ्गुष्ठम्’ अङ्गुष्ठसहितम् ‘उत्तानं’ पृष्ठ-निम्नं ‘पाणिं’ आमन्त्रिबन्धाङ्गुलिष्वयं ‘दक्षिणेन पाणिना’ ‘गृहीत्वा’ “गृभ्णामि ते सीभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धि मंस्तं त्वा दुर्गाहंपत्याय देवाः॥१६॥ अघोरचक्षुरपतिग्रेयधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्वाः। वीरसूज्जोवसूर्देवसूर्देवकामा स्योना शक्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे॥१७॥ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वयमा । अदुर्मङ्गलीः पतिलोक माविश शक्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे॥१८॥ इमां त्वमिन्द्रमीद्वः सपुत्रां सुभगां कृधि । दशस्यां पुत्रानाधेहि पति मेकादशं कुरु ॥ १९ ॥ संम्राज्ञी श्वशुरे भव संम्राज्ञी श्वश्रवां भव । ननान्दरि संम्राज्ञी भव संम्राज्ञी अधिदेवेषु ॥ २० ॥ मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्तं मनुचित्तं ते अस्तु । मम वाच मेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुक्तु मम्यम्” ॥२१॥ (१, २, १०-१५)–इति ‘एताः’ ‘पाणिग्रहणीयाः’ पाणिग्रहणाद्यधोधिकाः ऋचः षट् ‘जपति’ जपेत् प्राप्तिग्राह इति शेषः । इति गतं पाणिग्रहणम् ॥ १६ ॥

भा०:-पति, उस जल सिक्त अधू के अञ्जलि को बायें हाथ से ग्रहण कर, अपने निकट कुछ ऊपर लेकर दहिने हाथ से तदीय साङ्गुष्ठ उत्तान दहिना हाथ (मन्त्रिबन्ध अर्थात् हाथ के पहेंवे से अञ्जलि तक) पकड़ कर “गृभ्णामि ते” इत्यादि विवाहार्थ बोधक मन्त्र पढ़े । इसी का नाम विवाह है ॥ १६ ॥

समाप्तासूद्वहन्ति ॥ १७ ॥ २ ॥

‘समाप्तासु’ पाणिग्रहणान्तक्रियासु ‘उद्वहन्ति’ पतिलोकं प्रापयन्ति वधूम् स्वजनाः रथादयो वा करणादीनामपि कर्तृत्वं भवत्येव, कारकाणां विवक्षा-धीनत्वात् ‘काष्ठाः पचन्ति’ इत्यादि भाष्यमेव निदर्शनमिति । इत्युद्वाहः ॥१७॥

इति सामवेदवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य

व्याख्यानं समाप्तम् ॥ २, २ ॥

भा०:-पाणिग्रहण के अन्त तक सब क्रिया समाप्त होने पर, उस वधू की स्वजनमण्डप, रथ आदि पर, सवार करा पति के घर पहुंचावें। यही “उद्वाह” है १७

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीयखण्ड का

भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २ । २ ॥

**प्रागुदीच्यां दिशि यद्ब्राह्मणकुलमभिरूपन्तत्राग्नि-
रूपसमाहितो भवति ॥ १ ॥**

‘प्रागुदीच्यां’ ऐसान्यां ‘दिशि’ ‘यत्’ ‘अभिरूपं’ तपःस्वाध्याययुतं ‘ब्राह्म-
णकुलम्’ ‘तत्र’ ब्राह्मणकुले ‘अग्निः’ वैवाहिकः ‘उपसमाहितः’ यथाविधि स्था-
पितः ‘भवति’ भवेत् ॥ १ ॥

भा०:—यदि अपना मकान दूर हो, तो समीपस्थ ईशान कोश स्थित किसी
उपयुक्त ब्राह्मण के घर में उत्तरविवाह सम्पादनार्थं यथाविधि अग्निस्थापन करे।
**अपरेणाग्निमानुहुत् रोहितं चर्म प्राग्ग्रीवमुत्तर-
लोमास्तीर्णं भवति ॥ २ ॥**

‘अग्निम् अपरेण’ अग्नेः पश्चात् ‘रोहितं’ लोहितम् ‘आनुहुत् चर्म’ गोचर्म
‘प्राग्ग्रीवं’ ‘उत्तरलोम’ उपरिष्ठाल्लोमपृष्ठम् ‘आस्तीर्णं’ पातितम् ‘भवति’ भवेत् ॥ २ ॥

भा०:—उस स्थापित अग्नि के पश्चिम भाग में लोहित वर्ण गौ का चमड़ा
लेकर, इसप्रकार विद्यावे कि जिस में लोमपृष्ठ (रोम ऊपर हो) तो ऊपर
को हो और पूर्व-पश्चिम लम्बा हो, चमड़े का शिरो देश पूर्वभाग में हो
और इस का नीचे का हिस्सा पश्चिम दिग्गत हो ॥ २ ॥

तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ॥ ३ ॥

‘तस्मिन्’ आस्तृते आनुहुहे चर्मणि ‘एनां’ ‘वाग्यतां’ नियमितवाचाम्
‘उपवेशयन्ति’ आत्मीयजनाः ॥ ३ ॥

भा०:—उस डाले हुए गो-चर्म के ऊपर वधू को नियमित वाक्य कर बैठावे ॥ ३ ॥

सा खल्वास्तएवानक्षत्रदर्शनात् ॥ ४ ॥

‘सा’ वधूः ‘खलु’ निश्चयम् ‘आनक्षत्रदर्शनात्’ अस्तमिते दिवाकरे यावत्
नक्षत्रैकमपि दृश्यते तावत् तथा ‘एव’ ‘अस्ते’ ॥ ४ ॥

भा०:—वह वधू नक्षत्र के उदय पर्यन्त उसी प्रकार बैठी रहे ॥ ४ ॥

प्रोक्तेनक्षत्रेषडाज्याहुतीर्जुहोतिलेखासन्धिष्वित्येतत्प्रभृतिभिः ५

‘नक्षत्रे प्रोक्ते’ मेघाच्छन्नादिहेतुभिः नक्षत्रोदयादर्शनेऽपि ‘उदितमेव नक्ष-
त्रमण्डलं यतस्तत्कालोऽयमागतः’—इत्येवमभिजनैः कथिते “लेखासन्धिषु पक्ष-
स्वावर्त्तेषु च यानि ते । तानि ते पूष्ण्याहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ १ ॥
केशेषु यच्च पापकं मीक्षिते रुदिते च यत् तानि पूष्ण्याहुत्या सर्वाणि शमया-
म्यहम् ॥ २ ॥ शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि ते पूष्ण्या-
हुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ३ ॥ आरौकेषु च दन्तेषु हस्तयोः प्रादयोश्च यत् ।

[प्र० २ खं० ३ सू० १-९] सत्तरविवाहः ॥

६९

तानि ते पूज्याहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ४ ॥ ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः
सन्धानेषु च यानि ते । तानि ते पूज्याहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ५ ॥
यानि कनि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् । पूज्याहुतिभि राज्यस्य सर्वाणि
तान्यशीशमम् ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १-६),—‘इत्येतत्प्रभृतिभिः सन्त्रैः षड्भिः
‘षट्’ ‘आज्याहुतीः’ ‘जुहोति’ जुहुयात् पतिरिति शेषः ॥ ५ ॥

भा०:—यदि मेघ आदि के कारण नक्षत्रोदय दीख न पड़े, तो किन्हीं प्राञ्ज
ज्योतिषी के बतलाये हुए नक्षत्रोदय काल में ‘लेखासन्धिषु’ इत्यादि छः सन्त्रों
से छः आहुति देवे ॥ ५ ॥

आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूर्द्धनि वध्वा अवनयेत् ॥ ६ ॥

‘आहुतेः आहुतेः’ प्रत्याहुतेः ‘सम्पातं तु अवशिष्टचृतधारां वध्वा मूर्द्धनि
‘अवनयेत्’ ॥ ६ ॥

भा०:—उन प्रत्येक छः आहुतियों के अन्त में उस वधू के माथे पर चून
का डार गिरावे ॥ ६ ॥

हुत्वोपोत्थायोपनिष्क्रम्य ध्रुवं दर्शयति ॥ ७ ॥

‘हुत्वा’ एतत् षडाज्याहुतिहवनानन्तरं दम्पती ‘उपोत्थाय’ सहैवोत्तिष्ठन्ती
‘उपनिष्क्रम्य’ सहैव होमस्थानान्निर्गत्य ‘ध्रुवं’ ध्रुवसङ्गं नक्षत्रं दर्शयति पतिः
पत्नीमिति ॥ ७ ॥

भा०:—ये छः आहुति और आहुति शेष ग्रहण के पीछे, वर कन्या उठकर
एकत्र होमस्थान से बाहर होकर पति, पत्नी को ध्रुव नामक नक्षत्र दिख नावे ॥७॥

ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयास ममुष्यासाविति पतिनाम
गृह्णीयादात्मनश्च ॥ ८ ॥

तत्र ध्रुवदर्शनकाले ‘ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्यामी’—‘इति’
इमं सन्त्रं वधूः पठेत् । ‘अ’ अपि अमुष्यइत्यस्य स्थाने स्वपतिनाम षष्ठ्यन्तम्
असौ स्थाने ‘आत्मनः’ नाम प्रथमान्तम् ‘गृह्णीयात्’ ॥ ८ ॥

भा०:—उस ध्रुव दर्शन के समय ‘हे नक्षत्र ! तुम स्थिर स्वभाव वाले हो,
इसी कारण ‘ध्रुव’ (अचल) नाम से विख्यात हो । मैं भी जिससे पति कुल
में स्थिरप्रकृति होऊँ ? मैं अमुक नामवाली, अमुक नामक व्यक्ति की पत्नी
हूँ” इस सन्त्र को वधू पढ़े । इस सन्त्र के मध्यगत ‘अमुक’ इस पद के बदले
निज पति का नाम और “अमुक नाम वाली” के बदले अपना नाम कहे ॥८॥

अरुन्धतीञ्च ॥ ९ ॥

‘च’ अपि ‘अरुन्धती’ नक्षत्रविशेषं दर्शयति तां पतिरिति ॥ ९ ॥

भा०—उसी समय पति, वधू को “अरुन्धती” नामक नक्षत्र दिखलावे ॥९॥

रुद्राहमस्मीत्येव मेव ॥ १० ॥

तत्रारुन्धतीदर्शनकाले ‘रुद्राहमस्मि’—इति । ‘एवमेव’—

पूर्वाक्तप्रकारेण पत्युः स्वस्य च नामग्रहणपूर्वकेमेव वधूः पठेदिति ॥१०॥

भा०—इस अरुन्धती के दर्शनसमय वधू कहे कि ‘अमुक नाम्नी मैं, अमुक नामक पति की आज्ञा में वढ़ा होती हूँ’ ॥ १० ॥

अथेनामनुमन्त्रयते ध्रुवाद्यौरित्येतयर्त्वा ॥ ११ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् ‘एनां’ वधू “ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्” ॥१॥ म० ब्रा० १, ६, ६)”—इत्येतया ऋचा ‘अनुमन्त्रयते’ पतिरिति ॥११॥

भा०—उसके पश्चात् पति वधू को ‘ध्रुवा द्यौः’ इस मन्त्र को पढ़ावे ॥११॥

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥

‘अनुमन्त्रिता’ सा वधूः ‘गोत्रेण’ प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती ‘गुरुं’ पतिम् ‘अभिवादयते’ ॥१२॥

भा०—इस मन्त्र को पढ़ने वाली वधू ‘अमुक गोत्रा, अमुक नाम्नी मैं, तुम्हें अभिवादन करती हूँ’ वह कर पति के दोनों पैर पकड़ प्रणाम करे ॥१२॥

सोऽस्या वाग्विसर्गः ॥ १३ ॥

‘सः’ कालः ‘अस्याः’ वधूवाः ‘वाग्विसर्गः’ नियमित वाक्प्रयोग—नियम विसर्जनस्येति ॥१३॥

भा०—यहां तक वधू नियमित वाक्य (आवश्यकतानुसार बोले) रह कर इस के बाद वह नियम त्याग कर अपनी इच्छानुसार बोल सकता है ॥१३॥

तादुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥१४॥

‘तत्प्रभृति’ विवाहक्रमारम्भदिनतः ‘त्रिरात्रं’ त्रीण्यहोरात्राणि ‘तादुभौ’ दम्पती ‘अक्षारलवणाशिनौ’ क्षारलवणातिरिक्तभोजिनौ हविष्याशिनाविति यावत् ‘सह’ सहैव तिष्ठन्तावपि ‘ब्रह्मचारिणौ’ सङ्गमशून्यौ ‘भूमौ’ पथ्यङ्गादि वर्जितशय्यायाम् ‘शयीयाताम्’ ॥१४॥

भा०—जिस दिन पहिले विवाह कार्य में प्रवृत्त हो, उस दिन तक पति

और पत्नी दोनों ही क्षार लवण को जोड़, हविष्य भोजन करे, किन्तु ब्रह्मवय नष्ट न हो, * और भूमि में शयन करे ॥ १४ ॥

(अत्रार्घ्यमित्याहुरागतेष्वित्येके) ॥ १५ । १६ ॥

‘अत्र’ तिसूषु रात्रिषु यस्मिन् कस्मिन्नपि काले यथावसरं कन्यापित्रा वराय (अर्घ्यं) अर्हणीयवस्तुजातं सधुपर्कदिकम् प्रदातव्यम् ‘इत्याहुः’ प्राचीना-चार्याः (१५) । ‘आगतेषु’ वराद्यर्चनीयजनेषु तस्मिन्नेव काले अर्घ्येषु एव अर्घ्यदानं कर्तव्यम् ‘इत्येके’ नव्याः (१६) ॥ १५. १६ अनयोर्भोजननियमोव्यवस्थाप्यते,—

भा०—इस तीन दिनों में जिस किसी दिन में जिस किसी समय हो, कन्या का पिता अपने अवसरानुसार वर की ‘सधुपर्क’ आदि वस्तुओं से पूजा करे, यही प्राचीन मत है । किन्तु किसी २ का मत है कि जिन लोगों की पूजा करनी हो उनके आने के समय ही करे। इसी को ‘अर्घ्यदान’ कहते हैं ॥ १५।१६॥

हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीत श्वोभूते वा सम-
शनीयश्च स्थालीपाकं कुर्वीत तस्य देवता अग्निः प्रजाप-
तिर्विश्वेदेवा अनुमतिरित्युद्धृत्य स्थालीपाकं व्यूह्यैकदेशं
पाणिनाभिमृशेदन्नपाशेन मणिनेति भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै
प्रदाय यथार्थम् ॥ १७-२१ ॥

‘हविष्यं’ क्षारादिवर्जितम् ‘अन्नम्’ ‘प्रथमं’ पत्नीभोजनान् पूर्वं ‘परिजपि-
तं’ वक्ष्यमाणप्रकारेण विधास्यमाननन्त्रेण च (२० न०) ‘भुञ्जीत’ पतिः (१७)
‘वा, अथवा ‘श्वोभूते’ तत्परदिने ‘समशनीयं’ मन्थगन्भोजनयोग्यं ‘स्थालीपाकं’
स्थाल्यां पक्कमन्नं ‘कुर्वीत’ (१८) । ‘तस्य’ अन्नस्य भोजनाय ‘अग्निः प्रजापतिः
विश्वेदेवाः अनुमतिः’—‘इति’ इमाः चतस्रो देवताः स्तुत्याः (१९) । ‘स्थाली-
पाकम्’ ‘उद्धृत्य’ पाकस्थानात् ‘एकदेशं’ तदीयं किञ्चिदंशं स्वभोजनयोग्यं
‘व्यूह्य’ पात्रान्तरे निक्षिप्य अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृथिनिना । वध्नामि
सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते ॥ ८ ॥ यदेतद्दुदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदिदं
हृदयं मम तदस्तु तव ॥९॥ अन्नं प्राणस्य पङ्क्त्वश्नस्तेन वध्नामि स्वासौ” ॥१०॥
न० ब्रा० १, ३, ८-१० ‘इति’ इमान्मन्त्रान् पठन् ‘पाणिना’ ‘अभिमृशेत्’

* कभी जिस कन्या का राजः प्रकाश न हुआ हो ऐसी कन्या गोभिलाचार्य के मत में एव अन्योन्य सूत्रकार एवं स्मृतिकारों के मत से भी सम्भोग योग्या नहीं, और इस स्थान में आचार्य ब्रह्मचर्य नष्ट होने के डर से तीन रात में भी सम्भोग निषेध यत्नते हैं । तो इस से भी स्पष्ट प्रकाशन होता है कि राजरत्ना होने ही पर कन्या विवाह योग्य अक्षम होती है अन्यथा नहीं ॥

परिवेशयेत् (२०) । ' भुक्त्वा ' स्वभोजनानन्तरम् ' उच्छिष्टं ' तत् ' वध्वै ' तस्यै ' प्रदाय ' यथार्थं यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (२१) ॥ १७-२१ ॥

भा०:-अथ आये हुए नये पति एवं भार्या के भोजन की व्यवस्था कही जाती है ।-पहिला दिन तो ' अर्घ्या ' के आस्वादन में उन की तृप्ति हो सकती, दूसरे दिन वधू अरुन्धती नक्षत्र के देखने पर्यन्त व्याकुल रहेगी, विशेषतः मार्ग में दूसरे के घर पर ऐसी व्याकुलता में पाक की सामग्री होनी भी कठिन होगी; यदि हो तो उसी दिन, अन्यथा, उस के दूसरे दिन प्रभाल होने ही से, अपना अच्छे प्रकार भोजन योग्य पाक प्रस्तुत करे । पाक प्रस्तुत होने पर, अग्नि, प्रजापति, विश्वेदेवा, और अनुमति देवता क्रम से आराध्य होंगी । उस के अनन्तर अपने खाने योग्य दूसरे पात्र में ढाल कर ' अन्न पाशेन मणिना ' इस मन्त्र को पढ़ कर ' परिवेशन ' कर भोजन करे । पीछे खाने पर वध्वे अन्न वधू को देकर स्वयं यथेच्छ विचरण करे ॥ १७-२१ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २२ ॥ ३

अस्य कर्मणः ' दक्षिणा ' गौः एकेति ॥ २२ ॥ ३

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्य व्याख्यानसमाप्तम् ॥ २, ३

भा०:-इस विवाह कार्य में दक्षिणा एक गौ देवे ॥ २२ ॥

गोभिलगृह्य सूत्र के द्वितीय अध्याय के तीसरे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २, ३ ॥

—:०:—

यानमारोहन्त्यां सुकिं शुक्रं शाल्मलिमित्येतामृचं जपेत् ॥ १

' यानं ' रथादिकम् ' आरोहन्त्यां ' तस्यां वध्वा सुकिं शुक्रं शाल्मलिं विश्वरूपं सुवर्णवर्णं सुकृतं सुचक्रम् । आरोह सूर्यं अमृतस्य नाभिं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १, ३, ११)—' इत्येताम् ऋचं ' जपेत् ' पतिरिति शेषः । १

भा०:-पति के घर जाने के लिये वधू को रथ आदि सवारी पर बिठलावे एवं वधू के चढ़ते समय पति ' सुकिं शुक्रं शाल्मलिं ' यह मन्त्र पढ़े ॥ १ ॥

अध्वनि चतुष्पथान् प्रतिमन्त्रयेत् नदीश्च विषमाणि च महावृक्षाज्छमाशानञ्च मा विदन् परिपन्थिन इति ॥ २ ॥

' अध्वनि ' पथि ' चतुष्पथान्, नदीश्च ' विषमाणि च ' सङ्कटस्थानानि च, ' महावृक्षान् शमशानं च ' प्राप्य " मा विदन् परिपन्थिनो या आसीदन्ति दम्पती सुगैभिर्दुर्गमसीता मपद्रान्त्वरतयः " ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १२),—' इति

इत्तं मन्त्रं पठन् 'प्रति' प्रतिधारं यदा यदा उपतिष्ठेत तदा तदैव 'मन्त्रयेत'
समनमीश्वरचिन्तनं कुर्यात् ॥ २

भा०:-मार्ग में चौराहा नदी, या किसी प्रकार का सड़ूट स्थान, बड़ा वृक्ष,
और प्रसन्नान, जब २ मिले तब २ 'मा विदन् परिपन्थिनो' इस मन्त्र को पढ़ते
हए ईश्वर का चिन्तन करे ॥ २ ॥

अक्षभङ्गे नहुविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यासु चापत्सु,
यमेवाग्निं हरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वान्यद्रव्य
माहृत्य यस्मृतेचिदभिश्चिपइत्याज्यशेषेणाभ्यञ्जेत् ॥ ३

'अक्षभङ्गे' रथचक्रे भग्ने, 'नहुविमोक्षे' नहुतात् प्रच्युतेऽश्वादी 'यानविप-
र्यासे' वाहनदौरात्म्येन रथस्य पश्चात् पार्श्वयोर्वा गमने सति, 'च' अपि
'अन्यासु आपत्सु' समापतितासु किंकर्तव्यमित्याह:-तदा 'यमेवाग्निं' लौकिकम-
लौकिकं (१, १, १५-१९ सू०) वा 'हरन्ति' आहरन्ति विपत्पातदर्शनसञ्ज्ञातादयः
स्वजनाः पान्थास्तद्ग्राम्या वा 'तमेव, अग्निम् 'उप' समीपे 'समाधाय'
सम्यक् प्रज्वाल्य तत्रैवाग्नौ 'व्याहृतिभिः' तिसृभिः आज्यतन्त्रेण 'हुत्वा' ततः
'अन्यद्रव्यं' अन्यच्चक्रादिकं यानान्तरं वा 'आहृत्य' समीपतो यथालभ्यं संगृह्य
'यस्मृतेचिदभिश्चिपे' (सा० ४० आ० ३, २, १, २) '-इति' ऋङ्मूलकं साम (गे०
गा० ६, २, २२) गायन् [अनादिष्टपरिभाषयात्र साम्न एव बोधः सूत्रे ऋगा-
दिपदानुस्रेखात्] 'आज्यशेषेण' हुतावशिष्टेनाज्येन तं चक्रादिकं यथास्थानं
'अभ्यञ्जेत्' चक्षयेत् ॥ ३ ॥

भा०:-यदि मार्ग में रथ का पहिया टूट जावे, या रथ हांकने वाला रथ
से गिर जावे, या मार्ग से भिन्न, या पीछे रथ को गिरा देवे, तो इस से अशुभ
होने का सन्देह करके, इस दोष की शान्ति के लिये उसी स्थान में अग्नि
स्थापन कर तीन महाव्याहृति का पाठ कर आहुति देवे। यह अग्नि पूर्वोक्त
विधानानुसार (प्र० १ खं० १ सू० १५-१९) संगृहीत करने से अच्छा होगा।
यदि किसी कारण ऐसा न हो, तो चाहे जिस प्रकार का हो, क्षति नहीं।
पीछे पहिया, या दूसरी सवारी मिलने पर 'य अस्मृतेचिदभिश्चिपे' (सा० ४०
आ० ३, २, १, २) 'ऋङ्मूलकसाम' (गे० गा० ६, २, २२) गान करके होमावशिष्ट
घृत, उस चक्रादिक के उचित स्थान में लगा देवे ॥ ३ ॥

वामदेव्यं गीत्वाऽऽरोहेत् प्राप्तेषु वामदेव्यम् ॥ ४, ५ ॥

ततः वामदेव्यं वामदेव्यनामकं साम 'गीत्वा' 'आरोहेत्' पुनरपि रथादि यानं, पतिः वधूसहितः (४) । 'प्राप्तेषु' स्वगृहेषु पुनरपि 'वामदेव्यं' गायेदिति शेषः ॥ ४.५ ॥

भा०—सवारी के दोष दूर होने और दूसरी सवारी आ जाने पर । उस में वधू सहित पति के उठते समय 'वामदेव्य सामगान' करे और पीछे अपने २ घर आने पर सवारी से उतरते समय भी 'वामदेव्य' गान करे ॥ ४. ५ ॥

गृहगतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरो प्यानडुहे चर्मण्युपवेशयन्तीह गावः प्रजायध्वमिति तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युस्तस्मै शकलोटानञ्जलावावपेयुः फलानि वा ॥ ६-९ ॥

ततः 'गृहगतां' पतिभवनद्वारोपनीयां तां वधू 'पतिपुत्र-शीलसम्पन्नाः' 'ब्राह्मण्यः' तस्मात् यानात् 'अवरोप्य' अवतार्य 'आनडुहे चर्मणि' पातितगोच- र्मोपरि "इह गावः प्रजायध्वमिहाश्व इह पूरुषः । इहो सहस्र दक्षिणोपि पूषा निषीदतु" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० १. ३. १३) — 'इति' मन्त्रं पठन्त्याः ता एव तां तत्र 'उपवेशयन्ति' (६) । तस्याः 'उपस्थे' क्रीडे ता एव ब्राह्मण्यः 'कुमारम्' यं कनपि 'आदध्युः' स्थापयेयुः (७) । 'तस्मै' कुमाराय क्रीडार्थं 'शकलोटान्' कर्दमनिर्मितसुपक्वगोलकान् क्रीडनकान् 'अञ्जलौ' 'आवपेयुः' प्रदद्युः (८) । 'वा' अथवा 'फलानि' आम्नादीनि आवपेयुरित्येव (९) ॥ ६-९ ॥

भा०—इस के बाद पति के घर के द्वार पर लायी हुई उस वधू को, पति पुत्र वाली और शील सम्पन्ना ब्राह्मणी गण, सवारी में उतार कर 'इह गावः प्रजायध्वं' इस मन्त्र को पढ़ कर बिछाए हुए गो-चर्म के ऊपर उसे बिठलावे । ६ । उस वधू के गोद में उन्हीं ब्राह्मणी गण में से, कोई एक हो, एक लड़के को अर्पण करे । ७ । और उस बालक की अञ्जलि में कई एक मही का बना सुन्दर अग्निपक्व (गेन्द के समान) खेलने के लिये देवे । ८ । या खाने के लिये आम्र आदि मधुर फल भी दे सकते हैं । ९ । ६-९ ॥

उत्थाप्य कुमारं ध्रुवा आज्याहुतीर्जुहोत्यष्टाविहधृतिरिति ॥ १० ॥

ततश्च तस्याः उत्सङ्गतः 'कुमारं' पूर्वदत्तम् 'उत्थाप्य' 'ध्रुवाः' ध्रुवनामतः प्रसिद्धाः 'अष्टौ' सङ्ख्याकाः 'आज्याहुतीः' आज्यतन्त्रेण आहुतीः "इह धृति रिह स्वधृतिरिह रन्ति रिह रमस्व मयि धृतिर्मयि स्वधृतिर्मयि रमो मयि रमस्व ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १. ६. १. ४)" — 'इति' एतत्प्रभृतिभिरष्टाभिर्यजुभिः यथाक्रमतः जुहोति जुहुयात् पतिः ॥ १० ॥

भा०-पश्चात्, पति उस वधू के नौद में दिये हुए बालक को उठा कर 'इहृति' प्रभृति आठ यजुर्वेद के मन्त्रद्वारा ध्रुव नाम से प्रसिद्ध आठ आहुति, आग्नेय तन्त्र से प्रदान करे ॥ १० ॥

समाप्तासु समिधमाधाय यथावयसं गुरुन् गोत्रेणाभि- वाद्य यथार्थम् ॥ ११ ॥ ४

'समाप्तासु' ध्रुवाहुतिषु 'समिधम्' तन्नाम्री अमन्त्रकमेव 'आधाय' प्रदाय 'यथावयसं' वयोऽनुसारेणोत्तरोत्तरं गुरुन् मान्यान् तत्रोपस्थितान् 'गोत्रेषां' गो-
त्रोच्चारणपूर्वकम् 'अभिवाद्य' पादग्रहणेन प्रणम्य 'यथार्थम्' स्वप्रयोजनानुसारतो-
विहरेत् ११ । ४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डम्यध्याख्यानंसमाप्तम् ॥ २४

भा०-उक्त ध्रुवाहुति पूरी होने पर, उसी अग्नि में बिना मन्त्र पढ़े एक समिधा डालकर पश्चात् उस स्थान में उपस्थित गुरु गण (मान्य लोगों) के वयसानुसार अर्थात् बड़ी उमर वाले पहिले, पीछे छोटी उमर वाले को इस क्रमसे चैर पकड़ कर अभिवादन करे और साथ २ अपना गोत्रभी कहता जावे ॥ ११ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रकेद्वितीयअध्यायकेचतुर्थखण्डकाभाषानुवादपूरादुःशा २, ४ ।

—:२:—

अथातश्चतुर्थीकर्म ॥ १ ॥

'अथ' अनन्तरम्, 'अतः' इतन्नाम्य 'चतुर्थीकर्म' विवाहरात्रितः चतुर्थी तिथौ करणीयम् वच्मीति शेषः ॥ १ ॥

भा०-इसी प्रकार विवाह की रात्रि से तीन रात्रि धीतने पर चतुर्थे दिन में जो २ कार्य करने होंगे उन्हीं का वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोत्यग्ने प्राय-
श्चित्स इति चतुरग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्याः समस्य पञ्चमीं
बहुवदूह्याहुतेराहुतेः सुवसम्पातमुदपात्रेऽवनयेत्तेनैनाथ्सक्रे-
शनखामभ्यज्य हासयित्वा प्लावयन्ति ॥ २-६ ॥

'अग्निम्' 'उपसमाधाय' "अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि
ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मी स्तामस्या अपजहि ॥ १ ॥
वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावा-
मि यास्या पतिध्री तनूस्ता मस्या अपजहि ॥ २ ॥ चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां
प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुन्यातनूस्ता मस्या

अपजहि ॥ ३ ॥ सूर्यं प्रायश्चित्ते एवं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाच-
काम उपधावानि यास्या अवशय्यातनूस्ता मस्या अपजहि ॥ ४ ॥ अग्निवायु
चन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्य ब्राह्मणो वो नाचकाम
उपधावानि यास्याः पापी लक्ष्मीर्या पतिप्री या पुत्र्या या पाशव्या ता अस्या
अपहृत ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, ४ १)—‘इति’ एभिर्मन्त्रैः पतिः ‘चतुः’ सङ्ख्याः
प्रायश्चित्ताहुतीः प्रायश्चित्ताय वधूपापप्रशमनाय आज्यतन्त्रेण आहुतीः ‘जुहो-
ति’ जुहुयात् (२) । तत्र च द्वितीयादिषु तिसृष्वहोतिषु ‘अग्ने’—इति पदस्य
स्थाने क्रमेण ‘वायुचन्द्रसूर्याः’ ऊच्याः (३) । किञ्च ‘पञ्चमीम्’ ‘समस्य’ सर्वस्य
आहुतीम् अग्न्यादिपदचतुष्टयस्य मेलनेन ‘अग्निवायुचन्द्रसूर्याः’—इत्येवं सम्बुध्य
अपिच ‘बहुवद् ऊच्य’ एकवचनस्थाने बहुवचनप्रयोगेण मन्त्रपाठं विपरिणम-
य जुहुयादित्येव (४) । ‘आहुतेराहुतेः’ प्रत्याहुतेरेव ‘स्रुवसम्पातं’ अवशिष्ट
घृतधाराम् ‘उदपात्रे’ चमसे ‘अवनयेत्’ स्थापयेत् (५) । ‘तेन’ रक्षितसम्पात-
समुदायेन ‘एनां’ वधू ‘सकेशनखां’ आपादमस्तकां सर्वतएव ‘अभ्यज्य’ म्रक्षयि-
त्वा ‘ह्रासयित्वा’ यानागमनादिजनितक्लेशान् शरीरं व्यघारूपान् लाघवयित्वा
‘आह्लावयन्ति, प्रघाहादिषु सन्तरकादिना स्थापयेयुः सख्यादयः स्वजना
इति यावत् (६ ॥ २-६ चतुर्थीरात्रिकर्तव्यं गर्भाधानमाहः—

भा०—पति, पत्नीके पूर्वकृत पाप के प्रायश्चित्त के लिये अग्नि स्थापन कर
‘अग्नेप्रायश्चित्ते’ इन मन्त्रों द्वारा आज्य तन्त्र से चार आहुति देवे (२) उनमें
से द्वितीय आदि आहुति में इस मन्त्रस्थ अग्नि के बदले ‘वायु’ ‘चन्द्र’
और ‘सूर्य’ पढ़ना चाहिये, यही इसमें विशेषता है । ३। और पांचवी आहुति में
‘अग्नि’, ‘वायु’, ‘चन्द्र’ और ‘सूर्य’ इन्हीं चार देवताओं को एककाल में सम्बो-
धन करे, सुतरां मन्त्रस्थ जितने एक वचन हैं, उन सब को बहु वचन करके
पढ़े । ४ । इन पांच प्रायश्चित्त आहुति की प्रत्येक आहुति के अन्त में
घृत के धारस्वापात क्रमसे चम से में रक्षित रखे । ५। इस रक्षित आज्य के द्वारा
उस वधू के पैर से मस्तक तक सर्वाङ्ग में अच्छे प्रकार लगा देवे, उस से मार्ग
की थकावट दूर होगी, पीछे सखी आदि मिल कर नदी आदि की धारा में
तिरने रूप जल क्रीड़ा आदि करके नई बहू को स्नान करावे ॥ ६ ॥ २-६ ॥
इस के अनन्तर चतुर्थी रात्रि में कर्त्तव्य गर्भाधान की व्यवस्था कही जाती है ॥

ऊर्द्धं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके यदर्तुमती भवत्युपरतशो-

णिता तदा सम्भवकालः ॥ ७, ८ ॥

‘ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्प्रदानरात्रितः त्रिरात्रेऽतीते ‘सम्भवः’ सम्भवति गर्भाऽस्मादिति सम्भवः सङ्गमः ‘इति’ एवम् ‘एके’ केचिदाचार्याः आहुः । एवञ्च विवाहात् प्राग् दृष्टरजस्काया ऋतुमत्या नवोढायाः पतिगृहे आद्यर्तुप्रकाश-मनपेक्षयैव तस्यां चतुर्थ्या मेव रात्रौ गर्भाधानाय सङ्गमः कार्यः इत्येव केषाञ्चि-दाचार्याणां मतम् (७) गोभिलस्य स्वमते तु,—नवोढा पत्नी पतिगृहं समागत्य ‘यदा’ पुनः ‘ऋतुमती’ सती ‘उपरत-शोक्षिता’ शोक्षितवेगप्रवाहशून्या ‘भवति’ भवेत् ‘तदा’ तस्मिन्नेव पतिगृहागताद्यर्तुकाले सम्भवकालः * (८) ॥ इति गतं चतुर्थीकर्म, समाप्तञ्च विवाहप्रकरणम्, निर्णीतश्चाद्यगर्भाधानकालः ॥ ७, ८ गर्भाधानप्रकारमाहः—

भा०:—‘सम्प्रादन रात्रि से तीन रात्रि ब्रह्मचर्य में व्यतीत कर’ उस के अनन्तर चतुर्थ रात्रि में स्त्री प्रसङ्ग करे—यही कई एक आचार्यों का मत है । इस से उन लोगों के मत में विवाह के पूर्व ही दृष्ट रजस्का, ऋतुमती नवोढा के गर्भाधान पक्ष में, पुनः पति के घर में ऋतु-प्रकाश की अपेक्षा नहीं ॥ ७ ॥ किन्तु गोमिलाचार्य का यह स्वकीय मत नहीं है; इन के मत से नवोढा पत्नी, तपि के घर पर आने से पुनः ऋतुमती होने पर जिस समय उस का शोक्षित वेग (मासिकधर्म) न्यून होगा, वही पति के घर पर प्रकाशित आद्य ऋतु प्रथम सङ्गम काल होगा ॥७८॥ चतुर्थी कर्म शेष हुआ और विवाह प्रकरण भी पूरा हुआ ॥

दक्षिणेन पाणिनोपस्थमभिमृशेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्ये-
तयर्च्चागर्भन्धेहिसिनीवालीतिचसमाप्यर्च्चासम्भवतः ॥९, १०॥ ५

प्रथमतः पतिः “विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पित्रंशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते” ॥६॥ (मं० ब्रा० १ । ४ । ६) ‘इत्येतयर्च्चा’, “गर्भन्धे हिसिनीवालि गर्भन्धेहि सरस्वति । गर्भन्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ” ॥७॥ (म० ब्रा० १, ४, ७)—(म० ब्रा० १, ४७)—‘इति च मन्त्राभ्यां स्वकीयेन ‘दक्षिणेन हस्तेन’ उपस्थं’ पत्न्याः प्रजननदेशम् ‘अभिमृशेत्’ (९) । ‘ऋचौ’ पूर्वोक्ते ‘समाप्य’ पाठेन मननेन अभिमर्शनफलदर्शनेन च ततः ‘सम्भवतः’ मिथः सङ्गमं कुरुतः दम्पतीति (१०) । गतं गर्भाधानम् ॥ ९, १० ॥ ५

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेपञ्चमखण्डस्यठयाख्यानंसमाप्तम् ॥२, ५

भा०:—पहिले पति, “विष्णुर्योनिं कल्पयतु” ऋक् एवं ‘गर्भन्धेहि सिनी-वालि’ ‘यह’ ऋक् पाठ कर पत्नी की योनि प्रदेश मार्जन करे । इन्हीं दो

* अतएव वक्ष्यति तृतीयं “मातुरसपिण्डानशिका तु भ्रष्टा;—इति दारकर्मणि अनशिकाया एव प्राशस्त्यम् । परिशिष्टे च “ऋतुमती त्वनशिका तां प्रयच्छेत्तवनशिकाम्;—इति स्फुटम् ॥

ऋचाओं का पठन, मनन और उस के साथ अभिमर्शन फल दर्शन होने पर दोनों सङ्गम करे * ॥ १० ॥

गोभिलगृहसूत्र के द्वितीय अध्याय के पांचमे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २, ५ ॥

—:०:—

तृतीयस्य गर्भमासस्यादिसदेशे पुंशसवनस्य कालः ॥१

‘गर्भमासस्य तृतीयस्य’ गर्भमाससम्बन्धितृतीयस्य मासस्य ‘आदिसदेशे’ आद्यर्दुस्य प्रथमपक्षस्येति यावत् सदेशे समीपे अष्टम्यभ्यन्तरे एव व्यवहारः ‘पुंसवनस्य’ संस्कारविशेषस्य ‘कालः’ ज्ञातव्यवृत्ति शेषः । १ पुंसवनप्रकारमाह:—

भा०:—जिस मास में गर्भाधान हो, उस मास से तीसरे मास के आदि पक्ष के निकट ही अर्थात् अष्टमीके भीतर पुंसवन नामक संस्कार काल जानो ॥१॥

**प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु
प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना
दक्षिणमथ्समन्ववमृश्यान्तर्हितं नाभिदेशमभिमृशेत्
पुमाथ्सौ मित्रावरुणावित्येतयर्च्यथ यथार्थम् ॥२-४॥**

‘प्रातः’ समये ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उपनीता बधूः ‘सशिरस्का आप्लुता’ शिरः प्रभृतिसर्वाङ्गजलसिक्ता स्नाता सती ‘अग्नेः’ ‘पश्चात्’ पश्चिमस्यां दिशि तथैव ‘प्रागग्रेषु’ दर्भेषु पातितेषु उपरि ‘प्राची’ प्राङ्मुखी पुरतोऽग्निं कृत्विति फलितम् ‘उपविशति’ उपविशेत् (२) । ततः पश्चात् ‘पतिः’ अवस्थाय तां बधूं कोट्टी कृत्विति यावत्, ‘दक्षिणेन पाणिना’ तस्याएव बध्वाः ‘दक्षिणम् असम्’ ‘अन्ववमृश्य’ किञ्चिदुत्तानायथास्यात्तथा पश्चादाकृष्य “पुमाथ्सौ मित्रावरुणौ पुमाथ्सौ वा-
िश्वनावुभौ । पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे” ॥८॥ (म०ब्रा० १.४.८) —‘इति एतया ऋचा’ स्मर्तव्यं देव संस्मरन् तस्याएव ‘नाभिदेशम्’ ‘अनन्तर्हितं’ बध्वा-
द्यावरणशून्यं प्रकृत्य ‘अभिमृशेत्’ विशेषेण स्पृशेत्, विशेषेण सव्येनैव हस्तेनेति गम्यते (३) । अथ तदनन्तरं ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेत् सः (४) ॥ २-४ ॥

भा०:—प्रातःकाल उत्तराय कुशसन पर उस तीन मास की गर्भवती बधू की बैठाने एवं मस्तक आदि सर्व शरीर जल में आप्लुत कर अग्नि के पश्चिम ओर डाले हुए उत्तराय कुश के आसन पर बैठावे, और उस के पीठ की

* यह गर्भाधान संस्कार आश्वलायन, आपस्तम्ब, कात्यायन प्रभृति गृहसूत्र कारों के मत से ऋतु मती कन्या के विवाह के पीछे चौथी रात्रि में भी हो सकता है । परन्तु गोभिलाचार्य के मत से वैसा कन्या के विवाह के पीछे पति के घर फिर रजोदर्शन होने पर, उसी आद्य ऋतु अर्निषद्ध काल में कर्त्तव्य है । गर्भ ग्रहण काल मालूम हो जाने पर प्रतिगर्भ के आधान काल में यह संस्कार करे, अन्ततः पति के घर पहिले रजोदर्शन में तो अवश्य करे ।

और अर्थात् उस की गोद में लेकर पति भी बैठे । उस के अनन्तर दहिने हाथ से वधू के दक्षिण कंधा अपने गोद की ओर कुछ ऊपर की खींचकर रखे, और बायें हाथ से उस के कंधनी की खोल कर उस के नाभि प्रदेश को अच्छे प्रकार स्पर्श करे और छूते समय 'पुमां सौ मित्रा वरुणौ, इस ऋद्धन्मन्त्र से स्मरणीय देवताका स्मरण करे । उसके बाद स्वेच्छया बिछरो॥२-४॥

अथापरम् ॥ ५

‘अथ’ तत्कार्यानन्तरम् ‘अपरम्’ अपि एकमस्ति कार्यं पुंसवनस्येति । तदपि पूर्वोक्तकालाभ्यन्तरे [सू० १] एव कर्त्तव्यं परं यस्मिन् दिने नाभिमर्शनं कृतं तस्मिन्नेव, तत्परदिने, तत्पर परदिने वंति नायं नियमः । ५। किन्तु-दपरं कार्यमिति स्फुटयति,—

भा०:—इस नाभिमर्शन काय्य के पीछे पुंसवन संस्कार करने में एक काय्य होता है वह भी पूर्वोक्त ही कालमें होगा । (सू० १) किन्तु जिस दिन नाभि-मर्शन हो उसी दिन, या उस के दूसरे तीसरे दिन करे इस का नियम नहीं ॥ ५ ॥

प्रागुदीच्यां दिशि न्यग्रोधशुङ्गामुभयतः फलामस्तामा-
मकृमिपरिसृष्ट्वा त्रिःसप्तैर्यवैर्मापैर्त्वा परिक्रीयात्थापयेद्य-
द्यसि सौमो सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वारुणी
वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्य-
स्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि
यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि विश्वे-
भ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा परिक्रीणाम्योषधयः सुम-
नसो भूत्वाऽस्यां वीर्यं समाधत्तेयं कर्म करिष्यतीत्युत्थाप्य
तृणैः पारिधायाहृत्य वैहायसीं निदध्याद्दृपदं प्रक्षाल्य ब्रह्मचारी
व्रतवती वा ब्रह्मवन्धूः कुमारी वाऽप्रत्या हरन्ती पिनाष्टि प्रातः
सशिरस्काऽऽप्लुनोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्ने रुदगग्रेषु दर्भेषु
प्राक्शिराः संविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणे-
रङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य दक्षिणे
नासिकास्रोतस्य वनयेत् पुमानग्निः पुमानिन्द्र इत्येतयञ्चार्थ
यथार्थम् ॥ ६-१२ ॥ ६

‘प्रागुदीर्यां’ ऐशान्यां दिशि सञ्जातां ‘न्यग्रोधशुक्लां’ न्यग्रोधस्य वटस्य शुक्लां
 अस्फुटितपत्रमिति यावत् ‘त्रिः सप्तैः यवैर्माषैर्वा’ एकविंशतिमाषान् एकविंशति-
 यवान् वा वृक्षस्थामिने मूल्यं दत्त्वा तत्सकाशात् ‘परिक्रीय’ ‘उत्थापयेत्’ । शुक्लां
 विशिनष्टि—‘उभयतः फलाम्’ यस्या उभयोः पार्श्वयोरेव फले विद्येते तादृशीं;
 किञ्च ‘अस्तामाम्’ अस्तानाम्, किञ्च ‘अकृमिपरिसृप्तां’ कृमिभिः पत्रकीटैः परि-
 सृप्ता परिव्याप्ता, अतादृशीम् (६) । तत्परिक्रयणमन्त्राः सप्त । तानाहः—हे
 शुक्ले ! त्वं यदि ‘सौमी’ सोमदेवतायाः प्रिया ‘असि’ तर्हि ‘सोमाय राज्ञे’ सोम-
 राजप्रीत्यर्थमेव ‘त्वा’ त्वां ‘परिक्रीणामि’ १ । त्वं ‘यदि’ ‘वारुणी’ वरुणदेव-
 तायाः प्रिया ‘असि’ तर्हि तस्मै ‘वरुणाय राज्ञे’ एव ‘त्वा’ परिक्रीणामि २ ।
 त्वं ‘यदि’ ‘वसुभ्यः’ वस्वष्टकानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘वसुभ्यः’ एव
 ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ३ । त्वं ‘यदि’ ‘रुद्रेभ्यः’ रुद्राणामेकादशानां प्रीत्यर्थमेवो-
 त्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘रुद्रेभ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ४ । त्वं ‘यदि’ ‘आदित्येभ्यः’
 द्वादशादित्यानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘आदित्येभ्यः’ एव ‘त्वा’
 ‘परिक्रीणामि’ ५ । त्वं ‘यदि’ ‘मरुद्भ्यः’ एकोनपञ्चाशतां मरुतां प्रीत्यर्थमेवोत्प-
 न्ना ‘असि’ तर्हि ‘मरुद्भ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ६ । ‘यदि’ ‘विश्वेभ्यो देवेभ्यः’
 सर्वदेवप्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘विश्वेभ्यो देवेभ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परि-
 क्रीणामि’ ७ । इति सप्त परिक्रयणमन्त्राः (७) । अथोत्थापनमन्त्रः ;—हे
 ‘ओषधयः’ ! यूयं ‘सुमनसः’ प्रसन्नाः सन्तः ‘अस्यां’ वध्वां ‘वीर्यं समाधत्त’ वीर्यस-
 माधानं कुरुत, किन्निमित्तमित्याह—‘इयं’ वधूः ‘कर्म’ गर्भप्रसवनं ‘करिष्यति’
 ततएव वीर्यस्य प्रयोजनम्; ‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘उत्थाप्य’ ताः ‘तृणैः’ यथा-
 लभ्यैः ‘परिधाय’ वेष्टयित्वा ‘वैहायसीं’ आकाशसम्बन्धिनीं लतानमरवेलेति
 प्रसिद्धाम् ‘आहृत्य’ तदुपरि ‘निदध्यात्’ स्थापयेत् (८) । ततश्च ‘दृषद्’
 शिलापट्टकं ‘प्रक्षाल्य’ अपरवस्तुकणासंसर्गं यथा न स्यात् प्रक्षालनेनैवं विधाय तत्र
 ‘ब्रह्मचारी’ ऋतावन्यत्र स्वभार्यायामपि यो न सङ्गच्छते सः, ‘व्रतवती वा’
 पातिव्रत्यं व्रतं यया पाल्यते विशेषेण सा, ‘ब्रह्मचर्यधूः’ ब्राह्मणजातीया ‘कुमा-
 री वा’ अनूढा ब्राह्मणकन्येति यावत् ‘अप्रत्याहरन्ती’ प्रत्याहारस्यागस्तमकु-
 वन्ती अविक्रमसेनैव ऋटित्येवेति यावत् अन्यथा वाग्वादियोगात् ओषधिवीर्यं
 नष्टं स्यादेव ‘पिनष्टि’ पेषणं कुर्यात्, ताः शुक्लाः इत्यर्थादागतम् उपलेनेति च
 (९) । ततश्च ‘प्रातः’ उदगग्रेषु दर्भेषु उपस्थिता सा वधूः ‘सशिरस्का आप्लुता’
 सती, ‘अग्नेः’ पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ पातितेषु ‘प्राक्-
 शिराः’ पूर्वदिगगतमस्तका भवन्ती ‘संविशति’ संवेशनमर्दुशयनमिश्रोपवेशनं कुर्यात्

(१०) । ततः 'पश्चात्' पतिः 'अवस्थाय' 'दक्षिणस्य' पाशेः 'अङ्गुष्ठेन' 'उपक
निष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या' अङ्गुष्ठानामिकाभ्यामिति यावत् 'अभि'
अभितः सर्वतोव्याप्य 'संगृह्य' तत् पिष्टशुक्लारसं' तस्या वध्वाः 'दक्षिणे' 'नासि-
कास्त्रोतसि' नासिकारन्ध्रे 'अवनयेत्' अवक्षिपेत् आघ्रापयेद्वा; "पुमानग्निः
पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः। पुमांश्चं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्" ॥९॥
(म० ब्रा० १, ४, ९) - 'इति' एतया ऋचा' इष्टं संस्मरन्निति शेषः (११) । अथ
अनन्तरं 'यद्यार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (१२) ॥ गतमिदं पुंसवनकर्म ॥ ६-१२ ॥ ६
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्य षष्ठाध्यायानं समाप्तम् ॥ २, ६

भा०:-इशान कोण में जो कोई बड़ का वृक्ष हो, उस से शुक्ल,
वृक्ष के स्वामी को २१ यव, या २१ उड़द मूल्य देकर (खरीद कर) उसे तोड़े।
इस शुक्ल के दोनों ओर फल होना चाहिये, वह सूखा न हो और उस में
कीड़े लगे न हों । ६ । इस शुक्ल के मोल लेते समय ७ मन्त्रों का पाठ करे जैसे;
हे शुक्ले ! तुम यदि सोमदेवता का प्रिय हो, तो उस राजा की प्रीति के लिये
ही तुम को मोल लेता हूं । १ । तुम यदि राजा वरुण देवता का प्रिय
हो, तो उसी वरुण राजा के प्रीत्यर्थ तुम्हें मोल लेता हूं ॥२॥ तुम यदि आठो
वसु का प्रिय हो, तो उन्हीं वसुओं की प्रीति के लिये तुम्हें मोल लेता हूं
। ३ । यदि एकादश रुद्रगण का प्रिय हो, तो उन्हीं ग्यारह रुद्रों के प्रीत्यर्थ
तुम्हें मोल लेता हूं । ४ । 'यदि तुम वारह आदित्य गण के प्रिय हो,
तो उन्हीं वारह आदित्य गण की प्रीति के लिये तुम्हें मोल लेता हूं । ५ ।
'यदि तुम ४९ मरुद् गण का प्रिय हो, तो उन्हीं ४९ मरुद्गण की प्रीति के
लिये तुम्हें मोल लेता हूं ॥ ६ ॥ 'यदि तुम विश्वे देवा देवगण का प्रिय हो,
तो उन्हीं विश्वेदेवा गण की प्रीति के लिये तुम्हें मोल लेता हूं" ॥ ७ ॥ तत्प-
श्चात् इन मन्त्रों को पढ़ कर उस शुक्ल को वृक्ष से उखाड़, या तोड़ लेवे यह कह
कर कि हे औषधि गण ! तुक सब प्रसन्न होकर इस वधू में वीर्य साधन करो, जिसे
यह वधू कष्ट रहित होकर गर्भ प्रसव करे उस । उखाड़े हुए शुक्ल को तृण
से ढाक कर अमरवेल, या सूक्ष्म जटामांसी संग्रह कर इस की रक्षा करे
॥ ८ ॥ अनन्तर शिल (पेषणाधारशिला) को अच्छे प्रकार धोकर उस में
कोई ब्रह्मचारी (जो गृही ऋतु काल ही में अपनी भार्या के पास गमन
करता हो, ऐसे गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी कहते हैं) या कोई पति व्रता,
या ब्राह्मण वंश की कोई कुमारी, उसे अविश्राम हो पीसे । अर्थात् पीसते
समय ही औषधि का सब गन्ध हवा द्वारा खींच न जावे इस लिये शीघ्र पीस

लेवे । प्रातःकाल वधू उत्तराय कुशाओं पर बैठ कर माथे तक जल में गोता लगा स्नान कर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराय डाले हुए कुशासन पर पूर्व की ओर शिर कर आधा मोवे (जागता हुआ लेटा रहा) ॥१०॥ पति उस के पीछे रह कर अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुलि द्वारा पीसा हुआ शुक्ल लेकर उस के दहिने नाक के छिद्र में उस का रस डाले, या सूँघावे । उसी समय “पुमानग्निः पुमानिन्द्रः” इस मन्त्र का पाठ करते हुए पति अपने दृष्ट का स्मरण करे । (११) अनन्तर जहां इच्छा हो भ्रमण करे यही पुंसवन कर्म है ॥६-१२॥ ६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,६॥



अथ सीमन्तकरणम् ॥ १

‘अथ’ प्रकरणान्तरं द्योतयति । ‘सीमन्तकरणम्’ नाम कर्म, संस्कारविशेषः । तदधिकृत्य वक्ष्यमीति । १ । तस्य कालं विधत्ते:—

भा०:—अथ ‘सीमन्तोन्नयन’ नामक संस्कार का वर्णन किया जाता है ॥१॥

प्रथमगर्भे चतुर्थे मासि षष्ठेऽष्टमे वा ॥२॥

‘प्रथमे गर्भे’ एव हि संस्कारः प्रथमे एव गर्भे कार्यः न तु प्रतिगर्भम् । तत्र च ‘चतुर्थे षष्ठे अष्टमे वा मासि’ कुर्यादितितत्कालविधिः ॥२॥ तत्रैतिकर्तव्यतां विधत्ते

भा०:—यह सीमन्तोन्नयन संस्कार केवल प्रथम गर्भाधान समय कर्तव्य है इसे प्रति गर्भाधान में करना ठीक नहीं । इस का समय चौथा ‘छठा’ या आठवां मास है ॥ २ ॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदग-
ग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय युग्मन्तमौ-
दुम्बरं शलादुग्रथनमाबन्धाति अयमूज्जावतो वृक्ष इत्यथ
सीमन्तमूढध्वमुन्नयति भूरिति दर्भपिञ्जलीभिरेव प्रथमं भुव-
रिति द्वितीयं स्वरिति तृतीयमथ वीरतरेण येनादितेरित्ये-
तयर्च्चाऽथ पूर्णचात्रेण राकामहमित्येतयर्च्चा त्रिश्वेतया च
शलह्या यास्ते राके सुमतय इति कृसरः स्थालीपाक उत्तर-
घृत स्तमवेक्षयेत् किम्पश्यसोत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्
तं सा स्वयं भुञ्जीत वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्ग-
ल्याभिर्वाग् भिरुपासीरन् ॥ ३-१२ ॥

‘प्रातः’ पूर्वोक्त, ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उत्तराग्रीकृतपातितकुशासने उपविष्टा सती ‘सशिरस्का आप्लुता’ स्नाता भवती ‘अग्नेः पश्चात्’ उदगग्रेषु दर्भेषु ‘प्राची’ प्राङ्मुखी ‘उपविशति’ (३) । ‘पतिः’ तस्या वध्वाः ‘पश्चात्’ ‘अवस्थाप्य’ ‘युग्मन्तम्’ युग्मानि फलानि यस्मिन् तादृशम् ‘अदुम्बरम्’ उदुम्बरमुच्छं शलाटुग्रन्थम् शलाटुनामफलविशेषस्य स्तवकञ्च “अथ मूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव । पर्णं वनस्पतेऽनुत्थानुत्वा सूयताश्चरयिः” ॥१॥ (म० ब्रा० १, ५, १) इति इमं मन्त्रमुच्चरन् ‘आवध्नाति’ वध्वाः मस्तके कण्ठे बाहौ कट्यां नाभौ अश्रुले वेति न नियमः (४) । ‘अथ’ अनन्तरम् । ‘सीमन्तम्’ केशरचनाविशेषम् ‘ऊर्ध्वम्’ उन्नयति’ उन्नयेत् पतिरेव । तत्र ‘दर्भपिञ्जलीभिः’ शुष्कैः गर्भसारैश्च कुशसमूहैः ‘भूः’-‘इति’ मन्त्रेण ‘प्रथमम्’ उन्नयनम्; ‘भुवः’-‘इति’ मन्त्रेण ‘द्वितीयम्’ उन्नयनम्, ‘स्वः’-‘इति’ मन्त्रेण तृतीयम् उन्नयनम् (५) । ‘वीरतरेण’ शरत्तृणविशेषेण “येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि” ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ५, २)-‘इत्येतया ऋचा’ च सीमन्तमूर्ध्वमुन्नयति पतिः (६) । ‘अथ’ तदनन्तरम् “राकासहस्रं सुहवां सुष्टुतीहुवे शृणुत नः सुभगा बोधतु आत्मना । सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरस्रं शतदायुमुख्यम्” ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ३)-‘इत्येतया ऋचा’ ‘पूर्णचात्रेण’ सूत्रपूर्णतर्कुणा सीमन्तोन्नयनम् (७) । ‘च’ किञ्च “यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वमूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्र पोषस्रं सुभगे रराणा” ॥४॥ (म० ब्रा० १, ५, ४)-‘इति’ मन्त्रं पठन् पतिः ‘त्रिश्वेतया’ त्रिषुस्थानेषु श्वेतवर्णया ‘शलसया’ शल्लकी-कण्टकेन सीमन्तमूर्ध्वमुन्नयेत् (८) । ततश्च ‘स्थालीपाकः’ स्थाल्यां पक्कः ‘उत्तरघृतः’ पाकान्ते घृतमिश्रितः ‘कृसरः’ तिलतण्डुलममूहः ‘कृसरः’ इति कृसरलक्षणम्; ‘तम्’ तादृशं कृसरम् ‘अवन्नयेत्’ दर्शयेत् पत्नी पतिरिति (९) । यदा सा तं पश्यति, तदैव पतिः पृच्छेत् किम् पश्यामि ?-इति ‘उक्ता’ पतिनैवं पृष्टा सा, “(किं पश्यासि ?)-प्रजां पशून्तसीभाग्यं मत्स्यं दीर्घायुष्वं पत्युः” ॥५॥ (म० ब्रा० १, ५, ५)-‘इति’ इमं मन्त्रं ‘वाचयेत्’ पत्नी पतिः (१०) । ‘तं’ कृसरं ‘सा’ वधूः ‘स्वयं भुञ्जीत’ (११) । तस्मिन्नेव भोजनकाले ‘ब्राह्मणयः’ ‘वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नी’-‘इति’ एवमादिभिः ‘मङ्गल्याभिर्गीभिः’ आशीर्वाक्यैः ‘उपासीरन्’ ईश्वरमिति शेषः (१२) । इति सीमन्तोन्नयनम् । ३-१२ ॥

भा०-अथ सीमन्तोन्नयन संस्कार का विधि कहा जाता है, प्रातःकाल उत्तराय विद्याये हुए कुश के आसन पर वधू को बैठा कर साथे तक भिंगोकर

स्नान करावे । पीछे अग्नि के पश्चिम भाग में बिछाये हुये उत्तराय (उत्तर की ओर कुश की छोटी एवं दक्षिण की ओर उस की जड़) कुशासन पर पूर्वाभिमुख उसे बैठावे, पति भी उस के पीछे रहे । अनन्तर यज्ञ गूलर (उदुम्बर) का गुच्छा और एक शलाटुका, उस वधू के अङ्गुल में, या शरीर के जिस किसी बान्धने योग्य (कटिके ऊपर) अङ्ग में बान्ध देवे । दोनों गुच्छाओं के बांधते समय 'अयमूर्जावतो वृक्षः, इस मन्त्र का पाठ करे । उस के पश्चात् सारगर्भ सूखा कुशा समूल निर्मित पिङ्गुलि से उस वधू का केश सम्हारे 'भूः' इस मन्त्र से प्रथम बार, भवः' मन्त्र से द्वितीयवार और 'स्यः' मन्त्र से तृतीय बार सीमन्त के केश आदि पिङ्गुलि द्वारा बढ़ा देवे । 'येनादिते' इस मन्त्र का पाठ करता हुआ जिस 'शर' का खाण तैयार होता हो उसी शर से सीमन्त को बीच से चीड़ कर शोभायमान करे । 'राकामहम्' इस मन्त्र का पाठ करके जिस स्याही (शल की जन्तु) के कांटे में तीन स्यान श्वेत हों ऐसे कांटे से छोटे २ केशों को ऊपर की उठा देवे । उस के अनन्तर घृत संवरा देकर आग का पका तिल तण्डुल उसे देखावे और उस के दर्शन समय उसे पति पूछे कि 'तुम उस में क्या देखती हो ?' इस के उत्तर में वधू बोले कि 'प्रजा' इत्यादि, अनन्तर उस दिन वधू उसी को भोजन करे और उस भोजन करते समय ब्राह्मणीगण इस वधू को 'वीर-प्रसविनी होओ' इत्यादि मङ्गल सूचक वाक्यों से ईश्वरोपासना करे । यही सीमन्तोन्नयन संस्कार है । ३, १२॥

अथ सोष्यन्तीहोमः ॥ १३ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति । 'सोष्यन्तीहोमः' एतन्नामकश्चापरः संस्कारः कार्यः ॥ १३ ॥ तस्य कालं विधत्ते ;—

भा०—इस सीमन्तोन्नयन संस्कार के पीछे 'सोष्यन्ती-होम, नामक और एक संस्कार करना पड़ता है ॥ १३ ॥

प्रतिष्ठिते वस्तौ ॥ १४ ॥

'वस्तौ' योनिप्रदेशे 'प्रतिष्ठिते' गर्भे समुपस्थिते सोष्यन्ती होमः कार्यः इति तत्कालनिर्देशः । १४ तत्रैतिकर्त्तव्यतां विधत्ते ;—

भा०—जिस समय प्रसव के द्वार देश में गर्भ आ पड़े उसी समय अर्थात् प्रसव के अव्यवहित (लगेहुए) यह 'सोष्यन्तीहोम' संस्कार करना चाहिये ॥ १४॥

परिस्तीर्याग्निमाज्याहुती जुहोति या तिरश्चीत्येतय-
र्च्चा विपश्चित्पुच्छमभरदिति च पुमानयं जनिष्यतेऽसौ ना-
मेति नामधेयं गृह्णाति यत्तद् गुह्यमेव भवति ॥ १५-१७ ॥

‘अग्निम् परिस्तीर्य’ तत्र, या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा
 दृतस्य धारया यजे स॒थं राधनी महम् (‘स॒थं राधन्यै देव्यै देष्टव्यै ॥ ६ ॥ (म० ब्रा०
 १, ५, ६) — ‘इत्येतयर्चा’, विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्वाता पुनराहरत् । परेहि त्वं
 विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ७) ‘इति’ अनया च
 ‘आज्याहुती’ आज्यतन्त्रेण आहुतिद्वयम् ‘जुहोति’ जुहुयात् (१५) । अपरञ्च
 ‘अयं’ गर्भः ‘पुमान् जनिष्यते’ चेत् ‘असौ नाम’ — ‘इति’ ‘नामधेयं’ जनिष्यमाणा
 पुत्राख्यां ‘गृह्णाति’ प्रकल्प्य रक्षति (१६) । ‘यत् नामधेयं मनसि निश्चितम्, तत्’
 नामधेयं ‘गुह्यम्’ गोप्यमेव भवति भवत्, अन्यथा कन्याजाते हासाय स्याच्छ-
 श्रूणामिति (१७) । गतोऽयं सोष्यन्तीहोमसंस्कारः । १५-१७ अथ जातकर्त्तव्यतेः—

भा०—पूर्व उपदेश के अनुसार अग्नि स्थापनादि “परिस्तरण” कार्य के पीछे
 ‘या तिरश्ची’ इस मन्त्र से और ‘विपश्चित् पुच्छमभरत्’ मन्त्र से आज्य तन्त्रद्वारा
 दो आहुति देवे । (१५) उस समय,—यदि पुत्र जन्म लेवे तो यही नाम रक्खुंगा
 इस प्रकार मन ही मन एक नाम स्थिर कर रखे । अर्थात् पुत्र की आशा
 करे (१६) परन्तु उसे प्रकाश न करे । अर्थात् प्रकाश करने से यदि पुत्र न हो
 तो शत्रु लोग हँस सकने हैं १५-१७ ॥

यदाऽस्मै कुमारं जातमाचक्षीरन्नाथ ब्रूयात् काङ्क्षत
 नाभिकृन्तनेन स्तनप्रतिधानेन चेति ॥ १८ ॥

‘यदा’ यस्मिन् काले प्रसवगृहस्थाः धात्रीप्रभृतयः सर्वे कुमारं जातम्—‘इति’
 समाचारम् ‘अस्मै’ पित्रे ‘आचक्षीरन्’ ‘अथ’ तदव्यवहितमेव पिता ‘ब्रूयात्’—
 ‘नाभिकृन्तनेन’ नाभिलग्ननाडीच्छेदनेन ‘च’ अपि स्तनप्रतिधानेन स्तनपायनेन
 एनं पालयितुं ‘काङ्क्षत’ इच्छां कुरुत वृषम् ‘इति’ ॥ १८ ॥

भा०—इस के अनन्तर जात-कर्म संस्कार होता है जैसे: जिस समय सूति-
 का गृह में रहने वाली धाई प्रभृति बोल उठे कि लड़का पैदा हुआ तो इस पर
 पिता बोले कि ‘नाभि से लगी हुई नाड़ी काटो और स्तन आदि पिना
 कर रक्षा करो ॥ १८ ॥

ब्रीहियवौ पेपयेत्तयैवाऽऽवृता यया शुङ्गान्दक्षिणस्य पाणे
 रङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य कुमारस्य
 जिह्वायां निर्माष्टीयमाज्ञेति तथैव मेधाजननं सर्पिः प्राशये
 उजातरूपेण वादाय कुमारस्य मुखे जुहोति मेधान्ते मित्रा-

वरुणावित्येतयर्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति च कृन्तत नाभि-
मिति ब्रूयात् स्तनञ्च प्रतिधत्तेति ॥ १९—२२ ॥

नाभिकृन्तनात् पूर्वकृत्यमाह—‘यया’ पूर्वोक्तया ‘आवृता’ परिपात्या ‘शुक्लां’ पूर्वोक्तां ‘पेषयेत्’ ‘तथैव’ ब्रीहियवौ पेषयेत् (१९) पिष्टौ च ब्रीहियवौ दक्षिणस्य पाणोः अङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया च अङ्गुल्या अभिसङ्गृह्य ‘इयमास्तेद मन्त्रमिदं मायुरिदममृतम्’ ॥८॥ (म० ब्रा० १, ५, ८) —‘इति’ इमं मन्त्रं मुञ्चरन् ‘कुमारस्य’ तस्य ‘जिह्वायां’ ‘निर्माष्टि’ नियच्छति (२०) । ‘तथैव’ तेनैव प्रकारेण दक्षिणस्य पाणोः अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां गृहीत्विति यावत् ‘मेधां ते मित्रावरुणौ मेधा मग्नि-
दं धातु ते । मेधां ते अश्विनौ देवा वाधतां पुष्करस्त्रजौ’ ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ९) —‘इत्येतयर्चा’ ‘च’ अपि ‘सदसस्पतिमद्भुतम्’ (छ० आ० २, २, ३. १) —‘इति’ अनया ‘मेधाजननं सर्पिः’ ‘प्राशयेत्’ । ‘वा’ अथवा ‘जातरूपेण’ ‘हिर-
ण्येन’ हिरण्यमयशलाकादिना ‘आदाय’ गृहीत्वा सर्पिः ‘कुमारस्य’ तस्य ‘मुखे’ ‘जुहोति’ जुहुयात् क्षिपेत् (२१) । एतदनन्तरम् ‘नाभिम् कृन्तत’—‘इति’, ‘स्तनं प्रतिधत्त’—‘इति’ ‘च’ ‘ब्रूयात्’ आदिश्यात् पितेति शेषः । पित्रादेशग्रहणपूर्वकमेव नाभिकृन्तनं स्तनप्रतिधानञ्चेति गतं जातकर्म ॥२२॥

भा०—पहिले जो शुद्धा पीसने का नियम कहा गया है उसीप्रकार धान्य तण्डुल और यवतण्डुल पीसकर नाड़ी छेदनके पूर्व ही दहिने हाथ से अनामिका और अङ्गुठ के द्वारा ग्रहण करते ‘यही ईश्वर की आज्ञा है’ यह मन्त्र पढ़कर उस नव बालक की जीभ में चटा दें और बुद्धि बढ़ने की इच्छा से ‘मेधान्ते मित्रावरुणौ’ मन्त्र और ‘सदसस्पति मद्भुतम्’ (छ० आ० २, २, ३. १) मन्त्र, इन दो मन्त्रों का पाठ कर, दो बार उसी प्रकार अङ्गुठा, अनामिका द्वारा घृत भी चटावे, या सुवर्ण की शलाकादि के अग्रभाग से लड़के के मुख में देवे । अनन्तर नाड़ी काट कर स्तन पिलावे ॥१९, २२॥ यही जात कर्म संस्कार है ॥

अत ऊर्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् ॥ २३ ।

‘अत ऊर्ध्वम्’ नाभिकृन्तनात् परस्तात् ‘आदशरात्रात्’ दशरात्रिशेषं यावत् ‘असमालम्भनम्’ अस्पर्शनम् कुमारमातुरित्यशौचविधिः ॥२३॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रद्वितीयप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥२७॥

भा०—इस नाड़ी छेदन के पीछे से दश दिन प्रसूति स्पर्श योग्या न होगी अर्थात् ये दश दिन भर्ता स्त्रीय पत्नी को स्पर्श भी न करे ॥२३॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२॥७॥

जननाद्यस्तृतीयोज्यौत्स्त्रस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिमन्यञ्जुलिकृतः पितोप-
तिष्ठतेऽथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत
उदञ्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्मनुषृष्टम्परिक्रम्योत्तरतोऽव-
तिष्ठतेऽथ जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रमीयेतपुत्रो
जनित्र्या अधीत्युदञ्चं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥१-५॥

‘जननात्’ जन्मतः आरभ्य ‘यः’ ‘तृतीयः’ ‘ज्यौत्स्त्रः’ ज्यौत्स्त्रायुक्तः पक्षः,
‘सस्य’ पक्षस्य ‘तृतीयायां’ तिथौ ‘प्रातः’ ‘कुमारं’ ‘सशिरस्कम्’ आप्लाव्य ‘शिरसि’
जलदानेन स्नापयित्वा ‘अस्तमिते’ सूर्ये ‘वीते’ विगते च ‘लोहितिमिनि’, ‘पिता’
कुमारजनकः ‘अञ्जुलिकृतः’ पुत्रग्रहणाय प्रसारिताञ्जुलिद्वयः सन् ‘उपतिष्ठते’
उत्थितस्तिष्ठते (१) । ‘अथ’ तदनन्तरं ‘माता’ कुमारप्रभृतिः ‘शुचिना’ शुभ्रेण
निर्मलेनेति यावत् ‘वसनेन’ ‘कुमारम्’ ‘आच्छाद्य’ ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां
दिशि गत्वा ‘उदञ्चं’ उत्तानम् ‘उदक्शिरसं’ कुमारं ‘पित्रे’ कुमारजनकाय तस्मै
‘प्रयच्छति’ प्रयच्छेत् (२) । दत्त्वा च सा ‘अनुषृष्टं’ परिक्रम्य स्वपतिपृष्ठदेशे-
नागत्य ‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां सुतरां पत्युर्वामभागे ‘अवतिष्ठते’ अवस्थिता भवेत्
(३) । ‘अथ’ दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः “यत्ते सुसीमे
हृदयार्थं हितमन्तः प्रजापतौ । वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रं मघं निशाम्” ॥१०॥
यत् पृथिव्या ममृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदामृतम्याहं नाम माहं पौत्र-
मघर्थं रिषम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापतिः । यथार्थं न प्रमी-
यते पुत्रो जनित्र्या अघि” ॥१२॥ (स० ब्रा० १, ५, १०-१२) ‘जपति’ जपेत् (४)
जपित्वा च ‘उदञ्चं’ उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रभृत्यै ‘प्रदाय’ प्रदानं कृत्वा
समाप्तं ज्यौत्स्त्रोपस्थानमिति मत्वा ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५) ॥२-५॥

भा०:-जन्म से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार
को मस्तक पर्यन्त धोकर स्नान करावे । अनन्तर सूर्यास्त के पीछे अर्थात्
ऐसे समय जब कि सूर्य मण्डल की लाजिभा पर्यन्त दीख न पड़े, उस नव-
कुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जुलि पसार कर खड़ा हो और
नवकुमार की माता उस कुमार को साफ वस्त्र से ढाक कर अपने स्वामी के
दक्षिण ओर आकार इस बालक को उत्तर गिरा और उत्तानभाव से (चित्त)
उस की अञ्जुलि में प्रदान करे । स्वयं अपने पीठ पर होकर वाम दिशा आकर
युग्म रूप से अवस्थित हो । पीछे इस बालक के साथ पिता ‘यत्ते सुसीमे’

एवंसे 'यथा अयं न प्रमीयेत पुत्रो जनिष्या अधि' पठ्यन्त तीन मन्त्रों का पाठ करे । अनन्तर गृहीत पुत्र को उस की माता को पुनः प्रदान करे और प्रयोजन के अनुसार अन्य कार्य करे, या विश्राम करे ॥ १-५ ॥

अथ येऽत ऊर्ध्वं ज्यौत्स्नाः प्रथमोद्विष्टएव तेषु पितो-
पतिष्ठतेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसं यददश्चन्द्रम-
सीति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम् ॥६॥ ७॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति । 'अतः' जननात् तृतीयज्यौत्स्नातः 'ऊर्ध्वं' उपरिष्ठात् परस्तादिति यावत् । 'ये' 'ज्यौत्स्नाः' ज्यौत्स्नायुक्ताः कालाः शुक्लपक्षाः, 'तेषु' ज्यौत्स्नेषु कालेषु 'प्रथमोद्विष्टे' प्रथमागते ज्यौत्स्ने जननाच्चतुर्थं शुक्लपक्षे, यस्यां कस्यामप्येकस्यां तिथौ सम्भवतश्चन्द्रोदये 'पिता' कुमारजनकः 'अपाम-
ञ्जलिं पूरयित्वा' 'चन्द्रमसम् अभिमुखः' सन् 'उपतिष्ठते' उपतिष्ठेत उत्थित-
स्तिष्ठेत (६) । ततश्च " यदहश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं अतम् ।
तदहं विद्वांश्चतुर्षु पश्यन् माहं पौत्रमद्यत्तदम् " ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ५, १३)
'इति' अनेन 'यजुषा' छन्दःशून्यमन्त्रेण 'सकृत्', 'तूष्णीं' अमन्त्रकं 'द्विः' द्विवा-
रम् 'उत्सृज्य' गृहीतोदकाञ्जलिमिति यावत्; समाप्त मन्त्रमर्जनं कृत्य मिति
मत्वा 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः ॥६॥ ७॥ अथ नामधेयं विधत्ते;—

भा०:—पूर्वाक्त इमं तृतीय शुक्लपक्ष के पीछे जो प्रथमोपस्थित ज्यौत्स्ना
अर्थात् जन्म से चतुर्थ शुक्ल पक्ष, उस की प्रतिपदा से पूर्णिमा पठ्यन्त १५ रात्रि
के जिस किसी रात्रि में चन्द्रोदय समय कुमार का पिता खड़ा होकर चन्द्रमा
के सम्मुख हो 'यदहश्चन्द्रमसि' मन्त्र पढ़ कर एकवार एवं अपर दोवार बिना
मन्त्र साकल्य में तीन अञ्जलि जल छोड़ देवे ॥ ६, ७ ॥

जननादृशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम् ॥८॥

'जननात्' जननदिनमारभ्य 'दशरात्रे' शतरात्रे संवत्सरे वा 'व्युष्टे' अतीते
एकादशदिनादौ 'नामधेयकरणम्' कुमारस्येति ॥८॥ तत्रेति कर्मव्यतां विधत्ते;—

भा०:—जन्म दिन से दश दिन, या १०० दिन, या सम्बत्सर बीतने पर
ग्यारहवें दिन में नवकुमार का नाम कारण करे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चादग्ने रुदगग्रेषु दर्भेषु
प्राहुपविशत्यथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य-
दक्षिणतउदङ्गं कर्त्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसमनुपृष्ठं परिक्रम्यो-

त्तरतउपविशत्युदगग्रेष्वेव दर्भेष्वथ जुहोति प्रजापतये तिथये
नक्षत्राय देवताया इति तस्य मुख्यान् प्राणान्त्सम्मृशन्कोऽसि
कतमोऽसीत्येतंमन्त्रं जपत्याहस्पत्यं मासंप्रविशासावित्यन्तेच
मन्त्रस्य घोषवदाद्यन्तरस्थन्दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतन्नाम
दध्यादेतदतद्धितमयुग्दान्तश्चस्त्रीणाम्मात्रे चैव प्रथमं नामधे-
यमाख्याय यथार्थद्वौर्दक्षिणा ॥ ९-१८ ॥

‘अथ’ प्रक्रमार्थः । ‘यः’ पुरुषः पिता पुरोहितो वा ‘तत्’ नामधेयं कर्म ‘करिष्यन्
भवति’, सः ‘अग्नेः अश्वात्, उदगग्रेषु दर्भेषु’ ‘प्राङ्मुखः सन् ‘उपविशेत् (९) ।
‘अथ’ तदनन्तरं माता दक्षिणातः दक्षिणस्यां कर्तुर्दक्षिणभागे गत्वा ‘शुचिना वसनेन
कुमारम् आच्छाद्य’ ‘उदक्षिरसम्’ उत्तरशिरस्कम् किञ्च’ उत्तानं शिशुं ‘कर्त्रे’
नामधेयकर्मसोऽनुष्ठात्रे प्रयच्छति (१०) । दत्त्वा च ‘अनुपृष्ठं परिक्रम्य’ सा
‘उत्तराग्रेषु दर्भेषु’ ‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां दिशि कर्तुं वांसभागे ‘उपविशति’ उपविष्टा
भवेत् (११) । ‘अथ’ तदनन्तरं, क्रोडीकृतकुमारः सः ‘प्रजापतये’ प्रजापतिदे-
वतामनुकूलयितुं तथैव ‘तिथये’, तथैव ‘नक्षत्राय’, ‘जुहोति’ हवनं कुर्यात् (१२) ।
एवं होमानन्तरं ‘तस्य’ कुमारस्य ‘मुख्यान् प्राणान्’ मुखगतश्वासान् ‘सम्मृशन्’
अङ्गुलीभिः स्पृशन् ‘कोऽसि कतमोऽसि रूषोऽस्यामृतोऽसि आहस्पत्यं मासं
प्रविशासौ ॥१४॥ सत्वाहे परिददात्वहस्त्वारात्र्यै परिददातु रात्रि स्त्वाहोरात्राभ्यां
परिददात्वहोरात्रौ त्वाहुर्मासेभ्यः परिदत्तामर्हुमासास्त्वामासेभ्यः परिददतु
मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै
परिददात्वसौ ॥१५॥ (म० ब्रा० १, ५, १४-१५)-‘इत्येतं मन्त्रं ‘जपति’ जपेत्
(१३) । ‘मन्त्रस्य’ तस्य ‘आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ’-‘इति’ अत्र ‘च’ अपि
‘अन्ते’ चरमे असौ इत्यस्य स्थाने ‘कृतं’ नवरचितं ‘नाम’ आह्वानार्थव्यवहार्यं
पदं ‘दध्यात्’ स्थापयेत् व्यवहर्थादिति । तच्च नाम ‘घोषवदाद्यम्’ आदितएव
घोषसंज्ञकाक्षरयुक्तम्, ‘अन्तरन्तस्थं’ अन्तस्थसंज्ञकाक्षरमध्यं, ‘दीर्घाभिनिष्ठा-
नान्तं’ दीर्घसंज्ञकाभिनिष्ठानसंज्ञकाक्षरयोरन्यतरावसानकं भवेत् (१४) । ‘एतत्’
नाम ‘अतद्धितं’ तद्धितप्रत्ययरहितमेव कार्यम् (१५) । ‘स्त्रीणाम्’ कन्यानां तु
‘अयुग्दान्तम्’ अयुग्माक्षरान्तं दान्तव्यतिरिक्तञ्च नाम दध्यादित्येव तत्र विधा-
र्यम् (१६) । ‘च’ पुनः तत् ‘नामधेयं’ ‘मात्रे एव’ प्रथमं ‘आख्याय’ परिज्ञाप्य
नामधेयकरणं समाप्तमिति मत्वा ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेदिति (१७) ।
अस्य कर्मणः ‘गौः’ एका ‘दक्षिणा’ देयेति (१८) । समाप्तं नामधेयकरणम् ॥२-१८

भा०—यह नामकरण संस्कार जो करे सो पिता, या पुरोहित अग्नि की पश्चिम में उत्तराय ढाले हुए कुश के आमन पर पूर्वमुख बैठे कुमार की प्रसूति, साफ वस्त्र में शिशु को ढांक कर ले आवे और नामकरण संस्कार करने के लिये प्रवृत्त कुमार के पिता, या अपर ब्राह्मण के दहिने ओर आकर उत्तर शिरा और उत्तानभाव से उसे देकर नामकरण करने में प्रवृत्त पिता या ब्राह्मण के पीठ के रास्ते आकर कुशपुञ्ज के ऊपर बैठे । अनन्तर इस नामधेयकारी कुमार को गोद में ले कर पहिले प्रजापति देवता की तुष्टि के लिये होम करे पीछे जिस तिथि में कुमार का जन्म हुआ है, उस तिथि का नाम ले कर दूसरी आहुति प्रदान करे, उसके बाद जिस नक्षत्र में कुमार का जन्म हुआ है उसका नाम कहकर तीसरी आहुति देवे । फिर उस बालक के मुख में हाथ देकर श्वास, स्पर्श कर “कोऽसि कतमोमि” मन्त्र पढ़कर एवं इस मन्त्र के पाठ समय दो स्थान में स्थित ‘असौ’ पदके बदले नूतन नाम रख कर व्यवहार करे । इस नामके आदि अक्षर घोष वर्ण, मध्यमें अन्तस्थ वर्ण, एवं अन्त्य वर्ण दीर्घ या विमर्ग होगा । विज्ञेयतः इस नाम में तद्धित न रहे । कन्या सन्तान का नाम युग्म अक्षर अन्त में, और दकारान्त न हो यही देखना चाहिये । इस प्रकार नाम युक्त मन्त्र के दोनों स्थान में ‘असौ’ पद के स्थान में मिला कर पाठ समाप्त होने पर उस नाम का सत्र से पहिले उस की प्रसूति को अवगत करावे । इस प्रकार नामकरण संस्कार शेष कर, पिता, या पुरोहित यथा प्रयोजन अन्यान्य कार्य करे । या विश्राम करे । नामकरण संस्कार की दक्षिणा एक गौ देवे ।

कुमारस्य मासिमासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्व-
स्वग्नीन्द्रौ द्यावापृथिवी विश्वान्देवाश्च यजेत दैवतमिष्ट्वा
तिथिं नक्षत्रञ्च यजेत ॥ १९-२० ॥

‘कुमारस्य’ नवजातस्य ‘संवत्सरे’ प्रथमे ‘मासि मासि’ प्रति जन्मतिथौ, ‘वा’ अथवा ‘सांवत्सरिके’ जन्मतिथावेव प्रथमे एव ‘च’ अथवा ‘पर्वसु’ पौर्ण-
मास्यामाघास्यासु प्रथमे संवत्सरे एव ‘अग्नीन्द्रौ’ ‘द्यावापृथिवी’ ‘च, अपि विश्वान् देवान्’ ‘यजेत’ यागेनेष्टं भावयेत् (१९) ‘दैवतमिष्ट्वा’ अग्नीन्द्रादियागं प्रकृत्य ‘तिथिं’ जन्मनः ‘च’ अपि ‘नक्षत्रं’ जन्मन एव ‘यजेत’ (२०) । गत-
मिदं पौष्टिकं कर्म जन्मतिथिकृत्यं वा । १९, २० अथ सूत्राभिप्रायम् ;—

भा०:—प्रथम वर्ष प्रति मास की जन्मतिथि में किम्वा प्रति पूर्णिमा

[प्र० २ खं० ८ सू० १९-२५] पौष्टिककर्ममूर्द्धाभिप्राणं च ॥

९१

और अमावास्या पक्ष में अग्नीन्द्र, द्यावापृथिवी, और विश्वेदेवा देवता की अर्चना करे एवं इस प्रकार देशार्चना के पीछे तिथि और नक्षत्र की भी अर्चना करे। यही जन्मतिथिकृत्य है ॥ १९, २० ॥

विप्रोष्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं
परिगृह्य जपेद् यदा वा पिता मइति विद्यादुपेतस्य बाह्ना
दङ्गात् सथ्स्रवसीति पशूनां त्वा हिङ्गारेणाभिजिघ्रामी-
त्यभिजिघ्रय यथार्थमेवमेवावरेपां यथाज्येष्ठं यथोपलम्भं वा
स्त्रियास्तूष्णीं मूर्द्धन्यभिजिघ्रणम् ॥ २१-२५ ॥ ८ ॥

‘विप्रोष्य’ प्रवासादागत्य, ‘वा’ अथवा ‘यदा’ यस्मिन् काले ‘मे पिता इति विद्यात्’ बालकः तदैव, ‘वा’ अथवा ‘उपेतस्य’ सन्निहितस्य यदैव सन्निहितो भवेत् तदैव, ‘ज्येष्ठस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं पाणिभ्यां परिगृह्य’ “अङ्गादङ्गात् सथ्स्रवसीति हृदयादधिजायसे। प्राणं ते प्राणेन सन्ध्यामि जीव मे यावदायुषम् ॥१६॥ अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे। वंदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १७॥ अश्मा भव परशुभं व हिरण्यमस्तुतं भव। आत्मासि पुत्र सामृथाः स जीव शरदः शतम्” ॥ १८ ॥ (१, ५, १६, १८)-‘इति’ तृचं ‘जपेत्’ (२१), ततः “पशूनां त्वा हिङ्गारेणाभिजिघ्राम्यसी ॥१९॥ ५ (१, ५, १९)”-‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘अभिजिघ्रय’ आघ्राय समाप्तं मूर्द्धाघ्राणं कर्मेति मत्वा ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विद्वरेत् (२२)। ‘अवरेषां’ तत्कनिष्ठानामपि पुत्राणाम् ‘एवमेव’ मूर्द्धाघ्राणं कर्त्तव्यम् (२३)। तत्र च ‘यथाज्येष्ठं’ ज्येष्ठानुक्रमेणैव मूर्द्धाघ्राणं कार्यम्। ‘वा’ अथवा ‘यथोपलम्भं’ येन क्रमेश पितृसन्निधौ ते उपस्थिताः स्युस्तेनैव क्रमेणेति (२४)। ‘स्त्रियाः’ कन्यायाः ‘मूर्द्धानि’ मस्तके ‘अभिजिघ्रणं’ आघ्राणग्रहणं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव कार्यम् (२५)। समाप्तं मूर्द्धाघ्राणम्। द्विर्वचनं क्षुद्रकर्मप्रकरणसमाप्तिद्योतकम् ॥ २१-२५ ॥ ८

इतिसामवेदीयेगीभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेअष्टमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम्॥२,=

भा०:-पिता जिस समय प्रदेश से अपने घर आवे, तब या जिस समय पुत्र “मेरा पिता यही है ऐसा समझ ले, या जिसी समय निकट आकर उपस्थित हो, उसी समय (अङ्गादङ्गात् सम्भवसि) इन तीन मन्त्रों को पढ़कर हाथ से बड़े पुत्र का मस्तक पकड़ कर ‘पशूनां त्वा’ मन्त्र पढ़ कर सूँचे; पीछे यथेच्छ विचरे। अपर पुत्रादि का मस्तक भी इसी प्रकार सूँचे। जो जिस के पीछे उत्पन्न

हुआ, हो उसे उसके पीछे या जो जिस समय निकट आवे तदनुसार मूर्ध्वाग्राण करे। कन्या के मूर्ध्वाग्राण में मन्त्र पाठ न करे ॥ २१-२५ । ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के अष्टमखण्ड का भाषानुवादपूरा हुआ ॥२,८॥

—:३:—

अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ॥१॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरतां द्योतयति । ‘अतः’ आरभ्य ‘चूडाकरणं’ कर्म वक्ष्यतीति । तच्च ‘तृतीये वर्षे’ कार्यमिति चूडाकरणकालः ॥१॥ तस्येतिकर्तव्यतां विधत्ते;—

भा०:—यह चूडाकरण कार्य बालक वा बालिका के तृतीय वर्षकी आयु में करे ॥१॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति तत्रैतान्युपकृतानि भवन्त्येकविंशतिर्दर्भपिञ्जल्य उष्णोदककंथं स औदुम्बरः क्षुरआदर्शो वाक्षुरपाणिर्नापित इति दक्षिणत आनहुहो गोमयः कृसरः स्थालीपाको वृथापक्व इत्युत्तरतो ब्रीहियवैस्तिलमापैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्तादुपनिदध्युः कृसरोनापिताय सर्वबीजानि चेति ॥२-७॥

‘शालायाः’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्मिन् भागे ‘उपलिप्ते’ स्थाने ‘अग्निः उप समाहितः भवति’ (२) । ‘तत्र’ ‘एतानि’ अनुपदं वक्ष्यमाणानि ‘उप कृतानि’ आसाद्य सज्जितानि ‘भवन्ति’ (३) । तान्येवाह—‘एकविंशतिः दर्भपिञ्जल्यः’, ‘उष्णोदककंथं’ उष्णोदकसहितकांस्यपात्रम्, ‘औदुम्बरः’ उदुम्बरकाष्ठनिर्मितः ‘क्षुरः’ ‘वा’ अथवा ‘आदर्शः’ दर्पणः, ‘क्षुरपाणिर्नापितः’—‘इति’ चत्वारि वस्तूनि सम्पाद्य ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां अग्नेः स्थाप्यानीति (४) । किञ्च आनहुहः गोमयः वृथापक्वः अमन्त्रपक्वः कृसरः स्थालीपाकः ‘इति’ द्वे वस्तुनी सम्पाद्य ‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां अग्नेरेव सर्वत्र पूर्वाभिमुख एव कर्त्ता सुतरां कर्त्तव्यमभागे (५) । ‘ब्रीहियवैः’ मिश्रितैः ‘तिलमापैः’ मिश्रितैरेव ‘पृथक्’ ‘पात्राणि’ ‘पूरयित्वा’ ‘पुरस्तात्’ अग्नेरेव पूर्वस्यां परस्तादिति यावत्, ‘उपनिदध्युः’ स्थापयेयुः (६) । एषु च उक्तः ‘कृसरः’ ‘च’ अपि ‘सर्वबीजानि’ ब्रीहियवैस्तिलमापैश्च पूरितपात्राणि ‘नापिताय’ तस्मै देयानि (७) ॥ २-७ ॥

भा०:—जिस स्थान में चूडा कर्म करना हो, उसे गोमय से लीप कर पूर्व भाग में यथा विधि अग्नि स्थापन करे (२) ये सब संग्रह कर उस स्थापन में उपस्थित करे (३) जैसे—इक्कीस दर्भपिञ्ज, गर्म जल से भरा कांसे का पात्र,

गूलर के काष्ठ का झुरा, या दर्पण, एवं लोहे का झुरा सहित नापित, ये चार वस्तु दक्षिण दिशा में उपस्थित रखे (४) सांड का गोबर, अमन्त्र पक्क कूसर अर्थात् सिद्ध तण्डुल, ये वस्तु उत्तर में रखे (५) पूर्व दिशा में एक पात्र में धान्य, यद्य एवं दूसरे पात्र में तिल और माष (उड़द) रखे, (६) ये कूसर और धान्यादिपूर्व दोनों पात्र नापित की देवे ॥ २-७ ॥

अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य पश्चादग्ने-
रुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ॥८॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘माता’ बालकस्य, ‘शुचिना वसनेन कुमारम् आच्छाद्य, अग्नेः पश्चात् उदगग्रेषु’ ‘प्राची’ प्राङ्मुखी सती ‘उपविशति’ ॥ ८ ॥

भा०:-उस के अनन्तर बालक को माता बालक को माफ वस्त्र में लपेट कर अग्नि के पीछे उत्तराय रखे हुए कुशासन पर पूर्व मुख हो बैठे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन् भवति पश्चात् प्राडवतिष्ठते ॥९॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘यः’ पुरुषः ‘तत्’ ब्रूहाकरणं नाम संस्कारकार्यं ‘करिष्यन् भवति’ पिता पुरोहितोवा सः ‘पश्चात्’ उपविष्टायाः सपुत्रायाः, ‘प्राक्’ प्राङ्मुखः सन् ‘अवतिष्ठते’ अवस्थानं कुर्यात् ॥९॥

भा०:-पीछे पिता, या पुरोहित, जो कोई ब्रूहाकरण संस्कार करने को प्रवृत्त हो, वह उस के पश्चात् भाग में पूर्वाभिमुख हो कर बैठे ॥ ९ ॥

अथ जपत्यायमगात् सविता क्षुरेर्षति सवितारं मनसा
ध्यायन् नापितं प्रेक्षमाण उष्णेन वाय उदकेनैधीति वायुं
मनसा ध्यायन्नुष्णोदककथं संप्रेक्षमाणो दक्षिणेन पाणिनाऽप
आदाय दक्षिणां कपुष्णिकामुन्दत्याप उन्दन्तु जीवस इति
विष्णोर्दक्षिणोऽसीत्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षन् आदर्शं वीपधे त्राय-
स्वैनमिति सप्तदर्भपिञ्जलीर्दक्षिणायां कपुष्णिकाया मभि
शिरोग्रा निदधाति ता वामेन पाणिना निगृह्य दक्षिणेन
पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्वाऽऽदर्शं वाऽभिनिदधाति स्वधिते
मैनथिहिसीरिति येन पूषा बृहस्पतेरिति त्रिः प्राञ्चं प्रोह-
त्यप्रच्छिन्दन् सकृद् यजुषा द्विस्तूष्णीमथायसेन प्रच्छिद्यान-
हुहे गोमये निदधाति ॥ १०-१७ ॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘नापितं प्रेक्षमाणाः’ ‘सवितारं मनसा ध्यायन्’, “आय गमात् सविता क्षुरेण ॥१॥ (म० ब्रा० १, ६, १)”—‘इति’ इमं मन्त्रं ‘जपति’ जपेत् (१०) “उष्णेन वायुदकेनैधि ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘वायुं मनसा ध्यायन् उष्णोदककंसं प्रेक्षमाणाः’ भवति सः (११) । “आप उन्दन्तु जीवसे” ॥३॥ (म० ब्रा० १, ६, ३)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘दक्षिणेन पाणिना अप ‘आदाय’ ‘कपुण्ड्रिकां’ शिरःपोषिकां शिरःपार्श्ववर्तिकेशजुटिकां ‘उन्दति’ क्लेदयति (१२) । “विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ४)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘श्रौदुम्भरं क्षुरमादशं वा’ ‘प्रेक्षते’ (१३) । “श्रौषथे आयस्वैनम्” ॥५॥ (म० ब्रा० १, ६, ५)—‘ इति ’ इमं मन्त्रं पठन् ‘ अभिशिरोयाः ’ शिरोऽभिमुखायाः ‘ दर्भपिङ्गुलीः ’ ‘ दक्षिणायां कपुण्ड्रिकायां ’ ‘ निदधाति ’ धारयति (१४) । ‘ ताः ’ कपुण्ड्रिकासहिता दर्भपिङ्गुलीः ‘ वामेन पाणिना ’ ‘निगृह्य दृढतया गृहीत्वा “स्वधिते मैनश्चं हिंसीः” ॥६॥ (१, ६, ६)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘दक्षिणेन पाणिना’ ‘श्रौदुम्भरं क्षुरम् आदशं वा’ ‘गृहीत्वा’ अभिनिदधाति’ यत्नतो धारयेत् (१५) । ततश्च तेनैवौदुम्भरेण क्षुरेण दर्पणेन वा ‘प्राञ्चं’ प्रागतं चालयन् परन्तु ‘अप्रच्छिन्दन्’ यथा च केशान् न छिन्द्यादेवं कृत्वा त्रिवारं ‘प्रोहति’ कथङ्कारं वपनं कर्त्तव्यमिति सवितर्कं पश्यति । तत्र च ‘सकृत्’ “ एकवारं येन पूषा बृहस्पतेर्यायोरिन्द्रस्य चावपत् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातव जीवनाय दीर्घायुद्वय वर्षसे” ॥७॥ (म० ब्रा० १, ६, ७)—‘इति’ अनेन ‘यजुषा’ गद्यात्मकमन्त्रेण ‘द्विः’ वारद्वयं ‘तूष्णीम्’ असमन्त्रकमेवेति (१६) ‘अथ’ तदनन्तरम् ‘आयसेन’ हसयेन क्षुरेण सपिङ्गुलीं दक्षिणकपुच्छिकां ‘प्रच्छिद्य’ पूर्वासादिते ‘आननुहे गोमये, ‘निदधाति’ स्थापयति (१७) ॥१०—१७॥

भा०:-अनन्तर, पिता या पुरोहित जो कोई कार्य करे, वे इस क्षुरहस्त नापित को देख कर मन ही मन जगत् प्रसविता देवता को ध्यान कर ‘आय-गमात्’ इस मन्त्र का पाठ करे ॥१॥ गर्म जल के साथ कांसे के पात्र में देखकर मन ही मन वायु देवता का ध्यान कर ‘उष्णेन वायु’ इस मन्त्र को पढ़े ॥२॥ दहिने हाथ से ‘कपुण्ड्रिका’ * ग्रहण कर ‘आप उन्दन्तु’ इस मन्त्र का पाठ करके उसमें वही गर्म जल सींच कर गीला करे ॥३॥ ‘विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि’ इसमन्त्रकापाठ करते हुए उसमें वही गर्म जल सींच गुलर के काठ का क्षुरा या दर्पण देखे ॥ १३ ॥

* मस्तक के ऊपर दोनों पार्श्व के केशों को कपुण्ड्रिका कहते अर्थात् *क, शब्द का अर्थ शिर, एवं वेशादि उस के पोषक होने से *क—पुण्ड्रिका, नाम हुआ ॥

‘ओषधे आयस्येन’ इस मन्त्र का पाठ कर सात दर्भ-पिङ्गुली नीचे की जड़ एवं ऊपर की फुनगी इस भान्ति उस कपुष्पिका में धारण करावे ॥१४॥ पीछे उसी दर्भ पिङ्गुली के साथ दहिने कपुष्पिका आदि बांये हाथ में रख कर ‘स्वधितेनैनंहिंसीः’ यह मन्त्र पढ़कर दहिने हाथ में उस गूलर के काष्ठ का तुरा या दर्पण लेकर उसी कपुष्पिका में अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १५ ॥ एवं उस को पूर्वाभिमुख कर तीनवार चला कर किस प्रकार छेदित होगा, तर्क करके देखे । उस तीनवार के चलाने में एकवार ‘येन पूषा’ अपर दो बार में किसी मन्त्र के पाठ करने की आवश्यकता नहीं । इस गूलर के तुरा, या दर्पण चलाने में केश छिन्न नहीं होता ॥१६॥ अनन्तर लोहे के तुरे से उसी दर्भ पिङ्गुलीके साथ दक्षिणकपुष्पिका को छेदकर साढ़ के गोवर में स्थापन करे ॥१७॥

एतयैवावृता कपुच्छलम् ॥१८॥ एतयोत्तरां कपुष्पिकाम् ॥ १९ ॥ उन्दनप्रभृति त्वेवाभिनिवर्त्तयेत् ॥ २० ॥

‘एतया एव आवृता’ कथितपरिपाठयैव ‘कपुच्छल’ शिरःपुच्छसदृशं पञ्चा-
त्केशकलापम् आयसेन तुरेण प्रच्छिद्य आनहुहे गोमये निदधाति ॥ १८ ॥
‘एतया’ परिपाटया उत्तरां कपुष्पिकाम्, अपि आयसेन तुरेण प्रच्छिद्य आन-
हुहे गोमये निदधाति ॥ १९ ॥ कपुच्छलच्छेदने उत्तरकपुष्पिकाच्छेदने च ‘उन्दन-
प्रभृति’ पूर्वोक्तक्षेदनादि गोमये निधानान्तं (१२-१७ सू०) कर्मजातम् ‘अभि-
निवर्त्तयेत्’ निष्पादयेत्; न तत्पूर्वतनं नाथैतत्परतनञ्च तत्र पृथक्त्वेनानुष्ठेयम् २०

भा०:-पूर्वोक्त प्रकार से कपुच्छल को लोहे के तुरे से काटे ॥ १८ ॥ उत्तर
‘कपुष्पिका’ कटवाने में भी यही नियम समझना ॥ १९ ॥ ‘कपुच्छल’ काटन
में और उत्तर ‘कपुष्पिका’ काटने में दोनों ही स्थान गर्म जल से भिगाना आदि
सम्पूर्ण कार्य भिन्न २ करना होगा, उस के पूर्व, या पीछे का कार्य सब, प्रत्येक
बार काटने के लिये भिन्न २ न होंगे ॥२०॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धनं परिगृह्य जपेत् त्रयायुषं जमद-
ग्नैरिति ॥ एतयैवावृता स्त्रियास्तूष्णीम् मन्त्रेण तु होमः ॥२१-२४॥

इत्थं बालकस्य कपुष्पिकाद्वयं कपुच्छलञ्च छेदयित्वा उभाभ्यां पाणिभ्यां
मूर्द्धनं परिगृह्य ‘त्रयायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्रयायुषं मगस्त्यस्य त्रयायुषम् । यद्दे-
वानां त्रयायुषं तत्ते अस्तु त्रयायुषम्’ ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ८)-‘इति’ इमं
मन्त्रं ‘जपेत्’ (२१) ‘स्त्रियाः’ कन्याया अपि कपुष्पिकादिच्छेदनम् ‘एतया’
‘आवृता’ परिपाटया ‘एव’ कार्यम् (२२) । तत्रायं विशेषः-‘तूष्णीम्’ असमन्त्र-

कमेव सर्वम् (२३) । तत्राप्ययं विशेषः— 'मन्त्रेण तु होमः' चूडासंस्काराय होमस्तु तत्रापि मन्त्रेणैव कार्यः (२४) ॥ २२-२४ ॥

भा०:—इसी प्रकार दोनों कपुष्पिका और कपुच्छल काटने पर दोनों हाथ से लड़के के माथे को पकड़ कर 'त्रायुषं कर्मदग्नेः'—इस मन्त्र का जप करे ॥२१॥ कन्या को चूड़ा कर्म भी ठीक इसी प्रकार इसी नियम से होगा परन्तु मन्त्र रहित, किन्तु चूड़ा कर्म का होम, मन्त्र के साथ होगा ॥२२-२४॥

उदगग्रेरुत्सृप्य कुशलीकारयन्ति यथागोत्रकुलकल्पमा-
नदुहे गोमये केशान् कृत्वाऽरण्यथं हृत्वा निखनन्ति स्तम्बे
हैके निदधति यथार्थं गौर्दक्षिणा ॥ २५-२६ ॥ ६

'अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्मिन् 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेनोपविश्य यथागोत्रकुल-
कल्पं गोत्रकुलानुरूपं सशिखं शिखाशून्यं वा, पञ्चचूडं वा (तथाच—'वासिष्ठाः
पञ्चचूडाः स्युस्त्रिचूडाः कुण्डपायिनः' किञ्च "सशिखं वपनं कार्यमाप्नायाद्ब्र-
ह्मचारिणाम् । आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत्"—इति । एवञ्च
वसिष्ठगोत्राणां पञ्चचूडं मुण्डनम्, कुण्डपायिनां त्रिचूडं मुण्डनम्, कौथुमाना-
मासमावर्त्तनात् सशिखं वपनञ्चति) बहुवचनं साधारणविध्यपेक्षाम् (२५)
मुण्डयित्वा च तान् 'केशान्' 'आनदुहे गोमये कृत्वा' 'अरण्यं' 'हृत्वा' नीत्वा
'निखनन्ति' मृगमध्ये प्रोथयन्ति (२६) 'एके' आचार्या आहुः—'स्तम्बेह' भ्रिष्टि-
वृक्षादिकुञ्जे एव 'निदधति' स्थापयन्ति तान् केशानिति (२७) इति गतं चूडा-
कर्मैति 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् (२८) अस्य च चूडाकर्मणः 'दक्षिणा'
'गौः' एकैव (२९) २५-२९ ॥९॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २,९

भा०:—इस प्रकार दोनों कपुष्पिका काटे जाने पर बालक वहां से हटकर
अग्नि के उत्तर भाग में बैठे और आत्मीय लोग नापित से गोत्र और कुलानु-
सार पांच, या तीन शिखा, या शिखारहित, या शिखासहित मुण्डन कर-
वावे, * ॥२५॥ मुण्डन कराने पीछे केशादि को वन में लेजाकर भूमि में गाड़
देवे ॥२६॥ कोई २ आचार्य कहते हैं कि उसे वन में लेजाकर किसी सघन वन
स्थल में फेकदेवे ॥२७॥ इसप्रकार चूड़ाकर्म समाप्त होने पर अपनी इच्छानुसार
जहां चाहे जावे ॥ २८ ॥ इस चूड़ाकर्म की दक्षिणा एक गौ होगी ॥ २५-२९ ॥

* इस लिये जिन लोगों का गोत्र वशिष्ठ है उन को ५ शिखारख कर शिर मुण्डाना चाहिये ५ पञ्च जिन का गोत्र
'कुण्डपायी', है उन्हें ३ चूड़ा रख कर मुण्डन कराना चाहिये और जिन की कौथुमी शाखा है वे वेद की समाप्ति
पीछे समावर्त्तन होने तक शिखा भी मुण्डन करा लेंगे किन्तु जो लोग बहुत समय तक ब्रह्मचर्य रखना चाहें
एवं समावर्त्तन का विचार न हो, तो उन्हें शिखा रखा पूर्वक मुण्डक कराना चाहिये ॥

[प्र० २ खं० ८ सू० २५-२९, खं० १० सू० १-६] ब्रूहाकरणी उपनयने ॥ ८७
गोविलसूत्र के द्वितीय अध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२९॥

गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् ॥२॥
गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ॥३॥ आपोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः
कालो भवत्याद्वाविंशत् क्षत्रियस्याचतुर्विंशत् वैश्यस्य ॥४॥

‘गर्भाष्टमेषु’ गर्भमासतो गणनाया ये अष्टमाब्दकालास्तेषु यस्मिन् कस्मिन्नपि
शुभदिने ‘ब्राह्मणम्’ ब्राह्मणजातीयकुमारम् ‘उपनयेत्’ वक्ष्यमा प्रकरेण संस्कृत्य
कृतस्त्रवेदाध्ययनाय गुरावन्तिकं प्रापयेत् ॥ १ ॥ ‘गर्भैकादशेषु’ ‘क्षत्रियम्’ उप-
नयेत् ॥ २ ॥ उपनयेदित्येव ॥ ३ ॥ ‘ब्राह्मणस्य’ ‘आ षोडशवर्षात्’ षोडशाब्दवयः
समाप्तिं यावत्, ‘क्षत्रियस्य’ ‘आ द्वाविंशत्’ द्वाविंशाब्दान्तं यावत्, ‘वैश्यस्य’
‘आ चतुर्विंशत्’ चतुर्विंशाब्दान्तं यावत् ‘अनतीतः कालो भवति’ उपनयनस्येति ॥४॥

भा०:-जिस मास में गर्भ हुआ हो उस मास से गिनने पर जो वर्ष अष्टम
हो, उस वर्ष के जिस किसी शुभ तिथि में ब्राह्मण कुमार को उपनीत करे
अर्थात् संस्कार पूर्वक वेदाध्यायनार्थ उपयुक्त गुरु के समीप नीत करे (लावे) ॥१॥
क्षत्रिय कुमार को गर्भ मास से गिन कर ग्यारहवें वर्ष में आचार्य के पास लावे
(अर्थात् उपनयन करे) ॥ २ ॥ वैश्य के लड़के को, गर्भमास से गिनति में जिस
वर्षमें १२ बारहवां वर्ष हो उसी वर्ष के उपयुक्त मास तिथि में उपनयन करे
॥ ३ ॥ ब्राह्मण कुमार को १६ वर्ष की अवस्था पूरी होने तक उपनयन काल
अतीत न होगा अर्थात् यदि गर्भ से ८ म वर्ष में उपनयन न कर सके तो
सोलह वर्षकी अवस्था पर्यन्त जिस किसी समय जिस किसी उपयुक्त तिथि
में उपनयन करे इसमें हानि नहीं । क्षत्रिय कुमार के २२ वर्षकी अवस्था पर्यन्त
एवं वैश्य के लड़केको २४ वर्ष की उमर तक उपनयन हो सकता है ॥ ४ ॥

अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ५ ॥

‘अत ऊर्ध्वं’ ब्राह्मणस्य षोडशाब्दात् परं, क्षत्रियस्य द्वाविंशाब्दात् परं,
वैश्यस्य चतुर्विंशाब्दात् परम् । अर्थात् एतावत् कालमप्यनुपनीताश्चेत् तर्हि
‘पतितसावित्रीकाः’ आत्यापरपर्यायाः ‘भवन्ति’ ॥ ५ ॥

भा०:-उक्त काल के पीछे अर्थात् ब्राह्मण कुमार १६ वर्ष की अवस्था के
पीछे, क्षत्रियकुमार २२ वर्ष की अवस्था पीछे, वैश्यकुमार २४ वर्ष की अवस्था पीछे,
सावित्री पतित अर्थात् सावित्री (गायत्री) मन्त्र के उपदेश योग्य नहीं होते ॥५॥

नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्विवहेयुः ॥ ६ ॥

‘एतान्’ पतितसावित्रीकान् ‘न उपनयेयुः’ न अध्यापयेयुः, न याजयेयुः’

किञ्च 'एभिः सह' न विषहेयुः' कन्योद्वाहसम्बन्धं न कुर्युः॥ इति गतः कालनियमः ॥६॥

भा०:—उक्त सावित्रीपतित लोगों को पुनः उपनयन नहीं हो सकता ।
ऐसों को कोई अध्ययन भी न करावे, कोई यज्ञ भी नहीं करावे, इन का
विवाह भी समाज में निषिद्ध समझे । यही उपनयन काल का नियम है ॥६॥

यदहरुपैष्यन्माणवकोभवति प्रगएवैनं तदहर्भोजयन्ति
कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ्कुर्वन्त्यहतेन वाससाऽऽच्छा
दयन्ति ॥ ७ ॥

'माशवकः' अनधीतबालकः 'यदहः' यस्मिन्नहनि 'उपैष्यन्' उपनीती-
विष्यन् भवति, 'तदहः' तस्मिन्नहनि 'प्रगे एव' प्रातरेव 'भोजयन्ति' मात्रादयः,
यान् कानप्याहार्यान् प्रातराशमात्रं वा तं माशवकमिति शेषः । ततः 'कुशली-
कारयन्ति' मुग्धयन्ति । ततः 'आप्लावयन्ति' स्नापयन्ति । ततः 'अलङ्कुर्वन्ति'
शोभयन्ति । ततः 'अहतेन वाससा आच्छादयन्ति' । सर्वदैव तं माशवकम्
मात्रादय इति । ७ ॥

भा०:—जिस दिन अनुपनीत बालक का उपनयन होवे, उस दिन प्रातः
काल उसे प्रातराश (दोपार दिन से पहिले का भोजन) या और अन्यत्वाद्य
भोजन करावे । पीछे उस को मुग्धित कर स्नान करावे एवं, भूषणादि पहनावे
और उसे अखण्ड वस्त्र से आवृत करे ॥ ७ ॥

क्षौमशाणकार्पासौर्णान्येषां वसनानि । ८ । ऐणैयरौर-
वाजान्यजिनानि । ९ ।

'एषां' ब्राह्मणादीनां त्रयाणां 'वसनानि' परिधेयानि 'क्षौमशाणकार्पासौ-
र्णानि' कुर्युः ॥ ८ ॥ एषां 'अजिनानि' उत्तरीयचर्मणि 'ऐणैयरौरवाजानि' कर्त्तव्यानि ॥ ९ ॥

भा०:—बालक को पहनने योग्य वस्त्रः रेशमी, श्या, कपास, या उनी चाहिये
॥ ८ ॥ एवं बालक के लिये अजिन अर्थात् उत्तरीय ऐणैय, रौरव, और वकरे
के चर्म का होगा ॥ ९ ॥

मुञ्जकाशताम्बल्योरशनाः । १० । पार्णवैल्वाश्वत्थादण्डाः ११

एषां 'रशनाः' कटिबन्धनरज्जवः 'मुञ्जकाशताम्बल्यः' कर्त्तव्याः । १० । एषां
'दण्डाः' हस्तप्राच्याः 'पार्णवैल्वाश्वत्थाः' कर्त्तव्याः । ११ ।

भा०:—बाकल के लिये कमर कस-मुञ्ज, काश, या मजीठ का होगा
॥ १० ॥ और दण्ड पलाश, बेल, या पीपर का होगा ॥ ११ ॥

क्षौमश्र्णाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्या-

विकं वैश्यस्यैतेनैवेतराणि व्याख्यातान्यलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ॥ १२-१४ ॥

पूर्वोक्तानां क्षीमादीनां मध्ये,—ब्राह्मणस्य 'क्षीम' तसरादि प्रसिद्धं 'वा' अथवा 'शण' शणसूत्रमयं 'वसनं' परिधेयं कार्यम् । 'क्षत्रियस्य' 'कापासं' सूत्रमयं वसनं कार्यम् । 'वैश्यस्य' 'आविक' अट्यूनामयं वसनं कार्यम् । 'एतेनैव' वसननियमकथनप्रकारेणैव इतराणि द्रव्याणि 'अजिनरशनादश्वत्थपाणि' व्याख्यातानि' कथितानीवेति । तथाच पूर्वसूत्रेषु (९, १०, ११) यथाक्रमतो व्यवस्था ब्राह्मणस्य—'ऐणेय' कृष्णसारमृगचर्म अजिनम्, 'मौञ्जी' मुञ्जमयी रशना 'पार्श्वः' पलाशकाष्ठीयश्च दण्डः । क्षत्रियस्य—'रौरवं' रुरुमृगचर्म अजिनम्, 'काशी' काशमयी रशना, 'वैल्वः' विल्वकाष्ठीयश्च दण्डः । वैश्यस्य—'आजं' अजामृगचर्म अजिनम्, 'ताम्बूली' शणमयी रशना, 'आश्वत्थः' अश्वत्थकाष्ठीयश्च दण्डः । 'वा' अथवा 'अलाभे' ब्राह्मणादीनाम् क्षीमैणेयादीनामप्राप्तौ 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां 'सर्वाणि' क्षीमादीनि ऐणेयादीनि मौञ्ज्यादीनि पार्श्वीदीनि च द्रव्याणि यस्य यथालाभतो याच्याणि ॥ १२-१४ ॥

भा०:-उन में से ब्राह्मण को पहनने के लिये कपड़ा—रेशमी, या शण का, क्षत्रिय के लिये कपास का, वैश्य के लिये ऊनी होगा । मृग—ढाला भी इसी प्रकार क्रम से ब्राह्मण के लिये कृष्णसार नामक मृग का चर्म, क्षत्रिय के लिये रुरुमृग का और वैश्य के लिये बकरी का चर्म होगा । ब्राह्मण के लिये मुंजका कमर कस, क्षत्रिय के लिये काश का, वैश्य के लिये शण का होगा । और ब्राह्मण के लिये पलाश का दण्ड, क्षत्रिय के लिये विल्व का, वैश्य के लिये पीपर का होगा । यदि समयानुसार यथानियम ब्राह्मणादि के यथा योग्य वसन आदि दुर्घट होवें तो, सबही वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब प्रकार के वसन आदि व्यवहार कर सकेंगे । अर्थात् उक्त क्षीम (रेशमी) आदि चार व्यवहार करे जब, जिस समय, जिस किसी प्रकार का, वसन सुलभ पावे, उस समय वही ब्राह्मण आदि निर्विशेष व्यवहार कर सकेंगे, अजिनादि के विषय में भी समयानुसार इसी प्रकार यथा लाभ व्यवस्था करनी उचित है ॥ १३-१४ ॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति ॥ १५ ॥ अग्ने व्रतपतइति हुत्वा पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राडाचार्योऽवतिष्ठते । १६ । अन्तरेणाग्न्याचार्यो माणवकोऽञ्जलिकृतोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेषु दर्भेषु ॥ १७ ॥

‘शालायाः पुरस्तात्’ ‘उपलिप्ते’ स्थाने ‘अग्निः उपसमाहितः भवति’ ॥ १५ ॥ तत्र चाग्नौ ‘आचार्यः’ वेदाध्यापकः कश्चित् माणवकः प्रतिनिधिर्भवन् “अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तप्ते प्रब्रवीमि । तच्छ्रुकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ९ ॥ वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तप्ते प्रब्रवीमि तच्छ्रुकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ १० ॥ सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तप्ते प्रब्रवीमि । तच्छ्रुकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ११ ॥ चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तप्ते प्रब्रवीमि । तच्छ्रुकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२ ॥ व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तप्ते प्रब्रवीमि । तच्छ्रुकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ९-१३) — ‘इति’ एभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः ‘हुत्वा’ ‘अग्नेः पश्चात् उदगेषु दर्भेषु’ ‘प्राङ्’ ‘प्राङ्मुखः सन्’ ‘अवतिष्ठते’ अवतिष्ठेत ॥ १६ ॥ ‘अन्तरेणाग्न्याचार्यौ’ अग्न्याचार्ययोः मध्ये ‘माणवकः’ ‘आचार्यम् अभिमुखः’ ‘अञ्जलिकृतः’ उदकग्र-हणीपयुक्तः कृताञ्जलिः सन् ‘उदगेषु दर्भेषु’ अवतिष्ठेत ॥ १७ ॥

भा०—उपनयनार्थं अग्निं यज्ञशाला के पूर्वभाग में लीपे हुए स्थान में स्थापित करे ॥ १५ ॥ उस अग्नि में आचार्य अर्थात् एक व्यक्ति वेदाध्यापक लङ्के के प्रतिनिधि स्वरूप होकर “अग्ने व्रतपते” प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति प्रदान कर अग्नि के पश्चिम उत्तराय कुशों पर बैठे ॥ १६ ॥ अग्नि और आचार्य के मध्यस्थल में डाले हुए उत्तराय कुशाओं पर आचार्य के सम्मुख और कृताञ्जलि हो लङ्का बैठे ॥ १७ ॥ १५-१७ ॥

तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान् ब्राह्मणोऽपामञ्जलिं पूरयत्युपरिष्ठाञ्चाचार्यस्य ॥ १८, १९ ॥

‘तस्य’ तादृशावस्थस्य माणवकस्य ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां तिष्ठन् कश्चित् ‘मन्त्रवान्’ अधीतवेदः ‘ब्राह्मणः’ तस्यैव माणवकस्य ‘अञ्जलिं’ ‘अपां’ दानेन ‘पूरयति’ । ‘उपरिष्ठात्’ ततः परस्तात् ‘आचार्यस्य’ ‘च’ अपि अञ्जलिं पूरयति अपां दानेनेति ॥ १८-१९ ॥

भा०—उस लङ्के की दक्षिण में रह कर कोई वेदपाठी ब्राह्मण, उस की अञ्जलि जलसे भर देवे । उसके बाद आचार्यकी अञ्जलिभी जलसे भरे ॥ १८, १९ ॥ प्रेक्षमाणोजपत्यागन्त्रा समगन्महीति ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति कोनामासीति नामधेयं पृच्छति तस्याचार्यः ॥ २०-२२

‘आचार्यः’ ‘प्रेक्षमाणः’ माणवकमिति यावत् “आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं

[प्र० २ खं० १० सू० १८-२६]

उपनयनम् ॥

१०१

युयोतन । अरिष्टाः सञ्चरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥१४॥ अग्निष्टे हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् । अर्यमा हस्तमग्रहीन्मित्ररुचमसि अर्यमा ॥१५॥ (अग्नि-राचार्यस्तव) (म० ब्रा० १, ६, १४-१५) 'इति' द्रव्यं 'जपामि' स्वयम् । "ब्रह्मचर्य-मागामुपमानयस्व" ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १६)-'इति' इनामृचं 'वाचयति' माणवकम् । "को नामासि ? असौ नामास्मि" ॥१७॥ (म० ब्रा० १, ६, १)-'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'तस्य' माणवकस्य नामधेयं 'पृच्छति' ॥ २०-२२ ॥

भा०-आचार्य, उस लड़के के प्रति देखकर दो मन्त्रोंका स्वयं पाठ करे, 'ब्रह्मचर्यमागाम्' लड़के से पाठ करावे एवं 'को नामासि' मन्त्र को पढ़ते हुए उस लड़के का नाम पूछे ॥ २०-२२ ।

अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं वा नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येक उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिं साङ्गुष्ठं गृह्णाति देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसाविति ॥ २३-२६ ॥

'आचार्यः' 'अभिवादनीयं' अभिवादनाय हितं 'नामधेयं' द्वितीयजन्मसूचकं नूतनं नाम 'कल्पयित्वा' अमुकनामाहमस्मीति तन्माणवकनामैव तन्माणवकं वाचयित्वा (२३), 'अपामञ्जलिं गृहीतमुदकाञ्जलिम्' 'उत्सृज्य' परित्यज्य, "देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसी" ॥१८॥ (म० ब्रा० १, ६, १८),-'इति' (१) इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' साङ्गुष्ठं दक्षिणं पाणिं 'गृह्णाति' (२६) । तच्च द्विजत्वसूचकं नामधेयं कीदृशं कर्तव्यमित्याहुः- 'देवताश्रयं' वेदगर्भब्रह्मव्रतेत्यादिकं, 'वा' अथवा 'नक्षत्राश्रयं' आश्विन-रौहिणेत्यादिकं (२४), 'वा' अथवा 'एके' आचार्याः 'गोत्राश्रयं' वेद-पैल्वेत्यादिकम् 'अपि' नामधेयम् आहुरिति शेषः (२५) ॥ २३-२६ ॥

भा०-पीछे आचार्य स्वयं अभिवादन समय में कथनीय द्वितीय जन्म-सूचक एक नवीन नाम कल्पना कर उसे लड़के को "मैं अमुक नाम वाला गुरु तुम को अभिवादन करता हूँ" कहवा कर लिये हुए जलाञ्जलि को छोड़ कर "देवस्य ते"-इस मन्त्र का पाठ करते हुए दहिने हाथ से बालक के अंगुठे के साथ दहिना हाथ ग्रहण करे । यह नाम देवताश्रित, या नक्षत्राश्रित अथवा गोत्राश्रित होगा (देवताश्रित जैसे-वेदगर्भ, ब्रह्मव्रत, प्रभृति, नक्षत्राश्रित जैसे आश्विन, रौहिण प्रभृति; गोत्राश्रित जैसे-वैद, पैल्व प्रभृति) ॥ २३-२६ ॥

अथैनं प्रदक्षिणमावर्त्तयति सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्वासा-
विति ॥२७॥ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्ववमृश्यान-
न्तर्हितां नाभिमभिमृशेत् प्राणानां ग्रन्थिरसीति ॥ २८ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् । ‘एनं’ माणवकम् सूर्यस्यावृत मन्वावर्त्तस्वासौ ॥ १९ ॥
(म० ब्रा० १६. १९)—‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘प्रदक्षिणं’ यथास्यात्तथा ‘आवर्त्तयति’
प्राङ्मुखं करोति, आचार्यएव ॥ २७ ॥ दक्षिणेन पाणिना’ माणवकस्य ‘दक्षिण-
संसम्’ ‘अन्ववमृश्य’ स्पृशन्नेव “प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्त्रसोऽन्तक इदं ते
परिददाम्यमुम्” ॥ २० ॥ (म० ब्रा० १. ६. २०)—‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘अनन्त-
र्हितां’ वस्त्राच्छादनशून्यां ‘नाभिम्’ ‘अभिमृशेत्’ संस्पृशेत् आचार्यएव ॥ २८ ॥

भा०—अनन्तर इस बालक को प्रदक्षिण क्रम से पूर्वाभिमुख कर ‘सूर्यस्य’
इस मन्त्र का पाठ करे ॥२७॥ पश्चात् आचार्य “प्राणानां ग्रन्थिरसि” मन्त्र
पढ़ते हुए दहिने हाथ से उस बालक को दहिने कांधे पर होकर वस्त्रादि
आवरण शून्य नाभि छूए ॥ २८ ॥

उत्सृप्य नाभिदेशमहुरइति । २९ । उत्सृप्य हृदयदेशं
कृशानइति । ३० । दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्वाल-
भ्य प्रजापतये त्वा परिददाम्यसाविति ॥ ३१ ॥

माणवकस्य ‘नाभिदेशम्’ ‘उत्सृप्य’ हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा “अहुर इदं ते
परिददाम्यमुम्” ॥ २९ ॥ (म० ब्रा० १. ६. २९)—‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ।
॥ २९ ॥ माणवकस्य ‘हृदयदेशं’ ‘उत्सृप्य’ हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा कृशान इदं ते
परिददाम्यमुम्” ॥ २२ ॥ (म० ब्रा० १. ६. २२)—‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥ ३०
दक्षिणेन पाणिना’ माणवकस्य ‘दक्षिणसंसम्’ ‘अन्वालभ्य’ स्पृष्ट्वा “प्रजापतये
त्वा परिददाम्यमुम्” ॥ २३ ॥ (म० ब्रा० १. ६. २३)—‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥ ३१

भा०—बालक के नाभिदेश में हाथ चलाकर आचार्य ‘अहुरः’ इस मन्त्र
का पाठ करे ॥ २९ ॥ इसी प्रकार हृदयदेश में हाथ चला कर ‘कृशानः’ मन्त्र
पढ़े ॥ ३० ॥ फिर आचार्य दहिने हाथ से बालक के दहिने कांधे को स्पर्श कर
‘प्रजापतये त्वा’ मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

सव्येन सव्यं देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसाविति । ३२ ।
अथैनं संप्रेष्यति ब्रह्मचार्यस्य साविति समिधमाधेह्यपोऽशा
न कर्मकुरु मा दिवा स्वाप्सीरिति ॥ ३३-३४ ॥

‘सव्येन’ वामेन पाणिना, माणवकस्य ‘सव्य’ वाममंसं स्पृष्ट्वा देवाय स्वा
सवित्रे परिददाम्यसौ” ॥२४॥ (म० ब्रा० १, ६, २४) — ‘इति’ मन्त्रं पठेत आचार्यः ॥३२॥
‘अथ’ तदनन्तरम् । आचार्यः, ‘एनं’ माणवकं त्वमेतन्नामकः, अद्यप्रभृति “ब्रह्मचारी
असि” (म० ब्रा० १, ६, २५) — ‘इति’ हेतोः ‘समिधम् आधेहि अग्नौ प्रतिदि-
नमेव समिधाधानं कुरु, ‘अपोशान कर्म’ यथास्थानं यथाप्रयोजनञ्च शौचाचमनादि
च कुरु, ‘मा दिवा स्वाप्सीः’ दिवानिद्राञ्च मा कुरु, — ‘इति’ समिधनाधेह्यपो
शान कर्म कुरु मा दिवा स्वाप्सीः ॥२॥ (म० ब्रा० १, ६, २६) एतत्त्रितयोपदेश-
बोधकं मन्त्रम् पठन् ‘सम्प्रेष्यति’ उपदिशति । ३२-३४

भा०—इसी प्रकार बाँये हाथ से बालक के बाँये कंधे को स्पर्श कर
‘सवित्रेत्वा’ मन्त्र को पढ़े ॥३२॥ उस के पश्चात् आचार्य, इस बालक को “तुम
आज से इस नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मचारी होते हो, प्रतिदिन माथं प्रातः अग्नि
में समिधादान करना और शौचाचार युक्त रहना, दिनमें न सोना” ये तीन
उपदेश दें ॥३३. ३४॥

उदङ्गनेरुत्सृप्य प्राडाचार्य्य उपविशन्त्युदगग्रेषु दर्भेषु
। ३५ । प्रत्यङ्माणवको दक्षिणजान्वक्तोऽभिमुखआचार्य्य-
मुदगग्रेष्वेव दर्भेषु ॥ ३६ ॥

‘आचार्यः’ ‘अग्नेः’ ‘उदक्’ उत्तरस्या उदगग्रेषु दर्भेषु ‘प्राङ्’ प्राङ्मुखः सन्
‘उपविशति’ उपविशेत् ॥ ३५ ॥ माणवकः’ तत्रैव ‘उदगग्रेष्वेव दर्भेषु’ ‘दक्षिण-
जान्वक्तः’ भूमिगतदक्षिणजानुकः ‘आचार्यमभिमुखः’ ‘प्रत्यङ्’ पश्चिन्मुखः सन्
उपविशेदित्येव ॥ ३६ ॥

भा०—पश्चात् आचार्य अग्नि के उत्तर दिशा में उत्तराग्र रखे हुए कुशां पर
पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ३५ ॥ बालक भी उसी स्थान में उत्तराग्र रखे हुए कुशाओं
पर अपना दहिना जाँघ(जानु)भूमि में लगा कर आचार्य के मुखमुख बैठे ॥३६॥

अर्थनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयतीयं
दुरुक्तात् परिवाधमानेत्यूतस्य गोप्त्रीति च ॥ ३७ ॥

‘अथ, तदनन्तरम् । आचार्यः ‘एनं’ माणवकं ‘त्रिःप्रदक्षिणं’ यथास्यात्तथा
‘मुञ्जमेखलां’ मुञ्जमयीं रजनां ‘परिहरन्’ परिधापयन् “इयं दुरुक्तात्परिवाध-
माना वरुणं पवित्रं पुनती मञ्जागात् । प्राणापानाभ्यां बलमाहरन्ती स्वसा-
देवी सुभगा मेखलेयम्” ॥ २७ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २७) — ‘इति’ मन्त्रं, ऋतस्य
गोप्त्री तपसः परस्वी प्रती रत्नः सहमाना अरातीः । सा मा समन्तमभिपर्येहि-

भद्रे धर्तारस्ते मेखले मा रिषाम” ॥२८॥ (स० ब्रा० १, ६, २८) —‘इति’ मन्त्रं ‘च’
‘वाचयति’ । अत्रैव यज्ञोपवीतपरिधापनव्यवहारश्च, परं कौशुमानां सूत्रकारा-
नुसलेखादकृतेऽपि न दोष इति नव्याः । वस्तुतो वेदाध्ययनायाचार्यसमीपे नय-
नमेवोपनयनं, यज्ञोपवीतधारणान्तु दैवकार्यानुष्ठानार्थमेव सूत्रकारेण विहित-
मिति यदायदैव दैवकार्यं कर्तव्यं भवेत् तदा तदैव धार्यं स्यादिति न क्षतिः,
शिखापरिरक्षणान्तु सर्वथैव कार्यमेवान्यथा दैवकार्यकाले कुतश्चायास्यतीति ॥३७॥

भा०—आचार्य, उस बालकको मूँज की बनी हुई मेखला, तीन फेरा करके
पहना कर ‘इयं दुरुक्तात्’ और ‘ऋतस्य’ गोपत्री इन दो मन्त्रों की पढ़ावे ॥३७॥

अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवी-
त्विति । ३८ । तस्माअन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चश ऋक्शइति महा-
व्याहृतीश्च विहृता ओंकारान्ताः ॥ ३९—४० ॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । माणवकः ‘भोः !’ ‘अधीहि’ अध्यापय, ‘भवान् मे
सावित्रीम् अनुब्रवीतु’—‘इति’ प्रार्थनावाक्यद्वयं कथयन् ‘उपसीदति’ शरणगती
भवति । ३८ । ततश्च ‘तस्मै’ माणवकाय, प्रथमं ‘पच्छः’ पादं पादं कृत्वा, ततः
‘अर्द्धर्चशः’ अर्द्धर्चमर्द्धर्चं कृत्वा, तदन्ते च ‘ऋक्शः’ “तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्” ॥ २९ ॥ पूर्णामृचमावर्त्तयित्वा ‘इति’ एवमेव
‘अन्वाह’ अनुक्रमेण ब्रूयात् (३९) ‘च’ अपि ‘विहिताः’ विभिन्नीकृताः (१)
‘ओंकारान्ताः’ ‘महाव्याहृतीः’ “भूर्भुवःस्वः” (सं० ब्रा० १, १००) इति अनुब्रूयात् ततः
ओं इत्यस्याप्युपदेशः कार्य इत्यर्थः ॥ ३९, ४० ॥

भा०—अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़, नम्रता पूर्वक प्रार्थना करे
कि—‘हे गुरो ! मुझे वेद पढ़ावे, एवं सावित्री उपदेश करें’ ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार
बालक कर्त्तृक वेदाध्ययन एवं उसका आरम्भ सूचक सावित्री मन्त्र के प्रथम
उपदेश प्रार्थित होने पर आचार्य उसे पहिले एक २ चरण करके, पुनः आधी २
ऋचा, फिर सम्पूर्ण ऋचा वार २ आवृत्ति करा देवे। तदनन्तर “भूः, भुवः, और
स्वः”—इन तीन महा व्याहृतियोंको अलगर एवं ३० कारभी अभ्यास करावे ॥३९, ४० ॥

वार्क्षञ्जास्मै दण्डं प्रयच्छन् वाचयति सुश्रवसं मा कुर्विति । ४१

‘च’ ततः ‘अस्मै’ माणवकाय ‘वार्क्षं’ पलाशवृक्षावयवं दण्डं ‘प्रयच्छन्’
सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वत्सुश्रवः सुश्रवाः । देवेष्वेव महत्सुश्रवः सुश्रवा
ब्राह्मणेषु भूयासम्” ॥ ३९ ॥ (स० ब्रा० १, ६, ३९) —‘इति’ मन्त्रं ‘वाचयति’
माणवकमेव । ४१

भा०:-पश्चात् आचार्य, इस माणवक के हाथ में पलाश वृक्ष का दण्ड देकर “सुअवसः सुअवसं मा कुरु” इस मन्त्र का पाठ करावे ॥ ४१ ॥

अथ भैक्षं चरति मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्यो वा सन्निहिताः स्युराचार्याय भैक्षं निवेदयति ॥ ४२-४४ ॥

‘अथ’ उपनयनानन्तरं ‘भैक्षं’ भिक्षार्थं ‘चरति’ अटति (४२) ‘अग्रे’ ‘मातरमेव’ भिक्षेतेति शेषः । ‘च’ अपि मातुरेव ‘अन्ये द्वे सुहृदौ’ ततः परं भिक्षेत । ‘वा’ अथवा ‘यावत्यः’ स्त्रियः ‘सन्निहिताः’ तत्रोपस्थिताः स्युः ताः सर्वाएव मात्रादिक्रमेण प्रथमं भिक्षेत । पुरुषभिक्षणस्य मात्रोल्लेखइत्यपि ध्येयम् (४३) । संगृहीतञ्च तद् भैक्षं भिक्षात् सर्वमेव ‘आचार्याय’ ‘निवेदयति’ उत्सृजति (४४)

भा०:-इसप्रकार उपनयन होने पर बालक भिक्षाचरण करे । पहिले माता से भिक्षा मांगे, तदनन्तर माता के दो सुहृद् के निकट, या उस स्थान में जितनी स्त्रियां उपस्थित हों, माता से आरम्भ कर सब ही के निकट भिक्षा ग्रहण करे * । सब भिक्षा को संग्रह कर आचार्य को निवेदन करे ॥ ४२-४४ ॥

तिष्ठत्यहःशेषं वाग्यतः ॥ ४५ ॥

भिक्षाचरणान्तर्कर्मयापितदिवाबहुभागो माणवकः ‘अहःशेषं’ तद्दिनावशिष्टांशं ‘वाग्यतः’ संयतवाक् सन् ‘तिष्ठति’ तिष्ठेत् अवस्थितिं कुर्यात् ॥ ४५ ॥

भा०:-इन कार्यों के करने में बालक का प्रायः सारा दिन बीत जायेगा, जो कुछ दिन का भाग शेष रह जावे, उसको चुपचाप स्थिरता से बिनाम करते हुए बितावे ॥ ४५ ॥

अस्तमिते समिधमादधात्यग्नये समिधमाहार्पमिति ॥ ४६ ॥

‘अस्तमिते’ दिवाकरे अग्नये समिधमाहार्पं कृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिधस्येवमहमायुषा मेधया वर्धसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन धनेनाकाद्येन समेधिषीय (स्वाहा) ॥ ३२ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३२)-‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘समिधम्’ समित्काष्ठैकम् ‘आदधाति’ अग्राविति शेषः ॥ ४६ ॥

भा०:-पीछे सूर्यास्त होने पर “अग्नये समिध माहार्पम्” मन्त्र को पढ़ते हुए अग्नि में एक समित् काष्ठ डाले ॥ ४६ ॥

* पुरुष के निकट भिक्षा मांगने का कोई उल्लेख न होने से जान पड़ता है कि भिक्षा देना कार्य गृहिणी ही का है । साधारणतः भी भिक्षुक लोक ‘गृहस्थ’ के घर पर ६६ भिक्षा दो माई ॥ बोल कर भिक्षा मांगा करते । काशी में ब्रह्मचारी गण भी गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित होकर ६६ भवति भिक्षां देहि ॥ इस वाक्य द्वारा भिक्षा मांगते हैं, इस लिये पिता आदि के निकट भिक्षा प्रार्थना और ग्रहण व्यवहार, पिता आदि के भिक्षा दान वाञ्छा को सफलता मात्र के लिये है ॥

त्रिरात्रमक्षारलवणाशी भवति ॥४७॥ तस्यान्त सावित्रश्चरुः४८
यथार्थम् ॥ ४९ ॥ गौर्दक्षिणा ॥५० ॥ १० ॥

‘त्रिरात्र’ तद्दिनप्रभृतिः दिनत्रयम् ‘अक्षारलवणाशी’ क्षारलवणाभिकभोजी
‘भवति’ भवेत् ॥४७॥ ‘तस्य’ दिनत्रयस्यान्ते चतुर्थाहे ‘सावित्रः’ सवितृदेवताकः
‘चरुः’ पक्कव्यः होतव्यश्चेति सुतरामागतः ॥४८॥ अनन्तरं ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं
विहरणविश्रामादिकं कुर्यात् ॥ ४९॥ उपनयनसंस्कारस्यैतस्य ‘दक्षिणा’ गौः एकै-
वेति समाप्तमुपनयनम् ॥ ५० ॥ १० ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥२१०॥

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयः प्रपाठकः ॥ २ ॥

भा०:—उपनयन दिन से तीन दिन पर्यन्त क्षार लवण न खावे ॥ ४७ ॥
इन तीन दिन के पीछे चरु—पाक करके सविता देवता के उद्देश से आहुति
प्रदान करे ॥ ४८ ॥ इस प्रकार उपनयन संस्कार शेष होने पर अन्य कार्य जो
हो, अपनी इच्छानुसार करे ॥ ४९ ॥ इस उपनयन संस्कार की दक्षिणा एक
गौ मात्र है ॥ ५० ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के दशमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२१०॥

और गोभिलगृह्यसूत्र का द्वितीय प्रपाठक भी समाप्त हुआ ॥ २ ॥

—:०:—

अथ तृतीयप्रपाठकः ।

अथातः षोडशे वर्षे गोदानम् ।१। चूडाकरणेन केशान्त-
करणं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरद्योतनाय । ‘अतः’ उपनयनकालतः षोडशे वर्षे तथाचू-
यस्य गर्भाष्टमेऽब्देभूतमुपनयनं तस्य गर्भवतुर्विंशाब्दे, एवं यस्य नवमादि षोड-
शाब्दान्ते एवोपनयनं तस्य पञ्चविंशादि द्वात्रिंशाब्दान्ते ‘गोदानम्’ नाम संस्का-
रविशेषं कार्यम् ।१। अस्मिंश्च कर्मणि केशवपनं कर्त्तव्यम्, तच्च ‘केशान्तकरणं’
‘चूडाकरणेन’ पूर्वोक्तेन ‘व्याख्यातम्’ कथितम् ; चूडाकरणवत् कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥२॥

भा०:—उपनयन काल से सोलहवें वर्ष में अर्थात् जिस का गर्भ काल से
गिनती कर आठवें वर्ष में उपनयन हुआ है, उस के गर्भ से २४ वें वर्ष में, और
जिस का नवम आदि १६ वर्ष की अवस्था में उपनयन हुआ हो उस का २५
वर्ष से ३२ वर्ष की उमर में गोदान संस्कार करे ॥ १ ॥ इस समावर्त्तन कार्य में
जो केश कटाना पड़ता है वह पूर्वोक्त चूडाकरण के नियमानुसार होगा ॥२॥

[प्र० २ खं० १० सू० ४७-५०। प्र० ३ खं० १ सू० १-९] समावर्त्तनम् ॥ १०७

ब्रह्मचारी केशान्तान्कारयतेसर्वाण्यङ्गलोमानिसं० हारयते ३,४॥

‘ब्रह्मचारी’ ब्रह्मवेदः, तद्ग्रहणाचारविशिष्टः आद्याश्रमी, यदैव ‘केशान्तान् कारयते’ तदैव ‘सर्वाणि अङ्गलोमानि संहारयते’ कक्षवक्षोपस्थशिखाकेशानपि वापयेदित्यर्थः । ३, ४ ॥

भा०:-ब्रह्मचारी अर्थात् वेदाध्ययनाचार युक्त आद्याश्रमी जिस समय केश कटावे । उस समय कक्ष, (वगल) वक्ष, (छाती) उपस्थ, (लिङ्ग) और शिखा पच्येन्त के रोम कटावे ॥ ३, ४ ॥

गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य
अविमिथुनं वैश्यस्य गौर्वैव सर्वेषाम् ॥ ५-८ ॥

अस्य हि गोदानकर्मणः ‘दक्षिणा’ ‘गोमिथुनं’ गोद्वयम् आचार्याय देयम् ‘ब्राह्मणस्य’ कर्ता ब्राह्मणश्चेदित्यर्थः (५) । ‘क्षत्रियस्य’ अश्वमिथुनम् अश्वद्वयं गोदानकर्मणः दक्षिणा (६) । ‘वैश्यस्य’ ‘अविमिथुनं’ मेषद्वयं दक्षिणा (७) । ‘गौ’ अथवा ‘गौः एव’ ‘सर्वेषां’ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दक्षिणा (८) । तथाहि ब्राह्मणब्रह्मचारी, वैश्यब्रह्मचारी च स्वस्वाचार्याय गोद्वयमेव दक्षिणा वेदाध्यापनम्यदेयेति । ५-८ ॥

भा०:-इस गोदान संस्कार (समावर्त्तन) की दक्षिणा ब्राह्मण यदि ब्रह्मचारी हो, तो अपने आचार्य को दो गौ, ॥५॥ यदि क्षत्रिय हो, तो छः घोड़े देवे ॥ ६ ॥ और वैश्य हो तो दो भेड़ा देवे ॥७॥ या ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही गौ ही दक्षिणा देवे ॥ ८ ॥

अजः केशप्रतिग्राहाय ॥ ९ ॥

‘केशप्रतिग्राहाय’ केशप्रतिग्रहकर्त्रे नापिताय ‘अजः’ पुमान् ह्यगः एकएव दक्षिणा देया सर्वजातिब्रह्मचारिभिरिति ॥ ९ ॥

भा०:-केश लोम आदि कटवाने पर जो केशादि को फेरता है अर्थात् नापित उसे, उस के परिश्रमार्थ एक ह्यग देवे ॥ ९ ॥

द्वितीयाश्रमग्रहणस्य वर्षाधिककालाऽपक्षास्तीति ज्ञायेत एव चेत्, आचार्याय गादक्षिणादानानन्तरमपि “अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमपि”—इति ब्रह्मचर्याश्रमएवावलम्बनीयइति पुनरपि आचार्यान्तिकमुपनीतोभवेत्, तस्यैवाचार्यस्थान्तिके स्थितो ब्रह्मापरपर्यायवेदालोचनयास्योद्गाहकालं प्रतीक्षेतेति । तत्रोपनयनेतिकर्त्तव्यतामाह :-

भा०:-[यदि ब्रह्मचारी को समावर्त्तन के अनन्तर गृहस्थाश्रम (विवाह), ग्रहण

करने में एक वर्ष से अधिक विलम्ब जान पड़े, तो आचार्य को दक्षिणा देने पर भी 'एक क्षण अनाग्रसी न रहे' के अनुसार उसी ब्रह्मचर्याश्रम का अवलम्ब लेना चाहिये, इस लिये पुनः आचार्य के समीप उपनीत हो। अर्थात् पूर्ववत् नियम से आचार्य के निकट रहकर ब्रह्म के अर्थात् वेद की आलोचना करते हुये अपने विवाह की प्रतीक्षा करे। यह दोवार उपनयन किस रीति से होगा सो अग्रिम सूत्र से कहते हैं]

उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातं न त्विहाहतं वासो नियुक्तं नालङ्कारः ॥ १०-१२ ॥ नाचरिष्यन्तं संवत्सरमुपनयेत् ॥ १३ ॥

'उपनयनेन' पूर्वोक्तेनैव 'उपनयनम्' एतदपि 'व्याख्यातम्' कथितम् (१०)। विशेषस्तु 'इह' उपनयने 'अहतं वासः' न नियुक्तम् (११)। किञ्चेह 'अलङ्कारः' अपि न नियुक्तः इत्येव (१२)। १०-१२ ॥ एतदुपनयननिषेधमाह;— एतदुपनयनतः 'संवत्सरम्' अपि 'अचरिष्यन्तं' ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठानं सकरिष्यन्तं ब्रह्मचारिणं 'न उपनयेत्' पुनरुपनीतीभवनस्य प्रयोजनं नास्तीति भावः। समाप्तं गोदानम् ॥ १३ ॥ ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यावस्थायां यथा यथाचरणं कर्त्तव्यं, यद् यच्च व्रतमनुष्ठेयम्, अतस्तद्वक्तुमारभते;—

भा०:—पूर्वोक्त उपनयन कथन द्वारा यह कहा गया है कि विशेष इस उपनयन में अखण्ड वस्त्र एवं अलङ्कार की आवश्यकता नहीं ॥ १०-१२ ॥ इस उपनयन के पीछे एक वर्ष काल भी जो ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान न करना निश्चित हो, अर्थात् समावर्त्तन के पीछे एक वर्ष के मध्य ही में जिसके विवाह होने की सम्भावना हो, उस को इतने कम दिन के लिये पुनः उपनीत होने की आवश्यकता नहीं ॥ १३ ॥ अब ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्यावस्था में क्या २ कर्त्तव्य हैं, सो कहते हैं:—

वार्क्षज्ञास्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ॥ १४ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ १५ ॥

उपनयनकाले यदा माणवकाय 'वार्क्षं दण्डं प्रयच्छन्' तदैव 'आदिशति' अनुसूत्रवदयमाणा उपदेशानिति ॥ १४ ॥ ते चोपदेशाश्च;—(१) 'अधर्माचरणात् अन्यत्र' अधर्माचरणमाचार्यस्य नानुकरणीयम् अधर्मापदेशश्च न अवलीयः, ततोऽन्यत्र सदा सर्वथैव 'आचार्याधीनो भव' आचार्याज्ञाकारी आचार्याभिमतानुगामी च भव, इति प्रथमोपदेशः ॥ १५ ॥

भा०:—उपनयन काल में जब माणवक को दण्ड प्रदान करे उस समय

वक्ष्यमाण सूत्रों द्वारा कहे हुए उपदेशादि देवे ॥१४॥ आचार्य्य का यदि कोई अधर्माचरण देखो, तो उस का अनुकरण न करना, और आचार्य्य यदि अधर्म करने कहें तो, उसे भी न करना; अधर्माचरण को छोड़ कर सर्वथा आचार्य्य, जब जो करने कहें, उस समय वही करो, एवं सततकाल आचार्य्य के मतानुगामी रहने की चेष्टा करो ॥ १५ ॥

क्रोधानृते वर्जय ॥१६॥ मैथुनम् ॥१७॥ उपरि शय्याम् ॥१८॥
कौशीलवगन्धाञ्जनानि ॥ १९ ॥

(२३) 'क्रोधानृते' क्रोधम्, अनृतम् मिथ्याव्यवहारञ्च 'वर्जय' सत्यपि क्रोधकारणे क्रोधकार्यं विवादादिकं ना कुरु, किञ्च मिथ्याभाषणादिकमपि न कार्यम् ॥ १६ ॥ (४) 'मैथुनं स्त्रीमङ्गं वर्जय इत्येष सर्वत्र ॥ १७ ॥ (५) 'उपरि शय्यां' गुरुशय्यातः उच्चैः शयनं वर्जय । इति पञ्चमोपदेशः ॥ १८ ॥ (६, ७, ८) कौशीलवं नृत्यगीतवादित्राद्यनुष्ठानम्, गन्धः घृष्टमलयजादिको मालयाद्युत्पन्नः, अञ्जनं चतुषोः शोभासम्पादकम्; एतान्यपि त्रीणि वर्जय । अत्रापि यथा चाध्यायनस्य व्याघातकरो मनोजाविर्भावः स्यादेवं कौशीलवादिकं वर्जयेत्, न तु सामादिगीतवादित्राणां, नापि गुरुप्रसादगन्धमालयादिं, न च रोगाद्युपशमनायाञ्जनव्यवहारं वर्जयेत् । अतएव मनुनाऽभ्यधापि "यः स्त्रग्व्यपि द्विजोऽधीते" इत्यादि १९

भा०:-क्रोध के कोई कारण होने पर भी क्रोध प्रकाश पूर्वक विवादादि न करना एवं झूठ बोलनादि कर्म भी न करना ॥१६॥ स्त्री प्रमङ्ग न करना ॥१७॥ गुरु की शय्या की अपेक्षा अपनी शय्या ऊंची न करना ॥ १८ ॥ जिससे मनो-विकार उत्पन्न हो, ऐसा नृत्य, गीत, वाजा, आदि की चर्चा, चन्दन, और मालादिगन्ध का व्यवहार एवं आंखों में अञ्जन धारण आदि न करना ॥ १९ ॥

स्नानम् ॥२०॥ अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ॥२१॥

(९) 'स्नानम्' जलक्रीडापूर्वकं, वर्जय ॥ २० ॥ (१०, ११, १२) 'अवलेखनं' 'मुखशोभनालकातिलकादि' 'दन्तप्रक्षालनं' दन्तमलदूरीकरणायैव यावदावश्यकं तदतिरिक्तं दन्तशोभादिसम्पादनाय तुत्थरञ्जनादिनोपसेवनम्, 'पादप्रक्षालनं' आवश्यकातिरिक्तम्; इमानि च त्रीणि वर्जय ॥ २१ ॥

भा०:-जल क्रीडा पूर्वक स्नान न करना ॥ २० ॥ अलका तिलक द्वारा मुख को सुन्दर करना, तुत्थकादि द्वारा दांत रंगना एवं आवश्यकता के अतिरिक्त बहुत देर तक पैर न धोना ॥ २१ ॥

क्षुरकृत्यम् ॥ २२ ॥ मधुमांसे ॥ २३ ॥ गोयुक्तारोह-
णम् ॥ २४ ॥ अन्तर्ग्रामउपानहोर्धारणम् ॥ २५ ॥

(१३) 'क्षुरकृत्यम्' क्षुरेण केशलोमादिनां वापनं वर्जय । पूर्वं यदुक्तं ब्रह्मचारीत्यादि सूत्रद्वयं केशवपनव्यवस्थापकं तत् समावर्तनाद्भूतं बोध्यम् । ॥ २ ॥ (१४.१५) 'मधु' सारघम् वर्जय । २३ । (१६) गोयुक्ते शकटादौ आरोहणं वर्जय ॥ २४ ॥ (१७) 'अन्तर्ग्रामे' ग्राममध्ये 'उपानहोः' चर्मपादुकयोः 'धारणं' वर्जय । २५ ।

भा०:- क्षुर (अस्तरा) के द्वारा केश, लोम, आदि का मुण्डन न करावे ॥२२॥ * मधु सक्त्वियों द्वारा एकत्र किया ग्रहत एवं मांस भी न खावे ॥ २३ ॥ गौ द्वारा जो सवारी चलायी जावे, उस पर भी न चढ़े ॥ २४ ॥ ग्राम के मध्य हो कर जुता न पहने ॥ २५ ॥

स्वयमिन्द्रियमोचनमिति ॥ २६ ॥ मेखलाधारणभैक्षच-
र्यदण्डधारणसमिदाधानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते
नित्यधर्माः ॥ २७ ॥

(१८) 'स्वयमिन्द्रियमोचनम्' हस्तमैथुनञ्च वर्जयेत्येव । 'इति' इमेऽष्टा-
दश वर्जनीया गताः । २६ । कर्त्तव्यानुपदिशति:- (१-५) मेखलाया धारणम्, भिक्षाचारिणोभावावलम्बनम्, दण्डस्य धारणम्, समिधः आधानम्, उदकाना-
मुपस्पर्शनपूर्वकमीश्वरोपासनम्, प्रातरुत्थायैव गुरुजनेभ्योऽभिवादनम्, 'इति
एते' पञ्च व्यवहाराः नित्यधर्माः प्रतिदिनकर्त्तव्याः ॥२७॥ ब्रह्मचारिणां चत्वारि
वेदव्रतान्यनुष्ठेयानि गोतमेनोक्तानि चाचार्योप्ययमाह:-

भा०:-हस्त मैथुन * न करना । ये, १८ उपदेश समाप्त हुए ॥२६॥ मेखला
धारण, भीख मांग कर पेट भरना, दण्ड धारण, समिदाधान, जल से हाथ पैर
धोकर ईश्वरोपासना, एवं प्रातः ही उठ कर गुरु जनों की अभिवादन, ये पांच
कर्म प्रति दिन कर्त्तव्य हैं ॥ २६, २७ ॥ समावर्त्तन के पीछे ब्रह्मचारी को और
४ व्रत करना चाहिये सो कहते हैं ।

गोदानिकप्रातिकादित्यव्रतौपनिषदज्यैष्ठसामिकाः संव-
त्सराः ॥ २८ ॥

* इस के पूर्व ३ य सूत्र में जा केश मुण्डन का व्यवस्था कहा गया है, वह समावर्त्तन संस्कार में कर्त्तव्य
द्वितीय सूत्रोक्त ही का विशेष विधिमात्र है ॥ ** यह दुर्गुन आज कल—स्कूल एवं कालिज के लड़कों में अधिकार
पाया जाता है इस का कारण शिक्षा का अभाव है ॥

‘संवत्सराः, पूर्वोक्ताः उपनयनतः षोडशसंख्याकाः, गोदानिकादिकाः भवे-
युरित्यर्थः । तत्र षोडशाब्देषु, केचनाब्दाः ‘गोदानिकाः’ स्युः, अत्र वेदग्रन्थानां
सर्वेषामेवाध्ययनं समाप्यम् । केचनाब्दाः ‘व्रातिकाः’ स्युः विशेषतोऽन्नारण्यसं-
हितोक्तव्रतपर्वणामेवानुशीलनं कर्तव्यम् । केचनाब्दाः ‘आदित्यव्रतौपनिषदाः’
स्युः, अत्र आदित्यव्रतसाम्नामुपनिषद्ब्राह्मणस्य चानुशीलनं प्रधानतः कर्त्त-
व्यम् । केचनाब्दाः ‘ज्येष्ठसामिकाः’ स्युः अत्र तु ज्येष्ठसाम्नां त्रयाणामेवानुशी-
लनं प्रधानतः कार्यमिति । यद्यपीमे षोडशैवाब्दाः गोदानिकाः परन्तत्राप्युत्त-
राब्दानां व्रातिकादिविशेषपरिचयसत्त्वादाद्याब्दानां कतिपयानां तदभावात्
केचनाब्दाः प्रथमादयः सामान्यतो गोदानिका इत्येवाख्यायन्ते, पराब्दाश्च
विशेषतो व्रातिकेत्यादिभिः प्रसिद्धाः । यथा च सामवेदीय आर्चिकः सर्वत्रैव
छन्दोमय स्तथापि उत्तरदलस्य उत्तरार्चिकइति विशेषनामप्रसिद्धेः पूर्वस्य तु
‘छन्दः’ इत्येव । यथापि ज्योतिःशास्त्रे, ग्रहादीनां सर्वेषामेव दशाकालानां
बहुत्वेष्वपि निजभोग्या वर्षाः मासा वा तत्र स्वल्पाएव भवन्तीति ॥ २८ ॥

भा०:—उपनयन से १६ वर्ष ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन कर ब्रह्मचारी कर्त्तव्य
वेदाध्ययनादि सम्पूर्ण होने पर आचार्य्य को दक्षिणा स्वरूप दी गौ दान देकर
अग्नि घर लौट जाता, इसी कारण २४ वर्ष के वयस में कर्त्तव्य उस संस्कार
को ‘गोदानिक’ एवं ‘समावर्तन’ कहते हैं । इस १६ वर्ष के बीच, ४ व्रत करने
पड़ते हैं और उस के अनुयायी ही यह षोडशाब्द चार नाम में प्रसिद्ध हो
जाता है । उन में से जो कई एक वर्षों में वेद ग्रन्थ समस्त का अध्ययन समा-
प्ततः समाप्त होगा उसे गोदानव्रत एवं उस कई एक वर्ष को उस का अनुयायी
‘गोदानिक अब्द’ कहते हैं । उस के पश्चात् जो कई एक वर्ष में पुनः “अरण्य
संहिता” के व्रत पर्व का विशेष अनुशीलन करना होता, उस कई एक वर्ष को
‘व्रातिकाब्द’ कहते । अनन्तर जो कई एक वर्ष में “आदित्य व्रत” साम आदि
और उस के साथ उपनिषद् ब्राह्मण का विशेष अनुशीलन करना पड़ता, उस
कई एक वर्ष को “आदित्य व्रतौपनिषद् अब्द” कहते । इसी प्रकार शेष के
जिस वर्ष में, या कई एक वर्ष में ज्येष्ठसाम आदि का विशेष अनुशीलन
किया जाता, उस कई एक वर्ष को “ज्येष्ठसामिक अब्द” कहते । यद्यपि वस्तुतः
ये षोडशाब्द ही “गोदानिक” हैं, किन्तु जिस प्रकार सामवेदीय आर्चिक
ग्रन्थ का आद्यन्त सब ही छन्दोमय होने पर भी उत्तर दल का ‘उत्तरा’ यह
विशेष नाम रहने से पूर्व दल मात्र को ही ‘छन्दः’ कहते; उसीप्रकार इस
स्थान में भी उत्तराब्द आदि का व्रतादि विशेष नाम रहने से प्रथमादि कई

एक वर्ष मात्र को 'गोदानिक' अर्द्ध कहते । ज्योतिष शास्त्र में भी ग्रहों की दश समधिक काल होने पर भी प्रथम कई एक वर्ष, या कई एक मास मात्र उस ग्रह की 'अयनीदशा' कह कर परिचित होती ॥ २८ ॥

तेषु सायं प्रातरुदकोपस्पर्शनम् । ॥ २९ ॥ आदित्यव्रत-
न्तु न चरन्त्येके ॥ ३० ॥

'तेषु' गोदानिकादिषु चतुर्ष्वेव व्रतेषु 'सायंप्रातः' 'उदकोपस्पर्शनम्', आचम-
नादिपूर्वकमीश्वरोपासनं कार्यम् ॥ २९ ॥ 'एके' 'आदित्यव्रतन्तु' न 'चरन्ति'
उपनिषद्ब्रतमेव केवलमाचरन्ति न पुनरादित्यव्रतयुक्तं तदिति भावः ॥ ३० ॥

भा०:-इन्हीं गोदानिक आदि चार व्रतों में सायंकाल एवं प्रातःकालमें आच-
मन आदि करके यथोक्त रीति से ईश्वरोपासना करे ॥ २८ ॥ अनेक लोग "उप-
निषद्" व्रत के साथ "आदित्यव्रत" का अनुशीलन नहीं करते ॥ ३० ॥

ये चरन्त्येकवाससो भवन्त्यादित्यञ्च नान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्षशर-
णाभ्यां नापोऽभ्यवयन्त्यूर्ध्वं जानुभ्यामगुरुप्रयुक्ताः ॥ ३१-३३-१

'ये' तु 'चरन्ति' चरेयुः, ते 'एकवाससः' उत्तरीयहीनाः 'भवन्ति' भवेयुः
तावत्कालमिति तेषां प्रति प्रथमोपदेशः । 'च' पुनः 'वृक्षशरणाभ्याम् अन्यत्र'
'आदित्यं न अन्तर्दधे' वृक्षच्छायां गृहे च भवत्येवादित्यान्तर्धानम् ततोऽन्यत्र
आदित्यान्तर्धानाय छत्रादिकं न व्यवहरेयुरिति द्वितीयः । 'अगुरुप्रयुक्ताः'
गुरुभिः विशेषकाकार्यार्थमनुज्ञाताः 'जानुभ्यामूर्ध्वम् अपः' जानुदप्राधिकान्य-
दकानि 'न अभ्यवयन्ति' नावतरन्ति गंभीरनदीपारं न गच्छेयुरिति तृतीयोप-
देशः । ३१-३३ । १

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके प्रथमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३.१

भा०:-जो लोग 'आदित्यव्रत' के साथ 'उपनिषद्ब्रत' अवलम्ब करते हैं,
उन को निम्न लिखित तीन व्रत अवलम्बन करना चाहिये । प्रथम-जब तक
इस व्रत का अनुष्ठान करे, उत्तरीय वस्त्र का व्यवहार न करे, एक ही वस्त्र से
निर्वाह करे । द्वितीय, जब तक, घर एवं वृक्ष के अतिरिक्त सूर्य को तिरोहित
(छिपावे) न करे अर्थात् छाते आदि का व्यवहार न करे । तृतीय, जब तक, गुरु की
विशेष आज्ञा बिना, जानु परिमाण जल से अधिक जल में न जावे ॥ ३१-३३ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथमखण्डका भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥ ३ । १ ॥

—○—:○—:○—

द्वादशमहानाम्निकाः संवत्सरा नवषट्त्रय इति विकल्पः । १-३

[प्र० ३ खं० १ सू० २९-३३, खं० २ सू० १-१०] समावर्त्तनं ब्रह्मचारिकृत्यञ्च ॥ ११३

‘महानाम्निकाः’ महानाम्निसामानुशीलनसाध्याः ‘संवत्सराः’ द्वादश, नव, षट्, त्रयः—‘इति विकल्पः’ अस्ति। इमे च काम्यव्रतसाधना द्वादशादिका अठ्ठाः गोदानिकषोडशादतोऽतिरिक्ता ज्ञेयाः । १-३ ॥

भा०:—“महानाम्नी” नाम से प्रसिद्ध सामानुशीलन-साध्य व्रत करे, वह १२, ९, ६, या ३ वर्षों में पूरा होगा। ये द्वादश आदि वर्ष, पूर्वोक्त १६ वर्ष से अतिरिक्त है। जो लोग इस काम्यव्रत के अनुष्ठान करने की इच्छा करें, वे, षोडशाब्द में गोदानादि चारों व्रत अनुष्ठान करके अवश्य कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य समाप्त कर और यथा सामर्थ्य १२, ९, ६ वा ३ वर्ष और भी ब्रह्मचर्य करें। इस व्रत का फल आगे कहा जावेगा ॥ १-३ ॥

संवत्सरमप्येके । ४। व्रतन्तु भूयः पूर्वैश्चेच्छ्रुतामहानाम्न्यः ॥ ५, ६

‘संवत्सरम्’ ‘अपि’ तस्य साम्नोऽनुशीलनम् ‘इति’ ‘एके’ आचार्या वदन्ति । ४ ‘तु’ अपि ‘व्रतम्’ एकवार्षिकमेवेदम् ‘भूयः’ बहु मन्येत, यदि ‘चेत्’ ‘पूर्वैः’ व्रतप्राक्कालैः ‘महानाम्नयः’ ‘श्रुताः’ अनुशीलिताः स्युः । ५, ६ ॥ एतत्काम्यकर्म शोषहृदादरताबोधनाय वेदश्रुतं लौकिकप्रवादं दर्शयति ;—

भा०:—कोई २ आचार्य कहते हैं कि एक ही वर्ष इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४ ॥ यदि इस व्रत के अनुष्ठान के पूर्व “महानाम्नीसाम” की रीत्यनुसार शिक्षा हो जावे, तो यही एक वर्ष व्रत यथेष्ट है ॥ ५, ६ ॥

अथाहि रौरुकि ब्राह्मणं भवति कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्ररीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति ॥ ७-९ ॥

‘अथापि’ ‘रौरुकि ब्राह्मणं’ रौरुकिनामब्राह्मणोक्तं लौकिकप्रवादवचनं ‘भवति’ अस्ति । किन्तु ? इत्युच्यते—‘ह’ निश्चयं पुरा ‘मातरः’ ‘कुमारान्’ स्वपुत्रान् ‘पाययमानाः’ स्तन्यमिति यावत् आहुः स्म’ उक्तवत्यः । किमुक्तवत्यः तदाह “हे ‘पुत्रकाः !’ यूयं ‘शक्ररीच्छन्दोमूलकमहानाम्नीनां’ ‘व्रतम्’ अनुशीलननियमं ‘पारयिष्णवः’ ‘भवत’—‘इति’ । ७-९ ॥ इदानीं तद्व्रतकालेष्वनुष्ठेयानाह—

भा०:—“रौरुकिब्राह्मण” (ग्रन्थ) में एक लौकिक प्रवाद है कि मातृगण अपने पुत्रादिक को स्तन्य पान कराते २ कहती हैं कि “हे वत्स ! शक्ररी व्रतानुष्ठान के नियम को पार करने में समर्थ होओ” । महानाम्नी साम की अस्थि स्वरूप पद्य मन्त्र आदि शक्ररी छन्द है ॥ ७, ८, ९ ॥

तास्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनम् । १० नानुपस्पृश्य भोजनं

प्रातः । ११ सायमुपस्पृश्याभोजनमासमिदाधानात् ॥१२॥

(१) 'तासु' शकरीषु शकरीसाधनायेति यावत् । 'अनुसन्धयम्' प्रतिसन्ध्यम् 'उदकोपस्पर्शनम्' जलैर्हस्तपादादिकं विधूयेश्वरोपासनं कर्त्तव्यमिति प्रथमनियमः ॥१०॥ (२) प्रतिसन्ध्यम् 'अनुपस्पृश्य' ईश्वरोपासनायोदकस्पर्शनमकृत्वा 'प्रातः-भोजनम्' अपि न कर्त्तव्यम् ॥ ११ ॥ (३) 'सायम्', 'उपस्पृश्य' अपि 'आसमिदाधानात्' समिदाधानात् प्राक् 'अभोजनं' भोजनं न कर्त्तव्यम् ॥ १२ ॥

भा०—उस महानास्नी व्रत में प्रत्येक सन्धिकाल में जल से हाथ पैर आदि धोकर ईश्वरोपासना करे ॥ १० ॥ प्रति सन्धाकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल स्पर्श आदि किये बिना " प्रातराश " (प्रातःकालीन भोजन) भी न करे ॥ ११ ॥ सायंकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल न ग्रहण करके भी समिदाधान के पहिले भोजन न करना अर्थात् सन्ध्योपासन और समिदाधान समाप्त करके 'सायमाश' (सन्ध्या का भोजन) भोजन करे ॥ १२ ॥

कृष्णवस्त्रः । १३ । कृष्णभक्षः । १४ । आचार्याधीनः । १५ । अपन्थदायी । १६ । तपस्वी । १७ । तिष्ठेद्दिवा । १८ । आसीत नक्तम् । १९ । वर्षति च नोपसर्पेच्छन्नम् ॥ २० ॥

(४) कृष्णवर्णं रञ्जितमपि वा नलदूषितमेव वस्त्रं व्यवहरेत् । १३ । (५) कदर्याकदर्याविचारेणैवान्नादिकं भक्षणायम् । १४ (६) आचार्यस्य अधीनः सर्वत-आज्ञाकारी भवेदिति शेषः । १५ (७) पथिकेभ्यः पन्थादानशीली न भवेत् तथाच स्वातकव्रतमाचरेदिति भावः । १६ (८) भवेदित्येव । तपस्वित्वञ्चाग्रिमसूत्र-त्रिकेण स्फुटीभविष्यति । १७ (क) 'दिवा' अहनि 'तिष्ठेत्' इत्येव ; नोपाव-शेत् शयनकथा तु दूरपराहता । १८ (ख) 'नक्तम्' रात्रौ 'आसीत' शयनोप-वशने कुर्वीत, न च तिष्ठेदिति नियमः । १९ (ग) 'वर्षति च' पर्जन्ये छत्रं सनुष्यादिभिर्निर्मितं गृहादिकं 'न उपसर्पेत्' नाश्रयेत्, वृष्टिषिक्तएव भवेदित्या शयांश्ववा वृक्षादिच्छायावलम्बनेऽपि न दोषः । २० ॥

भा०—काला, रंगा हुआ (किसी रंग में) या मलिन वस्त्र व्यवहार करे ॥१३॥ भला, बुरा, विचार न करके जिस समय जो भोजन मिले, उसी को खावे ॥१४॥ सर्वथा आचार्य का आज्ञाकारी हो ॥ १५ ॥ अपरापर पथिक गण को रास्ता देने में बाध्य (मजबूर) न हो अर्थात् स्वातक व्रतानुष्ठानकारी होवे ॥१६॥ तपस्वी होवे । " तपस्वी " का लक्षण ३ सूत्रों में आगे कहेंगे ॥ १७ ॥ दिन में खड़ा रह कर काल काटे, सोने की बात तो दूर रहे, बैठे भी नहीं ॥ १८ ॥

रात्रि काल में बैठे या सोवे, परन्तु खड़ा न हो ॥१९॥ मेह वर्षने पर पानी से भीगने के भय से मनुष्यादि निर्मित गृहादि का आश्रय न करे; प्रत्युत दिन में खड़ा होकर, एवं रात्रि में बैठ, या सोकर, पानी वर्षते में भीमते, अथवा विशेष क्लेश बोध होने पर, वृक्ष आदि नैसर्गिक छाया भी अवलम्बन करे, तो हानि नहीं २०

वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्यं इति । २१ । विद्योतमानं ब्रूया-
देवथरूपाः खलु शक्यो भवन्तीति । २२ । स्तनयन्तं ब्रूया-
न्मह्या महान् घोष इति ॥ २३ ॥

(९) 'वर्षन्त' पर्जन्य मभिलक्ष्य 'आपः' इमाः अपि 'शक्यः' शक्करिख-
न्दोरूपाएव 'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २१ (१०) 'विद्योतमानं' बलाहकमभिलक्ष्य
'एवंरूपाः खलु शक्यः भवन्ति'—'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २२। (११) 'स्तनयन्तं' गर्ज-
न्तं घनघटामण्डल मभिलक्ष्य 'मह्याः' महत्याः शक्योएव 'महान् घोषः' 'इति'
एवं 'ब्रूयात्' ॥ २३ ॥

भा०—पानी वर्षते देख कर बोले कि "ये जल धारा समस्त शकरी छन्दो-
मय मन्त्र हैं", विजुली देख कर—"शकरी छन्द सब भी निश्चय इसी प्रकार हैं"।
मेघ गर्जन सुनकर बोले कि 'ये बड़े २ शब्द अवश्यही सहती शकरीछन्द के हैं'। २१-२३।
न स्ववन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् । २४। न नावमारोहेत् । २५।
प्राणसंशये तूपस्पृश्यारोहेत् ॥ २६ ॥

(१२) 'स्ववन्ती' नदीम् 'अनुपस्पृश्य' उपस्पर्शनं सकृद्वैव 'न अतिक्रामेत्
पन्थानमिति । २४ (१३) 'नावं न आरोहेत्, सन्तरणेनैव नदीपारादिकं गच्छे-
दिति भावः । २५ (१४) 'प्राणसंशये' यत्र सन्तरणेन पारादिगमने प्राणसंशयः
स्यात्, तत्र 'तु' 'उपस्पृश्य' जलम् 'आरोहेत्' नावमिति ॥ २६ ॥

भा०—रास्ते—में यदि स्रोतस्वती नदी अनति दूरपर वांये, या दहिने
मिले, उस को बिना स्पर्श किये न जावे । नौका पर सवार न हो, तैर कर ही
नदी पार आदि गमन करे । जिस स्थान में तैर कर पार आदि जाने से प्राण
का भय हो, तो वहां जल स्पर्श करके नौका में बैठ कर पार जावे ॥ २४-२६ ॥

तथा प्रत्यवरुह्य । २७ । उदकसाधवो हि महानाम्न्य
इति । २८ । एवं खलु चरतः कामवर्षी पर्जन्यो भवति ॥ २९ ॥

'प्रत्यवरुह्य' नौतइति यावत् 'तथा' एव उपस्पर्शनं कर्तव्यम् । २७ । महा-
नाम्नीव्रते कथमेवं कर्तव्यमित्याह—'हि' यतः 'महानाम्न्यः' ऋषः 'उदकसाधवः'

उदकव्यवहारेणैव साधनीया भवन्ति अतः एतद्ब्रतसाधनाय सर्वथैवोदकव्य-
वहारो विधेय इति भावः ॥ २८ ॥ तेन किम्फलमित्याह—‘एवम्, उक्तप्रकारेण
‘चरतः’ जनस्य ‘खलु’ निश्चयमेव ‘पर्जन्यः’ कामवर्षी भवति’ । एवञ्च ब्रतमिदं
काम्यमिति कलितम् ॥ २९ ॥

भा०—नौका से उतरते समय भी उसी प्रकार जल स्पर्श करे । महानाम्नी
ऋग् आदि जिस कारण जल व्यवहार द्वारा ही साधनीय है, इस लिये इस
ब्रत में सब प्रकार से जल का व्यवहार कर्त्तव्य कहा गया है, इस प्रकार
आचरण करने वाले के पक्ष में पर्जन्य (मेघ) निश्चय ही कामवर्षी होते ।
अर्थात् इस प्रकार ब्रतानुष्ठान सिद्ध-व्यक्ति के वृष्टि की इच्छा करने पर वृष्टि
हो ही गी । इस लिये इस को “काम्य-कर्म” कहते हैं ॥२९-२९ ॥

अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु ॥ ३० ॥

‘वा’ अथवा ‘कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु’ पूर्वोक्तेषु ‘अनियमः’ कर्त्तव्यतया
नियमो न स्वीकर्त्तव्यः, असमर्थश्चेदकृतेऽपि कस्मिंश्चिन्नियमे न क्षतिरित्यर्थः ॥३०॥

भा०—या, असमर्थ होने के कारण पूर्वोपदिष्ट कृष्ण वस्त्र धारण आदि
नियम प्रतिपालन न करने में दोष नहीं ॥ ३० ॥

**तृतीये चरिते स्तोत्रीयामनुगापयेदेवमितरे स्तोत्रीये
सर्व्वा वाऽन्ते सर्वस्य ॥ ३१-३३ ॥**

यावत्कालमेतद्ब्रतमाचरितव्यम्भवत्, तस्य ‘तृतीये’ अंशे ‘चरिते’ ‘स्तो-
त्रीयां’ प्रथमासृचम् ‘अनुगापयेत्’ आचार्यः । ब्रतानुष्ठेयकाल-तृतीय-भाग-गते
आचार्यस्तं ब्रतिनमाद्यङ्मूलकं सामाध्यापयेदित्यर्थः (३१) ‘इतरे’ द्वितीय-तृतीये
अपि ‘स्तोत्रीये’ ऋचौ ‘एवम्’ तृतीयांशानुसारत एवानुगापयेत् । एवं हि ब्रत-
कालस्य मध्यम तृतीयेऽंशेऽतीते मध्यमङ्मूलकं सामाध्यापयेत् किञ्चान्तिम-
तृतीयेऽंशेऽन्तिमङ्मूलकं सामाध्यापयेदिति पर्यवसितार्थः (३२) ‘वा’ अथवा
‘सर्वस्य’ ब्रतकालस्य ‘अन्ते’ एकदेव ‘सर्वाः’ स्तोत्रीयाः अनुगापयेत्, महाना-
म्नीसाम् पूर्णमेवाध्यापयेदिति यावत् (३३) ॥३१-३३॥ यद्विहितं महानाम्नीसा-
मानुगापनं तत्रेति कर्त्तव्यतामाह—

भा०—यह महानाम्नी ब्रत जब तक अनुष्ठेय हो, उसके एक तृतीयांश
समय बीतने पर, आचार्य इस ब्रती को प्रथम ऋग् गान का अभ्यास करावे,
पीछे और एक तृतीयांश समय बीतने पर मध्यम ऋग् का गान उपदेश करे,
अनन्तर शेष तृतीयांश बीतने पर शेष ऋग् का भी गान करावे, या समस्त

प्रतकाल शेष होने पर एक ही बार में तीनों ऋचाओं का गान करावे, अर्थात् समस्त महानाम्नी साम का उपदेश अन्त में एक ही समय प्रदान करे ॥३१-३३॥

उपोषिताय सम्मीलितायानुगापयेत् ॥ ३४ ॥

‘उपोषिताय’ वक्ष्यमाण (३१) विध्यनुगतभोजनशून्याय किञ्च ‘सम्मीलिताय’ वक्ष्यमाण (३५) विध्यनुगतवसनबद्धनेत्राय एव ब्रह्मचारिणे ‘अनुगापयेत्’ शक्करी स्तोत्रीयास्तिस्त्रः, आचार्यः ॥ ३४ ॥ सम्मीलनप्रकार माहः—

भा०:—३१ वें सूत्र में कहे अनुसार अभोजन और ३५ वें सूत्र में कहे अनुसार आंख बन्द करना; ब्रह्मचारी को आचार्य शक्करी बद्ध के तीन स्तोत्रीय गान करावे, इसी गान को महानाम्नी—साम कहते हैं ॥ ३४ ॥

**कंसमपां पूरयित्वा सर्वौषधीः कृत्वा हस्ताववधाय
प्रदक्षिणमाचार्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ॥ ३५ ॥**

‘कंस’ पात्रमेकम् ‘अपां’ प्रदानेन ‘पूरयित्वा’ तत्रोदकपूर्णकांस्यपात्रे ‘सर्वौषधीः’, व्रीह्यादीः सप्त ‘कृत्वा’ मिदित्वा, तत्रैव ‘हस्ती’ ब्रह्मचारिणः ‘अवधाय’ निमग्नौ कारयित्वा ‘आचार्यः’ ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘अहतेन वसनेन’ तस्यैव अक्षिणी ‘परिणह्येत्’ बद्धे कुर्यात् । इत्थमेव सम्पाद्यं तस्य सम्मीलनम् ॥३५॥

भा०:—आचार्य, एक कांसे का पात्रजल पूर्णकर उस में धान्य आदि सात प्रकार की औषधि डालकर उस में ब्रह्मचारी के दोनों हाथ को डुवाकर रखे और इसी अवस्था में उस की दोनों आंखों को अखण्ड बख से आन्ध देवे । इस प्रकार मुद्रित नेत्र होगा । एवं इसी क्रिया का नाम ‘परिणहन’ है ॥३५॥

**परिणहनान्ते वाऽनुगापयेत् । ३६ । परिणह्णो वाग्यतो
न भुञ्जीत त्रिरात्रमहोरात्रौ वा ॥ ३७ ॥**

‘परिणहनान्ते’ ‘वा’ च ‘अनुगापयेत्’ ब्रह्मचारिणं महानाम्नीसाम आचार्यः । ३६ । ‘परिणह्णः’ सः ‘वाग्यतः’ भवेत् किञ्च ‘त्रिरात्रम्’ अहोरात्रौ वा, यथा-सामर्थ्यं ‘न भुञ्जीत’ भोजनं न कुरीत ॥ ३७ ॥ परिणहनोपवामवैकल्पमाहः—

भा०:—इस प्रकार ‘परिणहन’ अर्थात् आंख बान्धने पर आचार्य ब्रह्मचारी को महानाम्नी साम का अध्ययन करावे ॥ ३६ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से परिणह्ण ब्रह्मचारी संयत्तवाक् हो अपनी शक्ति अनुसार तीन रात, या एक दिन रात भोजन न करे ॥ ३७ ॥ अथ परिणहन पूर्वक उपवास का अनुकल्प कहते हैं ।

अपिवाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तमयाच्छ्रोभूतेऽरण्येऽग्निमुपस-

माधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेदग्निं माज्यमादित्यं
ब्रह्माणमनङ्वाहमन्नमपोदधीति स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभि-
व्यख्यमिति एवं त्रिः सट्वाणि ॥ ३८-४२ ॥

‘अपि वा’ अथवा ‘आ अस्तमयात्’ सूर्यास्तकालादारभ्य ‘अरण्ये तिष्ठेत्’
अरण्यस्थितिं कुर्वीत (३८) । ततः ‘श्वोभूते’ प्रभातायां रजन्यां ‘अरण्ये, एव
तत्र ‘अग्निम्’ ‘उप समाधाय’ यथाविधि प्रज्वाल्य तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ ब्रह्मचा-
री ‘व्याहृतिभिः, भूर्भुवःस्वरिति ‘हुत्वा’ (३९) ‘अथ’ अनन्तरम्, आचार्यः
‘एनम्’ ब्रह्मचारिणं ‘अग्निम्’ आज्यम्, आदित्यं, ब्रह्माणम्, अनङ्वाहम्, अन्नम्,
अपः, दधि—इति’ अष्टौ ‘अवेक्षयेत्’ दर्शयेत् (४०) । तत्र च ‘स्वरभिव्यख्यं
ज्योतिरभिव्यख्यम्’—इति इमं मन्त्रं पाठयेत् (४१) । ‘एवं’ उक्तलक्षणं मन्त्रं
‘त्रिः’ त्रिवारं ‘सट्वाणि’ वस्तूनि प्रति पाठयेदित्येव । तथाच एतन्मन्त्रस्य त्रि-
विः पाठेनैव अग्न्यादीनामवेक्षणमिति निष्पन्नम् (४२) । ३९-४२ ॥

भा०—अथवा सूर्यास्त समय से वन में रहे । अनन्तर निशा-प्रभात समय
उसी वन में यथाविधि अग्नि जलाकर, उसी जलती आग में व्याहृति मन्त्र
से हवन प्रदान करे । फिर आचार्य उसे अग्नि, आज्य, आदित्य, ब्रह्माण, वृषभ,
अन्न, जल, और दधि—ये आठ साङ्गतिक वस्तु क्रमशः दिखलावे एवं प्रत्येक
वस्तु के देखते समय तीन २ बार सः देखा—ज्योतिः देखा कहवावे ॥ ३८-४२ ॥

शान्तिं कृत्वा गुरुमभिवादयते ॥ ४३ ॥ सौऽस्य वाग्विसर्गः ॥ ४४ ॥

सर्वकर्मशेषे ‘शान्तिं कृत्वा’ शान्तिपाठं पठित्वेति यावत् ‘गुरुम्’ आचा-
र्यम् ‘अभिवादयते’ । ४३ ‘सः’ अभिवादनकालएव ‘अस्य’ व्रतिनः ‘वाग्विसर्गः’
वाचां विसर्गो यत्र तादृशः ॥ ४४ ॥

भा०—समस्त कर्म की समाप्ति में शान्ति पाठ कर आचार्यको अभिवा-
दन करे ॥ ४३ ॥ गुरु को अभिवादन करने पर्यन्त ब्रह्मचारी संयत्वाक् रहे
एवं अभिवादन के पश्चात् ‘संयत्वाक्’ का नियम छोड़ देवे ॥ ४४ ॥

अनङ्गान् कंसो वासो वर इति दक्षिणाः प्रथमे विकल्प
आच्छादयेद्गुरुमित्येके । ४५, ४७ ॥

‘अनङ्गान्’ वृषभः, ‘कंसः’ कांस्यपात्रम्, ‘वासः’ वसनम्, ‘वरः’ गौः ‘इति’
चतस्रः ‘दक्षिणाः’ महानाम्निव्रतस्येति शेषः (४५) । तत्र च ‘प्रथमे’ अनङ्ग-
द्वये एव विकल्पः ‘विकल्पतः कंसादीनां मन्यतमो व्यवस्थेयः’ (४६) । ‘एके’ आचार्याः
‘तु’ गुरुम् आच्छादयेत्—वासोभिरिति शेषः—इत्येव विदधतीति (४७) । ४५-४७

भा०:-इस महानास्नी व्रत के साथ वृषभ, कांस्यपात्र, वसन, और गौ दक्षिणा देवे । इन में से कांस्यपात्र आदि तीन वस्तु गौ का ही विकल्प है । इस से वृषभ ही प्रकृत दक्षिणा है । कांस्य अभूति तीनों वस्तु साध्यानुसार व्यवस्था कियी है । अर्थात् जिस को गौ न हो, वह कांस्यपात्र, इस के अभाव में वसन, इस के अभाव में गौ । कोई २ आचार्य कहते हैं कि गुरु को सर्वार्थ वस्त्र द्वारा आवृत्त करे ॥ ४५-४७ ॥

ऐन्द्रः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादृचंसाम यजामह इत्येतयश्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति चोभाभ्यां वा अनुप्रवचनीयेष्वेवम् ४८, ४९

महानास्निकव्रतकृत्यमुक्त्वेदानीं सर्वव्रतमाधारणशेषकर्तव्याणि क्रमात् विचिन्ते;

‘ऐन्द्रः’ इन्द्रदेवताकः ‘स्थालीपाकः’ पक्तव्यइति यावत् । ‘तस्य’ स्थालीपाककृत्यस्य भागैकम् ‘ऋचं साम यजामहे (४. २. ३. १०)’-‘इति’ एतया ऋचा, ‘वा’ अथवा ‘सदसस्पतिमद्भुतम् (२. २. ३. ४)’-‘इति’ एतया ऋचा, ‘वा’ अथवा ‘उभाभ्याम्’ एव ऋग्भ्याम् ‘जुहुयात्’ (४८) । ‘एवम्’ उक्तप्रकारो विधिः ‘अनुप्रवचनीयेषु’ सर्वसामाध्ययनेष्वेव बोध्यः, न तु महानास्निकसामाध्ययनार्थेऽत्रेति ॥ ४८, ४९

पूर्वत्र (२प्र० १०खं० १६सू०) व्रतग्रहणकाले ये मन्त्रा विहिताः, व्रतसमाप्तिकाले तेषामेव पाठपरिवर्त्तनेन व्यवहारो विधीयते:-

भा०:-इन्द्र देवताक स्थाली पाक चरु प्रस्तुत करे । एवं इत चरु को यथा-भाग ग्रहण कर “ऋचं साम यजामहे” (४. २. ३. १०) मन्त्र पाठ करते हुए अथवा “सद सस्पतिमद्भुतम्” (२. २. ३. ७) मन्त्र पाठ करते हुए किंवा दोनों मन्त्र का पाठ कर होम करके ॥ ४८ ॥ जो कोई साम ग्रन्थ अध्ययन करे उन सबही ग्रन्थ की समाप्ति में यह होम करे, केवल महानास्नी साम ही के लिये नहीं ॥ ४८, ४९ ॥

महानास्नी व्रत में जो २ कर्त्तव्य है सो २ कहकर अथ साधारण व्रतों के अन्त में जो विशेष कर्त्तव्य है उसे कहते हैं:-

[पूर्व (प्र० २ खं० १० सू० १६) व्रत ग्रहण काल में जो मन्त्र आदि कहे गये हैं, कुछ पाठ बदल कर वे ही सब व्रत समाप्ति काल में भी विहित हैं ।]

सर्वत्राचार्षं तदशकं तेनारात्समुपगामिति मन्त्रविशेषः ॥ ५० ॥

‘सर्वत्र’ व्रतान्तेषु ‘मन्त्रविशेषः’ पाठपरिवर्त्तनकृतः कर्त्तव्य इति कानि च तानि पाठपरिवर्त्तनानि ? इत्याह-‘अचार्षम्’, ‘तदशकम्’ ‘तेनारात्सम्’ ‘उपागामम्’ ‘इति’ इमानि । तानि च मन्त्रब्राह्मणोक्तेषु ‘अग्ने व्रतपते (१. ६. ९-१३)’ इत्येवमादिषु पञ्चषु बोध्यानि ॥ ५० ॥

भा०—व्रत समाप्त होने पर पूर्वोक्त मन्त्र (म० ब्रा० १.६.९—१३) क्रिया आदि भूतकाल के रूप में व्यवहृत करे ॥ ५० ॥

आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेघो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ॥५१॥

‘आग्नेये’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘अजः’ एकः आचार्याय देयः । ‘ऐन्द्र’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘मेघः’ एकः आचार्याय देयः । ‘पावमाने’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘गौः’ एका आचार्याय देया । इति ‘पर्वदक्षिणाः’ जेयगाननाम-गानग्रन्थीय-पर्वनाम-परिच्छेदानामध्ययन-निमित्ता दक्षिणाः आचार्यायभ्याः, ताश्च ब्रह्मचर्यायस्थायां दातुमर्हन्ते गृहस्थाश्रमप्रवेशकाले एव दातव्याः तत्र च न दोषश्रुतिः । ५१। गुरुकुलात् पितृगृहे प्रत्यागतस्य गुर्वादिभोजनं विधत्ते ;—

भा०—आग्नेय पर्व अधीत होने पर, आचार्य को एक छाग दक्षिणा देवे, ऐन्द्र पर्व पढ़ चुकने पर, एक भेड़ा एवं पावमान पर्व पढ़ लेने पर एक गौ दक्षिणा देवे । इस को पर्वदक्षिणा कहते । अर्थात् जेयगान नामक सामवेदीय गान ग्रन्थ का पर्व नाम से प्रधान परिच्छेदत्रय के पढ़ाने की दक्षिणायें हैं, यदि इसे ब्रह्मचर्यायस्था में प्रदान न कर सके तो गृहस्थाश्रम के प्रवेश काल में भी इस ऋण को चुका देवे तो हानि नहीं ॥ ५१ ॥

प्रत्येत्याचार्यं सपर्पत्कं भोजयेत्सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ५२, ५३

‘प्रत्येति’ गुरुकुलात् स्वगृहे प्रत्यागतः ‘सपर्पत्कं’ पुत्रादिपरिजनसहितम् ‘आचार्यं’ भोजयेत् । तदिदं भोजनं स्वगृहे आचार्यादिकामानीय आचार्यगृहे गत्वा वेति न नियमः (५२) । किञ्च ‘सब्रह्मचारिणः’ सतीर्थाः समानकालव्रत चारिणश्च ‘उप’ समीपे स्वगृहे ‘समेतान्’ निमन्त्रणाहूतान् ‘च’ अपि भोजयेदित्येव (५३) ॥ ५२, ५३ ॥

भा०—गुरुकुल से अपने घर वापिस होने पर गुरु पुत्रादि गुरु परिजन के साथ गुरुको भोजन करावे । (यह भोजन, चाहे अपने घर हो, या गुरु के ही घर पर ही) परन्तु निज सहपाठी आदिक को और समकाल ब्रह्मचर्य समाप्तकारी गण को भी उसी समय अपने घर पर निमन्त्रण कर भोजन करावे ॥ ५२, ५३ ॥

उयेष्टसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापनकल्पो व्याख्यातः ॥५४॥

‘उयेष्टसाम्नः’ ‘अनुगापनकल्प’ अध्यापनप्रकारः ‘महानाम्निकेन एव’ कथितः । उयेष्टश्रम च महानाम्निकमिव उपोषितमुपनद्धाक्षमरण्यगं वाध्यापयेदित्यर्थः । ५४ अचेदानीं कौण्डिन्यां चिरप्रतिपाद्यनियमानाहः—

भा०—ज्येष्ठमास के पढ़ाने की प्रणाली महानाभिनिक्रमास की नाई है। अर्थात् ज्येष्ठमास के अध्ययन में भी विद्यार्थी को उपवास रहकर, आंस बांध कर, या वन जाना पड़ता है ॥ ५४ ॥ कौथुम शाखाध्यायियों के प्रतिपाल्य नियम कहते हैं।

तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति । ५५ न शूद्रामुपेयात् ॥ ५५ न पक्षिमांसं भुञ्जीत ॥ ५७ एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत् ॥ ५८

‘तत्र’ समावर्त्तनात् परम् ‘एतानि’ नित्यव्रतानि’ सर्वथैव प्रतिपाल्यनियमाः ‘भवन्ति’ । ५५ (१) शूद्रां न उपेयात्’ शूद्रायाः पाणिग्रहणं न कुर्यात् । ५६ (२) ‘पक्षिमांसं न भुञ्जीत’ विहिताविहितस्य कस्यापि पक्षिणो मांसं न अद्यात् । ५७ (३) ‘एकाधान्यम्’ एक देशं एकवस्त्रं च वर्जयेत्’ चिरमेकविधशस्यमेव नाद्यात्, सर्वदैव निरन्तरमेकदेशे एव वासनं कुर्यात् किञ्च आच्छिन्नमेकमेव वस्त्रं न परिदध्यात् अपितु कदाचित् धान्यं’ कदाचिद्वा गोधूमं, कदाचिद्वा यवं भजेत्, एवं वर्षमध्ये एकवारमपि देशाटनं कर्त्तव्यमेव, किञ्च परिहितवस्त्राणि सदैव परित्यज्य प्रक्षालनादिना पुनर्गृह्यादिति । ५८ ॥

भा०—समावर्त्तन के अनन्तर वक्ष्यमाण नियमों का अवश्य पालन करे ॥ ५५ ॥ (१) शूद्रा कन्या से विवाह न करे ॥ ५६ ॥ (२) चिड़ियेका मांस न खावे ॥ ५७ ॥ (३) एक प्रकार का धान्य, एक देश, और एक वस्त्र, त्याग करे। अर्थात् प्रतिदिन एक ही प्रकार का अन्न न खावे; कभी धान्य, कभी गेहूं, कभी यव व्यवहार करे; बहुत दिनों तक निरन्तर एक ही देश में न रहे, अन्ततः वर्ष में एकवार भी देश पर्यटन करे; एवं एक वस्त्र जब तक न फटे, तब तक अत्याज्यरूप व्यवहार न करे, वरन सर्वदा ही बदलते हुए धुलाकर पुनः ग्रहण करे ॥ ५८ ॥

उद्धृताभिरद्विरुपस्पृशेत् ॥ ५९ ॥

(४) ‘उद्धृताभिः अद्विः उपस्पृशेत्’ तत्क्षणमेवोदकान्युद्धृत्य तैरेव हस्तमुख-प्रक्षालनादिकं कुर्यात् न तु पूर्वोद्धृतैः । एतेन च शीतकाले उष्णवारिलाभः, ग्रीष्मे च शीतवारिलाभः सुकरो भवेत्, विषकीटपतनादिदोषशङ्कापि न स्यादिति भावः ॥ ५९ ॥

भा०—(४) जिस २ समय हाथ, पैर, मुख आदि धोनेकी आवश्यकता हो, उस उस समय कूप आदि से जल भर लेवे, या भरवा लेवे, इस से शीतकाल में गर्म जल एवं ग्रीष्मकाल में शीतल जल सुगमता से मिलेगा और जल में विषकीट आदि पड़ने की भी शंका न रहेगी ॥ ५९ ॥

आदेशनात् प्रभृति न मृणमयेऽशनीयात् न पिबेच्छ्रव-
णादित्येके । ६१, ६२ । २

(५) 'आदेशनात् प्रभृति' सावित्र्युपदेशादारभ्य 'मृणमये न अशनीयात्' किञ्च मृणमये 'पिबेत्' अपि 'न' । 'एके' आचार्यास्तु 'अवणात्' गुरुमुखात् वेदाध्ययनश्रवणसमाप्तिर्यदा भवेत्, ततः प्रभृत्येव मृणमये न अशनीयात् न च पिबेदित्याहुः । ६०-६२ ।

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३, २

भा०—जिस दिन 'सावित्री' दीक्षा हो, उस दिन से मही के वर्तन में भोजन, या पान न करे । कोई २ आचार्य कहते हैं कि जब तक आचार्य के निकट वेद श्रवण करे, तब तक ऐसा न करने से भी चल सकता है, अनन्तर वेदाध्ययन समाप्ति कर घर आने पर्यन्त, मही के पात्र में भोजन, या मही के पात्र में जल पान छोड़ देवे ॥ ६०, ६१, ६२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयअध्यायके द्वितीयखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३॥ २

अथ महानाम्नी साम ॥

(प्रथम स्तोत्रीयानुगानम्)

१— २ ११ २ १ ११ १ १ २
ए२ । विदामघवन्विदाः । गातुमनुशथं शिवः । दाइशा
२ ५ ११— १ २ २ २ २ १
३१ उवा २३ । ई ३४ डा । ए२ । शिक्षाशचीनाम्पताइ ।
२२२ ११ — १ २ २ ५ २२
पूर्वीणाम्पूरू २ । वसा ३१ उवा २३ । ई ३४ डा । आ-
१ — १ २ ३ ५
भिष्टमभा २ इ । ष्टिभिरा ३१ उवा २३ । ई ३४ डा ।
११ १ २ २ ५ १ ११
स्वर्नाथंशू २ : । हा ३२ उवा २३ । ई ३४ डा । प्राचे । तन
२ १ २ २ ११ — १ १ १ २ २ ११
प्रचेतया । इन्द्रा । द्यन्नायना २ इषाइ । इडा । इन्द्रा । द्युन्नायन
— १ १ १ २ २ ११ — १ १ १ ११
२ इषाइ । अथा । इन्द्रा । द्युन्नायना २ इषाइ । इडा । एवा हि
२ २ २ २ २ २ ३ २ १ २ ४
शक्रोरायेवाजायवा १ ज्री ३ वाः । शविष्ट वज्रिन्ना ३ । जा
५ १ १ १ २
साइ । मथं हिष्ट वज्रिन्ना २३ हो । जा सा ३२ उवा ३२ ।

इद् इडा २ ३ ४ ५ । आ या । हि पिय मा २ त सुवा । इ
डा २ ३ ४ ५ ॥—

(द्वितीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २ । विदारायेसुवीरियाम् । भुवो वाजानाम्पतिर्व-
शाथं २ । अनुआ ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए २ । मथं
हिष्ट वज्रिन्नुञ्जसाइ । यः शविष्टः शूरा २ णा ३ १ उवा २ ३ ।
ई ३ ४ डा । योमथं हिष्ट मघो २ । ना ३ १ उवा २ ३ ।
ई ३ ४ डा । अथं शुर्नशोचा २ इः । हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ।
चाइ । कित्वो अभिनोनया । ईन्द्रो । विदेतमू २ स्तुहाइ । इ
डा । ईन्द्रो । विदेतमू २ स्तुहाइ । अथा । ईन्द्रो । विदेतमू २
स्तुहाइ । इडा ईशेहिशक्रस्तमूतये हवा १ मा ३ हाइ । जेता-
रमपरा ३ । जाइताम् । सनः स्वर्पदता २ ३ होइ । द्वा इषा
३ १ उवा २ ३ । इद् इडा २ ३ ४ ५ । क्रातुः । छन्द ऋता २
मृहात् । इडा २ ३ ४ ५ ॥

महानाम्नी साम ॥

(तृतीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २ । इन्द्रन्धनस्य सातयाइ । हवामहे जेतारमपरा

२ । जितमा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए २ । सनः स्वर्ष
 १ दति द्विषाः । सानः स्वर्षदता २ इ । द्विष आ ३ १ उवा २
 ३ । ई ३ ४ डा । पूर्वस्य यत्तआ २ । द्विष आ ३ १ उवा २
 ३ । ई ३ ४ डा । अथ शुर्मदाया २ । हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ।
 १ सून्नआधेहिनोवसाउ । पूर्त्तीः । शविष्ठशारस्य ताइ । इडा ।
 १ २ २ १ — १ १ १ २ २ १
 पूर्त्तीः । शविष्ठशा २ स्यताइ । अथा । पूर्त्तीः । शविष्ठशारस्य
 १ १ २ २ २ १ २ २ १ २
 ताइ । इडा । वशीहिशक्रोनूनं तन्नव्यथसा १ न्या ३ साइ । प्रभो
 १ २ ४ ५ १ २ १ १ २
 जनस्यवा ३ । ब्राहान् । समयेर्षु ब्रवा २ ३ होइ । वाहा ३ १ उवा
 १ १ १ १ १ २ २ १ १ २ — १ १
 २ ३ । इड्डडा २ ३ ४ ५ । शूरो । योगोपुगा २ च्छता ३ । इडा ।
 १ २ २ १ २ — १ १ १ १ १ १
 साखा । सुशेवो २ द्वयुः । इडा २ ३ ४ ५ ॥—

(पञ्चपुरीय पदानुगानम्)

१ २ २ २ १ १ १ १ १ १ १ २ २
 आइवा । हियेवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उ
 २ ५ १ २ २ १ १ १ १ १ १ १ २ २
 वा २ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा हियगा २ ३ ४ ५ इ । होइ । हो । वा
 २ ५ १ २ २ १ १ १ १ १ १ १ १ १
 हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा । हि इन्द्रा २ ३ ४
 १ १ १ २ २ ५ १ २
 ५ होइ । हो । वाहा ३ १ उवा २ ३ । इ ३ ४ डा । आइवा
 २ १ ५ ५ ५ ५ १ १ २ २ २ ५
 हि पूषा २ ३ ४ ५ न् । होइ । हो । वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ।

१ २ २ २ १ १ १ १ १ २
 आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उवा
 २ ५ १ ५ २ २ १ १ १ १ १ १
 २ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो ।
 २ २ २ ५
 वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ॥ १ ॥

प्रौष्ठपदी० हस्तेनोपाकरणम् ॥ १ ॥

“हस्तेन प्रौष्ठपदी” हस्तनक्षत्रयुगां भाद्रपदीयां यां कामपि तिथिं प्राप्य तदैव “उपाकरणं” नाम वेदाध्यापनारम्भसूचकं कर्म वक्ष्यमाणेति कर्तव्यताकं कर्तव्यम् । उप समीपे आक्रियन्ते अध्ययनाय शिष्याः येन कर्मणा तत् । १ अत्रोपाकरणे :-

भा०:-भाद्रमास के जिस किसी तिथि के पूर्वान्ह में हस्ता नक्षत्र युक्त हो, उसी दिन ‘उपाकरण’ कर्म करे * ॥ १ ॥

व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणां सावित्र्यनुवचनं यथोपनयने २

(१) व्याहृतिभिः भू भुवःस्वारिति मन्त्रत्रिकैः ‘हुत्वा’ आज्यमेव ‘शिष्याणां’ वेदाध्ययनारम्भकर्तुमुपस्थितानां नवानां सावित्र्यनुवचनं सावित्रीनामर्चोऽध्यापनं कर्तव्यम् । एतच्च ‘यथा उपनयने’ कृतम्, तथैवात्रापि पादशोऽष्टुंशं शक्य-शङ्कति यावत् ॥ २ ॥

भा०:-भू, भुवः, और स्वः इन तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए तीनों आहुति देवे (वेदाध्ययन का आरम्भ करने के लिये समुपस्थित नये छात्रों को उपनयन में उपदेश होने की नाई पहिले पाद २, फिर आधी २ ऋचा और अन्त में समस्त ऋक् आवृत्ति क्रम से सावित्री मन्त्र का अभ्यास करावे **॥२॥

सामसावित्रीञ्च । ३ सोमराजानंवरुणमिति । ४ ॥

(२) ‘च’ अपि ‘सावित्रीम्’ ऋचमाश्रित्य गीतं ग्रन्थाध्यापनारम्भसूचकं ‘साम’ अनूच्यात् अनुवाचयेत् शिष्यान् । आदौ तावदाचार्यो भागशीघ्रयात्तदनु तथैव तत्साकमेव शिष्याः सर्वेऽपि मिलित्वा ब्रूयुरिति यावत् । ३ (३) ‘च’ अपि

* जिस क्रिया के द्वारा वेद के नूतन पाठ का अध्ययन और अध्यापन आरम्भ किया जाता, उसे अनुष्ठान को ‘उपाकरण’, कहते हैं । यह ‘उपाकरण’, आनाथ एवं दात्र दोनों ही को गाना कर्तव्य है, सुतरा से ही मिल कर करते हैं । ऋग्वेद और यजुर्वेदियों को यह ‘उपाकरण’, श्रावण मास में होता है एवं किन्ती २ के मत से कौथिलियों को भी श्रावण ही मास में होता है । अतएव इस अनुष्ठान को ‘श्रावण’, भी कहते हैं ।

** वेदों के अध्यापन आरम्भ काल में सर्वदा ही सावित्री पाठ और तत् समायाम कर्तव्य एवं उसी प्रकार व्यवहार भी है । यदि थोड़े, ही दिन में उपनीत होजावे तो सावित्री साम का अभ्यास द्वा. जा सकता है मन्त्रों यह सावित्री अभ्यास उन के लिये विशेष आवश्यक है ।

‘सोमं राजानं वरुणम्’ (ऋ० आ० १, २, ५, १) ‘इति’ ऋच मनुष्यात् तन्मूलकं साम च (गे० गा० ३, १, १) । ४

भा०:-एवं यह सावित्री ऋक् अवलम्बन पूर्वक गीत साम भी एक २ भाग कर, आचार्य, निज कृत उच्चारण के पीछे और सङ्ग २ उस ऋच को पढ़ाते हुए अभ्यास करावे ॥३(३) ‘सोमं राजानं (ऋँ, ओँ १, २, ५, १) ऋक् एवं यह ऋङ् मूलक साम (गेँ, गाँ ३, १, १) इस प्रकार क्रम से अभ्यास करावे ॥४॥

आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम् । ५॥

(४) ततः सर्वे मिलित्वा ‘छन्दसः’ छन्दोनामसामवेदीयार्चिकग्रन्थस्य ‘आदितः आरभ्य सर्वमेव भागद्वयं यावदधीतं वा अधीयीरन् सामवेदसंहितायाः सामशून्यायाः समप्रायाः यावदधीताया वा पारायणं कर्त्तव्यमित्यर्थः । ‘अधीत्य’ पारायणे समाप्ते ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनमपरापरं कार्यं कर्त्तव्यम् । ५ ॥

भा०:- (४) अनन्तर छन्दोनामक (आर्चिक)* ग्रन्थ के पूर्व और उत्तर दोनों भाग ही आद्यन्त (या जिन का जहां तक पढ़ा है) सब मिल कर पाठ करें। उसी प्रकार वेद पारायण समाप्त होने पर यथा प्रयोजन अन्य कार्य करे ॥५॥

अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तङ्कुरम्भिणमिति । ६ ।

(५) अनुवचनेऽध्ययने च समाप्ते ‘धानावन्तङ्कुरम्भिणम्’ (ऋ० अङ्क ३, १, २, ७) ‘इति’ इमा मृचं पठित्वा ‘अक्षतधानाः’ भ्रष्टयवा एव धाना उच्यन्ते तत्र चाक्षतत्वं सृग्यम्, ता एव ‘भक्षयन्ति’ आचार्यादयः । ६ ॥

भा०:- (५) वेद पारायण के अनन्तर ‘धानावन्तङ्कुरम्भिणम्’ इस मन्त्र का पाठ करते हुये अभग्न भुनाहुआ यव सब लोग भक्षण करें ॥६॥

दध्नः प्राश्रन्ति दधिक्राव्णोअकारिषमिति । ७ आचान्तोदकाः । ८ खाण्डिकेभ्योऽनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत् । ९

(६) ततश्च ‘दधिक्राव्णोअकारिषम्’ (ऋ० अ० ४, २, २, ७) ‘इति’ ऋचं पठित्वा ‘दध्नः प्राश्रन्ति’ तएवेति । ७ (७) अनन्तरम् ‘आचान्तोदकाः’ उदकैः कृताचमनाः ते सर्वे भवेयुः (भूयुः) । ८ (८) ततः ‘खाण्डिकेभ्यः’ अधीतवेदखण्डेभ्यः पुरातनकान्नेभ्यः इति यावत् । ‘अनुवाक्याः’ अनुवाकशेष ‘अनुगेयाः’ स्वगानानुरूपगायकाः ‘कारयेत्’ आचार्यः ॥ ९ ॥

भा०:- (६) तदनन्तर ‘दधिक्राव्णोअकारिषम्’ मन्त्र पाठ करके सब लोग दही खावें ॥ ७ ॥ (७) उस के पश्चात् सब लोग आचमन कर यथा स्थान सुस्थभाव से

* यही साम वेद का मूल ग्रन्थ अर्थात् संहितास्थि है। इसी का अवलम्बन कर गेय गान प्रमृति गान ग्रन्थ सब बने हैं एवं आक्षण ग्रन्थ भी इसी का व्यवस्थापक है इत्यादि इत्यादि ।

वैठें ॥ ८ ॥ (८) पीछे, आचार्य, जिन छात्रों ने जहां तक पढ़ाहो, उन को उस के परे से अध्ययन आरम्भ करावें ॥ ८ ॥

सावित्रमहः काङ्क्षन्ते । १० उदगयने च पक्षिणीं रात्रिम् ॥ ११ ॥

‘सावित्रमहः’ यहिने सावित्र्युपदेशोऽनुवचनं वा तद्दिनं ‘काङ्क्षन्ते’ वाङ्म-
न्ति आचार्याः वेदाभ्यासतो विश्रामायेति । १० । ‘च’ अपि तदेव सावित्रमहः उप-
नयननिबन्धनं वक्ष्यमाण मुत्सर्गनिमित्तं वा ‘उदगयने’ चेद् भवेत्, तर्हि ‘पक्षिणीं
रात्रिं’ तद्दिनमारभ्य परदिनावशेषपर्यन्तं विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इति ११

[यहां जिस प्रकार वेदों का ‘उपाकरण’ कहा गया, उसी प्रकार उत्तरा-
यण में वेदों की ‘उत्सर्ग’ क्रिया की भी व्यवस्था क्रियी जावेगी]

भा०—जिस दिन यह ‘उपाकरण’ क्रिया हो, उस दिन, दही खाकर एवं
आचमन करलेने पर नये विद्यार्थियों को विश्राम देवे ॥ १० ॥ उस उत्तरायण
में छात्रों की पक्षिणी (एक दिन और एक रात एवं उस के पर का दिन)
विश्राम देने की व्यवस्था करे अर्थात् क्या वेद, क्या वेदाङ्ग, सम्बन्धी नया वा
पुराना पाठ अध्ययन या अध्यापन कुछ भी न करे ॥ ११ ॥

**उभयत एके त्रिरात्रम् । १२ । आचार्याणाञ्चोदकोत्सेच-
नमुभयत्र ॥ १३ ॥**

‘एके’ तु आचार्याः, ‘उभयतः’ दक्षिणायनोत्तरायणोत्तदुभयकाले एव तथाच
वेदोपाकरणे वेदोत्सर्गे च कर्मणि सम्पन्ने ‘त्रिरात्रं’ काङ्क्षन्ते विश्रामायेति । १२
(९) ‘उभयत्र’ उपाकरणे उत्सर्गे च ‘आचार्याणां’ वेदशाखाप्रचारकाणां नामतः
‘उदकोत्सेचनं’ जलाञ्जलिक्षेपणं तर्पणमिति यावत् कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ १३ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते—कि ‘उपाकरण’ और ‘उत्सर्ग’ इन दोनों
क्रियाओं में छात्रोंको तीन रात्रि विश्राम देवे ॥ १२ ॥ (९) ‘उपाकरण’ और
उत्सर्ग, इन दोनों क्रियाओं में जलाञ्जलि क्षेपण पूर्वक आचार्योंका नाम स्मरण
करके (स्वीय) तृप्तिसाधन करे ॥ १३ ॥

**श्रवणामेकउपाकृत्यैतमासावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते । १४
तैषीमुत्सृजन्ति ॥ १५ ॥**

‘एके’ आचार्याः ‘श्रवणां’ श्रवणं पौर्णमासीं प्राप्य ‘उपाकृत्य’ ‘आसावि-
त्रात्’ सहितुदेवताकं भाद्रपदीयं हस्तनाम नक्षत्रमभिव्याप्य ‘एतंकालं’ ‘काङ्-
क्षन्ते’ अध्ययनाध्यापनविश्रामायेति । इत्युपाकरणम् । १४ अथोत्सर्गः ।—‘तैषीं’
तिथ्यनामनक्षत्रयतां पौर्णं पौर्णमासी मिति यावत् प्राप्य ‘उत्सृजन्ति’ वेदा-

ध्यापनत्यागपूचक मुत्सर्जनं नाम कर्म कुर्वन्ति आचार्याएवेति । इदमेवोदगय-
नीयं प्रत्युपाकरणम् ॥ १५ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहने हैं कि—आवणमास की पूर्णिमासी को यह
'उपाकरण' करना चाहिये एवं उसी दिन से भाद्रमास के हस्तानक्षत्र युक्त
तिथि पर्यन्त छात्रोंको विश्राम देवे ॥ १४ ॥ पौषकी पूर्णिमासी की वेदाध्यापन
का 'उत्सर्ग' अर्थात् कई एक मासके लिये नया पाठ अध्यापन छोड़देवे । इस
को 'प्रत्युपाकरण' (कर्म) कहने हैं ॥ १५ ॥

प्राङ्बोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य या आपोऽनवमेहनीया-
स्ताअभ्येत्योपस्पृश्यच्छन्दोऽस्यृषीनाचार्याश्च तर्पयेयुः ॥ १६

एतस्मिन्नुदगयनीये सम्पन्ने च पक्षिणीं त्रिरात्रं वा विश्रामाय काङ्क्षन्ते
आचार्या इत्युक्तं पुरस्तात् । तत्र च विश्रामावसरे 'ग्रामात्' स्ववासभूमेः 'प्राक्
वा' पूर्वस्यां—दिशि वा 'उदक् वा' उत्तरस्यां दिशि वा निष्क्रम्य, 'या आपः'
'अनवमेहनीयाः' मेहनस्पृशिन्यो मेहनीयाः ततोऽवाचीनाः अवमेहनीयाः न
तादृश्याः, मेहनोद्ध्वगता नाभिदग्ना इति यावत् ; 'ताः' आपः 'अभ्येत्य' 'उप-
स्पृश्य' 'छन्दोसि' छन्दोनामान्युल्लिख्य, 'ऋषीन्' मन्त्रद्रष्टृषिनामान्युल्लिख्य,
'आचार्यान्' स्व-स्व-शाखाकारनामादीन्युल्लिख्य 'च' तर्पयेयुः जलाञ्जलिदानैः
स्मरणतः स्वात्मतृप्तिं सम्पादयेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

भा०—यह 'उत्सर्ग' क्रिया पूर्ण होने पर 'पक्षिणी' या तीन रात सब
प्रकार अध्ययन का विराम रखे, यह पूर्व ही व्यवस्था कियी गयी है । उस
विरामकाल में,—स्व २ वाम घास की पूर्व, या उत्तरभाग में, जाकर, कम से कम
नाभि—प्रमाण—जल वाले जलाशय में गोता मार कर उपस्पृशं पूर्वक छन्दो-
नामक सब उल्लेख करते हुए और मन्त्र द्रष्टा ऋषियों का नामोल्लेख करते
एव अपनी २ शाखा प्रवृत्तिकादि आचार्यों का नामोल्लेख करते हुये जला-
ञ्जलि देकर (अपनी) तृप्ति सम्पाद न करे ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रत्युपाकरणेऽभ्रानाध्याय आपुनरुपाकरणाच्छन्दसः १७

'तस्मिन्' उक्तलक्षणे 'प्रत्युपाकरणे' उत्सर्गापरपर्याये कर्मणि सम्पन्ने ततः
प्रभृति 'आ पुनरुपाकरणात्' भाद्रपदीयहस्तनाम नक्षत्रयुक्तकालं यावत् 'छन्द-
सः' सामवेदीय छन्दोग्रन्थमात्रस्य 'अभ्रानाध्यायः' अभ्रनिमित्तकोवक्ष्यमाणलक्ष-
णोऽनध्यायोभवति, अत्र चानध्यायकाले अधीतानामपि छन्दोग्रन्थानामभ्यासं
विचारार्थकञ्च वर्जनीयम् । १७ उक्ताभ्रानध्यायमेव स्फटयति ;

भा०—इस प्रकार 'प्रत्युपाकरण कर्म, सम्पन्न होने पर्यन्त पुनः उपाकरण न होने पर्यन्त, इन कई एक महीने (नया पाठ तो होगा नहीं अधिकन्तु मेघ निमित्तक अनध्याय भी होगा, 'इस अनध्याय में पुरातन पाठ का अभ्यास या विचारादि भी वर्जनीय है । किन्तु यह "आभ्रानध्याय" छन्दोग्रन्थ मात्र के लिये है ॥ १७ ॥

विद्युत्स्तनयित्पृषितेष्वकालम् ॥ १८ ॥

विद्युत् गर्जनपूर्वदृश्यज्योतिः, स्तनयितुर्मेषमाला, पृषित वृष्टिविन्दवः, एतत्-त्रितयमेकदैव दृश्येत चेत् तदा आ कालम् यत्कालिकी घटना, तत्परदिबभीय-तावत्कालं यावत् अनध्यायच्छन्दोग्रन्थयनस्येति । अयमेवाभ्रानध्याय उच्यते ॥ १८

भा०—विजुली, मेषमाला, और वृष्टि देखने पर आ-काल अभ्रानध्याय होगा । अर्थात् अभ्रनिमित्तक उपद्रव जिस समय उपस्थित हो, उस के पर दिन उसी समय तक छन्दोग्रन्थ की चर्चा भी न करे ॥ १८ ॥

उल्कापातभूमिचलनज्योतिषोरुपसर्गेषु । १९ निर्धाते च ॥ २० ॥

उल्कापाते, भूमिचलने, ज्योतिषोः सूर्यचन्द्रयोः उपसर्गे ग्रहणादौ च आ कालमेवानध्यायः सर्वेषामेव ग्रन्थानाम् ॥ १९ ॥ 'च' अपि 'निर्धाते' मेघोदये त्रिमलाकाशे वा स्थिते वज्रपाते आ कालमेवानध्यायः ॥ २० ॥ अथ सार्वकालिकसाधारणानध्यायानाह :-

भा०—उल्कापात, भूकम्प, और सूर्य और चन्द्रग्रहण के पर दिवसीय उसी समय तक अनध्याय होगा । यह अनध्याय सब ही ग्रन्थों का जायेगा ॥ १९ ॥ वज्र गिरने पर भी उस के पर दिन के उसी समय तक अनध्याय होगा । यह भी सब ग्रन्थों के लिये है ॥ २० ॥

अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन् । २१ पौर्णमासीषु च ॥ २२ ॥

'अष्टकामावास्यासु' सर्वास्व वेद वेदाङ्गानि च 'न अधीयीरन्' एष नित्यानध्यायः । २१ 'पौर्णमासीषु' 'च' 'न अधीयीरन्' एषोऽपि नित्यानध्यायः ॥ २२ ॥

भा०—प्रति अष्टकामावास्या एवं प्रत्येक अष्टमीतिथिको मध्यप्रकार अनध्याय होगा २१ प्रति पूर्णिमा तिथि में इसीप्रकार जबतक तिथि रहे अनध्याय होगा २२

तिसृषु कार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामाषाढ्याज्ञाहोरात्रम् ॥ २३ ॥

'कार्त्तिक्यां फाल्गुन्याम् आषाढ्याम्'—इत्येतासु 'तिसृषु' 'अहोरात्रम्' तद्दिनं तद्वात्रिश्च नाधीयीरन्त्येव । २३ अथ नैमित्तिकानध्याया उच्यन्ते:-

भा०—विशेषतः कार्त्तिकी, फाल्गुनी, और आषाढी पूर्णिमा को एक दिन

एवं एक रात्रि सत्र प्रकार अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

सब्रह्मचारिणि च प्रेते । २४ स्वे च भूमिपती ॥ २५ ॥

‘सब्रह्मचारिणि’ सतीर्थे ‘प्रेते’ ‘च’ मृते अहोरात्रम् नाधीयीरन् । २४ ‘च’ अपि ‘स्वे’ भूमिपती भूस्वामिनि प्रेते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥ २५ ॥

भा०—एक गुरु के शिष्य के मृत्यु होने पर भी एक दिन रात सत्र प्रकार अनध्याय होगा ॥ २४ ॥ भूस्वामी के मरने पर भी एक दिन रात सत्र प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २५ ॥

**त्रिरात्रमाचार्य्ये । २६ उपसन्ने त्वहोरात्रम् । २७ गीत-
वादित्ररुदितातिवातेषु तत्कालम् । २८ शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र २९**

‘आचार्य्ये’ स्वे एव प्रेते ‘त्रिरात्रम्’ नाधीयीरन् । २६ ‘उपसन्ने’ शिष्ये प्रेते ‘तु’ ‘अहोरात्रम्’ एव नाधीयीरन् । २७ गीतं, वादित्रं, रुदितं, अतिवातो ऋक्का, एषु सत्सु ‘तत्कालम्’ यावत् स्यात् तावदेव नाधीयीरन् । २८ ‘अतः’ उक्तेभ्य एभ्यः हेतुभ्यः ‘अन्यत्र’ ‘शिष्टाचारः’ अप्येकोऽनध्यायहेतुः तथाहि शिष्टेऽपि कस्मिंश्चित् समागते नाधीयीरन् २९ गतमिदं वेदाध्ययनप्रकरणम् । अथाद्भुतप्रकरणम्

भा०—आचार्य के मृत्यु होने पर, सत्र प्रकार अध्ययन, तीन रात तक रोक रक्ते, तदनन्तर अन्य आचार्य से पढ़ें ॥ २६ ॥ शिष्य के मरने पर एक दिन और एक रात अनध्याय होगा । अर्थात् उस दिनरात में उस मठ (पाठशाला) में किसी का किसी प्रकार पाठन होगा ॥ २७ ॥ गीत, वाद्य, रोना, आन्धी उपस्थित हो ने पर’ जबतक उपद्रव शान्त नहो, सत्र प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त निमित्तों के अतिरिक्त’ विशेष प्रतिबन्धक होने पर और भी अनध्याय होगा, जैसे, यदि कोई शिष्ट व्यक्ति मठमें आवे, तो उनके आदरार्थ अनध्याय होगा ॥ २९ ॥

**अद्भुते कुलपत्योः प्रायश्चित्तम् । ३० वंशशमध्यमयो-
र्मणिके वा भिन्ने व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥ ३१ ॥**

‘अद्भुते’ कस्मिंश्चिदपि उपस्थिते ‘कुलपत्योः’ यस्मिन् कुले समुपस्थित मद्भुतम् भवेत् तस्यैव स्वामिनोः दम्पत्योः ‘प्रायश्चित्तं’ कर्तव्यम् भवेत् । ३० कीदृशेऽद्भुते कीदृशं प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याह ;—वंशः स्त्रीणोपरिस्थः, मध्य-माश्च स्तम्भाः, एतयोः ‘भिन्ने’ भिन्नयोः अनिमित्ततएव विदीर्णयोः सतोः ‘वा’ अथवा ‘मणिके’ जलाधारवृद्धभायङ्गे भिन्ने अनिमित्तमेव स्फुटिते, एतद्भुत-

दोषप्रशमनाय व्याहृतिभिः भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रैः जुहुयात्' आज्याहुतं कुर्यात् ३१

भा०-कोई अद्भुत (आश्चर्य) बात हो पड़े तो गृहस्वामी और उस की स्त्री को प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३० ॥ कैसे अद्भुत के लिये क्या प्रायश्चित्त होगा? सो कहते हैं कि-जिस घांस के ऊपर सम्पूर्ण घर का ठाठ (छप्पर) हो वह, या घर के खम्भे सब हठात् फट जावें, या जल का घड़ा, वा मांट फूट जावे, तो व्याहृति मन्त्रों को पाठ कर आज्याहुति देवे ॥ ३१ ॥

दुःस्वप्नेष्वद्यनोदेवसवितरित्येतामृचं जपेत् ३२ अथापरम् ॥ ३३ ॥

'दुःस्वप्नेषु' अद्यनोदेवसवितः (छ० आ० २, १, ५, ७)-इति एताम् 'अचं' 'जपेत्' । एतज्जपादेव एतदद्भुतदोषप्रशमनं भवेत्काम । गतमिदमद्भुतप्रकरणम् । ३२ । 'अथ' अद्भुतप्रायश्चित्तविधानानन्तरम् 'अपरम्' अपि किञ्चिन्नैमित्तिकमस्ति तद् वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भा०-बुरा स्वप्न देखने पर 'अद्यनोदेवसवितः' (छ० आ० २, १, ५, ७) मन्त्र का जप करे ॥ ३२ ॥ और भी कुछ घटाना के अनुसार कर्त्तव्य कहा जाता है ॥ ३३ ॥

चित्ययूपोस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्लुप्त इन्द्रियैश्च पापस्पर्शं पुनर्म्मामैत्विन्द्रियमित्येताभ्यमाज्याहुती जुहुयात् ॥ ३४ ॥

किन्तिदित्याहः- 'चित्ययूपः' ऋद्धयूपः तस्य उपस्पर्शनम्, कर्णयोः स्वयोः क्रोशः शब्दः, अक्षयोः वेपनं कम्पनम् ; एषु निमित्तेषु ; -किञ्च सुप्ते एव सूर्योभ्युदितः अपिवा सुप्ते एव सूर्योऽस्तं गतश्चेत् ; -इन्द्रियैः हस्तादिभिः पापवस्तूनां परबधूरोजादीनां स्पर्शं "पुनर्मा मैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः । पुनर्द्रविक मैतु मा पुनर्ब्राह्मण मैतु मा ॥ ३३ ॥ पुनर्मनः पुनरात्मा स आगात् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं स आगात् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः (स्वाहा)" ॥ ३४ ॥ (म० ब्रा- १, ६, ३३-३४)-इति एताभ्याम् ऋग्भ्याम् आज्याहुती' आज्यास्याहुतिद्वयं 'जुहुयात्' ॥ ३४ ॥

भा०-देवात् ऋद्धरूप प्रकट होनेपर, कान में किसी प्रकार शब्द होने पर आँखोंके स्फुरन होने पर, एवं सूर्योदय के पीछे जागने पर, या सूर्यास्त समय नींद आने पर, और भी हाथ आदि इन्द्रियोंके द्वारा पराई स्त्री के स्तन स्पर्श करने पर, "पुनर्मा मैत्विन्द्रियम्" इत्यादि दो मन्त्रों से दो आज्याहुति देवे ॥ ३४ ॥

आज्यलिप्ते वा समिधौ । ३५ जपेद्वा लघुषु ॥ ३६ । ३ ॥

‘वा’ अथवा अनतिरिक्तनिमित्ते ‘आज्यलिप्ते’ समिधौ’ समित्काष्ठद्वय-
मात्रं जुहुयात् । तथैव तत्पापप्रशमनं भवेन्नाम । ३५ ‘वा’ अथवा ‘लघुष’ ततो-
ऽप्यस्पनिमित्तेषु उक्तमृगद्वयं जपेदेव न तु समिदाहुतेरप्यपेक्षेति शम् ॥ ३६ ॥

इतिसामवदोयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३, ३॥

भा०-यदि अतिरिक्त पाप स्पष्ट न हो जावे तो घी-से लपेटी लकड़ी
(दो) अग्नि में हवन करे ॥ ३५ ॥ बहुत छोटा दोष (पाप) होने पर उक्त
दोनों सम्प्र मन ही मन जप करे, आहुति प्रदान न करे ॥ ३६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयअध्यायकेतृतीयखण्डका भाषानुवादपूराहुआ ॥ ३, ३ ॥



(अथ स्नातकप्रकरणम्)। कृतब्रह्मचर्यांगार्हस्थानुप्रवेशायाचार्यानुमतः विधि-
विशेषेण स्नातः सन् पितृकुलं प्रतिगच्छति । एतदेव स्नातकव्रतमुच्यते । तदेवा-
स्मिन् खण्डे यथाक्रमं विधत्ते,-

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरुवेऽनुज्ञातो दारान्
कुर्वीतासगोत्रान् ॥ १, २, ३, ४ ॥

‘ब्रह्मचारी’ आद्याश्रमीद्विजः ‘वेदम्’ वेदैकम् आद्यन्तम् । ‘अधीत्य’ गुरु-
मुखादनुश्रुत्य यथाशक्ति बुद्ध्वाच (१) ‘उपनी’ उपनीः उपनयनं, तद्दक्षिणा-
प्युपचारादुपनीरित्युच्यते; ततो द्वितीयैकस्य सुपांसुरिति लुकि उपनीति;
उपनयनदक्षिणानिति यावत् ‘गुरुवे’ तस्मै वेदाध्यापकायाचार्याय ‘आहृत्य’
निवेद्य (२) ततस्तेनैव गुरुणा ‘अनुज्ञातः’ द्वितीयाश्रमग्रहणे लब्धानुज्ञः सन्
‘दारान्’ पत्नीं ‘कुर्वीत’ (३) । दारांश्च कीदृशान् कर्त्तव्यानित्याह; -‘असगोत्रान्’
समानगोत्रातिरिक्तान् स्वगोत्रजभिन्नानिति यावत् (४) ॥ ४ ॥

भा०-ब्रह्मचारी एक वेद को आद्योपान्त अध्ययन कर, गुरु की उपन-
यन की दक्षिणा दे, और उसकी आज्ञानुसार अपना विवाह स्थिर करे, जिस
कन्यासे विवाह करे उसका और अपना समान (एकही) गोत्र नहीं ॥ १, २, ३, ४ ॥

मातुरसपिण्डा । ५। अनग्निका तु श्रेष्ठा । ६। अथाप्लवनम् । ७।

तत्र दारकर्मणि ‘मातुः असपिण्डा’ मातृसमानपिण्डा कन्या न ग्राह्या ॥ ५॥
तत्र च ‘तु’ अपि ‘अनग्निका’ यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत्, यावच्च नग्ना
उलङ्घापि विचरितुं शक्नुयात्, सा नग्निका, तद्विद्वा अनग्निका ऋतुमत्ती प्राप्त-
यावता, सैव ‘श्रेष्ठा’ प्रशस्या; कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्वमुपपुज्यते,

तदैव च 'सोमो ददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते नान्यथेत्येव दार-
कर्मणि श्रुतमन्याः प्राशस्त्यम् । अतएवाह मनुरपि 'देवदत्तां पतिभार्यां विन्दते
नेच्छयात्मनः (९, ९५)'—इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौव-
नापि नोद्वाह्येति फलितम् (६) । ६ 'अथ' दारकरणे गुर्वनुमतिप्राप्त्यनन्तरम्
'आश्विनम्' ब्रह्मचर्यव्रतसमाप्तिसूचकं विधिविशेषं विहितं स्नानम् उपदेष्टव्य-
म् इति शेषः ॥ ७ ॥

भा०—और वह कन्या ब्रह्मचारी की माता की सपिण्डी न हो अर्थात्
ब्रह्मचारी की माता के पिता के सात पीढ़ी में न हो ॥ ५ ॥ जिस कन्या का
श्रुत (मासिकधर्म) प्रकाश हो चुका हो, इस प्रकार प्राप्त 'यौवना' को 'अनग्निका'
कहते हैं । अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये प्रशस्ता होती है । वि-
वाह के निमित्त गुरु की आज्ञा पाने के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति
सूचक स्नान करे ॥ ७ ॥

उत्तरतः पुरस्ताद्वाऽऽचार्यकुलस्य परिवृतम्भवति ॥८॥

'आचार्यकुलस्य' आचार्यकुलसम्बन्धिन्येव स्थाने 'उत्तरतः पुरस्तात् वा'
उत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि 'परिवृतं' सर्वतः आवृतं स्नानागारं 'भवति' भवेत्वाप्य।

भा०—आचार्य परिवार सम्बन्धी स्थान की उत्तर, या पूर्व दिशामें अच्छे
प्रकार आच्छादित एक स्नानागार (Bathing room) बनावे ॥ ८ ॥

तत्र प्रागग्रेषु दर्भेषूदङ्गाचार्य्य उपविशति । प्राग् ब्रह्म-
चार्य्युदगग्रेषुदर्भेषु ॥ ९, १० ॥

'तत्र' स्नानागारे 'आचार्य' 'प्रागग्रेषु दर्भेषु' 'उदङ्मुखः' सन् 'उपविशति'
उपविशेत् । 'ब्रह्मचारी' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् उपविशेदित्येव ॥ ९, १० ॥

भा०—इस 'स्नानागार' में पश्चिम की ओर जड़ एवं पूर्व की ओर शिर
इसप्रकार ढाले हुए कुशाओं पर आचार्य्य उत्तराभिमुख होकर बैठे एवं 'उत्त-
राग्र' रखे हुए कुशाओं पर ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ९, १० ॥

सर्वौषधिविफाण्टाभिरद्विर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिरा-
चार्य्योऽभिषिञ्चेत् ॥११॥

कुहितद्रव्याद्यप्युज्जले निक्षिप्य वस्त्रादिना पूतीकृतं तज्जलं फाण्टमुच्यते ।
सर्वौषधिविफाण्टाभिः' सर्वौषधिद्रव्यैस्तथाविधकृताभिः 'गन्धवतीभिः' सुगन्ध-
द्रव्यमिश्रिताभिः 'शीतोष्णाभिः' शीतलजलमिश्रिताभिः कदुष्णाभिर्वा 'अद्विः'
'आचार्यः' 'अभिषिञ्चेत्' ब्रह्मचारिणं प्रथममिति ॥ ११ ॥

भा०:-सुगन्ध, कक्षा पक्का मिला * सर्वोषधि-फावट जल से आचार्य्य प्रथम ब्रह्मचारी को अभिषिञ्चन करे ॥ ११ ॥

स्वयमिव तु । १२ मन्त्रवर्णो भवति । १३ ॥

‘तु’ अप्यर्थः । अनन्तरम्, ‘इव’ तद्वत् आचार्याभिषिञ्चनप्रकारेण ‘स्वयम्’ अपि ब्रह्मचारी आत्मानम् अभिषिञ्चेदित्येव । १२ । अत्र स्वयमभिषिञ्चनकाले ‘मन्त्रवर्णः’ मन्त्रोच्चारणं कर्तव्यं भवति भवेत् । १३ । स्वयमभिषिञ्चनकाले आदौ तावत् षष्ठ्यभिर्मन्त्रैः पञ्चाञ्जल्युदकानां व्यवहारस्ततोऽवशिष्टानामेकदैव तूष्णीम् । तत्र चाद्यमन्त्रद्वयाभ्यामुदकाञ्जलिद्वयं भूमौ क्षिप्त्वा तृतीयादिभिरुदकाञ्जलिभिः शिरःप्रभृत्यङ्गानां सिञ्चनमभिसृतम् । तदेव यथाक्रमं विधत्ते:-

भा०:-उस के पश्चात् ब्रह्मचारी स्वयं भी आपे को अभिषिञ्चित करे ॥ २॥ एवं आपे को अभिषिञ्चन करते समय मन्त्र पढ़े ॥ १३ ॥

[स्वयं अभिषिञ्चित होते समय पहिले पांच मन्त्रों से जलाञ्जलि द्वारा जल व्यवहार कर अन्त में अवशिष्ट जल एक ही बार में अपने मस्तक पर डार देवे । उन में प्रथम दो मन्त्रों से लिया शेष अञ्जलिजल भूमि पर डार कर तृतीय आदि तीनों मन्त्रों से मस्तक आदि सब शरीर सिंचन करे । इस का यथाक्रम से आगे विधान करते हैं]

ये अपस्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलिमवसिञ्चति ॥ १४ ॥

“ये अपस्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्योमरुक्को मनोहाः । खलो वित्तजस्तनूदूषिरिन्द्रियहा अतितान्तसृजामि” ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, ७, १)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अपामञ्जलिम्’ ‘अवसिञ्चति’ त्यजति भूमाविनि । १४ ॥

भा०:-“ये अपस्वन्तरग्नयः” इस मन्त्र से एक अञ्जलि जल पृथिवी पर गेरे १४।

यदपाङ्घोरं यदपाङ्कूरं यदपामशान्तमिति च ॥ १५ ॥

ततः, “यदपां घोरं यदपां कूरं यदपामशान्तमिति तत्सृजामि” ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ७, २)-‘इति’ अनेन ‘च’ अपि अवसिञ्चत्येव ॥ १५ ॥

भा०:-उसके पश्चात् ‘यदपां घोर’ मन्त्रसे एक अञ्जलि जल भूमिपर डाले ॥ १५ ॥

यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मानमभिषिञ्चति ॥ १६ ॥

‘ततः’ “ यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं मामभिषिञ्चामि” ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ३)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘आत्मानं’ शिरःप्रभृतिकम् ‘अभिषिञ्चति’ स एव ब्रह्मचारी ॥ १६ ॥

* सब द्रव्यों को कूट कर गरम जल में छोड़ कपड़े से ढाक देवे ऐसे जल को ‘फावट’, कहत हैं । कूड़, जदामान्सी, हरिद्रा, बच, शिलाजित, चन्दन, मुरामान्सी, लालचन्दन, कपूर, भद्रमोघ इन का नाम सर्वोषधि है ।

भा०:-तदनन्तर “यो रोचनस्त” मन्त्र से एक अञ्जलि जल से अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ १६ ॥

यशसे तेजसइति च । १७ येनस्त्रियमकृणुतमिति च । १८ तूष्णीञ्चतुर्थम् ॥ १९ ॥

ततः “यशसे तेजसे ब्रह्मवर्चसाय जलायेन्म्रियाय वीर्यायान्नाद्याय रायस्पो-
षाय अपचित्यै” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ४)-‘इति’ अनेन ‘च’ अपि आत्मा-
नमभिषिञ्चेत् । १७ ततः येन स्त्रियमकृणुतं येनापामृषतथ्सुराम् । येनाज्ञानभ्य-
षिञ्चेतं येनेमां पृथिवीं महीम् । यद्वा न्तरश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चेतम्” ॥ ५ ॥
(म० ब्रा० १, ७, ५)-‘इति’ अनेन ‘च’ आत्मानमभिषिञ्चेत् । १८ ततोऽवशिष्टान्युद-
कान्येकदैवगृहीत्वा ‘तूष्णीं’ मन्त्रशून्यम् आत्मानमभिषिञ्चेत् । तदिदं चतुर्थम् ॥ १९ ॥

भा०:-उस के पश्चात् “यशसे तेजसे” यह मन्त्र पढ़कर एक अञ्जलि जलसे अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ १७ ॥ अन्त में “येनस्त्रिय” यह मन्त्र पढ़ कर तृतीय जलाञ्जलि से पुनः अपना मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ १८ ॥ शेष जल को बिना मन्त्र पढ़े अपने माथे पर ढार देवे ॥ १९ ॥

उपोत्थायादित्यमुपतिष्ठेतोद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्र-
भृतिना मन्त्रेण ॥ २० ॥

‘ततश्चोपोत्थाय’ स्नानासनादुत्थानं प्रकृत्य “उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरु-
द्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थात् । दशसनिरसि दशसनिं माकुर्वा त्वा विशाम्या
माविश ॥ ६ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सान्तपनेभिर-
स्थात् । शतसनिरसि शतसनिं कुर्वा त्वा विशाम्या माविश ॥ ७ ॥ उद्यन् भ्राज
भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् । सहस्रसनिरसि सहस्रमनिं
माकुर्वा त्वा विशाम्या माविश” । ८ (म० ब्रा० १, ७, ६ वा ७ वा ८) ‘इत्येतत्प्रभृतिना’
एवम्प्रकारेण षष्ठाद्यन्यतमेन ‘मन्त्रेण’ ‘आदित्यं’ सूर्यम् उपतिष्ठेत’ आराधयेत् २०

भा०:-अनन्तर नहाने की जगह ही पर खड़े होकर “उद्यन् भ्राज भृष्टिभिः”
(६ ठा, ७ म, या ८ म) इन तीन मन्त्रों में से किसी एक का पाठ करते हुए सूर्य की आराधना करे ॥ २० ॥

यथालिङ्गं वा विहरन् ॥ २१ ॥

‘वा’ अयं शब्दोऽत्र व्यवस्थायाम् । ‘यथालिङ्गं’ मन्त्रलिङ्गानुसारतएव व्य-
वस्थां ‘विहरन्’ व्यवहरन् मन्त्रेण आदित्यमुपतिष्ठेतेत्येव । तथा च षष्ठे मन्त्रे
“प्रातर्यावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् प्रातस्तस्यैव प्रयोगः, सप्तमे पुनः सान्ताप-

नेभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् मध्यान्ह तस्यैव प्रयोगः, अष्टमे तु सायंयावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् तस्यैव सायं प्रयोगः इति व्यवस्था ॥ २१ ॥

भा०:-इन तीन (पूर्वोक्त) मन्त्रों में से जिस में 'प्रातः' शब्द पठित है उस का प्रातःकाल के उपस्थान में प्रयोग करे, और जिस मन्त्र में मध्यान्ह बोधक 'सान्तापन' शब्द है उस को मध्यान्ह के उपस्थान में पढ़े और 'सायं' पद जिस मन्त्र में पढ़ा है उस मन्त्र को सायंकाल के उपस्थान में पढ़े ॥ २१ ॥

चक्षुरसीत्यनुबध्नीयात् ॥ २२ ॥

"चक्षुरसि चक्षुषु मस्यवमे पाप्मानं जहि । सोमस्त्वा राजावतु नमस्तेऽस्तु मामा हिंसीः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ९)-इति इमं मन्त्रम् 'अनु' पश्चात् कालत्रये एव मन्त्रत्रयस्य 'बध्नीयात्' बन्धनं कुर्यात् । उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरित्येतदनन्तरं सर्वत्रैव पाठयमित्यर्थः ॥ २२ ॥

भा०:-'चक्षुरसि' इस मन्त्र को प्रातःकालादि समय पढ़ने योग्य पूर्वोक्त (उद्यन् भ्राजभृष्टिभिः आदि) तीनों मन्त्रों के पश्चात् बान्ध देवे अर्थात् इन मन्त्रों के साथ-यह मन्त्र सदैव अवश्य पढ़े ॥ २२ ॥

मेखलामवमुञ्चत उदुत्तमं वरुणपाशमिति ॥ २३ ॥

तदनन्तरञ्च ब्रह्मचर्यकाले गृहीतां 'मेखलां' 'अवमुञ्चते' अधस्तान्मोचनं कुर्वीत । तत्र मन्त्रः-"उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं वि मध्यमश्नुं प्रथाय । अथादित्य व्रते वयन्तवानागसो अदितये स्याम" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० १, ७, १०)-इति अयं बोध्यः ॥ २३ ॥

भा०:-तदनन्तर "उदुत्तम वरुण पाशम्" मन्त्र को पढ़कर, ब्रह्मचर्य ग्रहण समय की पहनी हुई मेखला को नीचे की त्याग देवे ॥ २३ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयम्भुक्त्वा केशशमश्रुरोमनखानि वापयीत शिखावर्जम् ॥ २४ ॥

एवं स्नानं समाप्य मेखलात्यागानन्तरं स्नातकव्रतं समाप्तं मन्यमान आश्रमसन्धौ स्थितः सः 'ब्राह्मणान्' कतिपयान् 'भोजयित्वा' ततः 'स्वयं भुक्त्वा' च 'शिखावर्जं' शिखाव्यतिरिक्तं 'केशशमश्रुरोम' सर्वं 'नखानि' च 'वापयीत' नापितेनेति । २४ ।

भा०:-इस प्रकार स्नान कर मेखला त्यागने पर, स्नातक व्रत समाप्त हो गया, ऐसा समझ कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय ब्रह्मचारी कतिपय ब्राह्मण की भोजन करावे एवं पीछे आप भी भोजन करे । तदनन्तर नापित से मूँह, रोम, नख आदि बनवाने ॥ २४ ॥

स्नात्वाऽलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्त्रजमावधनीत
श्रीरसि मयि रमस्वेति ॥ २५ ॥

पूर्वोक्तवापनानन्तरं पुनः स्नायात्, 'स्नात्वा', 'अलङ्कृत्य' स्वदेहम्, 'अहते' अखण्डे 'वाससी' उपसंख्यानीतरीये 'परिधाय' "श्रीरसि मयि रमस्व" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ११)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'स्त्रजम्' 'आवधनीत' स्वमूर्धनीति शेषः । २५ ।

भा०:—उक्त प्रकार श्रीर कर्म कराने पश्चात् भूषणादि पहन, अखण्ड दोनों बख नीचे ऊपर (धोती अङ्गोच्छा) पहन कर "श्रीरसि मयि रमस्व" इस मन्त्र का पाठ करता हुआ अपने मस्तक में माला *पहने ॥ २५ ॥

नेत्र्यौ स्थो नयतम्मामित्युपानहौ ॥ २६ ॥

"नेत्र्यौ स्थो नयतं माम्" । १२ । (म० ब्रा० १, ७, १२),—'इति' मन्त्रेण 'उपानहौ' चर्मपादुके परिधायेत्येव । २६ ।

भा०:—पीछे 'नेत्र्योस्थ' मन्त्र पढ़कर जूता पहने ॥ २६ ॥

गन्धर्वोऽसीति वैणवन्दण्डङ्गृह्णाति ॥ २७ ॥

'गन्धर्वोऽस्युपाव उपमामव' । १३ । (म० ब्रा० १, ७, १३),—'इति' मन्त्रेण 'वैणवं' वैणुवंशभवं 'दण्डं' 'गृह्णाति' । २७ ।

भा०:—अनन्तर 'गन्धर्वोऽसि' मन्त्र का स्मरण करते हुए वांस (शास्त्रोक्त विधि अनुसार बनी) की यष्टि ग्रहण करे ॥ २७ ॥

आचार्य्यथ सपरिषत्कमभ्येत्याचार्यपरिषदमीक्षते य-
क्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमिति ॥ २८ ॥

'सपरिषत्कं, शिष्यादिमण्डलिविराजितम् 'आचार्य्यम्' 'अभ्येत्य, "यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासम्" । १४ । (म० ब्रा० १, ७, १४) 'इति' मन्त्रमु-
च्चरन् 'आचार्यपरिषदं' तम् 'ईक्षते' पश्येत् । २८ । अथ यात्राप्रकारः ।

भा०:—तदनन्तर शिष्यों से घिरे हुए आचार्य्यके निकट बैठकर "यक्षमिव भूयासं" मन्त्र पाठ कर उन शिष्य युक्त आचार्य का दर्शन करे ॥ २८ ॥

उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् सम्मृशन्नोष्ठापिधाना

* शरीर के किस २ अङ्ग में माला पहनने से माला की विशेष संज्ञा क्या २ होती है सो कहते हैं—जो मस्तक में धारण किया जावे उसे 'स्तक', एवं उसी को 'माल्य', और माला भी कहते हैं । केश के भीतर पहनने से 'गर्भक', नाम होता है, शिखा में लटकने से 'प्रभ्रष्टक', कहते हैं, सम्मुख भाग में ललाट पर जो झूलती हो उसे 'ललामक', कहते हैं । जो कण्ठ में पहिनी जावे उसे 'प्रालम्ब', कहते, यही 'उपवीत', वा प्राचीनीवोति की नाईं कोंख तक लटकती हो उसे 'वैकक्षिक', कहते हैं ॥

नकुलोति ॥ २९ ॥ अत्रैनमाचार्योऽर्हयेत् ॥ ३० ॥

‘उपोपविश्य’ अर्द्धोपवेशनं प्रकृत्य ‘मुख्यान्’ मुखागतान् ‘प्राक्तान्’ वायून् ‘सम्पृशन्, पवित्रीकुर्यन्, “ओष्ठापिधाना नकुली दन्तपरिमितः पविः । जिह्वे ना विह्वलो वाचं चारुमाद्येह वादय ” ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ७, १५) ‘इति’ मन्त्रं पठेदिति । २९ । ‘अत्र’ अस्मिन्नेव समये ‘आचार्यः’ ‘एनं’ स्वातकम् ‘अर्हयेत्’ आशिवेति भावः । ३० ।

भा०:—अर्द्धोपवेशन कर अपने मुख में आये हुए श्वास वायु का अनुभव करते हुए “ओष्ठापिधाना नकुली” मन्त्र का पाठ करे ॥ २९ ॥ इस समय आचार्य उस ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देकर प्रसन्न करे ॥ ३० ॥

गोयुक्तं रथमुपसंक्रम्य पक्षसी कूवरबाहू वाऽभिमृशे-
द्वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया इति ॥ ३१ ॥

ततश्च ‘गोयुक्तं’ गोभ्यां युक्तं रथं यानम् ‘उपसङ्क्रम्य’—तत्समीपगमनेन प्राप्य, तस्यैव रथस्य ‘पक्षसी’ चक्री ‘वा’ अथवा ‘कूवरबाहू’ युगन्धरपाश्वर्ये । “वनस्पते वीड्वङ्गोहि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः । गोभिः सङ्गृह्येति वीड्वयस्य आस्थाता ते जयतु जेत्वानि” ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ६) ‘इति’ मन्त्रेण ‘अभिमृशेत्’ स्पृशेत् ॥ ३१ ॥

भा०:—इस प्रकार यात्रा के लिये जिस रथ में सवार होना हो, उस के चक्र या जूआ छूकर ‘वनस्पते वीड्वङ्गोहि’ मन्त्र का पाठ करे ॥ ३१ ॥

आस्थाता ते जयतु जेत्वानीत्यातिष्ठति ॥ ३२ ॥

तथा स्पर्शनम् कृत्वा “आस्थाता ते जयतु जेत्वानि” (म० ब्रा० १, ७, १७) ‘इति’ मन्त्रं पठन् तदुपरि ‘आ’ आभिमुख्येन ‘तिष्ठति’ आरौहतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भा०:—उस के अनन्तर “आस्थातां ते” मन्त्र पढ़कर, रथ के ऊपर चढ़े ॥ ३२ ॥

प्राङ्बोदङ् वाभिप्रयाय प्रदक्षिणमावृत्योपयाति ॥ ३३ ॥

‘प्राङ्’ पूर्वाभिमुखस्तत्रोपविष्ट्वा ‘वा’ अथवा ‘उदङ्’ उत्तराभिमुखएवोपविष्ट्वा ‘अभिप्रयाय’ सर्वतश्चालयित्वा तद्वयमिति शेषः । ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘आवृत्य’ आवर्त्तनेन गत्वा स्ववासमिति ॥ ३३ ॥

भा०:—इस रथ पर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर रथ चलावे । अपनी वास भूमि की दक्षिण में रक्ख कर आवर्त्तन करते हुए वहां बैठे ॥ ३३ ॥

उपयातायाध्यमिति कौहलीयाः ॥ ३४ ॥

प्र० ३ खं० ४ सू० २८-३४, खं० ५ सू० १-६। समावृत्तविधिः ॥

१३९

‘उपयाताय’ स्वावासप्राप्ताय तस्मै स्नातकाय ‘अर्घ्यम्’ देयं पुरजमैरात्म-
जवैर्वा ‘इति’ एवं ‘कौहलीयाः’ आहुः। तत्राप्यस्माकं नासम्मतं रिति भावः ॥३४॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठके चतुर्थखण्डस्यष्टाध्यामंसमाप्तम् ३४॥

भा०:-बहुत दिन तक गुरुगृह में वास पूर्वक कृत ब्रह्मचर्य्य, अधीतवेद, स्नातक को परिवार गण आदर के साथ ग्रहण करें (Recieve) ॥ ३४ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्यायके चतुर्थखण्ड का भाषानुवादपूरा हुआ ॥३४॥



अत ऊर्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः ॥१॥

‘अतः’ ब्रह्मचर्यात् ‘ऊर्ध्वं’ परस्तात् अकृतोद्वाहोऽपि पुरुषः वृद्धशीली स्यात् वृद्धानां मात्रादीनां शुश्रूषापर आज्ञानुवर्ती च भवेत्। अथवा वृद्धः प-
क्वबुद्धिः तत्स्वभावको भवेत्। ‘इति’ एतन्मात्रेणैव ‘समस्तोद्देशः’ समप्राप्तमेव धर्माणाम् उपदेशः सिद्धो भवेदिति ॥१॥

भा०:-ब्रह्मचर्य्य समाप्त करने पर विवाह के पहिले आश्रम सन्धि समय तक गृहधर्म करना चाहिये। उस से पिता माता प्रभृति वृद्ध जनोंकी सेवा में परायण एवं सुपक्व बुद्धि होवे। यह सब उपदेशों का मूल है ॥१॥

तत्रैतान्याचार्याः परिसंयुज्यन्ते ॥२॥

‘तत्र’ ब्रह्मचर्योत्तरकाले आश्रमसन्धाविति यावत्, ‘आचार्याः’ गोभिला-
दयः ‘एतानि’ बुद्धिस्थानि अनुपदं वह्यमाणानि ‘परिसंयुज्यन्ते’ परिसंस्थानानि कुर्वन्ति। परिसंस्थानेषु निषेधविशेषम्, निषिद्धादन्यत्र विधानमित्येव तस्य विशेषत्वम् ॥२॥

भा०:-घर में पुनः आये हुए व्यक्तियों के लिये आचार्यों ने वह्यमाण नियम निर्दिष्ट किये हैं ॥ २ ॥

नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ॥३॥ नायुग्वा ॥४॥ न रज-
स्वलया ॥५॥ न समानर्ण्या ॥६॥

‘अजातलोम्न्या’ रसानभिज्ञया बालिकया ‘उपहासम्’ अपि ‘न’ ‘इच्छेत्’
अपि ॥३॥ ‘अयुग्वा’ अयोग्यया अपि ‘न’ तथा ॥४॥ ‘रजस्वलया’ अपि ‘न’ तथा ॥५॥ ‘समानर्ण्या’ समानः योग्यः ऋषिः पतिः यस्या अस्ति, तया सध्वया अपि ‘न’ तथा ॥ ६ ॥

भा०:-जिस कन्या को अज्ञतलोम उत्पन्न हुए हों इसप्रकार रस से अनभिज्ञा बालिका के साथ उपहास करने की इच्छा न करे ॥ ३ ॥ इसप्र-

कार आयु रूप गुण प्रभृति में सर्वथा अयोग्या नारी के साथ भी उपहास परित्याग करे ॥ ४ ॥ रजस्वला पत्नी से अलग रहे ॥ ५ ॥ परस्त्री के साथ भी उपहास आदि न करे ॥ ६ ॥

नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत । ७ । न द्विःपक्वम् । ८ ।
न पर्युषितम् । ९ । अन्यत्र शाकमथ्सयवपिष्टविकारेभ्यः ॥ १० ॥

‘अपरया’ गुप्तया ‘द्वारा’ ‘प्रपन्नम्’ प्राप्तम् ‘अन्नम्’ ‘न भुञ्जीत’ । ७ । ‘द्विः-
पक्वम्’ पक्वं पुनःपक्वम् अन्नं ‘न’ भुञ्जीतेत्येव । ८ । ‘पर्युषितम्’ अन्नम् ‘न’
भुञ्जीत । ९ । तत्रास्ति विशेषः— शाकमांसयवानां पिष्टविकाराभ्याम् अन्यत्र
पूर्वोक्तो निषेधो ज्ञेयः । तथाच शाकादिविकृतपिष्टकमिष्टान्नादौ पर्युषितत्वं न
दोषायेति ॥ १० ॥

भा०:—अन्य किसी गुप्त रीति से प्राप्त अन्न भोजन न करे ॥ ७ ॥ दोवार
का पका अन्न (उसना चावल आदि) भोजन न करे ॥ ८ ॥ वासी भात भी
न खावे ॥ ९ ॥ कन्द, मूल, फलादि द्वारा तैयार किया हुआ मांस की नाई,
यव आदि अन्न से समुत्पन्न जलेबी आदि या अन्य किसी प्रकार का खाद्य
मिष्टान्नादि वासी होने पर भी (कोई हानि नहीं) खावे ॥ १० ॥

न वर्षति धावेत् । ११ । नोपानही स्वयं हरेत् । १२ ।
नोदपान मवेक्षेत् ॥ १३ ॥

‘वर्षति’ पर्जन्ये ‘न’ धावेत् । ११ । ‘उपानही’ स्वस्यापि ‘स्वयं’ ‘न आ-
हरेत्’ हस्तेनेति निर्माणप्रज्ञया वा । १२ । ‘उदपानम्’ कूपं ‘न’ ‘अवेक्षेत्’ तथा-
वेक्षणे तत्र पतनसम्भवात् ॥ १३ ॥

भा०:—पानी वर्षते समय या वर्षने पर कीचड़ भरे मार्ग में दौड़ कर न चले
॥ ११ ॥ अपना जूता स्वयं हाथ में लेकर न चले और न स्वयं अपना जूता
बनावे ॥ १२ ॥ बहुत गहरे कूप आदि में एकटक से न देखे ॥ १३ ॥

न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत । १४ । नागन्धात्स्वजं धा-
रयेत् । १५ । अन्यात्स्वजं हिरण्यस्वजः । १६ । नामालोक्तम् ॥ १७ ॥

‘फलानि’ आश्रयनसादीनि ‘स्वयं’ ‘न प्रचिन्वीत’ वृक्षशाखादिभ्य इति या-
वत् । १४ । ‘अगन्धा’ गन्धशून्यां ‘स्वजं’ मालां ‘न धारयेत्’ मस्तके इति यावत् । १५ ।
तत्राप्ययं विशेषः—‘हिरण्यस्वजः’ सुवर्णमालातः ‘अन्यां’ न धारयेत् स्वर्णमाला-
भरणन्तु धारयेदित्येव । १६ । गृहस्थाग्रमतः प्राक् अमालोक्तां माला व्यतिरिक्तां
मालम्बादिकां ‘न’ धारयेत् ॥ १७ ॥

भा०—आम आदि कोई फल स्वयं पेड़ों से तोड़ कर न जमा करे ॥१४॥ माथे पर विना गन्धकी माला न धारण करे ॥१५॥ किन्तु सोनेकी माला हो गन्ध रहित होने पर भी अवश्य धारण करे ॥ १६ ॥ माला शब्द से जिस माले का व्यवहार हो, उसी को धारण करे, प्रालम्बादिक (माला) को नहीं । अर्थात् गृहाग्रम के पहिले आग्रम सन्धि में प्रालम्ब आदि का व्यवहार न करे ॥१७॥

स्नगिति वाचयेत् । १८ भद्र मित्येतां वृथावाचं परिहरेत् ।

१९ भद्र मिति ब्रूयात् । २० तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति ॥२१॥

स्नगलक्षणं शिरोवेष्टनिकां मालां तु धारयेदेव । १८ 'भद्रम्'—'इति' वृथा वाचं अभद्रेऽपि भद्रोक्तिं 'परिहरेत्' न प्रयुञ्जीत । १९ 'भद्रम्'—'इति' 'ब्रूयात्' सत्यमेव तद् भद्रं चेत् । २० अथ स्नातक विभागान् दर्शयति,—'तत्र' समावृत्ति-तेषु 'स्नातकाः' कृतब्रह्मचर्यव्रतान्तस्नानाः 'त्रयः' त्रिविधाः 'भवन्ति' ॥ २१ ॥ तत्त्रिविधत्वमेव स्फुटयति ;—

भा०—जिस का नाम स्नक् है, उसी को धारण करे ॥ १८ ॥ जो वस्तु अच्छी न हो, उसे अच्छी है ऐसा न कहे ॥१९॥ इसप्रकार, जो वस्तुतः अच्छी हो उसे अच्छी कहे ॥२०॥ समावृत्तित (जिन का ब्रह्मचर्य समाप्त हो गया है) द्विज गण तीन प्रकार के होते—जिन्हें स्नातक कहते हैं ॥ २१ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥२२॥

'विद्यास्नातकः' विद्याग्रहणनियमपालनमन्तरेणापि वेदविद्यां समग्रा-मवाप्यैव अपूर्णैऽपि काले स्नातः, 'व्रतस्नातकः' विद्याग्रहणनियमान् प्रतिपा-ल्यापि समग्रवेदविद्याग्रहणे न कृतकृत्योऽपि च पूर्ण काले स्नातः, 'विद्याव्रत-स्नातकः' विद्यां समग्रां प्रगृह्य, व्रतं च यथावत् प्रतिपाल्य, यथाकालं स्नातः, 'इति' इमे त्रयः स्नातकाः ॥ २२ ॥

भा०—प्रथम, विद्यास्नातक अर्थात् जितने नियमों का ब्रह्मचर्य में प्रतिपा-लन करना पड़ता, उतने नियमों का पालन न कर सकने पर, एवं जितने काल पर्यन्त ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य हैं, उतने काल तक न करके वेदाध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचर्य समाप्ति सूचक स्नानकारी होता है । द्वितीय, व्रतस्नातक अर्थात् जितने समय तक ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य, एवं जिस २ नियमसे कर्त्तव्य हो, उस २ प्रकार वेदाध्य-यन समाप्त न करके भी 'व्रतस्नातक' होता है । तृतीय—'विद्याव्रतस्नातक' अर्थात् नियम पूर्वक यद्योक्त कालपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके सम्पूर्ण वेदाध्यायी होता है ॥२२॥

तेषां मुत्तमः श्रेष्ठस्तुत्यौ पूर्वौ । २३ । नार्द्रं परिदधीत । २४ । नैकं परिदधीत । २५ । न मनुष्यस्य स्तुतिं प्रयुञ्जीत । २६ । नादृष्टं दृष्टतोब्रवीत ॥ २७ ॥

‘तेषां’ त्रिविधानां स्नातकानां मध्ये ‘उत्तमः’ तृतीयः विद्याव्रतस्नातक-
एव ‘श्रेष्ठः’ ‘पूर्वौ’ विद्यास्नातक व्रतस्नातकौ उभावैव ‘स्तुत्यौ’ समानमर्घ्यादौ
॥ २३ ॥ पुनरपि स्नातकव्रतान्याह—‘आर्द्रं’ वासः ‘न’ ‘परिदधीत’ । २४ ॥ ‘एकं’
वासः ‘न’ ‘परिदधीत’ एवञ्च अन्तर्वासः कौपीनखण्डं व्ययहरेदेव । २५ मनुष्यस्य
स्तुतिं न प्रयुञ्जीत चातुष्पादं परित्यजेदिति । २६ ‘अदृष्टं’ किमपि कर्म, ‘दृष्टतः’
परदृष्टहेतुना स्वयं दृष्टमिव सूचयन् मन्वानो वा ‘ब्रवीत’ ॥ २७ ॥

भा०—उक्त तीन प्रकार के स्नातकों में से तृतीय अर्थात् ‘विद्याव्रतस्नातक’
ही सब से अच्छा है, अन्य दो समान हैं ॥ २३ ॥ भीगा कपड़ा न पहने ॥ २४ ॥
केवल एक ही वस्त्र न पहने, किन्तु भीतर उस के काच्छा, या कौपीन पहन
कर ऊपर से धोती पहने ॥ २५ ॥ मनुष्य की कुटी प्रशंसा न करे ॥ २६ ॥ जिसे
अपनी आंखों से न देखे, उसे अपनी आंख से देखा है ऐसा न कहे ॥ २७ ॥

नाश्रुतं श्रुततः । २८ स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत् । २९ तैलपात्रमिवात्मानं दिधारयिषेत् ॥ ३० ॥

‘अश्रुतं’ किमपि वाक्यं, ‘श्रुततः’ परश्रुतहेतुना स्वयं श्रुतमिव सूचयन् म-
न्वानो वा न ब्रवीत । २८ ‘स्वाध्यायविरोधिनः अर्थान्’ स्वाध्यायः पञ्चधा
उपपद्यते, स्वीकारात् विचारात् अभ्यसनात् जपात् ह्यात्रेभ्योदानाच्च तदेषाम-
न्यतमस्यापि विरोधिनो योऽर्थो विषयाः तान् ‘उत्सृजेत्’ परित्यजेत् । २९ ‘तै-
लपात्रं तैलैः पूर्णं पात्रं पर्णद्रोणयादिकम् ‘उत्र’ ‘आत्मानं’ जीवात्मानं ‘दिधारयि-
षेत्’ देहे धारयितुमिच्छेत् । तैः पूर्णपात्रहस्तः कश्चिद् यथा पथि अतीव
सावधानो गच्छति, अन्यथा वेगमनेन वक्रमनेन मनसोऽप्रणिधानेन च पात्र-
स्थतैलानामुच्छलनं सपात्रानां भूमौ पतनं ततश्च पुनरापादनासम्भवः, भूम्याः
कथञ्चिदापादितेष्वपि तेषु मालिन्यादिकं परिमाणाल्पस्त्वञ्चानिवार्यं भवेत् ।
तथैव देहस्थमिममात्मानं सति यत्र नैव देहे रक्षितुमिच्छेत् चिरं देहे रक्षणं स्व-
सम्भवेव, परमिच्छेत् तादृशेच्छया च किञ्चित्कालमपि रक्षितुं समर्थो भवेत्
किञ्च यावत् कालं रक्षितः स्यात् तावदपेक्षाकृतोऽक्षुण्णोऽपि स्यात्, अन्यथा
यावत् स्थेयं तावत्कालमपि न तिष्ठेत् किञ्चित्स्थितोऽप्यपेक्षाकृतः क्लेशी भवेन्नामेति ३०

भा०—जिसे अपने कानों से न सुना हो, उसे अपने कानसे सुना है ऐसा न कहे ॥ २८ ॥ पांच प्रकार के (स्वीकार, विचार, अभ्यास, जप, और काश्यों को देना) स्वाध्यायों में से किसी में बाधा न हो, ऐसा वर्त्तै । अर्थात् ऐसा कार्य न करे जिससे स्वाध्याय को बाधा पहुँचे ॥ २९ ॥ मार्ग में चलता पुरुष जिस प्रकार तेल से भरा, तेल का वर्त्तन अपने हाथ में रक्त्त कर, उस के गिरने के डरसे बहुत सावधानी से चलता है; नहीं तो अवधानता से शीघ्रता, या टेढ़ी चाल चलने से, तेल पृथिवी पर गिरकर नष्ट हो जावे, यदि भूमि पर से गिरा तेल उठा लेवे, तो भी उसकी मलीनता एवं न्यूनता अनिवार्य है। इसीप्रकार इस शरीर में आत्मा की भी सावधानी से रक्षा करे, नहीं तो अकाल ही में, यह शरीर व्युत् या दुःखी हो जावेगा । यद्यपि यह, एक शरीर में चिरस्थायी और दुःखरहित नहीं रह सकता, तथापि यत्न करने पर अपेक्षा-कृत स्थायी और अपेक्षा कृत सुखी हो सकता है) ॥ ३० ॥

न वृक्षमारोहेत् । न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत् । नैकः । ३१-३३

‘वृक्ष’ ‘न आरोहेत्’ । तदारोहणेन ततः पतनमनु सरणमङ्गहानि वा भ-
क्वाम । ३१ ‘प्रतिसायं ग्रामान्तरं’ ‘न व्रजेत्’ । तादृशव्रजनेन गुप्तप्रणयादिकं त-
थाच ततएव प्राणहानि रपि सम्भवति । ३२ ‘एकः’ एकाकी एव ग्रामान्तरं ‘न’
व्रजेत् तथाच ग्रामान्तरगतो विपन्नश्चेत् यः सहायो भवेत् अथवा यथास्थानं सं-
वादमपि नयेदेवं कश्चनापरो द्वितीयः सहगोऽतीवाश्रयकः ॥ ३३ ॥

भा०—पेड़ पर न चढ़े (क्योंकि इससे गिर कर सर जावे, चोट लगने आदि की शङ्का है) ॥ ३१ ॥ प्रतिदिन सन्ध्या के पीछे दूसरे गांव में भ्रमणार्थ न जावे (इससे गुप्त प्रणय आदि दोष होने का डर है) ॥ ३२ ॥ अकेला दूसरे गांव में न जावे (एकाकी विपन्न होने पर, सहायकारी, या संवाद दाता का अभाव होता है । इस लिये ग्रामान्तर जाते समय एक उपयुक्त व्यक्ति को सतत सह रक्खे) ॥ ३३ ॥

**न वृषलैः सह । ३४ न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत् । ३५
न चाननुचरश्चरेत् । ३६ एतानि समावृत्तव्रतानि । ३७ यानि
च शिष्टा विदधुः ॥ ३८ ॥**

‘वृषलैः’ दुर्नीतिकैः ‘सह’ ‘न व्रजेत्’ । तथाच ‘संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति’ ३४
‘कासृत्या’ कुपणेन ‘ग्रामं न प्रविशेत्’ अपितु प्रसिद्धेन पथा दूरतरेणापि प्रवि-
शेत् तथाच निर्भयगमनं भवेत् । ३५ ‘च’ अपि ‘अननुचरः’ भृत्यशिष्यात्मीया-
न्यतमपरिचारकविहीनः ‘न चरेत्’ प्रवासं न गच्छेत् । अतएवोक्तं ‘भृत्याभावे

भवति मरणम्' । ३६ 'एतानि' उक्तानि समावृत्तप्रतानि' समावृत्तानां स्मातकानां कर्माणीति ॥ ३७ ॥ 'च' अपि 'यानि' उक्तान्यानि 'शिष्टाः' गुर्वादयः विदध्युः तानि च कर्तव्यान्वेवेति ॥ ३८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठके पञ्चमखण्डस्यध्याख्यानं समाप्तम् ३५

भा०—दुष्ट लोगों का संसर्ग न करे (जिस कारण संसर्ग ही से दोष गुण उत्पन्न होते हैं) ॥३४॥ प्रसिद्ध मार्ग रहने पर भी, जल्दी पहुँचने के विचार से प्रसिद्ध मार्ग को छोड़ कुपय से न जावे ॥ ३५ ॥ एवं प्रवास (दूरदेश बाहर) जाते समय नौकर, छात्र, या किसी एक अपने अनुचर को अवश्य सङ्ग ले लेवे ॥ ३६ ॥ ये सब कर्म स्नातक के लिये कहे गये हैं ॥३७॥ और भी जो कुछ शिष्टगण स्नातकोंके हितार्थ नियम कहें, उन २ का प्रतिपालन अवश्य करे ॥३८॥ गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के पञ्चमखण्ड का भाषानुवादपूराहुआ ॥३५॥



**गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयतेमा मे विश्वतो वीर्यं
इति १ प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति ॥ २ ॥**

“प्रकाल्यमानाः” चरणभूमौ गमनार्थं गृहान्निष्काशयमानाः गाः, “इमा मे विश्वतो वीर्यो भव इन्द्रश्च रक्षतम् । पूषथंस्त्वं पर्यावर्त्तयानष्टा आयन्तु नो गृहान्” ॥१॥ (म० ब्रा० १, ८, १)—‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत्’ । १—। ‘प्रत्यागताः’ चरणभूमितो गृहागता स्ता गाः “इमा मधुमती र्मह्य समष्टाः पयसा सह । गाव आज्यस्य मातर इहेमाः सन्तु भूयसीः” ॥ २ (म० ब्रा० १, ८, २) ‘इति’ अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रयेतेत्येव ॥ २ ॥

भा०—चारण भूमि (गौ चराने की जगह) में चराने के लिये गौ आदि को घर से बाहर ले जाते समय “ इमामे विश्वतो वीर्यः” यह मन्त्र पढ़े ॥१॥ और जब गौ आदि चरकर घर आवें तो “इमा मधुमती र्मह्यम्” यह मन्त्र पढ़े ॥२॥

**पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहना-
ज्जिह्वया ललाटमुल्लिह्य निगिरेद् गवाथं स्लेष्मासीति ॥३॥**

‘पुष्टिकामः’ पुरुषः, ‘प्रथमजातस्य वत्सस्य, मातुः प्रलेपनात् प्राक्’ एव तस्य ‘ललाटं’ जिह्वया’ स्वकीयया ‘उल्लिह्य’ आस्वाद्य लेहनेन मुखागतं स्लेष्माणां “गवाथं स्लेष्मासि गावो मयि श्लिष्यन्तु” ॥ ३ (म० ब्रा० १, ८, ३)—‘इति’ इमं मन्त्रं मनसा पठन्नेव निगिरेत्’ गलाधः कुर्यात् । इत्येतत् पुष्टिकामस्य प्रथमं कार्यम् (एतेन वत्समातुः स्नेहतोऽपि समधिकः स्नेहः प्रतिपालकस्यावश्यक-स्तथास्तद्येव यथाभिलषितपुष्टिर्भवतीति सूचितम्) ॥ ३ ॥

भा०—जोलोग, पुष्टिकी कामना करें, वे गौ के वत्स, को जन्म के साथ ही, जब-तक उसकी अपनी मा उसे चाटे, या न चाटे, पुरुष अपनी जिह्वा से, वत्सका ललाट चाटे (अर्थात् मा के स्नेह से भी पालक का स्नेह कुछ अधिक होना आवश्यक है) । इस प्रकार चाटते समय मुंह में आया हुआ लार को “गवां श्लेष्मासि” यह मन्त्र मन ही मन पढ़ कर निगल जावे ॥३॥

**पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपस-
माधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति ॥ ४ ॥**

‘पुष्टिकाम एव’ पुरुषः, ‘निशायां’ रात्रौ ‘संप्रजातासु प्रसूतासु गोषु; ‘गोष्ठे’ तत्रैव गोस्थाने, ‘अग्निम्’ उपसमाधाय, सम्यक् प्रज्वाल्य, तत्र, “संग्रहण संगृहा-
य ये जाताः पशवो मम । पृषेवाथं शर्म यच्छतु यथा जीवन्तो अप्ययात्” ॥ ४॥
(म० ब्रा० १, ८, ४)—‘इति’ एतेन मन्त्रेण ‘विलयनं’ अर्द्धमयितं दधि ‘जुहुयात्’
स्त्वेषेति । (इत्येतत् पुष्टिकामस्य द्वितीयं कार्यम् । एतेन, गवां प्रसवक्षेत्रग-
मपनीतं स्यात्) ॥ ४॥

भा०—जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे रात में गौ के बच्चा जनने पर, घरमें अच्छे प्रकार आग जला कर “संग्रहण संगृहाण” यह मन्त्र पढ़ते हुए “विल-
यन” (आधा महा हुआ दधि) होम करे ॥४॥

**पुष्टिकाम एव संजातास्वीदुम्बरेणासिना वत्समिथुन-
योर्लक्षणं करोति पुंसः एवाग्रेऽथ स्त्रिया भुवनमसिसाहस्रमिति५**

‘पुष्टिकाम एव’ पुरुषः, ‘संप्रजातासु प्रसूतासु गोषु, वत्समिथुनयोः’ द्वयोर्द्वयोर्व-
त्सयोः ‘असिना’ उदुम्बरकाष्ठीयेन असिना, चिह्नकविशेषेण ‘लक्षणं’ चिह्नम्
उभयोः समरूपमेव ‘करोति’ कुर्यात् । तत्र, ‘पुंसः एव’ चिह्नम् ‘अग्रे’ कर्तव्यम्,
‘अथ’ तदनन्तरं च ‘स्त्रियाः’ । अत्र चिह्नकरणे मन्त्रौ “भुवनमसि साहस्रमि-
न्द्राय त्वा समोऽददात् अक्षतमरिष्टमिलान्दम् ॥५॥ गो पोषणमसि गोपोषस्येशिषे
गोपोषाय त्वा । सहस्र पोषणमसि सहस्रपोषस्येशिषे सहस्रपोषाय त्वा” ॥६॥
(म० ब्रा० १, ८, ५, ६)—‘इति’ इमौ ॥ ५ ॥

भा०—जो लोग पुष्टि की इच्छा करें, वे, गूलर की लकड़ी की खनी लाल
तरवार से नवोत्पन्न प्रतिबिम्ब के दोनों कानों को इसप्रकार चिन्ह कर दें कि
(यदि जोड़ा उत्पन्न होतो) प्रथम आच्छे को, फिर बच्छिया को । दोनों कान
में चिन्ह करते समय, “भुवनमसि साहस्रः” ये मन्त्र पढ़ें ॥ ५ ॥

कृत्वा चानुमन्त्रयेत् लोहितेन स्वधितिनेति ॥ ६ ॥

‘कृत्वा’ अङ्कनं, ‘च’ ततः “लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृतम्। (यावतीनां) भूयसीनां च एषमी लक्षणमकारिषम् । (भूयसीनां) भूयसीनां च उत्तरामुत्तराथं समां क्रियासम्” ॥ ७ ॥ (स० ब्रा० १, ८, ७)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत्’ ताम् वत्सानिति शेषः । अत्र च मन्त्रे ‘लोहितेन’-इति पदलिङ्गात् स चौदुंबरोऽसिः लोहितः स्यादिति गम्यते, लोहितत्वञ्च तस्य उबलनेन सिन्दूरादिना वा भवितव्यम् । तथाच दाहने सिन्दूरादिरक्षितेन वा वत्सयुग्माः चिन्हिताः स्युः किञ्चात्रैव ‘कर्णयोः’-इति पददर्शनात् तेषां कर्ण-
ध्येव चिन्हानि कर्तव्यानीति च गम्यते । (एतेन (चरणभूम्यादौ बहुस्वामिक वत्सानामेकत्र चरणेऽपि विभ्रमः सुपरिहार्यः, किञ्चैकविधचिन्हेन द्वयोर्द्वयोः कर्णावङ्किताविति एकेऽपहृते तदन्वेषणं सुकरं भवेदित्येतत् पुष्टिकामस्य तृतीयं कार्यम्) ॥ ६ ॥

भा०-उक्त प्रकार चिन्ह करने पर, “लोहितेन स्वधितिना” यह मन्त्र पढ़े (एक २ जोड़ा वत्स का एक २ प्रकार चिन्ह रहने से एक बच्चा भुनाने पर उसके मिलने का सुभीता होगा, जहां गीयें अधिक हों, वहां के लिये यह नियम जान पड़ता है) ॥ ६ ॥

तन्त्रीं प्रसार्यमाणां बटुवत्साञ्चानुमन्त्रयेत्तेयं तन्त्रीं गवांमातेति७

‘प्रसार्यमाणां’ शुष्कीभवनाय बटुवत्साञ्च ‘गोदोहनादौ’ तन्त्रीं वत्सबन्ध-
नरज्जुं “इयं तन्त्री गवां माता सवत्सानां निवेशनी । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तराथं समां क्रियासम्” । ८ ॥ ८ (स० ब्रा० १, ८, ८)-‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत्’ ॥ ७ ॥

भा०-‘इयं तन्त्री गवां माता’ इस मन्त्र का पाठ कर वत्स को बान्धने की रस्ती पसार कर सुखावे ॥ ७ ॥

तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति । ८ निष्कालनप्रवेशने
तन्त्रीविहरणमिति । ९ गोयज्ञे पायसश्चरुः ॥ १० ॥

‘तत्र’ गोपौषणे ‘एतानि’ ‘अहरहः कृत्यानि’ प्रतिदिनं कर्त्तव्यानि ‘भवन्ति’ भवेयुः । ८ ‘निष्कालन प्रवेशने’ प्रथमद्वितीयसूत्रोक्ते ‘तन्त्रीविहरणं’ सप्तमसूत्रो-
क्तम् अपि ‘इति’ इमानि त्रीणि । ९ अथ पुष्टिकामेन गोयज्ञः कार्यः तत्र द्रव्य-
देवते विधत्ते :- “गोयज्ञेपायसः” पयसा सिद्धः ‘चरुः’ पक्तव्यः ॥ १० ॥

प्र० ३ खं० ६ सू० ६-१५] गोयज्ञर्षभपूजाऽश्वयज्ञाः ॥

१४७

भा०—गौ पोषण (पालन) करने में प्रति दिन, ये नियम करना चाहिये ॥८॥ प्रथम, गौ आदिक को चारण भूमि (चरागाह) में चरने देना, २ तीय, चर कर आने पर उनको यज्ञ से ग्रहण करना और तृतीय, बच्चों की विशेष गौओं की सेवा करनी ॥९॥ गो-यज्ञ के निमित्त दूध में का पका चरु आवश्यक है ॥१०॥

अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् । ११ ऋषभपूजा । १२
गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः । १३ । यमवरुणौ देवताना-
मत्राधिकौ ॥ १४ ॥

‘अग्निं’ ‘पूषणम्’ ‘इन्द्रम्’ ‘ईश्वरम्’—इमान् चतुरो देवान् ‘यजेत’ अर्चयेत् । ११ ‘ऋषभस्य’ ऋषभस्य पूजा अपि कार्या । १२ ‘गोयज्ञेन’ उक्तेनानेन ‘एव’ ‘अश्वयज्ञः’ व्याख्यातः विशेषेणोपदिष्टः । तथाच अश्वयज्ञोऽपि पायसश्चरुर्द्रव्यम्; अग्न्याद्याएव देवताः । ऋषभपूजास्थानेऽश्वपूजनम् । १३ ‘अत्र’ अश्वयज्ञे ‘देव-
तानाम्’ मध्ये ‘यमवरुणौ’ इमौ देवौ ‘अधिकौ’ पूज्याविति ॥ १४ ॥

भा०—और अग्नि, पूषा, इन्द्र, और ईश्वर, ये चार नाम वाले देव विशेष अर्चनीय हैं । (अर्थात् जिन मन्त्रों के ये देवता हैं उन मन्त्रों से) ॥ ११ ॥ ऋषभ पूजा भी गोयज्ञ का प्रधान अङ्ग है ॥१२॥ गोयज्ञ और अश्वयज्ञ दोनों ही एक प्रकार से होंगे (इम से अश्वयज्ञ में भी दुग्ध सिद्ध चरु आवश्यक है और अग्नि प्रभृति उक्त चार देवता भी विशेष अर्चनीय हैं) ॥१३॥

भा०—गो-यज्ञ से, अश्व-यज्ञ में विशेषता यह है कि अश्व यज्ञ में ‘यम’ एवं ‘वरुण’ देवता की पूजा होती है ॥१४॥

गन्धैरभ्युक्षणं गवां गन्धैरभ्युक्षणं गवाम् । १५ ॥ ६ ॥

‘गन्धैः’ धूपादिभिः ‘गवाम्’ ‘अभ्युक्ष्य’ प्रहर्षणं कार्यमिति शेषः । वीप्सा-
याश्च द्विर्वचनम्, तेन प्रतिदिनमेव सायंप्रातः सायमेव वा गोगृहे अग्निं प्रज्वा-
ल्य तत्र गुग्गुलुवादिगन्धद्रव्यक्षेपणेन च तद्गृहं धूपायितं कार्यम् । एतेन मश-
कादीनामुपद्रवो वारितः स्यात्, गृहदोषश्च विदूरितो भवेदिति ॥ १५ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानसमाप्तम् ३६

भा०—गौ-शाला में प्रतिदिन सायं प्रातः काल, अन्ततः सायंकाल भी आग जला कर उस में धूना, गुग्गुलु प्रभृति डाल कर, घर को साफ रखे (जिस से मल मूत्र अनित दुर्गन्ध दूर हो) ॥१५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के छठेखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ ॥३६॥

अथातः श्रवणाकर्म ११ पौर्णमास्यां कृत्यम् १२ पुरस्ता
च्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

‘अथ’ अधिकारार्थः । ‘अतः’ ऊर्ध्वं ‘श्रवणाकर्म’ अधिकृतं वेदितव्यम् ११
तच्च श्रवणाकर्म ‘पौर्णमास्यां’ तिथौ ‘कृत्यं’ करणीयं भवति आरब्धव्यमिति ।
श्रवणाकर्मेति महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादन्वयतः श्रवणानक्षत्रयुक्तायामेव पौर्ण-
मास्यामिति । २ ‘शालायाः’ अग्न्यागारस्य ‘पुरस्तात्’ पुरोभागे ‘उपलिप्य’ गो-
मयेत्यादिना, ‘शालाग्नेः’ अग्न्यागारस्थिताग्नितएव ‘अग्निं’ गृहीत्वा ‘प्रणयन्ति’
यथाविधिं प्रज्वालयन्ति प्रज्वालयेयुः गृहस्था अविशेषेणेति ॥ ३ ॥

भा०:-अथ श्रवणा कर्म का आरम्भ जानो ॥ १ ॥ यह श्रवण कर्म, श्रवण
मास की पूर्णिमा में पहिले किया जावे । अर्थात् आष्विणी पूर्णिमा से इस का
आरम्भ करे ॥ २ ॥ जिस घर में नित्य अग्निहोत्र का अग्नि स्थापित हो, उसी
घर के पुरो भाग में गौ के गोबर से लीप कर अग्निहोत्र से कुछ अग्नि लेकर
एथक् यथा विधि अग्नि प्रज्वलित करे । यह, साधारणतः सब ही गृहस्थ करे ॥ ३ ॥

अभितश्रुत्वार्थ्युपलिम्पन्ति । ४ प्रतिदिशम् साधिके
प्रक्रमे । ५, ६ । अग्नौ कपालमाधाय सकृत्संगृहीतं यवमुष्टिं
भृञ्जत्यनुपदहन् ॥ ७ ॥

‘अभितः’ तस्याभिनवस्याग्नेः, ‘श्रुत्वारि’ स्थानानि ‘उपलिम्पन्ति’ गोमये-
त्यादिनैव । ४ ‘प्रतिदिशं’ दिशं दिशं प्रति ‘साधिके प्रक्रमे’ अन्वयतः प्रक्रमपरि-
मित स्थाने तल्लिम्पनं कर्तव्यम् । ‘त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः’ । ५, ६ ‘अग्नौ’ तत्र ‘क-
पालं’ घटार्द्धप्रायं भाजनम् ‘आधाय’ स्थाप्य, तस्मिन्नेवोत्तमे आष्ट्रे ‘सकृत्सङ्गृ-
हीतं’ एकदैव सङ्गृहीतं मुष्टिमितं यवाणाम् ‘अनुपदहन्’ दग्धं यथा न भवेत्
तथा कृत्वा ‘भृञ्जति’ भर्जयेत् ॥ ७ ॥

भा०:-उस नये स्थापित अग्नि की चारो ओर चार स्थान भी गोबर से
लीपे ॥ ४ ॥ प्रत्येक दिशा में कम से कम तीन घग स्थान लीपे ॥ ५, ६ ॥ उस
नये अग्नि पर एक खपरी (चड़े का अट्टा) रख कर, उस में एक मुट्ठी यव
एकवार डाल कर ऐसा भजे जिस में यव भस्म न हो जावे ॥ ७ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृढं हयित्वाऽवहन्त्युद्वेचम् ॥ ८ ॥

‘अग्नेः’ तस्य ‘पश्चात्’ भागे ‘उलूखलं’ दृढं हयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र उ-
द्वेचं, तुषमुक्तं यथा स्यात्तथा कृत्वा ‘अवहन्ति’ मुष्टिमितान् तान् भृष्टयवान्,
मुसलेनेति । ८ ।

भा०-उस अग्नि के पीछे दृढ़ता से ओखरी (उलूखल) रक्ख, उस में उक्त भूने यव आदि को साफ करने के लिये रक्ख कर मूसल से झांट देवे ॥८॥

सुकृतान्सक्तून् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय नि-
दधाति । ९ दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ॥ १० ॥

एवञ्च 'सुकृतान्' निस्तुषीकृतान् 'सक्तून्' भृष्टयवचूर्णान् 'कृत्वा' 'चमसे' पानपात्रविशेषे 'ओप्य' संस्थाप्य 'शूर्पेण' अपिधाय च 'निदधाति' यथास्थानं रक्षति ॥ ९ ॥ क दिशि रक्षेत् ? इत्याशङ्कामपनोदितुमाह- 'दक्षिणपश्चिमे' द्वे दिशौ 'अन्तरेण' मध्ये 'सञ्चरः' गमनागमनमार्गः । तदेतत्सञ्चरातिरिक्तप्रदेशेषु यत्र कुत्र वा रक्षेदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

भा०-इस प्रकार भूने यव आदि की भूमी निकाल और चूर्ण कर, सुन्दर सक्तू प्रस्तुत होने पर, उसे चमसे में (पानीय पात्र में) रक्ख कर, सूप से ढांक कर यत्न से रक्खे ॥९॥ दक्षिण और पश्चिम दिशा में अर्थात् नैर्ऋत्यकोण में, जाने आने का रास्ता छोड़ कर, जहां चाहे, उक्त सक्तू को रक्खे ॥ १० ॥

अस्तमिते चमसदर्व्यावादाय शूर्पञ्जातिप्रणीतस्याहुं
व्रजति । ११ । शूर्पे सक्तूनावपति चमसे चोदकमादत्ते ॥१२॥

'अस्तमिते' सवितरि 'चमस-दर्व्या' शूर्पे च 'आदाय' गृहीत्वा 'अतिप्र-
णीतस्य' अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्य, नित्याग्निः पृथक् कृत्वा द्वितीयतया
स्थापितस्य, अभिनवस्य, तस्यैवाग्नेः 'अहुं' समीपं 'व्रजति' होमार्थमिति ।
। ११ । चमसे रक्षितान् तान् 'सक्तून्' 'शूर्पे' 'आवपति' 'च' अपि शून्ये तत्र
चमसे 'उदकम्' 'आदत्ते' गृह्णीयात् । १२ ।

भा०-सूर्यास्त होने पर, चमस दर्वी (बलौना) सूप लेकर उस के अति-
रिक्त (अर्थात् नित्य स्थायी अग्नि से विभिन्न) नये अग्नि के निकट होम
करने के अभिप्राय से जावे ॥ ११ ॥ पहिले चमसे में रक्खा सक्तू आदि सूप में
उफाल कर, उस चमसे में जल ग्रहण करे ॥ १२ ॥

सकृत संगृहीतान् दर्व्या सक्तून् कृत्वा पूर्वं उपलिप्त
उदकं निनीय बलिं निर्वपति, यः प्राच्यांदिशि सर्पराज एष
ते बलिरिति । १३ । उपनिनयत्यपाथं शेषं यथा बलिं न
प्रवक्ष्यतीति ॥ १४ ॥

ततः 'दर्व्या' तथा 'सक्तून्' 'सकृत' एकवारं 'संगृहीतान् कृत्वा' गृहीत्वा,

किञ्च 'पूर्वे' पूर्वस्यां दिशि 'उपलिप्ते' गोमयादिलिप्तस्थाने 'उदकं' चमसाद् गृहीतं 'निनीय' निविच्य, तदुपरि "यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥१॥ (म०ब्रा०२.१.१)-इति अनेन मन्त्रेण 'बलिं' भागं 'निर्वपति' संस्थापयति ॥१३॥ 'अपां शेषं' तच्चमसपात्रस्थमवशिष्टं जलं 'उपनिनयति' उपनिनयेत् स्थापितबलरूपरि किञ्चित् क्षिपेत् । तथा कृत्वा क्षिपेत् 'यथा' च 'बलिं' तं बलिं 'न प्रवक्ष्यति' न प्रवहेत् ॥ १४ ॥

भा०:-अनन्तर उस दर्वी से एक ही वार में पूरा सत्तू उठाले और पूर्व दिशा में गोबर से लीपे हुए स्थान में उस चमस पात्र में रक्खा जल सींचकर उस के ऊपर यथा क्रम से "यः प्राच्यां" इस मन्त्र से बलिभाग रक्खे ॥ १३ ॥ उस चमस पात्र के बचे जल को उस बलि पर छीटे। इस जल को इस प्रकार छीटे जिस में ये बलि आदि वह न जावे ॥ १४ ॥

सव्यं बाहुमन्वावृत्त्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्येवमुदीची यथालिङ्गमव्यावर्त्तमानः । शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीतस्याहुं व्रजति । १५, १६ ।

ततश्च 'अव्यावर्त्तमानः, तत्रैकत्रैवस्थितौ 'सव्यं बाहुम् 'अन्वावृत्त्य' वा स-भागावर्त्तनक्रमेण 'एवं' यथोक्तेन सकृत् सङ्गृहीतादिप्रकारेण 'दक्षिणा' दक्षिणास्यां दिशि देया बलिः 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य मन्त्रलिङ्गानुसारत-एव मन्त्रं (यो दक्षिणास्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥२॥ यः प्रतीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥ ३ ॥ यः उदीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥४॥ म०ब्रा०२.१.२-४) पठित्वा हर्त्तव्येति । 'एवं प्रतीची' बलिः हर्त्तव्या । 'एवम् उदीची' बलिः च हर्त्तव्या । ततश्च 'चमसदर्व्या' 'अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'प्रताप्य' तस्मिन्नेवाग्नौ, 'शेषं' अवशिष्टसत्तुभागम् 'अग्नौ' तस्मिन्नेव 'ओप्य' प्रक्षिप्य 'अनतिप्रणीतस्य' चिरस्थायिनएव तस्य, यतो गृहीत्वा एषोऽतिप्रणीतः तस्य 'अहुं' समीपं 'व्रजति' व्रजेत् ॥ १५, १६ ॥

भा०:-उसी एक स्थान में रहते हुए थोड़ा बाईं ओर हटकर, इसी प्रकार दक्षिण ओर एक बलि पश्चिम ओर एक और उत्तर ओर भी एक बलि, रक्खे और उस २ बलि, के देते समय 'मन्त्र ब्राह्मणोक्त अपर तीन मन्त्र अर्थानुसार यथा यथ मन्त्रों का व्यवहार करे । पीछे चारों ओर चार बलि प्रदान करे और उस के ऊपर बचा जल छिड़के । पीछे खाली चमस और दर्वी जल में धोकर उसी अग्नि के ऊपर सुखाकर और अवशिष्ट सत्तू आदि उसी अग्नि

में डालकर जिस अग्नि से कुछ आग लेकर यह अग्नि प्रस्तुत हुआ है, उसी चिरस्थायी अग्नि के निकट आवे ॥ १५-१६ ॥

पश्चादग्ने भूमौ न्यञ्जौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं जपति । १७ । प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ १८ ॥

‘अग्नेः’ चिरस्थापितस्य अनतिप्रणीतस्य तस्य ‘पश्चात्’ भूमौ ‘न्यञ्जौ’ अधोमुखौ ‘पाणी’ हस्तौ ‘प्रतिष्ठाप्य’ “नमः पृथिव्यै दध्नुष्टाय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिषाम ॥ सध्नुहतं माविवधी विहतं मा भिसंवधीः” ॥५॥ (म० ब्रा० २, १, ३) ‘इति एतं मन्त्रं जपति’ ॥१७॥ ततः ‘प्रदोषे’ रात्रिप्रथमयामे ‘पायसः चरुः’ पकव्यः ॥१८॥

भा०:-उस अनति प्रणीत चिरस्थापित अग्नि के पृष्ठ भाग में दोनों हाथ नीचे कर “नमः पृथिव्यै” इस मन्त्र का जप करे ॥ १७ ॥ उस के पीछे रात्रि के पहिले अथ पहर में पायस चरु पकावे ॥ १८ ॥

तस्य जुहुयात्; अवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति ॥ १९ ॥

‘तस्य’ चरो; एकैकं भागं गृहीत्वा ‘अवणाय स्वाहा’ ‘इति’ इत्येषं पञ्चभिर्मन्त्रैः ‘जुहुयात्’ पञ्चहोमान् कुर्यादिति ॥ १९ ॥

भा०:-उस चरु में से एक २ भाग लेकर ‘अवणाय स्वाहा’ प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति देवे ॥ १९ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत् । २० । उत्तरतोऽग्नेर्दभस्तम्बश्च समूलं प्रतिष्ठाप्य सोमोराजेत्येतं मन्त्रं जपति याथं सन्धाथं समधत्तेति च ॥ २१ ॥

‘अन्यत्’ कर्मशेषं ‘स्थालीपाकावृता’ स्थालीपाकरीत्या कर्त्तव्येति शेषः ॥२०॥ ‘अग्नेः’ तस्यैव ‘उत्तरतः’ ‘समूलं दभस्तम्बं’ ‘प्रतिष्ठाप्य’ “सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमो स्माकश्च राजा सोमस्य वयश्चस्मः ॥ अहिजम्भन मसि सौमस्तम्बश्च सौमस्तम्ब महिजम्भन मसि” ॥६॥ (म० ब्रा० २, १, ४) ‘इति’ ‘एतं’ ‘मन्त्रं’ ‘च’ अपि “याथं सन्धाथं समधत्त यूयथं सप्तऋषिभिः सह । ताथं सर्पासात्यक्रामिष्ट नमो वो अस्तु मानो हिथंसिष्ट” ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २, १, ५) ‘इति’ मन्त्रं ‘जपति’ ॥ २१ ॥

भा०:-अपर शेष कर्म सब स्थाली, पाकयज्ञ जिस प्रकार सिद्ध करना होता उसी प्रणालि से करे ॥२०॥ उस अग्नि के उत्तर भाग में मूल के साथ कुणपुञ्ज स्थापन कर ‘सोमो राजा’ यह मन्त्र और ‘याथं सन्धाथं’ मन्त्र पढ़े ॥२१॥

श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रेऽपिधाय निदधाति।
अहरहस्तूष्णीं बलीन् हरेत् सायं प्राग्धोमादाग्रहायण्याः ॥२२, २३॥

‘ततः’ तदनन्तरं ‘श्वः’ परदिने ‘अक्षतसक्तून्’ यवसक्तून् ‘कारयित्वा’ पुत्र-
पुरोहितादिना ‘नवे पात्रे’ ‘अपिधाय’ आरुह्याद्यै ‘निदधाति’ स्थापयति। तैरेव
सक्तुभिः ‘अहरहः’ प्रतिदिनं ‘सायं होमात्’ सायंकालीनहोमतः पुरस्तादेव
‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव ‘बलीन् हरेत्’। ‘आ आग्रहायण्याः’ अग्रहायणमासी-
यपौर्णमासीं यावत् पौर्णमासीतः प्राग्दिनपर्यन्तमिति। समाप्तं श्रवणाकर्म ॥२२, २३॥
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके सप्तमखण्डस्य द्वाव्याख्यानं समाप्तम् ३.७

भा०:- उस के दूसरे दिन अपने पुत्र, या पुरोहित आदि द्वारा यव का
सक्तू प्रस्तुत कराकर नये पात्र में ढाक कर रखें और इसी सक्तू से प्रतिदिन
सांयहोम के पहिले पूर्ववत् बलिभाग यथा स्थान में प्रदान करे। अग्रहण
महीने की पूर्णिमा के पूर्वदिन तक इसी प्रकार करे ॥ २२, २३ ॥ *

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३.७॥

आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायसश्चरु रौद्रः ॥१॥

‘आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां’ आश्विनपूर्णिमायां ‘पृषातके’ आज्यमिश्रिते
पयसि सम्पादिते (इति भावतोलब्धः) ‘रौद्रः’, रुद्रदेवताकः ‘पायसः चरुः’
पक्वव्यः इति शेषः ॥१॥

भा०:- आश्विन मास की पूर्णिमा को, पृषातक अर्थात् घृत मिश्रित दुग्ध
सम्पादन पूर्वक रुद्र देवता की तुष्टि के लिये पायस चरु पाक करे ॥ १ ॥ *

तस्य जुहुयादा नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक
इति द्वितीयाम् ॥ २ ॥

‘तस्य’ चरोः एकैकमंशं गृहीत्वा ‘आनो मित्रावरुणा’ (ऋ० आ० ३.१.३.७)
‘इति’ प्रथमाम् आहुतिं किञ्च “मानस्तोके तनये मान आयौ मा नो गोषु मा
नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामिनो अधी हविष्मन्तः सदमिरवा
हवामहे” ॥८॥ (म० ब्रा० २.१.८) ‘इति’ ‘द्वितीयाम्’ ‘आहुतिं’ ‘जुहुयात्’ ॥२॥

भा०:- उक्त चरु का एक २ भाग लेकर “आनो मित्रावरुणा” (ऋ०आ०४,
१.३.७) मन्त्र से प्रथम और “मानस्तोके तनये” मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥२॥

* आज इसी “श्रवणाकर्म” के बदले सावन की पूर्णिमा को सलोनो ‘राखी’, वा ‘रक्षाबन्धन’,
ब्राह्मण लोग अपने २ यजमानों को “येन बद्धो बलो राजा दानेवन्दो महाबलमेनेन त्वा प्रतिबध्नामि रजे मानेन
माचल”, इस श्लोक को पढ़ (राखी रङ्गीन धागा) बान्ध कर दक्षिणा पाने हैं ॥

* इसी के बदले “कौजागरी कृत्य”, अर्थात् कौजागर पौर्णमासी को लक्ष्मी पूजा हुआ करती है ॥

[प्र० ३ खं० १ सू० २२-२३, खं० ८ सू० १-६] आश्वयुजीकर्म ॥ १५३

गोनामभिश्च पृथक् काम्यासीत्येतत्प्रभृतिभिः ३ । स्था-
लीपाकावृताऽन्यत् ॥ ४ ॥

‘च’ अपि ‘काम्यासि इत्येतत्प्रभृतिभिः’ यजुर्वेदप्रसिद्धैः (य० वे० सं० ८, ४३) ‘गोनामभिः’ एकादशभिः ‘पृथक्’ नामशः एकादशाहुती जुहुयात्तस्यैव चरोरंशं गृहीत्विति ॥ ३ ॥ ‘अन्यत्’ सर्वं ‘स्थालीपाकावृता’ स्थालीपाकरीत्या एव कर्त्तव्यमिति ॥ ४ ॥

भा०:-‘काम्यासि’ प्रभृति यजुर्वेद के प्रसिद्ध ग्यारह (य० वे० सं० ८, ४३) गौ के नामों का उच्चारण करे, इस चरु के भाग को लेकर भिन्न * ग्यारह आहुति देवे ॥ ३ ॥ और अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक की नाईं करे ॥ ४ ॥

पृषातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्मणानवेक्षयित्वा
स्वयमवेक्षेत; तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः
शतं जीवेम शरदः शतमिति ॥ ५ ॥

ततः ‘अग्निं प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा पृषातकम् आउय मिश्रितं पयः
‘पर्याणीय’ स्वसमीपं गृहीत्वा तच्च ‘ब्राह्मणान्’ तत्रागतान् ‘अवेक्षयित्वा’ दर्श-
यित्वा ‘तच्चक्षुर्देवहितम्’-‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘स्वयम् अवेक्षेत’ ॥ ५ ॥

भा०:-उस के अनन्तर अग्नि की प्रदक्षिण कराकर उस पृषातक को अ-
पने निकटस्थ लेकर स्थानीय ब्राह्मणों को देखावे एवं ‘तच्चक्षुर्देवहितं, इत्यादि
मन्त्र पढ़ कर उस में अपना मुख देखे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुषान्मणीन्
सर्वौषधिमिश्रानावधनीरन् स्वस्त्ययनार्थम् ॥ ६ ॥

‘ब्राह्मणान्’ निमन्त्रितान् ‘भोजयित्वा’ भोजनदानेन तर्पयित्वा ततः
‘स्वयं भुक्त्वा’ ‘सर्वौषधिमिश्रान्’ ब्रीहिशालिमुद्गगोधूम-सर्षप-तिल-यव-मिश्रपो-
टलिसहितान् ‘जातुषान्’ जातुषनामकीन् लाक्षाकृतान् ‘मणीन्’ ‘स्वस्त्ययनार्थं’
कल्याणाय ‘अवधनीरन्’ स्वबाह्वादाविति ॥ ६ ॥

भा०:-इस प्रकार कर्म की समाप्ति में, निमन्त्रित ब्राह्मणादिकों को
भोजन करा कर, आप भी भोजन करे और १ ब्रीहि, २ धान्य, ३ मूंग, ४ गोहूम,
५ सर्षप, ६ तिल, ७ यव, इन सात शस्य (अनाज) की पुटली बना इस के

* इष्टा रम्भा, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, मरुस्वती, मही, विश्रुति, अघ्न्या, ये ११ यजुर्वेदीय गौ के नाम हैं ।

साय * जातुष नामक कई एक मणि के साथ बाहु पर, या दूसरे किसी कमर से ऊपर के ** अङ्गों में बान्धे । इस से कल्याण की वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत स्व-
स्ति हासां भवति । ७, ८ नवयज्ञे पायसश्चरुः इन्द्राग्नः ॥ ९ ॥

‘सायं’ समुपस्थिते ‘गाः’ ‘पृषातकं’ तत् ‘प्राशयित्वा’ पाययित्वा ‘सहव-
त्साः’ वत्सैः सहिताः ताः ‘वासयेत’ तां रात्रिमिति । एतेन कर्मणा ‘आसां’
गवां ‘स्वस्ति’ सुखं ‘भवति’ । ७, ८ ‘नवयज्ञे’ नूतनशस्यनिमित्तात्साहादिप्रका-
शनाय परमदेवाद्यर्चनं कर्तव्यं भवति, तत्र । ‘पायसः’ पायसा दग्धेन सम्पादितः
‘चरुः’ पक्तव्यः । स च चरुः ‘ऐन्द्राग्नः’ इन्द्राग्निदेवताको भवेदिति नवयज्ञ-
द्रव्यदेवतानिर्द्देशः ॥ ९ ॥

भा०—सायंकाल में, जब गौयें चर कर बाहर से वापस आवें, उन
को वह पृषातक पिलावे और रात्रि में बच्चों को अलग २ न बान्धकर, अप-
नी २ माँके निकट ही रखे । इस से गौ आदिक प्रसन्न रहेंगी ॥ ७, ८ ॥
नूतन शस्य निमित्तक उत्साह आदि प्रकाशनार्थ परम देवतार्चन यज्ञ करना
होता है । (नवाक्षेष्टि) इस में इन्द्राग्नी कहकर प्रसिद्ध दोनों देवता के नाम से
आहुति दीयी जावेगी और वह उसी नये शस्य के पायस चरुसे सम्पन्न होगी ॥

तस्य मुख्याथ हविराहुतिं हुत्वा चतसृभिराज्याहु-
तिभि रभिजुहोति शतायुधायेत्येतत्प्रभृतिभिः । १० स्थाली
पाकावृताऽन्यत् ॥ ११ ॥

‘तस्य’ नवयज्ञस्य ‘मुख्याम् आहुतिं’ इन्द्राग्निदेवताकां ‘हुत्वा’ ततः परं
“शतायुधाय शतवीर्याय शतोत्थेभिमातिषाहे । शतं यो नः शरदो अजीजा-
दिन्द्रो नेषदतिदुरितानि विश्वा ॥ ९ ॥ ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा-
द्यावापृथिवी विर्यन्ति । तेषां यो अज्यानि मजीजिमावहास्तस्मै नो देवाः
परिदत्तेह सर्वे ॥ १० ॥ ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितको अस्तु ।

* आज इसी के बदले ब्राह्मण गण ४ जई, (जयन्ती) बान्धा करते हैं । यद्यपि ये लोग उक्त सात ७ अनाज से रक्षा बन्धन नहीं करते, किन्तु आश्विन मास के शुक्लपक्ष की नवमी की रात्रि में काली के पूजार्थ जो कलश रक्खा जाता, उस वेदी में जो यव बोया रहता है, उस को जन्मने पर दशमी के दिन ब्राह्मण लोग कलश में से उखाड़ कर अपने २ यजमानों को श्राक—(जयन्ती मङ्गला काली, भद्रकाली कपालिनी दुर्गे क्षमा क्षमा धात्री, भद्रकाली नमोस्तु ते) पढ़ कर उन की शिखा में जयन्ती बान्धकर दक्षिणा पाते हैं ॥

** जिस का रंग माणिक्य की नाई, लाह सदृश होता है उसी को जतु कहने । द्रामय भी इसी का नामान्तर है । जतु खण्ड को जातुष कहते ॥

तेषां मृतूनां शतं शारदानां निघात एषा मभये स्यात् ॥ ११ ॥ इदं ससराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, १, ९-१२)—‘इत्येतत्प्रभृतिभिः’ ‘वत्सृभिः’ मन्त्रैः ‘आज्याहुतिभिः’ ‘अभिजुहोति’ ॥ १० ॥ ‘अन्यत्’ अवशिष्टका- ‘यंजातं’ स्थालीपाकावृता’ स्थालीपाकयज्ञरीत्या एव भवेत्काम ॥ ११ ॥

भा०—उस नूतन यज्ञ की मुख्य यह ऐन्द्राग्न आहुति देने पर “शता- युधाय” इत्यादि चार मन्त्रों से आज्याहुति द्वारा और भी चार होम मरे ॥ १० ॥ अवशिष्ट कार्य सब स्थाली पाक यज्ञ के विधि अनुसार करे ॥ ११ ॥

हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ॥ १२ ॥

‘उच्छिष्टशेषम्’ उत्सर्गोक्तस्य हविषः शेषं ‘हविः’ ‘यावन्तः’ दर्शकाः परिजना निमग्निताश्च ‘उपेताः’ तन्नागताः ‘स्युः’ तान् सर्वानेवाविशेषेण ‘प्रा- शयेत्’ ॥ १२ ॥

भा०—होम में की बची हुई शेष हवि, यज्ञ दर्शनार्थ आये परिजन, नि- मन्त्रण से आये हुए लोगों को यथा भाग खवावे ॥ १२ ॥

सकृदपामुपस्तीर्य द्विश्वरोरवद्यति । १३ त्रिभृगूणाम् । १४

‘चरोः’ उपरि ‘अपां’ भागं ‘सकृत्’ एकवारम् ‘उपस्तीर्य’ प्रथमसिञ्चनं प्रकृत्य ‘द्विः’ द्विवारम् ‘अवद्यति’ तं चरं मेक्षणनेति ॥ १३ ॥ ‘भृगूणां’ भृगुगोत्रो- त्पन्नानां ‘त्रिः’ त्रिवारमवदानं कर्त्तव्यमिति विशेषः ॥ १४ ॥

भा०—होम से बचे हुए चरु के ऊपर एक बार जल छिड़क कर मेक्षण द्वारा, दो बार खण्ड २ करे अर्थात् उस चरु को तीन भाग करे ॥ १३ ॥ भृगु- गोत्र वाले उस चरु को ४ भाग में बाँटे, यही इसमें विशेषता है ॥ १४ ॥

अपाञ्चैवोपरिष्ठात् । १५ असंस्वादं निगिरेद्ब्रान्नः श्रेय इति । १६ एवं त्रिः ॥ १७ ॥

‘च’ अपि ‘उपरिष्ठात्’ तस्यैवावदातस्य चरोः ‘अपां’ प्रक्षेपः कर्त्तव्यः ॥ १५ ॥ एवंकृत्वा ततः कियन्मात्रं तच्चरं “भद्राक्षः श्रेयः समनैष्टदेवास्त्वया वसेन सम- शीमहि त्वा । सनो मयोभूः पितेवाविशस्व शं तोकाय तन्वै स्योनः (स्वाहा)” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, १, १३)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठित्वा ‘असंस्वादं’ तच्चरोः आस्वादं सम्पक् गृहीतं न भवति यथा तथाकृत्यैव ‘निगिरेत्’ दन्तैश्चवर्णमकु- स्त्वेव गलाधः कुर्यादिति ॥ १६ ॥ ‘एवं’ मन्त्रपाठपूर्वकमसंस्वादश्च ‘त्रिः’ त्रिवारम् निगिरणं कर्त्तव्यम् ॥ १७ ॥

भा०:-उसी प्रकार कई भागों में बटे हुए चरु पर भी एक बार जल छिड़के ॥ १५ ॥ तत्पश्चात् उस चरु में से कुछ लेकर “भद्राक्षः श्रेयः” यह मन्त्र पढ़कर स्वाद न लेकर निगल जावे ॥ १६ ॥ इस प्रकार मन्त्र पढ़कर और स्वाद न लेकर तीनवार चरुभाग को गला के नीचे करे (निगलजावे) ॥ १७ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् । १८ भूय एवावदाय कामन्तत्र संस्वादयेरन् । १९ आचान्तोदकाः । २० प्रत्यभिमृशेरन्मुखं शिरोऽङ्गानीत्यनुलोमममो सीति ॥ २१ ॥

‘चतुर्थे’ निगरणं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव परमत्राप्यसंस्वादमिति वर्तते ॥ १८ ॥ ‘भूयः’ पुनरपि पूर्ववत् ‘अवदाय’ चरुच्छेदं प्रकृत्य ‘तत्र’ तस्मिन् पक्षे ‘कामं’ यथा स्यात् तथा ‘संस्वादयेरन्’ तं चरुभागमिति । १९ ततः ‘आचान्तोदकाः’ भवेयुः उदकैः कृताचमनाः स्युरिति । २० ततश्च “अमोसि प्राणं तदृतं ब्रवीम्यना ह्यसि सर्वमनु प्रविष्टः । स मे जरांश्च रोगमपमृज्य शरीरादपाम एधि मा मृथा न इन्द्र (स्वाहा)” ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, १, १४) —‘इति’ इमं मन्त्रं पठन्नेव ‘मुखं’ ललाटादि चिबुकपर्यन्तं ‘शिरः’ ब्रह्मरन्ध्रम् ‘अङ्गानि’ कर्णमूलादीनि पादाग्रान्तानि ‘प्रत्यभिमृशेरन्’ उदकैः सिञ्चेरन्निति ॥ २१ ॥

भा०:-चतुर्थवार में मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इस बार भी स्वाद ग्रहण न करे ॥ १७ ॥ पुनः, उसीप्रकार मेलन द्वारा चरु सब को टुकड़ा २ कर भक्षण करे, परन्तु इस बार यदि इच्छा हो, तो, स्वाद भी ग्रहण कर सकता है ॥ १८ ॥ अनन्तर, जल से आचमन करे अर्थात् मुख और हाथ पैर धोवे ॥ २० ॥ उस के पश्चात् ही “अमोसि प्राणं” मन्त्र पाठकर ललाट से डाढ़ी पर्यन्त और ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश एवं कान की जड़से पैर तक अच्छे प्रकार धोवे ॥ २१ ॥

एतयैवावृता श्यामाकयवानामग्निः प्राश्नातु प्रथम इति श्यामाकानामेतमुत्थं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम् २२, २३, २४ । ३, ८ ॥

‘एतया एव आवृता’ अनया नवग्रीह्यज्ञोक्तरीत्या एव श्यामाकयवानाम् अपि नवानां यज्ञः कार्यः । विशेषस्तु :-‘श्यामाकानां’ श्यामाकसम्बन्धिनि यज्ञे “अग्निः पश्चात् प्रथमः स हि वेद यथा हविः शिवा । अस्मभ्य मोषधीः कृणोतु विश्ववर्षणिः” (स्वाहा) ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, १, १५) —‘इति’ एव मन्त्रो

[प्र० ३ खं० ८ सू० १८-२४, खं० ९ सू० १-३] आग्रहायणीकर्म ॥ १५१

व्यग्रहायः ; किञ्च 'यधानां' यज्ञसम्बन्धिनि यज्ञे " एतमुत्पं मधुना संयुतं यवथं सरस्वत्या अधिव्रनाव चर्कुधि। इन्द्र आमीत्मीरपतिशतक्रतुः कीनाशा आसन्नमरुतः सुदानवः" (स्वाहा) (म० ब्रा० २, १.१६) - 'इति' एष मन्त्रो व्यवहर्तव्यइति । २२, २३, २४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके अष्टमखण्डस्य ट्याख्यानं समाप्तम् ॥३८॥

भा०:-पूर्व जो कहा गया है, ये सब ही नूतन ब्रीहि, शस्य के लिये हैं, परन्तु सामा, यव, शस्य के विषय में इसी रीति से यज्ञ सम्पन्न करे। विशेषता केवल यह है कि- नूतन श्यामाक (सामा) यज्ञ में 'शतायुधाय' मन्त्र के बदले "अग्निः प्राशनातु" प्रथम मन्त्रका पाठ करे और नूतन यव यज्ञ में "एन मुत्पं मधुना" मन्त्र का व्यवहार करे ॥ २२, २३, २४ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीय प्रपाठक के अष्टमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३८॥



आग्रहायण्यां बलिहरणम् १ तत् श्रावणेनैव व्याख्यातम् ।२।

'आग्रहायण्याम्' अग्रहायणी मार्गशीर्ष इति पर्यायवचनम्। अग्रहायणस्थे यमाग्रहायणी, तस्यां पौर्णमास्याम् अपि 'बलिहरणं' कर्त्तव्यम् । १। एतच्च बलिहरणं 'श्रावणेनैव व्याख्यातम्' श्रावण्यां बलिहरणं यद्यदुपदिष्टमिहापि तत्तदेव बोध्यमिति । २।

भा०:-अगहन की पूर्णिमा को भी बलि प्रदान करे ॥१॥ * यह बलिप्रदान, श्रावण मास के बलिहरण में कहा गया है। अर्थात् श्रावण मास की पूर्णिमा का बलिहरण विषय में जो २ कहा गया है इस अगहन मास की पूर्णिमा के बलिहरण में भी वही २ नियम प्रतिपालन करे ॥२॥

नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ॥ ३ ॥

'नमः पृथिव्यै' (पृ० १५१):-'इति एतं मन्त्रं' 'न जपति' आग्रहायणबलिहरणकारीति श्रावण्यां बलिहरणे उक्तं 'न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य 'नमः पृथिव्या' इत्येतं मन्त्रं जपति (पृ० १५१)' तदत्र न भवतीत्येव विशेष इति । ३। अपराण्यपि कानिचित् तद्विनकर्त्तव्या न्याहः-

भा०-श्रावण मास में जो बलिहरण आरम्भ हुआ है, उस में "नमः पृथिव्यै" मन्त्र का व्यवहार करने का विधि है। इस अगहन मास के बलिहरण में उस की आवश्यकता नहीं, यही इस में विशेषता है ॥ ३ ॥

* श्रावण की पूर्णिमा से प्रतिदिन जो स्वस्त्युचन होगा सो इसी बलिहरण में शेष होगा। प्राचीन समय में भी इन्हीं चार मासों में सेग का भय होता था ॥

अथ पूर्वाह्णे एव प्रातराहुतिश्च हुत्वा दर्भान् शमीं
वीरणां फलवतीमपामार्गश्च शिरीषमेतान्याहारयित्वा तू-
ष्णीमक्षतसक्तूनामग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्यैस्तैः स-
म्भारैः प्रदक्षिणमग्न्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन् गृहान-
नुपरीयात् । ४ । उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् ॥ ५ ॥

‘अथ’ शब्दो बलिप्रकरणतो वैभिक्षं द्योतयति । तद्दिने पूर्वाह्णे प्रात-
राहुतिं हुत्वा एव ‘दर्भान्’ कुशतृणानि, ‘शमीं’ तद्वृक्षपत्रं, ‘वीरणां’
चीरणतृणं, ‘फलवतीं’ सफलां वदरीशाखां, ‘अपामार्गं’ तच्छाखां, ‘शिरीषं’
तच्छाखां, ‘एतानि’ सम्भाराणि ‘आहारयित्वा’ येन केनचित् ‘अक्षतसक्तूनां’
यवसक्तूनां भागं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव ‘अग्नौ’ कृत्वा प्रक्षिप्य ‘ब्राह्मणान्’ त-
त्रत्यान् दक्षिणादानादितोषणेन ‘स्वस्ति’ शब्दं कल्याणवचनं वा ‘वाचयित्वा’
‘एतैः’ दर्भादिभिः ‘सम्भारैः’ सह ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘अग्न्यागारात्’
अग्निगृहात् ‘प्रभृति’ ‘गृहान्’ सर्वानेव ‘अनु’ लक्ष्य ‘धूमं’ प्रदाय ‘शातयन्’ नि-
र्वापयञ्च ‘परीयात्’ सर्वतो व्रजेत् एतेन सर्वगृहेषु शान्त्यर्थं दर्भादिभिर्धूमदानं
कलितम् ॥४॥ तान् ‘सम्भारान्’ ‘कृतार्थान्’ निष्पन्नप्रयोजनान् इति ‘उत्सृजेत्’
परित्यजेत् ॥ ५ ॥

भा०-और भी-उस दिन दो पहर के पीछे प्रातःकाल की आहुति दे
कर, पीछे कुश, पीपर का पत्ता, वीरणातृण, (खस) फल सहित वैर का डाल,
चीरचीरी का डाल, शिरीष की शाखा, ये सब किसी से मंगवाकर अग्नि में
विन मन्त्र पढ़े सक्तू होम कर, उस स्थान में उपस्थित ब्राह्मणों को दक्षिणा
दे कर प्रसन्न करे, ‘स्वस्ति’ कहवा कर, इन दर्भ आदि सम्भार, सब को लेकर
उस अग्निगृह से आरम्भ कर सम्पूर्ण घर में धूम देंगे । परन्तु उस धूम को
ठगड़ा भी कर देंगे ॥४॥ उक्त सम्भाली हुई वस्तुओं को अर्थात् कुश आदिक
को, काम हो जाने पर, फेंक देंगे ॥ ५ ॥

जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पतइत्येतेन
द्विकेन ॥ ६ ॥ पर्केण द्वावुदकम्भौ मणिक आसिञ्चेत् ॥ ७ ॥
समन्न्यायन्तीत्येतयच्चा प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ ८ ॥

‘जातशिलासु’ उत्पन्नशिलासु शिलावद्बृहदनिर्मितासु इष्टकासु इष्टकनि-
र्मित वेद्याम् ‘वास्तोष्पते’ (गे० गा० ७, २, २०, २१),-‘इति’ ‘अनेन द्विकेन’ सान-

द्वयेन 'मखिकं' मृगमयं ताम्रादिमयं वा कृदत् जलाधरं 'प्रतिष्ठापयति' ॥ ६ ॥
ततः तस्मिन् 'मखिके' 'पर्कस्य' पर्कनाममन्त्रेण (गे० गा० १, १, १) 'द्वौ' 'उद-
कुम्भौ' उदकपूर्वकलशौ 'आसिञ्चेत्' ॥ ७ ॥ 'प्रदोषे' रजनी मुखे 'समन्यायन्ति'
(अ० आ० ३, ३, ६) 'इति' 'एतया ऋचा' 'पायसः चरुः' पक्तव्यः ॥ ८ ॥

भा०-पट्टर की नार्ई सुदूढ (खूबमजबूत) ईंटों से खनी, वेदी के ऊ-
पर "वास्तोष्पते" (गे० गा०-९, २०-२१) इन दोनों साममन्त्र पढ़ कर जल
का घड़ा रखे ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् उस घड़े में 'पर्कसाम' (गे० गा० १, १, १)
पाठ करते हुए कलशे से जल ढाले ॥ ७ ॥ प्रदोष समय (रात्रि-का आरम्भ)
"समन्यायन्ति" (अ० आ-३, ३, ६), यह मन्त्र पढ़ते हुए 'पायसचरु' पकावे ॥ ८ ॥

तस्य जुहुयात् प्रथमाहव्युवाससेति ॥ ९ ॥ स्थालीपाका-
वृतान्यत् ॥ १० ॥ पश्चादग्नेर्बर्हिषि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य
प्रतिक्षत्रइत्येताव्याहृतीर्जपति ॥ ११ ॥

'तस्य' चरोः अंशं गृहीत्वा "प्रथमा हव्युवास सा धेनु रभवद्यमे । सा नः
पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तराथं समाम्" ॥ १ ॥ (स० ब्रा० २, २, १) '-इति' मन्त्रेण
'जुहुयात्' ॥ ९ ॥ 'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञ-
रीत्याएव भवेन्नाम ॥ १० ॥ 'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमे 'बर्हिषि' आस्तृप्तकु-
शोपरि 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि
राष्ट्रे ॥ २ ॥ प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ॥ ३ ॥ प्रतिप्राणे प्रतितिष्ठामि पुष्टौ ॥ ४ ॥
प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मनि ॥ ५ ॥ प्रतिद्यावा पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे" ॥ ६ ॥
(स० ब्रा० २, २, २-६) '-इति एताव्याहृतीः जपति' ॥ ११ ॥

भा०-उस चरु का कुछ अंश ले कर 'प्रथमाहव्युवाससा' यह मन्त्र पढ़
कर एक आहुति देवे ॥ ९ ॥ अपर सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाकयज्ञ की रीति
से होंगे ॥ १० ॥ अग्नि के पश्चिम भाग में कुश के ऊपर, दोनों हाथ नीचे स्थापन
कर 'प्रतिक्षत्र' आदि इन तीन व्याहृति मन्त्रों का जप करे ॥ ११ ॥

पश्चादग्नेः स्वस्तरमास्तारयेदुदगग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणम्
॥ १२ ॥ तस्मिन्नहतान्यास्तरणान्यास्तोर्य्य दक्षिणतो गृहपति
रुपविशति ॥ १३ ॥ अनन्तरा अवरे याथाज्येष्ठम् ॥ १४ ॥

'अग्ने' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रैः तृणैः' उत्तराग्रीकृतैः कु-
शादिभिः 'उदक्प्रवणं' उत्तरनिम्नं यथा स्यात्तथा 'स्वस्तरं' आसनं 'आस्तारयेत्'

आस्तृतं कुर्यात् ॥१२॥ 'तस्मिन्' स्वस्तरे 'अहतानि' अक्षसिंहितानि 'आस्तरणानि' तिथ्येकप्रक्षेपणीयतृणानि 'आस्तीर्य' पातयित्वा तत्र 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'गृहपतिः' अनुष्ठानकारी 'उपविशति' उपविशेत् ॥१३॥ 'अनन्तराः' अव्यवहिता 'अनन्तराः' अव्यवहिताः 'अवरे' गृहपतितः कनिष्ठाः याथाज्येष्ठं ज्येष्ठानुक्रमेण उत्तरोत्तरं स्थानमधिकुर्युरिति ॥ १४ ॥

भा०—अनन्तर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराय कुशा आदि से बैठने के लिये आसन बनाने में यत्नवान् होवे, यह स्थान उत्तर दिशा में गहरा होगा ॥ १२ ॥ उस के ऊपर अच्छिद्वज (टूटा नहीं) आस्तरण आदि बिछा कर सब से दक्षिण ओर घर का मालिक बैठे ॥ १३ ॥ उन के बायें क्रम से ज्येष्ठानुसार भाई आदि बैठे । अर्थात् उन के बाईं ओर प्रथम बड़े बैठे, तत्पश्चात् छोटे, इसी रीति से और भी बैठें ॥ १४ ॥

अनन्तराश्च भार्याः सजाताः । १५ समुपविष्टेषु गृहपतिः स्वस्तयेत् । १६ न्यञ्जौ पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योनापथिवि नोभवेत्येतामृचं जपति ॥ १७ ॥

'अनन्तराः' तदव्यवहिताः 'भार्याः' गृहपतिबध्वादयः 'च' अपि याथाज्येष्ठमुत्तरोत्तरं उपविशेयुरित्येव । तत्र विशेषमाह 'सजाताः' समानजातीयाः असवर्णानामत्रोपवेशने नाधिकार इति भावः । १५ 'समुपविष्टेषु' स्वावरादिभार्यान्तेषु परिजनेषु 'गृहपतिः' अनुष्ठाता 'स्वस्तयेत्' स्वस्तिवाचनं कुर्यात् । १६ तथाहि स्वस्तिवाचनप्रकारमेव दर्शयति । 'न्यञ्जौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "संस्थाप्य स्योनापथिविनो भवानृक्षानिवेशनी । यच्छानः शर्म स प्रथमो देवान्मा भयादिति" ॥७॥ (म०ब्रा० २,२,७) — 'इति एतां ऋचं जपति' ॥१७॥

भा०—एवं उस से पश्चात् अपने वर्ण की भार्या आदि भी उक्त प्रकार बड़े छोटे क्रम से बैठे ॥ १५ ॥ सब के ठीक २ बैठजाने पर, घर का मालिक स्वस्त्ययन आरम्भ करे ॥ १६ ॥ दोनों हाथ नीचे कर 'स्योनापथिविनो भवा' इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १७ ॥

समाप्तायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः । १८ एवं त्रिरभ्यात्मावृत्य स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथान्यायम् ॥ १९ ॥

'समाप्तायां' पाठक्रियायां 'दक्षिणैः पार्श्वैः' दक्षिणपार्श्वानुसारेण स्वावरादिभार्यान्तोपविष्टः सर्वपरिजनप्रदक्षिणतः इति यावत् 'संविशन्ति' अग्निपरिजनयोर्मध्यतः आगच्छन्ति । १८ 'एवं' परिजनप्रदक्षिणया 'त्रिः' त्रिवारम्

[प्र०३खं०८सू०१५-२१, खं०१०सू०१-४] आग्रहायणी कर्म अष्टकाविधिश्च ॥ १६१
 'अभ्यात्मं' स्वोपवेशनस्थानमभिलक्ष्य 'आवृत्य' आवर्तनं कृत्वा 'स्वस्त्ययनानि'
 वामदेव्यादीनि सामानि 'प्रयुज्य' गीत्वा "यथान्यायं पूर्वोक्तवत् क्रियाशेषं
 कार्यमिति" ॥ १८ ॥

भा०-पाठ समाप्त होने पर सब की प्रदक्षिणा कर, अग्नि और परिजन
 इन के बीच हो कर अपनी जगह आ बैठे ॥ १८ ॥ इसीप्रकार तीनवार
 प्रदक्षिणा कर 'वामदेव्यादि' 'स्वस्त्ययन' सामगान के अन्त में पूर्वोक्त रीति से
 क्रिया शेष करे ॥ १८ ॥

अरिष्टसामसंयोगमेके । २० । उपस्पृश्य यथार्थम् ॥ २१ ॥ ३, ६

'एके' आचार्या अत्र 'अरिष्टसामसंयोग' अरिष्टनामकसाम्नः । संयोगमपि
 आहुः । २० "उपस्पृश्य" अप आचम्य क्रियासमाप्तिं मत्वा 'यथार्थ' स्वप्रयोज-
 नानुगतं विहरेदिति ॥ २१ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानसमाप्तम् ३, ६

भा०-कोई २ आचार्य इस स्वस्त्ययन में अरिष्ट नामक साम को मिलाना
 चाहते हैं ॥ २० ॥ क्रिया समाप्त होने पर आचमन कर जहां चाहे, जावे, या
 अपने प्रयोजनानुसार कार्य करे ॥ २१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयप्रपाठके नवम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ३, ६ ॥

अष्टका रात्रिदेवता । १ । पुष्टिकर्म ॥ २ ॥

'रात्रिदेवता' रात्रिः देवता अस्याः 'अष्टका' इति नाम क्रिया कर्तव्येति
 शेषः । १ । "पुष्टिकर्म" पुष्टिः पोषणं फलमस्येति । पुष्टिकाम एवास्याधिकारी
 तथाचास्य काम्यत्वं स्थितम् ॥ २ ॥

भा०-अष्टका नामक एक क्रिया रात्रि में करनी पड़ती है ॥ १ ॥ जिन्हें
 पुष्टि की इच्छा हो, वे ही इस यज्ञ को करें ॥ २ ॥

**आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्त्तुदेवता वैश्वदेवीति दे-
 वताविचाराः । ३ चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चि-
 कीर्षेदिति कौत्सः ॥ ४ ॥**

'आग्नेयी' अग्निदेवताका 'पित्र्या' पितृदेवताका 'वा' अथवा 'प्राजापत्या'
 प्रजापतिदेवताका 'ऋतुदेवता' ऋतु एव देवता यस्याः 'वैश्वदेवी' सर्वदेव-
 ता 'इति' एवं 'देवताविचाराः' सन्तीति शेषः । ३ । 'कौत्सः' आचार्यस्तु 'हेमन्तः'
 कार्तिकादिमाघान्तोमासचतुष्टयः 'चतुरष्टकः चतसृभिरष्टकाभिरुपेतः' इति मन्यते

। किञ्च 'ताः सर्वाः अष्टकाः 'समांसाः' मांसद्रव्यकाः 'चिकीर्षत्' कर्तुमिच्छेत् ।

भा०—किसी का मत है कि इस कार्य की देवता अग्नि है, कोई कहता कि पितृगण के तोषणार्थ यह यज्ञ किया जाता, कोई २ कहता कि प्रजापति की तुष्टि के लिये इस का अनुष्ठान किया जाता है, कतिपय लोगों का यह मत है कि इस के द्वारा शीतऋतु के उपभोगार्थ प्रकृत रूप से सम्पादित किया जाता है । अनेक लोग कहते हैं कि इसका अनुष्ठान सत्र देवताओं के प्रीति के लिये है ॥३॥ कौत्स नामक आचार्य अग्रहायण प्रभृति हेमन्त *—चार महीनों में चार 'अष्टका' करना चाहिये । और ये चार अष्टका मांसद्वारा करे ऐसा मानते हैं ॥ ४ ॥

ऋष्यकडित्यौदुगाहमानिस्तथा गौतमवार्कखण्डो ॥५॥

'औद्गाहमानिः' 'तथा' 'गौतम-वार्कखण्डो' इमे आचार्याः, हेमन्तः ऋष्यकः तिस्रोऽष्टका यत्र 'इति' मन्यन्ते इति शेषः ॥ ५ ॥

भा०—उद्गाहमानि नामक आचार्य एवं गौतम और वार्कखण्डो आचार्य ये आचार्यगण—हेमन्त ऋतु में तीन ही ** अष्टका यज्ञ करना मानते हैं ॥५॥

योद्ध्वमाग्रहायण्यास्तामिस्त्राष्टमी तामपूपाष्टकेत्याचक्षते ॥६॥ -

'आग्रहायण्याः' पौर्णमास्याः 'ऊद्ध्वम्' उपरि 'या' 'तामिस्त्राष्टमी' अन्ध-कारपक्षीया अष्टमी' तिथिः 'ताम्' तिथिम् 'अपूपाष्टका'—'इति' 'आचक्षते' आचार्यो इति यावत् । एतेन तत्राष्टम्याम् अष्टकाकृत्यं कर्तव्यम्, तच्च अपूपैः साध्यमिति कलितम् ॥ ६ ॥

भा०—अग्रहायणमास की पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी को आचार्यलोग 'अपूपाष्टक' कहते हैं । अर्थात् उस तिथि में अपूप द्वारा अष्टका करे ॥६॥ ***

स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुं प्रपयति ॥ ७ ॥

'स्थालीपाकावृता' पूर्वोक्तया स्थालीपाकरीत्या 'तण्डुलान्' 'उपस्कृत्य' संस्कृत्य तैरेव तण्डुलैः 'चरुं' हवनीयान्नं 'अपयति' अपयेत् परिपचेत् ॥ ७ ॥

*—“द्वादश मासाः पञ्चत्वे हेमन्त शिशिरयोः समासेन”, पे० ब्रा० १, १, १। इस से 'पांच ऋतु में एक वर्ष पूरा होता है,—इस मत से हेमन्त और शिशिर दोनों हा ऋतु को हेमन्त कहत हैं और वेद में “शत हिमाः”, “शरदः शत”, इत्यादि अनेक प्रयोग रहने से शरत् ऋतु में वर्ष का पूर्ति और हेमन्त में हा वर्षारम्भ जान पड़ता है, अग्रहायण पदसे वर्षका पहिला महीना जान पड़ता है, सुतरां, अग्रहायण से हेमन्त ऋतु गिनना चाहिये ॥

** चार महीनों में तीन अष्टका कर्तव्य होने से, सुतरां एक मास छूट जावेगा । कोन महीना छूटेगा, सो स्पष्ट न कहने से जिस २ मास में जिस २ प्रकार अष्टका करनी होगी सो कम स कहा जावेगा, तो जिस मास में कुछ नहीं कहा जावेगा, वही मास छूटेगा ऐसा जानना चाहिये ॥

*** पञ्चा—का परिचय और उस के द्वारा अष्टका कृत्य किम प्रकार करना होगा, सो सब कम से कहा जावेगा ॥

भा०—इस के पूर्व स्थालीपाक प्रकरण में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार तण्डुल आदि से 'चरु' पाक करे ॥ ७ ॥

अष्टौ चापूपान् कपालेऽपरिवर्त्तयन् ॥८॥

'च' अपि 'कपाले' एकस्मिन् मृत्कटाहे 'अष्टौ' 'अपूपान्' पिष्टकविशेषान् 'अपरिवर्त्तयन्' मेक्षणादिना अस्पृशन्नेव अपयेत् ॥८॥

भा०—और एक बड़ी मट्टी की कराही में, आठ पूआ पकावे । (एक समय में ८ पूआ आवश्यक होनेसे आठ कराही आवश्यक होंगी) पूआको इस भांति बनावे जिस से वह टूटे नहीं ॥ ८ ॥

एककपालानमन्त्रानित्यौदगाहमानिः । ९ । त्रैयम्बकप्रमाणान् १०

इमान् अपूपान् परिमाणेन 'एककपालान्' एककपालपूर्णमितान्, किञ्च 'अमन्त्रान्' मन्त्रपाठसाहित्यशून्यान् 'इति' 'औदगाहमानिः' आचार्यः मन्यते इति शेषः ९ त्रैयम्बकं करतलम्, तत्प्रमाणानेव अपूपान् अपयेत् इत्यस्माकं मतमिति ।

भा०—उदगाहमानि नामक आचार्य के मतसे पूए आदि को एक २ कराही में बनावे (अर्थात् आठों को अलग २) और पूआ बनाते समय मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ ९ ॥ एक २ पूआ हथेली की बराबर होगा ॥ १० ॥

शृतानभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥११॥

'शृतान्' पक्वान् तान् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' उत्तरतः अग्नेः, 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव तानपूपानिति ॥११॥

भा०—पूआ आदि पक जाने पर घी का ढार दे कर अग्नि की उत्तर में उतार कर पुनः घी का ढार देवे ॥ ११ ॥

स्थालीपाकावृतावदाय चरोश्चापूपानाञ्चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥१२॥ स्थालीपाकावृतान्यत् ॥१३॥

'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या 'चरोश्च' तस्य 'अपूपानाञ्च' तेषाम् अंशान् 'अवदाय' सङ्कृत्य गृहीत्वा " अष्टकायै स्वाहा "—'इति' अनेन मन्त्रेण 'जुहोति' जुहुयात् ॥१२॥ 'अन्यत्' क्रियाशेषं सर्वं स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्ये मिति समाप्तापूपपाष्टका ॥१३॥

भा०—पूर्वोक्त स्थालीपाक के नियमसे उस चरु और पूए आदि से कुछ २ अंश काट कर, इस काटे हुए अंश को "अष्टकायैस्वाहा"—इस मन्त्र से अग्नि

में डाले ॥ १२ ॥ स्थालीपाक प्रकरण में जो २ साधारण नियम पहिले कहे गये हैं, वे सब ही नियम यहां वर्त्तें जावेंगे ॥ १३ ॥

**तैष्याऽऊर्ध्वमष्टम्यां गौः ॥१४॥ तां सन्धिबेलासमीपं पुर-
स्तादग्नेरवस्थाप्योपस्थितायां जुहुयाद्यत्पशवः प्रध्यायतेति ॥१५॥**

‘तैष्याः’ पौषपौर्णमास्याः ‘ऊर्ध्वम्’ परस्तात् ‘अष्टम्यां’ कृष्णपक्षीयायाम्, ‘गौः’ आनङ्घट्येति शेषः ॥ १४ ॥ ‘सन्धिबेलासमीपं’ सूर्योदयकालात् क्रिञ्चित पूर्वमेव ‘तां’ गां ‘अग्नेः पुरस्तात् अवस्थाप्य’ ‘उपस्थितायां’ तस्यां सन्धिबेला-याम्, सूर्योदयक्षणे इति यावत्, “यत्पशवः प्रध्यायत मनसा हृदये न च । वाचा सहस्रपावचा अपि बध्नन्सि यो मनः” ॥२॥ (म० ब्रा० २, २, ८)–‘इति’ मन्त्रेण तत्रैवाग्नौ ‘जुहुयात्’ घृत मिति ॥१५॥

भा०—पौष मास की पूर्णिमा के पीछे अष्टमीतिथि की गोमांसद्वारा मांसाष्टका करे ॥ १४ ॥ सन्धिबेला (रात और दिन का संयोगसमय) के कुछ पहिले अग्निके पूर्वभाग में उस गौको लाकर रखे, पीछे सन्धिबेला होने पर “यत्पशवः प्रध्यायत” इस मन्त्रसे घी की आहुति दे कर कार्यारम्भ करे ॥१५॥

हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा माता मन्यतामिति ॥१६॥

‘हुत्वा’ कार्यारम्भद्योतिका साहुतिं पूर्वोक्ताम्, ‘च’ अपि ‘तां’ गाम् “अनु-त्वा माता मन्यता अनुपितानुधातानु सगर्भ्योऽनुसस्ता सयूष्यः” ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, २, ९)–‘इति’ मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत’ संज्ञपनार्थं निमन्त्रयेदिति ॥१६॥

भा०—कार्य के आरम्भ सूचक पूर्वोक्त आहुति देने पर इससमय यव मिला जल पवित्र, क्षुर, शाखा विशाखा, बर्हिः इध्म, आज्य, दो समिधा, और स्त्रुव, ये सब भी अपने पास आवश्यकतानुसार ठीक रखे “अनुत्वा” इस मन्त्र को पाठ करते हुए गौ को मारने के लिये निमन्त्रण देवे ॥ १६ ॥

यवमतीभिरद्भिः प्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति ॥१७॥

‘अष्टकायै’ अष्टकानामदेवतायाः तुष्ट्यर्थं ‘त्वा’ ‘जुष्टां’ प्रीति-सेवनीयां गाम् ‘प्रोक्षामि’ अहम्—‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘यवमतीभिः’ अद्भिः ‘प्रोक्षेत्’ तां सालङ्घट्यां गामिति ॥१७॥

भा०—“अष्टका देवता की प्रीतिके लिये प्रीतिपूर्वक सेवनीय तुम्हें धोता हूं”—यह मन्त्र पढ़ते हुए उस बध्य गौ की यव से भीगा जलसे धोवे ॥ १७ ॥

अथवा १

अथवा १

- ६॥) मूलचंद छात्र
 १॥=) बाबू सुमतिलालजी
 १०) चतुर्भुज छात्र
 ५) कस्तूरचंद ,,
 ५) रतनकुमार ,,
 ३) माधोप्रसाद ,,
 ३) ज्योतिस्वरूप ,,
 १०) मन्नीमल ,,
 ६) गोपालदास ,,

८७॥)।

१५८४॥=)।

५१७१६=)॥। श्री गोकुलबाकी
 नगद, बैंक व कोठियों
 में जमा

१३६५-) बाबू बनारसीदास
 जी जौहरी, काशी
 (कोषाध्यक्ष)

१७५॥)॥ तीर्थक्षेत्रकमेटी, बं०

५०॥-) सेविंग बैंक, शिवाला,
 काशी

१६२१६)॥। चारलोन खाते

६६०६।) प्रामिसरी नोट खाते

१७६०) बंबई बैंक, बंबई

१६६५) टाटा कंपनी, ,,

२५००) अलार्थस जूट मिल्स,
 कलकत्ता

आव ।

आव ।

- २५००) खरदा कंपनी,
कलकत्ता
- २०००) बाबू हरकिसनदास
जी, काशी
- २०००) बाबू शिवनारायण
कुशीलालजी, काशी
- ३०००) बाबू माधोजी, „
- * १०००) लाला हर्गामल
कल्याणचंद, कैला-
शचंदजी, इलाहाबाद
- * १००१) सर सेठ स्वरूपचंद
हुक्मचंदजी, इंदौर
- * २५००) रा० ब० सेठ आका-
रजी कस्तूरचंद इंदौर
- २५००) बाबू गोपालकृष्ण
दासजी, काशी
- १५००) बाबू मधुवनदास
पन्नालालजी, काशी
- ३०००) बाबू नंदगोपाल
मकसुदनदासजी,
काशी
- १७॥१॥ नकद रोकड़ बाकी
विद्यालयमें मौजूद

 ५१७१६३॥१॥

 ६५५७६॥१-॥

उत्मुकेन परिहरेत् परिवाजपतिः कविरिति ॥१८॥ अपः
पानाय दद्यात् ॥ १९ ॥

“कृत्वाऽपस्तिः कविः (छ० आ० १. १. ३. १०)”—‘इति’ मन्त्रम्पठन् ‘उत्मु-
केन’ प्रज्वलिताग्निना ‘परिहरेत्’ प्रदक्षिणीकुर्यात् तां गा मिति ॥ १८ ॥ तस्यै
गवे इति शेषः ॥ १९ ॥

भा०—“परिवाजपति” (छ० आ० १. १. ३. १०) इस मन्त्र की पढ़ कर,
एक मुट्ठी खर जला कर, उस जलते हुए खर से उस गौ की प्रदक्षिणा करे ॥
॥ १८ ॥ उस गौ को एक पात्र में जल पीने को देवे ॥ १९ ॥

पीतशेषमधस्तात्पशोरवसिञ्चेदात्तदेवेभ्याहविरिति ॥२०॥

‘पीतशेष’ पानावशिष्टमुदकम् “आत्तं देवेभ्यो हविः ॥१० (म० ब्रा० २. २. १०)”
‘इति’ मन्त्रम्पठन् ‘पशोः’ तस्यैव ‘अधस्तात् अवसिञ्चेत्’ नीचैः सिञ्चनं कुर्वीत ॥२०॥

भा०—पीने से जो पानी बचे, उस में “आत्तं देवेभ्यो हविः” इस मन्त्र को
पढ़ कर उस गौ के अधोभाग को सींचे ॥ २० ॥

अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति ॥२१॥ प्राक्शिरसमुदक-
पदीं देवदेवत्ये दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदेवत्ये २२, २३ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् ‘एनाम्’ गाम् ‘उदक्’ अग्नेरुत्तरतः ‘उत्सृप्य’ उत्सर्पणेन
नीत्वा ‘संज्ञपयन्ति’ हन्युः शासितार ऋत्विज इति ॥२२॥ तत्र च—‘देवदेवत्ये’
कार्ये तां ‘प्राक्शिरसम् उदक्पदीं’ किन्तु पितृदेवत्ये कार्ये ‘दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्-
पदीं’ संज्ञपेयुरिति ॥ २२, २३ ॥

भा०—अनन्तर मारने के लिये प्रस्तुत (तैयार) ऋत्विक्गण, उस गौको
अग्नि के उत्तर ला कर काट डालें ॥ २१ ॥ यदि देवकार्य निमित्त गौ मारी
जावे, तो पशु का मस्तक पूर्वदिशा में रखे और चारों पैर उत्तर की ओर
रखे और यदि पितृकार्य के लिये गो—वध हो, तो पशु का मस्तक दक्षिण
दिशा में, और उस के पैर सब पश्चिम ओर रखे ॥ २२ ॥ २३ ॥

संज्ञप्तायां जुहुयाद्यत्पशुर्मायुमकृतेति ॥ २४ ॥

‘संज्ञप्तायां’ तस्यां “यत्पशुर्मायु सकृत्तोरीवापद्भिर्गृह्यत । अग्निर्मा तस्मा-
देनसो विश्वामुञ्चत्वथंहसः” ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २. २. ११)—‘इति’ मन्त्रेण ‘जुहु-
यात्’ आज्य मिति शेषः ॥ २४ ॥

भा०—उक्त गौ मारे जाने पर “यत्पशु” मन्त्र से आज्य होम करे ॥२४॥
पत्नी चोदकमादाय पशोः सर्वाणि स्रोतांसि प्रक्षालयेत् ॥२५॥

'च' अपि तदव 'पत्नी' यजमानस्य, 'उदकम् आदाय 'पत्नीः' संकृतस्य 'सर्वाणि स्त्रोतांसि' चतुरिन्द्रियादीनि 'प्रक्षालयेत्' ॥ २५ ॥

भा०-एवं उस समय यजमान की स्त्री जल से, उस कटे हुए शिरवाली गौ के नेत्र आदि इन्द्रिय अच्छे प्रकार धोवे (साथ में नेत्र आदि सात, चार स्तन, नाभि, कटिदेश, गुह्यदेश, ये १४ स्थान हैं) ॥ २५ ॥

अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलाम माकृत्यवपा मुदुरन्ति २६

'अग्रेण नाभिं' नाभेरग्रतः नाभिसमीपे 'पवित्रे' 'अन्तर्द्वाय' 'अनुलोम' यथा स्यात्तथा 'माकृत्य' क्षुरेण निम्नाभिगामि कर्त्तनं कृत्वा, ततः 'वपां' मेदसम् 'उदुरन्ति' उदुरेयुः ॥ २६ ॥

भा०-नाभि के समीप पवित्रद्वय छिपा कर लोमानुसरण क्रम से क्षुर से निम्न-गामि चालन से काट कर उस में से वपा निकाले ॥ २६ ॥

तांशाखाविशाखयोः काष्ठयोरवसज्याभ्युक्ष्य प्रपयेत् । २७ । प्रश्च्युतितायां विशसयेति ब्रूयात् ॥ २८ ॥

'शाखाविशाखयोः' एतन्नामकपात्रयोः 'काष्ठयोः' पलाशनिर्मितयोः ऊर्द्धाधोमुखीभावावस्थितयोः आधाराच्छादनयोः मध्ये 'तां' वपां 'अवसज्य' संस्थाप्य 'अभ्युक्ष्य' जलपातैः प्रपयेत् पचेदिति । २७ । 'प्रश्च्युतितायां' प्रक्षारितायां तस्यां वपायां 'विशमथ' गां विगतदर्मां कुरुष 'इति' ब्रूयात् ॥ २८ ॥

भा०-और निकाली हुई वपा को, शाखा, विशाखा नामक पलाश की लकड़ी का बनाहुआ ढक्कन के आधार पर रख कर, जल से सामान्यरूप से धोकर, अग्नि से सिद्ध करे ॥ २७ ॥ इधर, उस गौ के नाभि के समीप से काट कर, मेद निकाल, इस गौ के चमरा निकालने की आज्ञा करे ॥ २८ ॥

यथा न प्राग्ग्नेर्भूमिंशोणितं गच्छेत् । २९ शृता मभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिधारयेत् । ३० स्थालीपाकावृता वपा मवदाय स्विष्टकृदावृता वाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥ ३१ ॥

परं तत्र विशसने मातर्क्ये मिदं भवत्वर्थम् :- 'अग्नेः' 'प्राक्' पुरतः भूमिं 'शोणितं' 'यथा न गच्छेत्' इति । २९ । 'शृतां' पक्कां वपाम् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेः उत्तरतः 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'प्रत्यभिधारयेत्' पुनर्घृतेनैवाभिधारणं कुर्यात् । ३० । ततः शैत्येन कठिनीभूतां तां 'वपाम्' स्थालीपाकरीत्या स्विष्टकृतीत्या वा अवदानेन 'अवदाय' कर्त्तयित्वा, कर्त्तितमंशं गृहीत्वा "अष्टकायै स्वाहा"-इति मन्त्रेण तत्र अग्नौ 'जुहोति' जुहुयात् ॥ ३१ ॥

[प्र० ३ ख० १० सू० २५-३३, प्र० ४ ख० १ सू० १-३] मांसाष्टकाहोमः ॥ १६५

भा०—परन्तु चमरा कुड़ाते समय, ऐसा न हो कि अग्नि के आगे हो कर रुधिर बहचले ॥ २९ ॥ इस वषा के तैयार होने पर, उस में घी का ढार दे कर, उसे अग्नि के उत्तरभाग में उतार कर रखे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ३० ॥ अनन्तर उस आग में पकी वषा, जो ठंडे के कारण जम जायेगी, उसे 'स्थालीपाक' की रीति से, या स्थितकृत की रीति से चाकू से काट कर, उस में से लेकर " अष्टकायै स्वाहा " इस मन्त्र से होम करे ॥ ३१ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥३२॥

'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कुर्यादिति शेषः । द्विवचनं प्रपाठकसमाप्तिमृचक मिति । ३२॥१० ॥
इतिमामत्रदीपेगोभिलगृह्यमूत्रेतृतीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानंममाप्तम्॥३॥१०॥

अध्यायश्च समाप्तः ॥ ३ ॥

भा०—बाकी सब काम 'स्थालीपाक' के नियम से होंगे ॥ ३२ ॥
गोभिलगृह्यमूत्र के तृतीय प्रपाठक के दशम खण्डका भाषानुवाद पूराहुआ और तीसरा प्रपाठक भी समाप्तहुआ ॥ ३ । १० ॥



अनु प्रहरति वपाश्रपण्यौ प्राची मेकशूलां प्रतीचीमितराम् ॥१॥

'अनु' पश्चात्, वषाहोमानन्तर मिति यावत् । 'वपाश्रपण्यौ' वपाश्रपण-
माधन्यौ ते पूर्वोक्ते शाखा-त्रिशाखे 'प्रहरति' परिहरेत्, प्रक्षिपेत् । क ? पूर्वो-
क्तन्यायात् तत्रैवाग्नौ । तत्र च प्रहरणीयं नियमः—एकशूलां शाखानामिकां
वपाश्रपणीं 'प्राचीं' प्रागग्राम्, 'इतराम्' अपरां त्रिशाखानामिकां वपाश्रपणीं
'प्रतीचीं' प्रत्यग्राम्; प्रहरेदिति याज्यम् ॥ १ ॥

भा०—वषा पाककर्म समाप्त होने पर उन दोनों " वपाश्रपणी " की उनी अग्नि में इस प्रकार डाल देंगे कि एकशूला प्रागग्राम् हा एवं अपर पश्चिमग्राम् हा ॥१॥

**अवद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गेभ्योऽन्यत्र वामाञ्च सकथुः
क्लोमश्च ॥ २ ॥ वामाञ्च सकथ्यन्वष्टव्याय निदध्यात् ॥३॥**

'वामात्' सकथुः, 'क्लोमः' च, अन्यत्र, वामसकथि क्लोम च वर्जयित्वा

* अर्थात् ऊपर नात्र भाव से जाड़ा पलाश काट निर्मित, वषा पाक की सिद्धि के नियमों पात्र को पका म वषा रख कर सिद्ध की जाती और उस के ऊपर ढक्का रहता है, उन में से ऊपर वाले पात्र को "शाखा", और "एकशूला", भी कहते हैं । इस में वषा रोजित होता है और उस के ऊपर ढक्का के त्रिधे नीच मुँद रहकर पात्र की "विशाखा", कहते हैं ॥

** यह उस अग्नि में डाला जाता, इस कारण इसे "वपाश्रपणी", कहते हैं ॥

अन्येभ्यः 'सर्वाङ्गेभ्यः' 'अवदानानि' मांसानि 'अवद्यन्ति' क्षुरेण खण्डखण्डीकुर्वन्ति ॥ २ ॥ तदखण्डितं 'वामं सकथि' अन्वष्टव्याय अनुपदवह्यमायायकर्मणे निदध्यात् संस्थापयेत् ॥ ३ ॥

✓ भा०—वाम सकथि (ऊरु) और क्लोम (पित्तकोष) छोड़ कर, सब अङ्गों से खण्ड २ करके मांस ग्रहण करे ॥ २ ॥ वाम सकथि समस्त ही 'अन्वष्टका' कार्य में व्यवहार के लिये रक्खे ॥ ३ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ अपयत्योदनचरुञ्जमांश्चरुञ्जपृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रदक्षिण मुदायुवन् । ४ । शृतावभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ५ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्ज मांसचरुञ्ज' उभावेव चरु 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां पृथक्पृथक्स्थाप्रिताभ्यां मेक्षणाभ्यां 'प्रदक्षिणं' दक्षिणावर्त्तेन मेक्षणाचालनं यथा स्यात्तथा 'उदायुवन्' ऊर्ध्वमीषन्मिश्रयन् 'अपयति' अपयेत् पचेदिति ॥ ४ ॥ 'शृती' तौ चरु 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उद्वास्य' 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव ॥ ५ ॥

भा०—उसी एक अग्नि में 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' ये दोनों चरु पकावे, परन्तु दोनों चरु में भिन्न २ चलौने (मेक्षणा) से चलावे, एक ही से नहीं ॥ ४ ॥ इन दोनों चरुओं के अच्छे प्रकार पढ़जाने पर, घी का ढार दे अग्नि के ऊपर भाग में उतार लेवे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ५ ॥

कंसे रसमवासिच्य प्लक्षशाखावतिप्रस्तरेऽवदानानि कृत्वा स्थालोपाकावृतावदानानां कथंसेऽवद्यति स्विष्टकृतश्च पृथक् ६

मांसचरुस्थालीतः निचोड्य 'रसं' मांसयूषं 'कंसे' कांस्यपात्रे 'अवासिच्य' पातयित्वा 'प्लक्षशाखावति' प्लक्षशाखानिर्मिताच्छादनविशिष्टे 'प्रस्तरे' प्रस्तरनिर्मितकुड्यं 'अवदानानि' यूषहीनमांसखण्डानि 'कृत्वा' स्थापयित्वा च अपि 'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृत्यागार्थं 'पृथक् कंसे' पूर्वस्थापितयूषाधारातिरिक्तकांस्यपात्रे 'स्थालीपाकरीत्या' 'अवदानानां' मांसानां किञ्चिदंशम् 'अवद्यति' सङ्कृत्य गृह्णाति ॥ ६ ॥

भा०—मांस के यूष को, एक कांसे के वर्त्तन में ढार रक्खे मांस आदिक को एक पत्थर की कुण्डी में रक्खे और पुनः उस मांस में से थोड़ा स्थालीपाक के नियम से काट लेवे, एवं उसे स्विष्टकृत यागार्थ दूसरे कांस्यपात्र में रक्ख छोड़े ॥ ६ ॥

चरारुद्धृत्य बिल्वमात्र मवदानैः सह यूषण सन्नयेत् ॥७॥

ओदनचरुस्थालीतः 'बिल्वमात्रं' बिल्वप्रमाणं 'चरोः' अंशम् 'उद्धृत्य' 'अवदानैः' हस्तशाखाच्छादितप्रस्तरपात्रस्थितैः सांमखण्डैः 'सह' 'यूषेण' कांस्यपात्रस्थेन सांसरसेन 'सन्नयेत्' एकीकुर्यात् तत्रैव यूषपात्रे यूषमध्ये एव स्थापयेदिति ७

भा०—ओदन की हांडी से बेल की चरावर चरु ले कर (उस पत्थर की कुण्डी में रक्खा) सांस खण्ड के साथ (उस कांसे के पात्र में रक्खे हुए) यूष को मिलावे । अर्थात् उस यूष के पात्र में यूष के बीच रक्खे ॥ ७ ॥

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाष्टर्चप्रथमया जुहुयादग्नाव-
ग्निरिति ॥ ८ ॥

'चतुर्गृहीतम् आज्यम्' (पूर्ववत्) गृहीत्वा 'अष्टर्चप्रथमया' अष्टानां सृचां समाहारोऽष्टर्चम् (म० ब्रा० २, १२-१८), तत्र या प्रथमा ऋक् तथा "अग्नाव-
ग्निरिति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः । स नः स्योनः सुयजा यजा
च यथा देवानां अनिमानि वेद" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, २, १२)—इति 'अनया
जुहुयात्' गृहीतं तत् ॥ ८ ॥

भा०—पूर्वोक्त रीति से चार वार ग्रहण किया हुआ आज्य ले कर 'अग्ना-
वग्निः' आदि आठ मन्त्रों में से "अग्नावग्निः" मन्त्र पढ़ कर हवन करे ॥ ८ ॥

सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदाय द्वितीयातृतीयाभ्यां जुहोतु-
त्तरस्यां स्वाहाकारं दधात्येव मेवावरेचतुर्थीपञ्चमीभ्याश्च
पष्ठीसप्तमीभ्याञ्च शेष मवदायसौविष्टकृतमष्टम्यां जुहुयात् ॥९॥

'सन्नीतात्' (पूर्वोक्तात्) यूषपात्रे नीतात् बिल्वप्रमाणात् ओदनचरोः
'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशम् 'अवदाय' कर्त्तृपित्वा 'द्वितीयातृतीयाभ्याम्'
"अलूखलाः सम्प्रदन्ति यावाणो हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम् । एकाष्टके सुप्र-
जसः सुवीरा ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते ॥ १३ ॥ इडायास्पदं घृतवत्सरी-
सृपं जातवेदः प्रतिहव्या गृभाय । ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां
मयि रन्ति रस्तु" (स्वाहा) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, २, १३-१४)—इत्येताभ्या
मृग्यां 'जुहोति' जुहुयात् । तत्र च 'उत्तरस्याम्' तृतीयायाम् "इडायास्पदम्"
इत्येतस्याम् एष अन्ते 'स्वाहाकारं दधाति' स्वाहापदं प्रयुज्यात् । 'अवरे' अपरे
द्वे तृतीयमात्रे 'चतुर्थी-पञ्चमीभ्याम्' "एषैव सा या पूर्वो व्यौच्छत् से यमस्व-
न्तश्चरति प्रविष्टा । वसूर्जिगाय प्रथमा जनित्री विश्वे ह्यम्यां महिमानो अन्तः

॥ १५ ॥ एषैव सा या प्रथमा द्यौःकृत् सा धेनुरभद्विश्वरूपा । सम्बत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली” (स्वाहा) ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, २, १५-१६) इत्येताभ्याम् ऋग्भ्यां षष्ठीमप्तमीभ्यां “ यां देवाः प्रतिपश्यन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम् । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तराथंससाम् ॥ १७ ॥ सम्बत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्रिं यजामहे । प्रजा मजर्यां नः कुरु रायस्पोषेण मथ्सृज ” (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, २, १७-१८) इत्येताभ्यां जुहुयादिति । ‘सौ-विष्टकृतम्’ स्विष्टकृदर्थं ‘शषम्’ इत्येताभ्यां सृग्भ्यां ‘ष’ एव मेव “ उत्तरस्यां स्वाहाकार ”—इत्येतन्नियमेनैव स्थालीपाकरीत्या यद्गृहीतम्, तत् ‘अवदाय’ गृहीत्वा अष्टम्या, “ अन्विषन्तो अनुमतिं यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्य-वाहनः स नोऽदाहादाशुषे मयः १९ । (म० ब्रा० २, २, १९) इत्यनयर्चा जुहुयात् ९

भा०—पूर्वोक्त खिल्व की वगवर जो ओदनचरु मांस के साथ मिलाकर घृष में रक्खा गया है, उस में से एक तिहाई लेकर द्वितीय और तृतीय मन्त्र से एक आहुति देवे, उस के तृतीय आहुति के अन्तमें ‘स्वाहा’ शब्दका प्रयोग करे । अपर दो तिहाई भी चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र से, एवं छठा और सातवां मन्त्र से, इसी नियम से अर्थात् शेष मन्त्र के अन्त में ‘स्वाहा’ जोड़कर यथा-क्रम दो आहुति देवे । मन्त्र के अन्त में अष्टम मन्त्र पढ़कर स्विष्टकृत यागके लिये पूर्वगृहीत (अलग कामके पात्रमें रक्खा) मांसखण्ड आदि होम करे ॥१॥

यद्यवा अल्पसम्भारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीता-
पित्रा स्थालीपाकं कुर्वीतापि वा गोग्रास माहरेदपि वार-
ण्ये कक्ष मुपाधाय ब्रूयादेषा मेऽष्टकेति—न त्वेव न कुर्वीत
न त्वेव न कुर्वीत । १० ॥ १ ॥

‘यदि’ ‘उ’ अपि ‘वै’ निश्चयेन ‘अल्पसम्भारतमः’ अत्याल्पपायोजनः पुरुषः स्यात्, ‘अपि’ तथापि ‘पशुना’ मत्तानां ग्राम्याणां पशूना मन्यतमेन येन के-नापि ‘कुर्वीत’ ‘एव’ सम्पादयतीति एतामष्टकाम् । अपि वा पशुभावेऽपि ‘स्थालीपाकं’ ‘कुर्वीत’ एव । अपि वा स्थालीपाककरणमाश्रयाभावेऽपि ‘गो-ग्रासम् आहरेत्’—एतेनापि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । अपि वा ‘अरण्ये’ ‘कक्षम् उपाधाय’ कक्षं दर्शयित्वा, ऊद्देवाहुर्भूत्विति यावत्, एषा म अष्टका—‘इति’ ‘ब्रूयात्’ एतेन पि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । ‘तु’ प्रत्यय गोपश्वलाभे मांसा-ष्टकां ‘न कुर्वीत’—इति ‘न एव’ । द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिद्योतकमिति समाप्ता मांसाष्टका । १० ॥ १ ॥

इति मासवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके प्रथमखण्डस्य द्वाव्याहृतं समाप्तम् ॥१॥

भा०—यद्यपि विशेष सामग्री न कर सके, तथापि पशुद्वारा ही मांसाष्टका करे। यदि पशुद्वारा न कर सके तो स्थालीपाक द्वारा करे। दोनों के अभाव में गौको 'ग्रास देने से भी हो सकता है। उस के करने का भी सामर्थ्य न हो, तो बन में जाकर दोनों बाहू उठा कर कहे कि—'यही हमारा मांसाष्टका है' परन्तु 'मांसाष्टका' न करे ऐसा किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ १० ॥

गोभिलशृङ्गसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके प्रथमखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।१।



श्वस्ततोन्वष्टक्य मपरश्वो वा । १। दक्षिणपूर्वेऽष्टमदेशे
परिवारयन्ति तथायतं तथामुखैः कृत्यम् ॥ २ ॥

'ततः' अष्टकाकार्यादनन्तरम् । 'श्वः' द्वितीयदिने 'अपरश्वः', तृतीयदिने 'वा' 'अन्वष्टक्यम्' अन्वष्टकाकृत्यं कुर्यादिति ॥१॥ स्वावासभूमौ 'दक्षिणपूर्वे' दक्षिण-पूर्वयोर्दिशोरन्तराले आग्नेयकोणे, 'अष्टमदेशे' स्वावासस्थानाष्टमे भागे, 'तथा-यतं' दक्षिणपूर्वायतं स्थानम्, 'तथामुखैः' आग्नेयाभिमुखैः स्थापित सम्भारा-दिभिः 'कृत्यम्' अन्वष्टक्यम् कार्यं यथा स्यादेव प्रशस्तं कृत्वा 'परिवारयन्ति' परितः आच्छादयन्ति, आच्छादयेयुर्जना यजमानकर्मकरा इति ॥२॥

भा०—अष्टका कार्य के दूसरे दिन, या उस के तीसरे दिन, 'अन्वष्टका' कार्य करे ॥ १ ॥ रहने के घर से अग्निकोण में, अष्टम भाग स्थान रोक कर, दक्षिण-पूर्वदिशा में विस्तृत, इस अग्निकोणाभिमुख स्थापित द्रव्यादि द्वारा कार्य सिद्ध करने के लिये रुकावट न हो, इस प्रकार उत्तम एक मण्डप बनावे ॥२॥

चतुरवराद्ध्यान् प्रक्रमान् पश्चादुपसञ्चार उत्तरार्द्धे परि
वृतस्य लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्ति ॥३॥

'परिवृतस्य' तस्य मण्डपस्य 'अवराद्ध्यान्' अपरार्द्धे विदितान् 'चतुःप्रक्रमान्' अन्यूनान् द्वादशपदभूमिं विहाय ततः 'पश्चात्' 'उपसञ्चारः' गमनागमन मार्गः भवेत्, 'उत्तरार्द्धे' तु 'लक्षणं' पूर्वोक्तं 'कृत्वा' 'अग्निं प्रणयन्ति' ॥३॥

भा०—उस मण्डप में ऊपर की ओर कमसे कम १२ बारह पग भूमि छोड़ कर, तत्पश्चात् आने आने का रास्ता छोड़, नीचे के आधे भाग में 'लक्षण' कर उसमें अग्नि प्रणयन करे ॥ ३ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृष्ट्वहयित्वा सकृत्संगृहीतं ब्रीहिमुष्टि
मवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ॥४॥

‘अग्नेः पश्चात्’ उलूखलं’ दृढं ह्यित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र ‘सकृत्’ एकवारैरेणैव ‘संगृहीतं’ ‘ब्रीहिमुष्टिम्’ कतिपयमुष्टिपरिमितं धान्यं यथा च कृत्यं सम्पद्येत ‘सव्योत्तराभ्याम्’ उभाभ्यामेव ‘पाणिभ्यां’ मूसलं गृहीत्वा ‘अवहन्ति’ अवहन्यात् ॥४॥

भा०—अग्नि के पश्चिम भाग में दृढ़ता के साथ उलूखल स्थापन कर, उस में एकही बार कईएक मुट्ठी धान्य लेकर, दोनों हाथ से मूसल पकड़ धान्य कूटे ॥४॥

यदा वितुषाः स्युः सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ॥५॥

तेनावघातेन ‘यदा’ ते धान्यसंघाताः ‘वितुषाः’ विगततुषाः ‘स्युः’ तदा ‘सकृदेव’ एकवारैरेणैव तान् अवहतधान्यसमूहान् ‘सुफलीकृतान्’ शूर्पादिना तुषान् पृथक्कृत्य तण्डुलरूपान् ‘कुर्वीत’ ॥५॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार कूटने से धान्य आदि में जब भूमी न रहे, तब उसे सूपसे फटक कर, उस भूमी आदिको उड़ादेवे (यों तण्डुल तैयार करे) ॥५॥

अथामुष्माच्च सवथनो मांसपेशीमवकृत्य नवायाथ्सूना-
यामणुशश्छेदयेद्यथा मांसाभिधाराः पिण्डा भविष्यन्तीति ॥६॥

‘अथ’ अपरत्र ‘च’ ‘अमुष्मात्’ अष्टकायै हतायाः गोः ‘सकृत्’ रक्षितवाससक्थिभागात् ‘मांसपेशीम्’ ‘अवकृत्य’ कर्त्तनेन गृहीत्वा ‘नवायां’ ‘सूनायां’ व्यञ्जनकर्त्तव्यां तथा ‘अणुशः’ छेदयेत् ‘यथा’ कर्त्तिताः ते ‘मांसाभिधाराः’ घृतमिश्रिताः सन्तः ‘पिण्डाः’ पिण्डाकाराः भवियुर्नाम ॥ ६ ॥

भा०—इधर, उस पूर्व-रक्षित वास-ऊरु से मांस-पेशी आदि काट कर नये वर्तन में खण्ड २ कर काटे, इस प्रकार खण्ड २ करे, जिस में घी के ढार देते वह पिण्डाकार बन जावे ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ अपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्
मेक्षणाभ्यां प्रसव्य मुदायुवन् ॥ ७ ॥

‘तस्मिन्नेव’ एकस्मिन् ‘अग्नौ’ ‘ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च’ उभावेव चरु ‘पृथङ्मेक्षणाभ्यां’ पृथक् पृथक् स्थापिताभ्यां मेक्षणाद्वयाभ्यां ‘प्रसव्यं’ वामावर्त्तेन मेक्षणाचालनं यथा स्यात् तथा ‘उदायुवन्’ ऊर्ध्वमीषन्मिश्रयन् ‘अपयेत्’ पचेदिति ॥७॥

भा०—एक ही अग्नि पर ‘ओदनचरु’ और ‘मांसचरु’ को भिन्न २ रखेहूए मेक्षणाद्वारा बाई ओर से चलावे और ऊपर को चलीना से उठा २ कर धर देखता हुआ पकावे ॥ ७ ॥

श्रुतावभिचार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभिधारयेत् ॥ ८ ॥

‘श्रुतौ’ तौ चरु ‘अभिचार्य’ घृतेन, ‘दक्षिणा’ अग्नेर्दक्षिणतः ‘उद्वास्य’ संस्थाप्य ‘न प्रत्यभिधारयेत्’ अष्टकाया मिवात्र प्रत्यभिधारणं न कुर्वीतेति ॥८॥

भा०—इन दोनों चरु के अच्छे प्रकार पक जाने पर, घी का ढार दे, अग्नि के दक्षिणभाग में उतारे, परन्तु उस में पूर्ववत् पुनः घी का ढार न देवे ॥ ८ ॥

दक्षिणार्द्धे परिवृतस्य तिस्रः कर्षूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाः-
प्रादेशयामाश्चतुरङ्गुलपृथिवीस्तथावखाताः ॥ ९ ॥

‘परिवृतस्य’ तस्य मण्डपस्य ‘दक्षिणार्द्धे’ दक्षिणेश्च ‘तिस्रः कर्षूः’ त्रीन् गतान् ‘खानयेत्’; ताश्च कर्षवः पूर्वोपक्रमाः पूर्वदिगारभ्य क्रमेणारब्धाः, ‘प्रादेशयामाः’ प्रादेशपरिमितदीर्घाः, ‘चतुरङ्गुलप्रशस्ताः’, ‘तथा अवखाताः’ चतुरङ्गुलखातविशिष्टाः भवेयुरिति ॥ ९ ॥

भा०—उस मण्डप के दक्षिण भागमें तीन गढ़ा खुदवावे। इन गढ़ों की लम्बाई प्रादेशमात्र, चौड़ाई ४ अंगुल, चार ही ‘अंगुल’ गहराई भी होगी ॥ ९ ॥

पूर्वस्याः कर्ष्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्त्यपरेण कर्षूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात् । १०, ११ ॥

‘पूर्वस्याः कर्ष्वाः’ प्रथमस्य गतस्य ‘पुरस्तात्’ ‘लक्षणं’ पूर्वोक्तरूपं ‘कृत्वा’ तत्र ‘अग्निं’ ‘प्रणयन्ति’ प्रणयेयुरिति । किञ्च, ‘अपरेण कर्षूः’ कर्षूणाम् अपरपार्श्वेदूरे एव अग्निं ‘पर्याहृत्य’ परित आहृत्य ‘लक्षणे’ पूर्वोक्ते ‘निदध्यात्’ स्थापयेत् । १०, ११ ॥

भा०—पहिला गड़हे के सामने लक्षण पूर्वक अग्नि प्रणयन करे और इन दो ‘लक्षणों’ से अग्नि लावे और उसे गड़हों के निकट दूसरे बगल में रखे ॥१०, ११॥

सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिं स्तृणोति कर्षूश्च पूर्वोपक्रमाः ॥ १२, १३ ॥

‘आच्छिन्नं’ ईषच्छिन्नं किञ्चिन्मूलच्छिन्नं ‘दर्भमुष्टिम्’ ‘सकृत्’ एकवारं ‘स्तृणोति’ स्तृणुयात् अग्नेश्चर्दिनु। ‘च’ अपि ‘पूर्वोपक्रमाः’ कर्षूः स्तृणुयादेव ॥१२, १३॥

भा०—कुछ जड़ काटी हुई कुश मुट्टी एक ही बार में अग्नि के चारों ओर बिछादेवे और पूर्वादि क्रमसे उस गड़हे में भी वही कुशमुट्टी बिछावे ॥१२, १३॥

पश्चात् कर्षूणां स्वस्तर मास्तारयेद्दक्षिणाग्रैः कुशैर्दक्षिणाप्रवणम् । १४ वृषीञ्चोपदध्यात्तत्र ॥ १५ ॥

‘कर्षूणां’ गतानां ‘पश्चात्’ ‘दक्षिणाग्रैः कुशैः’ ‘दक्षिणाप्रवणम्’ ‘स्वस्तरम्’

‘आस्तारयेत्’ । १४ ‘तत्र’ कर्षूणां पश्चादेव ‘वृषी’ काष्ठासनं ‘च’ ‘उपदध्यात्’
स्यापयेदिति ॥ १५ ॥

भा०-इन तीनों गड़हेके पश्चिम भागमें दक्षिणाग्र कई एक कुण से दक्षिणा
प्रवणस्वरूप स्वस्तरातरण करे १४ । उनी स्थान में घटा भी रखे ॥ १५ ॥

अस्माआहरन्त्येकैकशः राथ्यं बाहु मनु चरुस्थाल्यौ
मेक्षणे कथं सं दर्शो गुदक मिति ॥ १६ ॥

‘अस्मै’ अस्य यजमानस्य ‘सर्वं बाहुम् अनु लक्षीकृत्य वामभागे इति या-
वत् ‘चरुस्थाल्यौ’ मांसीदन्तयोः ‘मेक्षणे’ अन्नाद्यावत्तेनसाधने ‘कंसम्’ अन्नद्या-
धारभूतं कांस्यपात्रम् ‘दर्शोम्’ परिवर्णनसाधनम् ‘उदकम्’ च ‘एकैकशः’ क्रमात्
‘आहरन्ति’ आहृत्य स्यापयेयुः ॥ १६ ॥

भा०-इम यजमान के बाईं ओर मांस और चरुकी दो हांडी एवं दोनों
के चत्तीना और जल ले रखे ॥ १६ ॥

पत्नी ग्रहिपि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि तस्याञ्जै-
वाञ्जनं निघृष्य तिलो दर्भपिञ्जलीरञ्जति सव्यन्तरास्तैलञ्जो-
पकल्पयेत् क्षौमदशाञ्ज ॥ १७-२० ॥

‘पत्नी’ यजमानस्य ‘ग्रहिपि’ कुशीपरि ‘शिलां’ पेषणाधारभूतां ‘निधाय’
संस्थाप्य ‘तत्र’ ‘स्थगरं’ चन्द्रनादिकं गन्धद्रव्यं ‘पिनष्टि’ पेषणं कुर्यात् । किञ्च
‘तस्याम्’ एव शिलायाम् ‘वाञ्जनं’ क्षौवीरं ‘निघृष्य’ घर्षयित्वा तेन ‘तिस्रः दर्भ-
पिञ्जलीः’ ‘स-व्यन्तराः’ व्यन्तरः पुनः पुनरवकाशः, तत्सहिताः कृत्वा ‘अञ्जति’
अञ्जेत् । ‘च’ अपि ‘तैलञ्जं’ ‘उपकल्पयेत्’ करतलमर्दनादिना पेषणेनैव वा तिला-
नाम् । क्षौमदशां क्षुभनिर्मितव्यसनस्य ‘दशां’ प्रान्तस्थितदशाभ्यमूत्रम् ‘च’ अपि
‘उपकल्पयेत्’ तैस्यव्यसनप्रान्ततां निष्कास्य रक्षेत् । १७-२० ॥

भा०-यजमान की स्त्री बिलाए हुए कुण के ऊपर शिला (पत्थर) रखे,
उस पर चन्द्रनादि पीसे । एवं उस में ‘वाञ्जन’ घिस कर, उस अञ्जन से तीन
दर्भपिञ्जली थोड़ी २ दूर पर रंगे । उली शिला पर तेल भी सम्पादन करे एवं
रेशमी कपड़े के किनारे से सूत निकाल कर रखे ॥ १७, १८, १९, २० ॥

शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानुष्मानुदङ्मुखानुपवेश्य
दर्भान् प्रदायोदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वा-
ऽन्वावेनत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वा मनुयाथश्च त्वमनु तस्मै
ते स्वधेति ॥ २१ ॥

‘शुषी देशे’ पवित्रे स्थाने (कर्षूणां ‘दक्षिणत एव, यथा च तेषामग्रत एव कर्षूपिण्डाः स्युः) ‘अनिन्द्यान्’ पाङ्क्त्यान्’ ‘अयुग्मान्’ त्रीन् ‘ब्राह्मणान्’ ‘उदङ्मुखान्’ ‘उपवेश्य’ तेभ्यो ‘दर्भान्’ आसनार्थं ‘प्रदाय’ ‘पितुः’ स्वस्य ‘नाम’ ‘गृहीत्वा’ “असावेतत्ते”—इत्यादिकमन्त्रेण ‘उदकपूर्वम्’ उदकदानपूर्वम्, ‘तिलोदकम्’ तिलैर्मिश्रित मुदकं ‘ददाति’ दद्यात् ॥ २१ ॥

भा०—उन गड़हे के दक्षिणभाग में कुशामन पर तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को उत्तर मुंह बिठला कर अपने पिता का नाम धर, उन में से एक ब्राह्मणके हाथ में कुछ जल देकर, तत्पश्चात् “असावेतत्ते”—इत्यादि मन्त्र पढ़ कर तिल मिला जलदान देवे ॥ २१ ॥

अथ उपस्पृश्येव संवेतरयोः ॥ २२ ॥

‘इतरयोः’ स्वपितामहप्रपितामहयोः प्रतिनिधिब्राह्मणयोः अपि ‘एव मेव’ उदकपूर्वं तिलोदकदानम्, परम् ‘अप उपस्पृश्य’ जलस्पर्शनं कृत्वा । एकस्मै ब्राह्मणाय स्वपितृनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कृत्वा ततो जलस्पर्शनं हस्तधीतं कृत्वैवापरस्मै द्वितीयब्राह्मणाय स्वपितामहनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च प्रकृत्य ततः पुनरपि जलस्पर्शं प्रकृत्य तृतीयब्राह्मणाय स्वप्रपितामहनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कुर्यादिति ॥ २२ ॥

भा०—पितामह और प्रपितामह के प्रतिनिधि स्वरूप अन्य दो ब्राह्मणों को भी इसी प्रकार जल दे कर तिल जल दान करे । परन्तु एक को देने पर, दूसरे को देने के पहिले, हाथ धो लिया करे ॥ २२ ॥

तथा गन्धान् ॥ २३ ॥ अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रेण होष्यतः ॥ २४ ॥

‘गन्धान्’ अपि तेभ्यः ‘तथा’ एव दद्यात् । २३ । ‘होष्यतः’ होमं करिष्यतो यजमानस्य “अग्नौ करिष्यामि” इति उक्त्या ‘आमन्त्रणं’ कर्त्तव्यमिति ॥ २४ ॥

भा०—गन्धादि भी उसी प्रकार उनको देवे ॥ २३ ॥ होम करने के पहिले यजमान उन तीनों ब्राह्मणों को पूछे, कि—अग्निमें पितृगण की अर्चना करूं ? ॥ २४ ॥

कुर्वित्युक्ते कथंसे चरु समवदाय मेक्षणेनोपघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वांस्याहाग्नये कव्यवाहनायेत्युत्तराम् । २५ ॥ २ ॥

तैः आतन्त्रितब्राह्मणैः “कुर्व” —इति ‘उक्ते’ होमकरसे प्रष्टुमी यजमानः

‘कंसे’ कांभ्यपात्रे ‘चरु’ ओदनचरुं मांसचरुञ्च ‘समवदाय’ एकीकृत्य ‘मेक्षणेन’ तदीयं किञ्चिद् गृहीत्वा ‘उपघातं जुहुयात् उपघातनामहवनं यागारम्भसूचकं होमं कुर्यात् । तत्र ‘पूर्वाम्’ आहुतिं “स्वाहा सोमाय पितृमते”—इति, ‘उत्तराम्’ आहुतिं “स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय”—इति । २५ ॥ २ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ४।२

भा०—वे तीनों ब्राह्मण (जिनसे पूँछा गया) एक वाक्य से ‘करो’ ऐसा कहें । इस पर यजमान कंसे के वर्त्तन में मांसचरु, और ओदनचरु, दोनों चरु एकत्र ले कर उस में से थोड़ासा मेक्षण द्वारा लेकर उपघात होम * करे । उन में से “स्वाहा सोमाय पितृमते” इस मन्त्र से प्रथम आहुति देवे, और “स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय” इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥ २५. २ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठके द्वितीय खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।२



अत ऊर्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम् ॥ १ ॥

‘अतः ऊर्ध्वम्’ इत आरभ्य अन्वष्टक्यममाप्तिं यावत् । ‘प्राचीनावीतिना’ दक्षिणस्कन्धत उपवीतं धृत्वा, ‘वाग्यतेन’ नियतवाग् भूत्वा ‘कृत्यम्’ एतदन्वष्टक्यं नाम कार्यं मिति ॥ १ ॥

भा०—इसके पश्चात् ‘अन्वष्टका’ कार्य की समाप्ति पर्यन्त जो २ क्रिया करनी पड़ेगी, उस में ‘प्राचीनावीति’ (प्र० १ ख० १ सू० ३.४) होकर करे और उस समय प्रयोजन से अधिक वाक्य व्यवहार न करे ॥ १ ॥

सव्येन पाणिना दर्भपिङ्गुलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखा मुल्लिखेदपहता असुरा इति ॥ २ ॥

‘सव्येन’ वामेन ‘पाणिना’ ‘दर्भपिङ्गुलीं’ स्वस्तरात् गृहीत्वा ‘दक्षिणे पाणौ’ “अपहता असुरा रक्षाथंसि वेदिषदः” ॥३५॥ (म० ब्रा० २. ३. ३)—इति मन्त्रेण ‘दक्षिणाग्रां लेखाम्’ तथैव पिङ्गुल्या ‘उल्लिखेत्’ तामु कर्षूष्विति ॥ २ ॥

भा०—बायें हाथ में ‘स्वस्तर’ से एक ‘दर्भ पिङ्गुली’ लेकर दहिने हाथ में लेते हुए, उस के द्वारा “अपहता असुरा” इस मन्त्र से उन तीन कर्षू से क्रम से दक्षिण मुंह रेखापात करे ॥ २ ॥

सव्येनैव पाणिनोत्पुङ्गुं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां कर्षूणां नि-

दध्याद्ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति ॥ ३ ॥

‘सव्येन एव पाणिना’ ‘उत्सुकं अवलदग्निं’ ‘गृहीत्वा’ आनीय दक्षिणे पाणी ‘कर्षूणां’ तासां मध्ये ‘दक्षिणाद्धे’ (तथा च रेखापातमुखे इति फलितम्) “ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठांस्लोकात् प्रणुदत्वस्मात्” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ४)—इति मन्त्रं सर्वत्रैव पठन् तं हस्तस्थ उत्सुकं ‘निदध्यात्’ स्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०:—वाम हाथ में जलती आग लेकर दहिने हाथ में रख, उस कर्षू आदि के मध्य में रेखा पात के अगले भाग में “ये रूपाणि” यह मन्त्र पढ़ कर स्थापन करे ॥ ३ ॥

अथ पितृनावाहयत्येत पितरः सोम्यास इति ॥ ४ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् । तत्रैव “एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्व्विणेभिः । दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयि च नः सर्वदीरं नियच्छत” ॥५॥ (म० ब्रा० २, ३, ५)—इति ‘पितृन्’ पितृपितामहप्रपितामहान् यथाक्रमेण ‘आवाहयति’ आवाहयेदिति ॥ ४ ॥

भा०:—अनन्तर, उन्हीं तीन कर्षू में एक ही समय पिता, पितामह, और प्रपितामह, इनतीन व्यक्तियोंको “एत पितरः” मन्त्र पाठानुसार आवाहन करे ॥

अथोदपात्रान् कर्षूपु निदध्यात् ॥ ५ ॥

‘अथ’ आवाहनानन्तरम्, ‘कर्षूषु’ ‘उदपात्रान्’ त्रीन् एकैकक्रमेण ‘निदध्यात्’ स्थापयेदिति ॥ ५ ॥

भा०:—इस के अनन्तर, उन कर्षू आदि में एक २ जलपात्र रखे ॥ ५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वासाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वा मनु याथश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेति ॥६॥

‘सव्येन एव पाणिना’ ‘उदपात्रं’ इतः पूर्वमेव स्थापित मुदकपात्रं ‘गृहीत्वा’ तदुदकपात्रस्थं जलम् ‘अवसलवि’ दक्षिणहस्तवृद्धाङ्गुष्ठमूलेन पितृतीर्थेन पथा ‘पितुर्नाम गृहीत्वा’ स्वपितृनामग्रहणपूर्वकं “असाववनेनिक्ष्व” —इति मन्त्र पठन् ‘पूर्वस्यां कर्ष्वां’ पातिता ये दर्भाः, तेषु ‘दर्भेषु’ ‘निनयेत्’ आहूतं पितरं प्रापयेदिति ॥ ६ ॥

भा०:—बायें हाथसे कर्षू के पास रखे हुए जलपात्र को लेकर दहिने हाथ

के अंगुठे की जड़ से जल ढार कर, उस जल को पिता का नाम लेकर “अमौ अवेने निदव”-इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पहिले से रखे हुए कर्पू के ऊपर दर्भ में आहूत अपने पिता को-प्राप्त करावे; इसी को ‘निनयन’ कहते हैं ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ७ ॥

‘इतरयोः’ पितामहप्रपितामहयोरर्थयोरपि निनयनम् ‘एवमेव’ कार्यम् अप-परयोः कर्ष्वोर्यथाक्रमेणेति । तत्र च प्रतिवारम् अप उपस्पृशनं कर्त्तव्यमिति ॥७॥

भा०:-पितामह और प्रपितामह के उद्देश से भी इसी प्रकार ‘निनयन’ करे; परन्तु प्रतिवार जल स्पर्श करे। अर्थात् पितृनिनयन के पीछे हाथ धोकर पितामह ‘निनयन’ करे, फिर हाथ धोकर, प्रपितामह के लिये निनयन करे ॥७॥

सव्येनैव पाणिनादर्वीं गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेप ते पिण्डो ये चात्र त्वा मनु याथश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ८ । ९ ॥

यथा पूर्वं निनयनं कृतम् तथैव तिसृष्वेव कर्षूषु पिण्डदानञ्च कार्यं मिति फलितार्थः । अत्र मन्त्रे “असावेप ते पिण्डः”-इत्येव विशेषः । पूर्वस्यापितां ‘दर्वीम्’ । ‘सन्नीतात्’ पूर्वं कांस्यपात्रे ओदनचरुमांसचरुश्च मन्नीतः, तस्मात् । ‘तृतीयमात्रम्’ एकतृतीयांश मिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

भा०:-पूर्वगृहीत कांसे के पात्र में मिला हुआ चरु, दर्वी द्वारा काटकर तीन भाग करे और एक २ कर क्रम से (बीच २ में हाथ धोले) कुश के ऊपर अपने पिता का नाम ले कर “असावेप ते पिण्डः”-इस मन्त्र से यथाक्रम तीन पिण्ड दान करे ॥ ८ ॥ ९ ॥

यदि नामानि न विद्यात् स्वधा पितृभ्यः पृथिवीपदुभ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात् स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसदुभ्य इति द्वितीयं स्वधा पितृभ्यो दिविपदुभ्य इति तृतीयम् ॥१०॥

‘यदि’ ‘नामानि’ पित्रादीनाम्, ‘न विद्यात्’ ? तर्हि ‘प्रथमं पिण्डं’ “स्वधा०”-इति मन्त्रेण ‘निदध्यात्’ तत्र कर्षूमध्ये पूर्ववदित्येव; ‘द्वितीयं’ पिण्डं “स्वधा०”-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येव; ‘तृतीयं’ पिण्डं “स्वधा०”-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येव ॥१०॥

भा०:-यदि पिता का नाम स्मरण न हो, तो, पहिला पिण्ड पृथिवी स्थायी

[प्र० ४ खं० ३ सू० १-१४]

अन्वष्टक्य आहुम् ॥

१७९

पितृगण के लिये, द्वितीय पिण्ड अन्तरिक्ष स्थायी पितृगण के निमित्त एवं तृतीय पिण्ड द्युलोकस्थ पितृगण के निमित्त, उन्हीं कर्षूओं के बीच पूर्वोक्तानुसार स्थापित करे ॥ १० ॥

निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्वमित्यपर्यावृत्त्य ॥ ११ ॥ पुरोच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमी मदन्त पितरो यथाभाग मा वृषायिपतेति ॥ १२ ॥

पिण्डान् त्रीनेव तिसृषु कर्षूषु यथोपदिष्टं 'निधाय' 'अपर्यावृत्त्य' पर्यावर्त्तनं वर्त्तयित्वा एकत्रैव स्थितो यजमानः "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २. ३. ६) 'इति' मन्त्रं 'जपति' जपेदिति ॥ ११ ॥ 'उच्छ्वासात्' नासिकया श्वासत्यागात् 'पुरा' प्रागेव 'अभिपर्यावर्त्तमानः' तिस्रः कर्षूः अभिध्याप्य 'परि' सर्वतः (अनुस्रम्फनेति भाव) 'आवर्त्तमानः' आवर्त्तनं कुर्वाणो यजमानः "अमी मदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २. ३. १) 'इति' इमं मन्त्रं जपेत् अभिपर्यावर्त्तनञ्चेतद्वासत एव पित्रे सव्यस्यैव सर्वत्र विधानात् ॥ १२ ॥

भा०—उन्हीं तीन गड़हों में पूर्वोक्त रीति से स्थापन करने के पीछे यजमान एक स्थान में बैठ कर "अत्र पितरः" यह मन्त्र पढ़े ॥ ११ ॥ एक निःश्वास के काल की बराबर वाईं ओर से गड़हे आदि की परिक्रमा कर आगे और उनी समय "अमी मदन्त" मन्त्र का पाठ करे ॥ १२ ॥

सव्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जलीं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्त आञ्जनं ये चात्र त्वा मनु याथ्श्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ १३ । १४ ॥

यथा पूर्वं निनयनं पिण्डदानञ्च कृतम्, तथैव 'दर्भपिञ्जली' पत्रया सौवीराञ्जनेनाक्तां स्थितां क्रमनोऽप्य उपस्पृश्य पिण्डानामुपरि दद्यादिति । तदत्र मन्त्रे "असावेतत्त आञ्जनम्"—इत्येव विशेषः । १३, १४ ॥

भा०—बायें हाथ में, उस अञ्जन से रंगा—कुश की तीन पिंजली ले कर दहिने हाथ के अंगुठे की जड़ से पूर्व आदि तीन गड़हा में स्थित तीन पिण्ड के ऊपर एक २ क्रम से "असावेतत् त आञ्जनम्—मन्त्र पढ़ कर, प्रदान करे । और प्रथम और द्वितीय पिण्ड पर पिञ्जली देने के पीछे एक २ बार हाथ धोवे ॥ १३, १४ ॥

तथा तैलं तथा सुरभि ॥ १५ । १६ ॥

‘तथा’ पिङ्गुलीदानोक्तप्रकारेणैव ‘तैलं’ पत्न्यापादितं तेनैव मन्त्रेण ता-
स्वेव कर्षूषु दद्यात् । किञ्च ‘तथा’ तेनैव प्रकारेण ‘सुरभि’ पत्न्या’ पिष्टं स्थगरं
तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूषु दद्यात् । परं मुभयत्रैव “असावेतत्ते तैलम्”—इति,
“असावेतत्ते सुरभि”—इति चोहनं कर्त्तव्यं मेव ॥ १५ । १६ ॥

भा०—इदन्तरं इति पिङ्गुली दानके अनुसारं इति मन्त्र से उस २ के ऊपर
तैल एवं सुगन्धि (चन्दनादि) प्रदान करे । विशेषता—मन्त्र में यह होगी कि
‘आञ्जुन’ शब्द के बदले ‘तैल’ और ‘सुरभि’ शब्द व्यवहृत होंगे ॥ १५ । १६ ॥

अथ निन्हुते पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणी कृत्वा
नमो वः पितरौ जीवाय नमो वः पितरः शूषायेति मध्य-
मायाथ्सव्योत्तानौ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो
रसायेत्युत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै
नमो वः पितरो मन्यवे इत्यथाञ्जुलिकृतो जपति नमो वः
पितरः पितरो नमो व इति ॥ १७—२१ ॥

‘अथ’ सुरभिदानानन्तरं ‘निन्हुते’ निन्हुवनं नमस्करणं कार्यमिति । तत्र
‘पूर्वस्याम्’ ‘उत्तमायां’ च ‘कर्ष्वां’ ‘दक्षिणोत्तानौ’ ‘पाणी’ कृत्वा ‘मध्यमायां’
तु ‘सव्योत्तानौ’ पाणी कृत्वा ततो तिमृष्ट्वैव कर्षूष्वेकदैव ‘अञ्जुलिकृतः’ जपति
जपेत् यथाक्रमेण चतुरो मन्त्रान् “नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः
शूषाय । नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय । नमो वः पितरः स्व-
धायै नमो वः पितरो मन्यवे । १० । नमो वः पितरः पितरो नमो वः ॥ ११ ॥
(म० ब्रा० २, ३, ८—११)—इत्यादिकानिति ॥ १७—२१ ॥

भा०—अनन्तरं पहिला पिण्ड पर दक्षिणोत्तान दोनों हाथ (दक्षिण कर-
तल ऊपर की [चित्त] रहे एवं उसके ऊपर बायां करतल नीचे की हो)
तत् पश्चात् मध्यम पिण्ड पर बायोत्तान दोनों हाथ (बायां करतल ऊर्ध्व मुख
और उसके ऊपर दक्षिण करतल अधो मुख) पर अनन्तर शेष पिण्ड पर, पुनः
दक्षिणोत्तान दोनों हाथ पर सद्य के अन्त में समस्त पिण्ड लक्ष्य कर अञ्जुलि
पूर्वक “नमो वः” इत्यादि चार नमस्कार करे ॥ १७—२१ ॥

गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति । २२ । पिण्डा-
नवेक्षते सदो वः पितरो देप्तेति ॥ २३ ॥

ततः 'गृहान्' स्वगृहिणीम् 'अवेक्षते' अवेक्षेत; "गृहान्नः पितरो दत्त" ॥१२॥
(म० ब्रा० २, ३, १२)—'इति' मन्त्रं पठन्निति ॥ २२ ॥ "ततः सदो वः पितरो
देष्म" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १३)—'इति' मन्त्रं पठन् 'पिण्डान्' तानेव 'अवे-
क्षतेति ॥ २३ ॥

भा०—अनन्तर "गृहान्नः" इस मन्त्र को पढ़कर गृहिणी को देखे ॥ २२ ॥
इसके अनन्तर 'सदोवः पितरो' मन्त्र का पाठकर पिण्ड आदि देखे ॥ २३ ॥

सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां
कर्ष्णीं पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्तेवासो ये
चात्र त्वा मनु याथ्यश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृ-
श्यैव मेवेतरयोः । २४, २५ ॥

पत्न्या सम्पादिता क्षौमदशा, त एव एकैकं 'सूत्रतन्तुं' 'गृहीत्वा' पूर्वा-
दिषु कर्षूषु क्रमात् पित्रादिनामग्रहणपूर्वकं निदध्यात् । मन्त्रे तु "एतद्वः पि-
तरो वासः" ॥ १४ ॥—इत्येव विशेषः । अत्रापि द्वितीयतृतीययोरप उपस्पर्शनं
कार्यं मेव ॥ २४, २५ ॥

भा०—पत्नी कर्तृक सम्पादित उम रेश्मी कण्डे के किनारे से एक २ सूत्र
लेकर पूर्वादि गड़ड़े क्रम से पिता आदि के नाम ले २ कर "यह तुम्हारा वास
है" इत्यादि मन्त्र से पिण्ड आदि के ऊपर प्रदान करे ॥ २४, २५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पिण्डान् प-
रिषिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति । २६ । मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्रा-
श्रीयादाधत्त पितरो गर्भं मिति ॥ २७ ॥

'उदपात्रं' पूर्वमेव स्थापितं तत् 'सव्येनैव पाणिना गृहीत्वा 'अवसलवि'
पितृतीर्थेन "ऊर्जं वहन्ती रमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्त्रुतं स्वधास्य तर्पयत मे
पितृन्" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १५)—'इति' मन्त्रेण 'पिण्डान्' त्रीन् एकदैव
'परिषिञ्चेत् ॥ २६ ॥ 'पुत्रकामा पत्नी' "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्।
यथेह पुरुषः स्यात् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १६) 'इति' मन्त्रं पठती 'मध्यमं
पिण्डम्' समग्रं तदीयं किञ्चिदंशं वा 'प्राश्रीयात्' ॥ २७ ॥

भा०—पूर्व स्थापित उम जल पात्र को बायें हाथ में लेकर पहिले की
माई 'पितृतीर्थ' मार्ग से अंगुठे से एक ही बार में तीन पिण्ड पर "ऊर्जं
वहन्ती" मन्त्र से परिषिञ्चन करे ॥ २६ ॥ पुत्र की कामना वाली पत्नी "आधत्त"
इस मन्त्र का पाठ कर मध्यम पिण्ड को सब, या थोड़ा भक्षण करे ॥ २७ ॥

यो वा तेषां ब्राह्मणानां मुच्छिष्टभाक् स्यात् ॥ २८ ॥
अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा इत्युत्मुक मद्भिरभ्युक्ष्य
द्वन्द्वंपात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत् ॥ २९ ॥

‘उच्छिष्टभाक्’ दौहित्रः अद्वासमन्वितश्च । प्राश्रीयादित्येव । २८ “अभून्नो
दूतो हविषो जातवेदा अवाङ्मव्यानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादात् पितृभ्यः स्व-
धया ते अन्नं प्रजानन्नग्ने पुनरेहि योनिम्” ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १७)
‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘उत्मुकं’ कर्षूदक्षिणार्धे स्थापितम् ‘अद्भिः’ ‘अभ्युक्ष्य’ तदी-
येनैव भस्मना ‘द्वन्द्वं’ यथा स्यात् तथा ‘पात्राणि’ चतुर्स्थायादीनि ‘प्रक्षाल्य’
‘प्रत्यतिहारयेत्, आनयेत् शिष्यादिनेति ॥ २९ ॥

भा०—उन ब्राह्मणों के जो कोई, उच्छिष्ट भाक् हों (बचा हुआ खाने
वाला) वे भी इन २ पिण्डों को समस्त, या कुछ अंश खा सकते हैं ॥ २८ ॥
“अभून्नो” इस मन्त्र को पढ़कर गड़हे आदि के दक्षिणार्ध में रखा इंगोरा पर
जल छिड़के एवं उस भस्म पर चतुर्स्थाली पात्र आदि धोकर लावे ॥२९॥

अप्सु पिण्डान्तसादयेत् प्रणीते वाग्नौ ब्राह्मणं वा भो-
जयेद् गवे वा दद्याद् । ३०-३३ ॥ वृद्धिपूर्त्तेषु युग्मानाशयेत्
प्रदक्षिणमुपचारः । ३४, ३५ ॥ यवैस्तिलार्थः । ३६ ॥ ३ ॥

तान् त्रीन्नेव ‘पिण्डान्’ मुक्तशेषान् वा पिण्डांशान् ‘अप्सु’ नद्यादिषु ‘सादयेत्’
निक्षिपेत् । ‘वा’ अथवा ‘प्रणीते वाग्नौ’ तत्रैव सादयेदित्येव, ‘वा’ अथवा ‘ब्राह्मणं’
यं क नपि क्षुधातुरं ‘भोजयेत्’ । ‘वा’ अथवा ‘गवे’ यस्यैकस्यै चिद् दद्यादिति समाप्त
मन्वष्टक्यम् । ३०-३३ । आहुप्रसङ्गात् वृद्ध्यादिषु विशेष उपदिशति—वृद्धिः
शरीरवृद्ध्यनुसारतः सम्पाद्या अन्नप्राशनादिका, पूर्त्तास्तु वापीकूपतडागादयः,
तेष्वपि कर्त्तव्येषु तत्तत्कर्मणः प्रागेव अन्वष्टक्यवत् पित्रर्चनं कर्त्तव्यमिति ।
विशेषतस्तु तेषु ‘युग्मान्’ ब्राह्मणान् ‘आशयेत्’ इह तु ‘अयुग्मान्—इत्युक्तम्
(प्र० ४ खं० २ सू० २१) किञ्च इहोपचारे ‘प्रसव्यम्’ इत्युक्तम् (प्र० ४ खं० २ सू० ७)
वृद्ध्यादिषु तु ‘प्रदक्षिणम्’ यथा स्यात् तथा ‘उपचारः’ कर्त्तव्यः इति । ३४, ३५
अथ तेषु द्रव्यातिदेश उच्यते । तिलैः यः अर्थः प्रयोजनं भवेत्, यवैः अपि स
एवार्थः सिद्धेदिति । ३६ ॥ ३ ॥

इतिसाखं दीये गोभिलगृह्यसूत्रेषु तुर्यप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

[प्र०४सं०३सू०२८-३६, सं०४सू०१-८] अन्वष्टक्यप्राहुं पिण्डपितृयज्ञश्च ॥ १८३

भा०:—उन सब पिण्डों को जल में फेंक देवे, या उसी अग्नि में डाले या किसी भूखे ब्राह्मण को भोजन करावे, या किसी गौ को खिलावे । वृद्धि * और पूर्त्त**के उपलक्षमें पितृलोक की अर्चना समय भी पूर्वोक्त अनुष्ठान सब करना चाहिये । विशेषतः—अन्वष्टका कार्यमें अयुग्म (१, ३, आदि) ब्राह्मण की व्यवस्था है, यहां जोड़ा (२, ४ आदि) ब्राह्मण भोजन करावे एवं अन्वष्टका कार्य में वामावर्त्त में चरु पाक करने का नियम है, यहां दक्षिणा वर्त्त में चरु पाक करे ३४।३५ तिल से जो २ कार्य कहे गये हैं, यव से भी वह २ कार्य होंगे ॥ ३६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थप्रपाठक के तृतीयखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ३६॥



अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः ॥ १ ॥

‘पिण्डपितृयज्ञः’ पिण्डं शरीरं, भस्मीभूतं तदुपलब्धं यत् पितृपुरुषस्यार्ध-
नम्, तदेव कर्म पिण्डपितृयज्ञ इत्युच्यते । स च यज्ञो ऽनेनैव पुरस्तादुक्तेन अ-
न्वष्टक्यविहितेन स्थालीपाकेनैव ‘व्याख्यातम्’ । तत्र स्थालीपाकनियमो यथा
विहितः, अत्रापि तथैवेत्यतिदेशः । १ ।

भा०:—अन्वष्टका कार्य में स्थाली पाक की जो व्यवस्था कियी है, पिण्ड
पितृ यज्ञ में भी उसी प्रकार जानना ॥ १ ॥

अमावास्यायां तच्छ्राद्धम् ॥२॥ इतरदन्वाहार्यं मासीनम्
॥३॥ दक्षिणाग्नौ हविषः स०स्करणं ततश्चैवातिप्रणयः ४, ५॥

‘तत्’ पिण्डपितृयज्ञं कर्म ‘श्राद्धम्’—इत्याचक्षते, ‘अमावास्यायाम्’ पित्रादि-
सरज्ञानन्तरं प्रथमाया मेव वर्षमध्ये यस्यां कस्याञ्चिद्वा कर्त्तव्यम् । २ । ‘इतरत्’
अपरं नपि श्राद्धम्, ‘मासीनम्’ मासि मासि क्रमेण संवत्सरं यावत् ‘अन्वाहा-
र्यम्’ प्रथमं ननु प्रथमं मित्र व्यवहार्यम् । ३ । आहिताग्निरिति ॥ ४, ५ ॥

भा०:—उस पिण्ड पितृयज्ञ—श्राद्ध को पिता आदि के वियोग होने पर,
प्रथम अमावास्या को करे, ॥२॥ होने से वर्षकी जिस किसी अमावास्या को करे
अपर ११ अमावास्या को भी ११ श्राद्ध इसी प्रकार करे ॥३॥ आहिताग्नि यज्ञमान-
गव, इस श्राद्ध के हवि को, दक्षिणाग्नि में संस्कृत करें और उसी में पूर्वोक्त
अति प्रणय करें ॥ ४, ५ ॥

शालाग्रावनाहिताग्नेः ॥ ६ ॥ एका कर्षूः ॥ ७ ॥ तस्या
दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ॥ ८ ॥

* शरीर वृद्धि अनुसार अन्नप्राशन आदि संस्कार ॥ ** बापी, कुप, तालाव आदि का खोदवाना ॥

अनाहिताग्निः 'शालाग्री' गृह्याग्री एव । ६ । नान्वष्टक्यवत् कर्षूत्रय-
मिति भावः । ७ । 'तस्याः' कर्ष्वोः । नान्वष्टक्यवत् पूर्वत इति भावः ॥ ८ ॥

भा०—अनाहिताग्नि के गृह्याग्नि में वह सम्पन्न होगा । ६। इस स्थान में
अन्वष्टका कार्यकी नाईं तीन कर्षू न होंगे, । ७। वरण एक ही कर्षू होगा उस कर्षू
के दक्षिण ओर में अग्निस्थान होगा; अन्वष्टका की नाईं कर्षू के पूर्व भाग में होगा । ८।

नात्रोत्सुकनिधानं न स्वस्तरो नाञ्जनाभ्यञ्जने न सुरभि
न निह्वन मुदपात्रान्तो वासस्तु निदध्यात् । ९-१५ ॥

'अत्र' पिण्डपितृयज्ञे अन्वष्टक्यवत् 'उत्सुकनिधानं' 'स्वस्तरः', 'अञ्जनाभ्य-
ञ्जने', 'सुरभि' 'निह्वन' च 'न' भवति, ततश्च 'उदपात्रान्तः' एवासी यज्ञः,
'तु' अपि अत्र 'वासः निदध्यात्' न अन्वष्टक्यवत् दशासूत्रमिति समाप्ता
प्रासङ्गिकी कथा । ९-१५

भा०—इस पिण्ड पितृ-यज्ञ में अन्वष्टका कार्य की नाईं "उत्सुक निधान,"
"स्वस्तर," "अञ्जनाभ्यञ्जने," "सुरभिदान," और "निह्वन" न करे सुतरां यह
उदपात्रान्त ही समाप्त होगा, एवं इस में पिण्ड पर अन्वष्टका कार्य की नाईं
सूत न देकर बख्क डाले ॥ ९-१५ ॥

माध्या उद्ध्व मष्टम्यां स्थालीपाकः ॥ १६ ॥

माघमासीयपौर्णमास्याः परस्तात् कृष्णाष्टम्यां तृतीयाष्टका शाकाष्टकाख्या
कर्तव्या, तत्र स्थालीपाकः पूर्ववत् पक्तव्यः ॥ १६ ॥

भा०—माघी पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी, । तिथिकी "शाकाष्टका" नामक
तृतीय अष्टका करने और उस में भी पूर्ववत् स्थालीपाक करना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्य जुहुयादष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृ-
तान्यच्छाकं व्यञ्जन मन्वाहार्यम् ॥ १७-२० ॥

सर्वे पूर्ववत् विशेषतस्त्विह 'शाक' नाम 'व्यञ्जन' भोजनोपकरणम् 'अन्वा-
हार्यम्' भवेदिति शाकाष्टका ॥ १७-२० ॥

भा०—उस स्थालीपाक का कुछ अंश "अष्टकायै स्वाहा" मन्त्र से होमकरे;
और अन्योन्य कार्य भी स्थाली पाक की नाईं होंगे । विशेषत इस में शाक
व्यञ्जन लाना चाहिये ॥ १७-२० ॥

अथ पितृदैवत्येषु पशुषु वह वपां जातवेदः पितृभ्य
इति वपां जुहुयाद्देवदेवत्येषु जातवेदो वपयागच्छ देवानि-

त्यनाज्ञातेषु तथादेशं यथाष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थाली-
पाकावृतान्यत् ॥ २१-२४ ॥

‘अथ’ अष्टकाविधानसमनन्तरम् । सर्वत्रैव ‘पितृदैवत्येषु पशुषु’ “वह वपां
जातवेदः पितृभ्यो यत्रैन्वेत्य निहितान् पराश्वः । मेदसः कुल्पा अभितान्त् स्त्रवन्तु
सत्या एषा माशिवः सन्तु कामात्” (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १८)
इति मन्त्रेण,—‘देवदैवत्येषु’ पशुषु “जातवेदो वपया गच्छ देवाः ॥ स्त्वथं हि होता
प्रथमो बभूव । सत्या वपा प्रगृहीता मे अस्तु समृध्यतां मे यदिदं करोमि” १९ ॥
(म० ब्रा० २, ३, १९) इति मन्त्रेण,—‘अनाज्ञातेषु’ यत्र संज्ञाप्यमानपशौ देवता
‘आ’ सम्यक् न ज्ञाता, तादृशेषु, सन्दिग्धदैवत्येषु बहुदैवतेषु वा पशुषु ‘तथा-
देशं’ तत्र तत्रैव यथा विहितं तथा विहितानुरूपणैव मन्त्रेण ‘वपां जुहुयात्’ ।
अनाज्ञातेषु मन्त्रप्रयोगदृष्टान्तं दर्शयति—‘यथा’ “अष्टकायै स्वाहा”—‘इति’ म-
न्त्रेण ‘जुहोति’ ‘अष्टकाकर्मणि’ अष्टकापशोश्च बहुदैवतात्वात् विवदमानदेवता-
त्वाद्वा अनाज्ञातदेवदैवत्यत्वम् । वपाहोमे ‘अन्यत्’ सर्वं ‘स्थालीपाकावृता’
स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् ॥ २१-२४ ॥

भा०—जिस स्थान में पितृगण के निमित्त पशु हनन करे, उस स्थान में
“वह वपां” इस मन्त्र से वपाहोम करे । जिस किसी स्थान में किन्हीं देवता
के निमित्त पशुहनन करे, वहां “जात वेदो वपया” इस मन्त्र से वपा होम
करे । जहां कर्त्तव्य कार्य के देवता निश्चय में सन्देह हो (कि यहां कौन देवता
होनी चाहिये) ऐसे स्थान के लिये विशेष मन्त्र कहा जाता है । ऐसे स्थानों
में जो मन्त्र कहा जावे उसी मन्त्र से वपा होम करे । जिस प्रकार अष्टका
कार्य में “अष्टकायै स्वाहा” यही मन्त्र वपा होम में व्यवहृत होगा । अन्यान्य
सब कार्य स्थाली-पाक के नियम से होंगे ॥ २१-२४ ॥

ऋणे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयाद्यत्कु-
सीद मिति । २५ । अथातो हलाभियोगः ॥ २६ ॥

‘ऋणे प्रज्ञायमाने’ स्वल्प मृणम्, ऋण मिति न ज्ञातं भवति, तदन्यत्र,
बहुवृत्ते जाते इति यावत् । ‘गोलकानां’ पलाशानां (?) ‘मध्यमपर्णेन’ “यत्
कुसीद मप्रदत्तं मयेह येन यस्य निधिना चराणि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि
जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि” ॥ २० ॥ (म० ब्रा० २, ३, १९) ‘इति’ मन्त्रेण ‘जुहुयात्’ २५
‘अथ’ अनन्तरम् । ‘अतः’ आरम्भ ‘हलाभियोगः’ हलप्रयोगउपदिश्यते इतिशेषः २६

भा०—जब यह जाने कि ऋण (कर्ज) बहुत हो गया, तो “यत् कुसीदम्”

इस मन्त्र का पाठ करके ऋतु संस्थानुसार (जितना कर्ज हो) मध्यम गोलक पत्र होसकरे ॥२५॥ अथ इसके आगे हलप्रयोग का विधि कहा जाता है ॥ २६ ॥

पुण्येनक्षत्रे स्थालीपाकं प्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादिन्द्राय मरुद्भ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय । २७ । सीतामाशामरडामनंघाञ्च यजेत ॥ २८ ॥

स्पष्टम् । २७ । सीतादीनि चत्वारि कृषियन्त्राणि च पूजयेत् ॥ २८ ॥

भा०-पुण्य नक्षत्र में अर्थात् खेती के लिये उपयुक्त काल में कृषि कार्य में प्रवृत्त होकर पहिले स्थालीपाक कर वहयमाण देवता आदि की आहुति देवे; "इन्द्राय स्वाहा" मन्त्र से देवराट् इन्द्र को, * 'मरुद्भ्यः स्वाहा,' मन्त्र से मरुद् गण ** को, 'पर्जन्याय स्वाहा' मन्त्र से पर्जन्य देव को *** अशन्यै स्वाहा' मन्त्रसे अशनि देवता को****और 'भगाय स्वाहा' मन्त्रसे, भग देवता को ॥२७॥ सीता, * (हल का काला) आशा, अरडा, अनघा की पूजा करे २८*****

एता एव देवताः सीतायज्ञखलयज्ञप्रवपणप्रलवनपर्य्य यणेषु । २९ । आखुराजञ्जोत्करेषु यजेत ॥ ३० ॥

यदा 'सीतायज्ञः' सीतायाः लाङ्गलपटुतेश्चालनम्, 'खलयज्ञः' खले शस्यादीनां मर्दनम्, 'प्रवपणम्' शस्यबीजानाम्, 'प्रलवनम्' पक्वानां शस्यानां छेदनम्, 'पर्ययणम्' तृणवियुक्तधान्यादिशस्यानां गृहानयनम् ; अत्र सर्वत्रैव 'एताः' पूर्वोक्ताः इन्द्रादयः 'एव' 'देवताः' स्मर्त्तव्याः । २९ । 'उत्करेषु' मूषिकास्थानेषु 'आखुराजञ्च' 'यजेत' तत्खाद्य दानेन तोषयेत् ॥ ३० ॥

भा०-जिस समय हल चलावे, जिस समय खलिहान में दीमी करे, जिस समय खेत में बीज बोये, जिस समय पके शस्य (गह्मा) काटे जावें, एवं जिस समय प्रस्तुत (तैयार) अनाज घर में लावे; इन समयों में पूर्वोक्त इन्द्रादि देवता को स्मरण करे ॥२९॥ पीछे शस्य आदि घर में रखने पर चहे के खिल में भी मूस की तुष्टि के लिये कुछ अनाज देवे ॥ ३० ॥

* जो वृत्र (मेघ) के साथ युद्ध कर, बहुत बज् फेक, उस असुर के (बलवान् जलाधार के) शरीर को खण्डित करते एवं शची (सब कमों के) पति, जिन के प्रभाव से सब क्रिया सिद्ध होती हैं (ऐश्वरीय बल विशेष)

** जो देवगण वृत्रासुर के साथ युद्ध काल में इन्द्र की सहायता करते हैं और पीछे वृत्र देह को खण्डित होने पर बड़ पृथिवी पर बग के साथ गिराते हैं (वायु समूह) ॥

*** जो वेद में वृत्रासुर नाम से परिचित हैं (मेघ) ॥

**** बज्-। वस्तुतः मेधाश्रित तेज मात्र को अशनि कहते, जिस के प्रकाशमान् ज्योति को विद्युत, कहते हैं ॥

***** भग शब्द ऐश्वर्य वाचक और कृषि ही सब प्रकार के ऐश्वर्य की जड़ है अतएव जिस देवता के अनुग्रह से कृषि सुफल हो, उन्ही को 'भग, देवता कहते (सूर्य) ॥

* सीता प्रभृति चार ही खेती के यन्त्र होते हैं ।

[प्र० खं० ४ सू० २७-३३, खं० ५ सू० १-५] वपार्कयोर्हीनो हलाभियोगश्च ॥ १८७

इन्द्राण्याः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा
तप्यमानेति ॥ ३१, ३२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपा-
कावृतान्यत् । ३३ ॥ ४ ॥

इन्द्राणीदेवतातोषणाय 'स्थालीपाकः' पक्ष्यः । पक्ष्यस्य च 'तस्य' स्था-
लीपाकस्य अंशं गृहीत्वा "एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमान
मिन्द्रम् । तेन देवा असहन्त शत्रून् हन्ता सुराणा मभवच्छचीभिः" ॥ २१ ॥
(म० ब्रा० २, ३, २१)—'इति' मन्त्रेण जुहुयात्" । ३१, ३२ । 'अन्यत्' सर्वं यद्-
आनुपदिष्टं तत्, 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम्, न तत्र कश्चि-
दपि विशेष इति भावः । द्विरुक्तं खण्डसमाप्तिसूचक मिति हलाभियोगः ॥३३॥४॥
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रेष्वतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥

भा०—अनन्तर इन्द्राणी * देवता के परितोष के लिये स्थालीपाक करे और
परिपक्व स्थालीपाक में से थोड़ा लेकर " एकाष्टका तपसा"—मन्त्र से आहुति
देवे ॥३१॥३२॥ अन्यान्य सब कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक की रीति से सम्पन्न करे ॥३३॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थप्रपाठके चतुर्थखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ४, ४ ।



काम्येष्वत ऊर्ध्वम्पूर्वेषु चैके ॥ १, २ ॥

'अत ऊर्ध्वं' यत् किञ्चिद्दृश्यमाणं तत्सर्वं मेव 'काम्येषु' वेदितव्यम् ।
'एके' प्रधानाः, गोभिलादयः पुनराचार्याः वक्ष्यमाण मपि किञ्चित् विरूपाक्ष-
जपादिकम् 'पूर्वेषु' नित्यनैमित्तिकेषु 'च' स्वीकुर्वन्ति ॥ १, २ ॥

भा०—इस के पीछे जो कुछ कहा जावेगा, सो सब काम्य ** कर्म विषय
में जानना, प्रधान आचार्य्य गण के मत में वक्ष्यमाण विरूपाक्ष जप आदि
कई एक कार्य, पूर्वोक्त नित्य नैमित्तिक कार्य में भी व्यवहृत होंगे ॥१,२॥

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्जौ पाणी प्रतिष्ठाप्येदम्भूमेर्भजा-
मह इति ॥३॥ वस्वन्तथरात्रौ धन मिति दिवा ॥४॥ इमथं
स्तोम मिति तृचेन परिसमूहेत् ॥ ५ ॥

* इन्द्र की अर्थात् अन्तर्बल की सहचारिणी, अर्थात् शची किया सब ॥

** कर्म तीन प्रकार का होता—नित्य, नैमित्तिक, और काम्य, जो करना ही होगा, न करने से पाप
हो उसे नित्य, कर्म कहते । जो किसी निमित्त से करना पड़े, न करने से वह निमित्त निर्दोष न होवे, वह
नैमित्तिक, है । किसी कामना की सिद्धि के लिये जो किया जावे, उस की काम्यकर्म कहते, काम्य कर्म करे न
करे कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् काम्य कर्म न करने से कोई पाप नहीं होता ॥

‘अग्नेः पश्चाद्’ ‘भूमौ’ ‘पाणी’ ‘स्वकीयी’ ‘न्यक्षी’ आत्माभिमुखौ वक्रौ ‘प्रतिष्ठाप्य’ “इदं भूमेर्भजामहे इदं भद्रं सुमङ्गलम् । परा सपत्नान् बाधस्वान्येषां विन्दते वसु ॥ (अन्येषां विन्दते धनम्)” ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १) ‘इति’ मन्त्रं जपेदिति भूमिजपः । ३। ‘रात्रौ’ भूमिजपं चेत् ‘वस्वन्तं’ वसुपदान्तं मन्त्रं जपेत् ‘दिवा’ अहनि चेत् ‘धनम्’-इत्यन्तं जपेदित्येव ॥ ४ ॥ “कृत्वाग्न्यभिमुखौ हस्ती स्वस्थानस्थौ सुसंहितौ । प्रदक्षिणं तथासीनः कुर्यात् परिसमूहनम्”-इति कर्मप्रदीपः । तिसृणां मृचां समाहारः तृचः तेन । एष च तृचः उ० आ० ४, १, ७, १-२-३ । “इमं स्तोमं संहते जातवेदसे रथमिव सम्महेमा मनीषया । मद्रा हि नः प्रमतिरस्य सथं सद्यग्ने सरुये मारिषामा वयं तव ॥ २ ॥ भरामेधम कृणवामा हवीथंषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम् । जीवातवे प्रतराथंसाधय धियोऽग्ने सरुये मारिषामा वयं तव ॥ ३ ॥ शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदयन्त्या हुतम् । त्वमादित्याथं आवह ताथं ह्यशमस्यग्ने सरुये मा रिषामा वयं तव” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ४, २-४) ५

भा०-अग्नि के पश्चिम भाग में, अपना दोनों हाथ, अपने सम्मुख वक्र-भाव से रक्त्वे “इदं भूमेर्भजामहे” यह मन्त्र जप करे। इसी को ‘भूमिजप’ कहते ॥ ३ ॥ रात्रि काल में इस मन्त्र के अन्त में ‘वसु’ इस पद का प्रयोग करे और दिन में, प्रयोग काल में उस के अन्त्यपद ‘धनम्’ पढ़े ॥ ४ ॥ “इमं स्तोमम्” प्रभृति तीन मन्त्रों से परिसमूहन करे (ये तीनों मन्त्र उ० आ० ४, १, ७, १-२-३, और म० ब्रा० के २ । ४ । २-४ मन्त्र हैं) ॥ ५ ॥

वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाङ्गाम्येषु च प्रपदस्तपश्चतेजश्चेति ६, ७

नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वत्रैव ‘होमानां’ ‘पुरस्तात्’ वैरूपाक्षः ‘विरूपाक्षोऽसि दन्ताञ्जिस्तस्य ते शय्यापण्णो गृहा अन्तरिक्षे विमितं हिरण्यं तद्देवानां हृदयान्ययस्मये कुम्भे अन्तः सन्निहितानि तानि वनभृच्च बलसाञ्च रक्षतोऽप्रमनी अनिमिषतः सत्यं यत्ते द्वादश पुत्रास्ते त्वा सम्बत्सरे सम्बत्सरे कामप्रेण यज्ञेन याजयित्वा पुनर्ब्रह्मचर्यमुपयन्ति त्वं देवेषु ब्राह्मणो ऽस्यहं मनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मणमुपधावत्युप त्वा धावामि जपन्तं मामा प्रतिजापी जुहुन्तं मामा प्रतिहौषीः कुर्वन्तं मामाप्रतिकार्षीस्त्वां प्रपद्ये त्वया प्रसत इदं कर्म करिष्यामि तन्मे राध्यतां तन्मे समृध्यतां तन्म उपपद्यतां स मुद्रो मा विश्वस्यचा ब्रह्मानुजानातु तुषो मा विश्ववेदा ब्रह्मणः पुत्रोऽनुजानातु श्वाग्रो मा प्रचेता मैत्रावरुणो ऽनुजानातु तस्मै विरूपाक्षाय दत्ताञ्जये समुद्राय

[प्र० ४ सं० ५ सू० ६-१२] होमपूर्वकृत्यानि भोजननियमश्च ॥ १८९

विश्वव्यचसे तुषाय विश्ववेदसे श्वान्नाय प्रचेतसे सहस्राक्षाय ब्रह्मणः पुत्राय नमः” ॥६॥ (म० ब्रा० २, ४, ५) —इति मन्त्रः पठितव्यः । ‘काम्येषु’ कर्मसु ‘प्रपदश्च’ “तपश्च तेजश्च अद्वा च ह्रीश्च सत्यध्वाक्रोधश्च त्यागश्च धृतिश्च धर्मश्च सत्वश्च वाक् च मनश्चात्मा च ब्रह्म च तानि प्रपद्ये तानि मा भवन्तु भू भुवः स्वरोम्भ-
हान्त मात्मानं प्रपद्ये” ॥५॥ (म० ब्रा० २, ४, ५) —इति प्रपदमन्त्रोऽपि पठितव्यः ॥६॥ १॥

भा०—नित्य, नैमित्तिक और काम्य, इन तीन प्रकार के कर्मों में जो कोई होम हो, होम के पहिले “वैरूपाक्षोसि” यह मन्त्र पढ़े । सब काम्य कर्मों में “तपश्च” मन्त्र का भी पाठ करे ॥ ६ । १ ॥

जपित्वा प्राणायाम मायम्यार्थमना वैरूपाक्ष मारभ्योच्छृसेत्

काम्येषु प्रपदवैरूपाक्षयोक्तभयोरेव जपो विहितः । तत्र प्रपदजपानन्तरं प्राणायामः कर्त्तव्यः । “पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायामः”—इति सन्ध्यासूत्रोक्त एवात्र याज्यः । तत्र पूरककुम्भकयोः प्रपदमन्त्रार्थमननं कर्त्तव्यम्, रेचकारम्भत एव वैरूपाक्षमन्त्रं जपदिति । ८ । अथ भोजननियमः ।—

भा०—काम्य कर्मों में ‘प्रपद’ मन्त्र और ‘वैरूपाक्ष’ मन्त्र दोनों ही के पाठ करने की व्यवस्था है, उन में प्रपद मन्त्र पढ़ कर प्राणायाम आरम्भ करे एवं इस प्राणायाम काल में ‘पूरक’ और ‘कुम्भक’ प्रपद मन्त्र के अर्थ का विचार कर ‘रेचक’ प्राणायामानुसार वैरूपाक्ष मन्त्र जप करे ॥८॥

काम्येषु त्रिरात्राभोजनं त्रीणि वा भक्तानि । ९, १० ।

‘काम्येषु’ कर्मसु कर्त्तव्येषु ‘त्रिरात्राभोजनं’ कर्मारम्भदिवसस्याव्यवहितेषु पूर्वेषु त्रिषु दिवसेषु त्रिषु भोजनं माध्याह्निकं नैशं च न कर्त्तव्यम् । ‘वा’ असमयश्चेत् तेषु दिवसेषु ‘त्रीणि’ एव ‘भक्तानि’ भोजनानि कर्त्तव्यानि तथा च तेषु दिवसेषु माध्यन्दिनं नैशं वा एकैकमेव भोक्तव्यम् ; न तु यथानियमं वारद्वयम् ॥९, १०॥

भा०—काम्य कर्म करने के पूर्व दिन, तीन मध्याह्न और दो रात्रि का भोजन छोड़ देवे, यदि एक साथ दोनों भोजन न छोड़ सके तो कम से कम, एक भोजन छोड़ देवे । अर्थात् दिनरात में केवल एक बार भोजन करे ॥९, १०॥

**नित्यप्रयुक्तानान्तु प्रथमप्रयोगेषु । ११ । उपोष्य तु य-
जनीयप्रयोगेषु ॥ १२ ॥**

कञ्चित् काम मभिलक्ष्य यत् कर्म द्विवार मनेकवारं वा क्रियते, तदेव नित्यप्रयुक्त मित्युच्यते ; तादृशानान्तु कर्मणां ‘प्रथमप्रयोगेषु’ एव पूर्वोक्तो भोजननियमः कर्त्तव्यः, न तु द्वितीयादिषु ॥ ११ ॥ यानि कर्माणि बहुदिनं

यावत् प्रतिदिनं यजनीयतया प्रयुज्यन्ते, तादृशेषु 'यजनीयप्रयोगेषु तु' 'उपोष्य' प्रातराशादिक सत्पाहार मेव कृत्वा तत्तद्यजनं विधेयम् ॥ १२ ॥

भा०—जो कर्म, किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक बार करना पड़े, ऐसे कार्य में एक ही बार, प्रथम बार, पूर्वोक्त पहिला तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन व्यवस्था अर्थात् प्रतिवार कार्य आरम्भ के पूर्व तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन न करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो सब कर्म कई एक दिन वा बहुत समय में समाप्त हो, ऐसे सब कर्मों में प्रतिदिन प्रातराशादि थोड़ा * खा कर प्रवृत्त हो ॥ १२ ॥

उपरिष्ठाद् दैक्ष्यसान्निपातिकम् ॥ १३ ॥

'सांनिपातिकं' नैमित्तिकं कर्म, 'उपरिष्ठादैक्ष्यं' निमित्त घटनात् पर मेव तस्य दीक्षा इति वेदितव्य मिति भोजननियमः ॥ १३ ॥ अथ ब्रह्मवर्चसकामकर्म—

भा०—निमित्त घटना के पीछे नैमित्तिक कर्म समूह की दीक्षा कर्त्तव्य है, वही वैसे कार्यों के लिये निर्दिष्ट काल है, उस के पूर्व अभोजन, (नहीं खाना) या एक भोजन, या 'उपवास, यथासम्भव व्यवस्थित होंगे ॥ १३ ॥

अरण्ये प्रपदं प्रयुज्जीत दर्भेष्व्रासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्मवर्चसकामः । १४ । उदक्कूलेषु पुत्रपशुकामः ॥ १५ ॥

यः कश्चन 'ब्रह्मवर्चसकामः' स्यात् स एव 'अरण्ये' गत्वा 'प्राक्कूलेषु' दर्भेषु 'आसीनः' सन् 'प्रपदं' (तपश्च पृ० १८९)—इति मन्त्रं 'प्रयुज्जीत' ॥ १४ ॥ यः कश्चन पुत्रकामः पशुकामो वा स्यात्, स खलु अरण्ये गत्वा 'उदक्कूलेषु' दर्भेषु आसीनः त मेव प्रपदमन्त्रं प्रयुज्जीत ॥ १५ ॥ अथ ब्रह्मवर्चस—पुत्रपशुकामकर्म ।

भा०—जो कोई 'ब्रह्मवर्चस' की इच्छा करे, वह बन में जा कर पूर्वाग्र रक्खे हुए कुश पर बैठ कर 'प्रपद' मन्त्र द्वारा पठित मन्त्रों से साधना करे ॥ १४ ॥ और जो कोई पुत्र, या पशु की इच्छा करे, वह बन में जा कर उत्तराग्र कुश पर बैठ कर इस "प्रपद" मन्त्र से साधना करे ॥ १५ ॥

उभयेषूभयकामः । १६ । पशुस्वस्त्ययनकामो ब्रीहियवहोमं प्रयुज्जीत सहस्रबाहुर्गौपत्य इति ॥ १७ ॥

'उभयकामः' प्रथमसूत्रोपात्तं ब्रह्मवर्चसं द्वितीयसूत्रोपात्तं पुत्रं पशुं च यः कामयेत, स खलु अरण्ये गत्वा युगपत् 'उभयेषु' प्राक्कूलेषु, तदुपरि पातितेषु

* प्राचीन समय में 'प्रातराश', आदि थोड़े खाने को 'उपवास', कहते थे, इदानीं 'उपवास', शब्द से एक मात्र भाजन नहीं करना समझा जाता, जो उस समय 'अभोजन', शब्द में व्यवहृत होता था ॥

[प्र० ४ खं० ५ सू० १३-२३]

ब्रह्मवर्चसादिकाम्यकर्माणि ॥

१९१

उदक्कूलेषु च दर्भेषु आसीनः, त मेव प्रपदं नाम मन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥१६॥ पशूनां गृहपालितामां गवादीनां स्वस्त्ययनं कामयेत चेत् “सहस्रबाहु गौपत्यः स पशूनभिरक्षतु । मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु मयि प्रजां प्रजापतिः” (स्वाहा) ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १) —‘इति’ मन्त्रेण ‘व्रीहियवहोम’ व्रीहिणा यवेन च आहुतिमग्नौ ‘प्रयुञ्जीत’ ॥ १७ ॥

भा०—प्रथम सूत्रोक्त ‘ब्रह्मवर्चस’ एवं द्वितीय सूत्रोक्त पुत्र और पशु, इन दो की जो कामना करे, वह अन्न में जा कर, पूर्वोक्त कुश बिछा कर उस पर उत्तराय कुश रखे, उस पर बैठ ‘प्रपद’ मन्त्र से साधना करे ॥ १६ ॥ जो पालतू गौ भेड़ आदि की भलाई चाहे, वह “सहस्र बाहुः” मन्त्र से धान्य और यव का होम करे ॥ १७ ॥

कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेद्यस्यात्मनि प्रसाद मिच्छेत्तस्मा एकभूयांश्च स्यात्मानायुग्मानि कुर्यात् ॥ १८, १९ ॥ वृक्ष इवेति पञ्चर्चः ॥ २० ॥

अथ प्रसादकामकर्म ।—‘यस्य’ कस्य चिज्जनस्य पुरुषस्य स्त्रिया वा ‘प्रसादम्’ प्रसन्नताम् ‘इच्छेत्’, ‘तस्मै’ “कौतोमतश्च संवननश्च सुभागं करणं मम माकुली नाम ते मातायाहं पुरुषानयः । यन्नौ कामस्य विच्छिन्नं तन्नौ सन्धे ह्योषधे” ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ४, ८) महावृक्षफलानि गुवाकानि आम्नाणि वा ‘परिजप्य’ ‘प्रयच्छेत्’ । तानि च फलानि ‘एकभूयांसि’ एकस्मिन्नेव गुच्छे बहूनि विद्यन्ते चेत्, तर्हि दानात् पूर्वमेव ‘आत्मनः’ आत्मना स्वयमेव ‘अयुग्मानि’ विच्छिन्नानि ‘कुर्यात्’ ॥ १८, १९ ॥ अथ पार्थिवं कर्म ।—(म० ब्रा० २, ४, ९-१३) अधिकृतो वेदितव्यः ॥ २० ॥

भा०—जिस किसी व्यक्ति की प्रसन्नता लाभ करने की इच्छा हो, तो उस व्यक्ति को “कौतोम” मन्त्र से पठित कई एक * महावृक्षफल प्रदान करे, इन फलों को गुच्छा से स्वयं एक २ कर तोड़ लेवे ॥ १८, १९ ॥ “वृक्ष इव” इत्यादि पांच मन्त्र हैं, उन का व्यवहार, यथाक्रम से कहा जाता है ॥ २० ॥

तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म ॥ २१ ॥ अर्द्धमास मभुक्त्वा ऽशक्तौ वा पेया मन्यतरं कालम् ॥ २२, २३ ॥

‘तस्मिन्’ अधिकृते पञ्चर्चं, तेनैव पञ्चर्चन समुदितेन ‘प्रथमम्’ एकं ‘कर्म’

* इस से महावृक्ष फल शब्द से यहां ‘आम्र’, और गुवाक (सुपारी) इत्यादि जानना ॥

‘पार्थिवं’ क्षेत्राद्यर्थं कुर्वीतेति । २१। तच्च पार्थिवं कर्म ‘अर्द्धमास सभुक्त्वा’ एव कार्यम् । अभोजनेऽसमर्थश्चेत् ‘अन्यतरं कालं’ दिवा रात्रौ वा एकवारं मेव ‘पेयां’ मण्ड-दुग्धादिकं पिबेदिति ॥ २२, २३ ॥

भा०-उन्हीं पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म अर्थात् खेत आदि की उर्वरता (खेत को ऐसा करे कि जिस से उस में सब प्रकार के शस्य अच्छेप्रकार उत्पन्न हों) आदि सिद्धि के लिये एक क्रियाका अनुष्ठान किया जाता है ॥ २१ ॥ यह पार्थिव कर्म, अर्द्धमास पर्यन्त अभोजन रह कर करे, यदि बिना खाये न रहा जावे, तो एक समय केवल पेय (दुग्ध, आदि) पानकरे २२, २३

यत्रात्मानं परिपश्येत् ॥२४॥ एतद्ब्रत मर्द्धमासव्रतेषु ॥२५॥

‘यत्र’ पेयायाम् ‘आत्मानं’ आत्मच्छायां दर्पणादाविव ‘परिपश्येत्’ तादृशीमेव तरलां पेयां पिबेदिति ॥२४॥ ‘एतत्’ पार्थिवं कर्म ‘व्रतम्’ उच्यते, तच्च ‘अर्द्धमासव्रतेषु’ गण्यते । तथाच शुक्लप्रतिपद्यस्यारम्भः पौर्णमास्यां च समाप्तिः सिद्धा २५

भा०-जिस ‘पेय’ वस्तु में अपना मुंह दीख पड़े, इसप्रकार तरलवस्तु पीवे ॥ २४ ॥ यह पार्थिवकर्म एक व्रत विशेष है, यह अर्द्धमास व्रतों में गणनीय है । इससे यह व्रत शुक्ल पक्ष की पवित्रा से आरम्भ कर पूर्णिमाको पूराकरे २५

पौर्णमास्यां रात्रावविदासिनि हृदे नाभिमात्रं मवगा-
ह्याक्षततण्डुलानृगन्तेष्वास्येन जुहुयात् स्याहेत्युदके ॥२६॥

‘पौर्णमास्यां रात्रौ’ ‘अवदामिनि’ हृदे निदाघेऽपि यस्य विदासः शोचो न, तादृशे जलाशये ‘नाभिमात्रं मवगाह्य’ ‘अक्षततण्डुलान्’ आस्ये कृत्वा तेनैव ‘आस्येन’ अधिकृतानां पश्यानामेकैकेनैव ‘उदके’ तत्रैव ‘जुहुयात्’; ‘अगन्तेषु’ तासां पश्याना मृचा मन्तेष च ‘स्वाहा-इति’ ब्रूयादिति पार्थिवं कर्म ॥ २६ ॥ अथ भोगादिकामकर्माणि ।—

भा०-पूर्णिमा की रात में अविदासी जलाशय में (जिस का जल ग्रीष्म ऋतु में भी न सूखे) नाभि मात्र जलमें पैठ, स्नान कर, मुंहमें अक्षत तण्डुल ले कर उन्हीं पांच मन्त्रों से, उसी जल में एक २ कर पांच आहुति देवे एवं इस पांच मन्त्रों में से प्रत्येक के अन्त में “स्वाहा” शब्द का भी प्रयोग करता जावे २६

अथापरम् ॥२७॥ प्रथमयाऽऽदित्य मुपतिष्ठेत भोगका-
मोऽर्थपतिचक्षुर्विषये सिद्धत्यर्थः ॥२८॥

पश्याना मधिकृताना मृचां समुदितानां व्यवहारेण प्रथमं कर्म पार्थिवं नाम उक्तम्; ‘अथ’ अनन्तरम्, तासामेवैव मसमुदितानां व्यवहारेण ‘अपरम्’

[प्र० ४ खं० ५ मू० २४-३१] पार्थिवं कर्म भोगादिकामकर्माणि च ॥ १८३

द्वितीयं कर्म आदित्योपस्थानादिकं वक्ष्यते इति ॥ २७ ॥ 'भोगकामः' पुरुषः, 'प्रथमया' "वृक्ष इव पक्वस्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुवस्वते । यस्त्वेवं वेद तस्मै मे भोगान् धुञ्जाक्षतान् बृहन्" ॥८॥ (म० ब्रा० २, ४, ९)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपतिष्ठेत' । कोपतिष्ठेत ? इत्याह, -'अर्थपतिचतुर्विधये' यतोऽर्थपतेः अर्थं कामयते, तस्यैव चक्षुर्गोचरे प्रदेशे । तथाच 'अर्थः' प्रयोजनं 'सिद्ध्यति' ॥२८॥

भा०:-उक्त पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म कहा गया है, अब उन्हीं पांच में से प्रत्येक के व्यवहार में एक २ अपर कर्म कहा जाता है ॥२९॥ जिस किसी को भोग की इच्छा हो, वह "वृक्ष इव" मन्त्र से सूर्योपस्थान करे। जिस स्थान में उस प्रयोजन के होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थल में यह अनुष्ठान किया जावे, ऐसा ही करने पर वह प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

द्वितीययाऽऽदित्ये परिविष्यमाणेऽक्षततण्डुलान् जुहुयाद्
वृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः ॥२९॥

पत्रं वाहनम्, वृहत्पत्रं हस्त्यश्यादि, 'वृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः' पुरुषः, 'द्वितीयया' "ऋतं मत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह । आकाश उपनिरञ्जतु सद्द्यामन्न मथोश्रियम्" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ४, १०)-इत्यनयर्चा 'आदित्ये परिविष्यमाणे' 'अक्षत तण्डुलान्' 'जुहुयात्' । "वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभा व्योम्नि हश्यन्ते परिविष्यन्तु सः स्मृतः" ॥-इति ।

भा०:-हाथी आदि बड़े वाहन के कल्याणार्थ "ऋतं मत्ये" इस द्वितीय मन्त्र से अक्षत तण्डुल हवन करे । जिस समय सूर्य मण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह किया जावे ॥ २९ ॥

तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्रपशुस्वस्त्ययन
कामः ॥३०॥चतुर्थ्यादित्य मुपस्थायाथान् प्रपद्येत स्वस्त्यर्थ-
वानागच्छति ॥३१॥

क्षुद्रपशवो गोमेषादयः, ततस्वस्त्ययनकामः पुरुषः, तृतीयया "अभिभा-
गोऽसि सर्वस्मिंश्च स्तदु सर्वं त्वयि श्रितम् । तेन सर्वेण सर्वो मा विवासन विवा-
सय" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ४, ११)-इत्यनयर्चा 'चन्द्रमसि' परिविष्यमाणे एव
काल 'तिल तण्डुलान्' जुहुयादित्येव ॥३०॥ 'चतुर्थ्या' "कोश इव पूरणीं वसुना
त्वं प्रीतो ददसे । अहष्टोदष्ट माभर सर्वान् कामान् प्रपच्छ मे" ॥१२॥ (मा० ब्रा०
२, ४, १२)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपस्थाया' 'अर्थान्' 'अभिलक्ष्य' 'प्रपद्येत'
यात्रां कुर्वीत, तेन सः 'स्वस्त्यर्थवान्' सन् 'आगच्छति' गृह्णानिति ॥३१॥

भा०:—गौ, भेड़ आदि छोटे २ पशुओं के कल्याण चाहने वाले “अभिभ-
गोऽसि” इस तृतीय मन्त्र से कई एक तिल तण्डुल होम करे, जिस समय च-
न्द्रमण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह कर्म किया जावे ॥ ३० ॥
“कोश इव” इस मन्त्र से सूर्योपस्थान कर प्रयोजन को लक्ष्य कर, यात्रा करने
से प्रयोजन सिद्ध कर निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३१ ॥

**पञ्चम्यादित्य मुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्ति गृहा-
नागच्छति स्वस्तिगृहानागच्छति । ३२ ॥ ५ ॥**

‘पञ्चम्या’ “आकाशस्यैव आकाशे यदेतद् भाति मण्डलम् । एवं त्वा वेद यो
वेद वेदेशानेशान् प्रयच्छ मे” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १३)—इत्यनयस्त्वा ‘आ-
दित्य मुपस्थाय’ ‘गृहान्’ अभिलक्ष्य ‘प्रपद्येत’ यात्रां कुर्यात्, तेन सः प्रधा-
सात् प्रतिचलितः ‘स्वस्ति’ यथा स्यात्तथा ‘आगच्छति’ प्रत्यायाति । द्विवचनं
खण्डसमाप्तिद्योतनार्थम् । ३२ ॥ ५ ॥

इतिसामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ४५ ॥

भा०:—“आकाशस्यैव” इस पञ्चम मन्त्र से सूर्योपस्थान कर अपने घर
को लक्ष्य कर प्रति यात्रा में करने से निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३२ । ५ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ अध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ५॥

—○:—*—:○—

**भूरित्यनकाममारं नित्यं प्रयुज्जीत न पापरोगान्नाभि
चाराद्वयम् ॥ १ ॥**

भूर्भुवः स्वरोऽथं सूर्य इव हृगे भूयास मग्निरिव तेजसा वायुरिव प्राणेन
सोम इव गन्धेन बृहस्पतिरिव बुद्ध्याऽश्विनाविव रूपेणोन्द्राग्नी इव बलेन
ब्रह्मभाग एवाहं भूयासं पाप्माभागा मे द्विषन्तः” ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १४) ‘इति’
अनकाममारं; इच्छासंरागसाधनं मन्त्रं ‘नित्यं’ सतत मेव, प्रतिदिनं वा ‘प्रयुज्जी-
त’ । तेन ‘न’ ‘पापरोगात्’ कुष्ठादितः, ‘न’ च ‘अभिचारात्, शत्रुकृतात्’ भयम् स्यात् ॥ १

भा०:—जो लोग बिना कष्ट उचित समय (अपनी पूरी आयु में) मृत्यु
की इच्छा करें । अर्थात् दुःख के साथ अकाल मृत्यु न हो, वे “भूः” इस मन्त्र
को सतत जप करें; इस मन्त्र के प्रभाव से शत्रुकृत मारण आदि से भय नहीं
रहता एवं कुष्ठादि पाप रोग से भी भय नहीं होता ॥ १ ॥

अलक्ष्मीनिर्णोदो यजनीयप्रयोगो मूर्ध्नोऽधिम इत्येकैकया ॥ २ ॥

[प्र०४ खं०५ सू०३२, खं०६ सू०१-६] आत्मदेहरक्षादिकामकर्माणि ॥ १९५

सूत्रोऽधि मे वैश्रवणाङ्गिरसोऽनुप्रवेशिनः । ललाटाद् घस्वरान् घोरान्
विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ १ ॥ ग्रीवाभ्यो मे स्कन्धाभ्यां मे नस्तो
मे ऽनुप्रवेशिनः । मुखान्मे वद्वदान् घोरान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ २ ॥ बा-
हुभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तुतानधि । उरस्तो वद्वदान् घोरान् विघ्नान्
विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ३ ॥ वङ्क्षणाभ्यां मे लोहितादान् योनिहान् पञ्जि-
हानधि । कर्तुभ्यो निशिलयो घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ४ ॥
जङ्घाभ्यां मे यतो यतः पादयोरुत्तु तानधि । पादयो विंकारान् विवृहामि वः
(स्वाहा) ॥ ५ ॥ परिब्राधं यजामहेऽणु जङ्घ्यं शबलोदरम् । योनोऽयं परिब्रा-
धते दानाय च भगाय च (स्वाहा) ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १-८) 'इति'
अष्टर्चस्य सूक्तस्य 'एकैक्या' ऋचा एकैका आहुतिर्हीतव्या । अयमेव पूर्वोक्तो
यजनीयप्रयोगः—इत्युच्यते । एतस्यहि कर्मणः प्रभावात् 'अलक्ष्मीनिर्गोदः' दा-
रिद्र्यनाशः भवेदिति ॥ २ ॥

भा०—“सूत्रोऽधि मे” इत्यादि मन्त्रों से एक २ आहुति प्रदान करे । यह यज-
नीय प्रयोग में गणनीय है । इस क्रिया के फल से दरिद्रता दूर होती है ॥२॥

या तिरश्चीति सप्तमी वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः प्रजा-
पत इत्युत्तमया ॥३-६॥

इह यजनीयप्रयोगे या 'सप्तमी' आहुतिः, सा मन्त्रपाठक्रमात् “अपेहि
त्वं परिब्राध मा विब्राध विब्राधयाः । सुगपन्थानं मे कुरु येन मा धन मेव्यति”
(स्वाहा) ॥७॥ (म० ब्रा० २, ५, ७)—इत्यनया प्राप्ता परं न तथाभीष्टा; अपि
तस्याः स्थाने “या तिरश्ची (१)”—इत्येषा प्रयोक्तव्या । किञ्च; ततो 'वामदे-
व्यर्चः' (उ० आ० १, १, १२, १)—'महाव्याहृतयः', च जप्तव्याः, ततः “प्रजा-
पते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्त
ओ अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां” (स्वाहा) ॥८॥ (म० ब्रा० २, ५, ८)
इत्यनया अष्टम्या ऋचा अष्टमी आहुतिर्हीतव्येति ॥३-६॥ अथ यशस्कामकर्म ।

भा०—इस यजनीय प्रयोग में जो आठ आहुति होगी, उनमें सप्तम मन्त्र
से सप्तम आहुति न दे कर “या तिरश्ची” इस मन्त्र से सप्तम आहुति
होगी एवं उस के पश्चात् 'वामदेव्य' (उ० आ० १, १, १२, १) इन तीन मन्त्र
से और उस के पश्चात् महाव्याहृति आदि का पाठ करे इह के पश्चात् “प्रजा-
पते” इस आठवें मन्त्र से आठ आहुति देनी चाहिये ॥ ३-६ ॥

यशोऽहं भवामीति यशस्काम आदित्य मुपतिष्ठेत पू-

वर्ह्णमध्यन्दिनापराह्णेषु प्रातरह्णस्येति सन्नामयन् ॥७॥

‘यशस्कासः’ पुरुषः, “यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् । यशः सत्यस्य भवामि भवामि यशसां यशः ॥ ९ ॥ पुनर्मा यन्तु देवताया मदपञ्चक्रमुः । महस्वन्तो महान्तो भवाम्यस्मिन् पात्रे हरिते सोमपृष्ठे ॥१०॥ रूपं रूपं मे दिशः प्रातरन्हस्य तेजसः । अन्नमुग्रस्य प्राशिष मस्तु मयि । मयि त्वयीदमस्तु त्वयि मयीदम् ॥११॥ यदिदं पश्यामि चक्षुषा त्वया दत्तं प्रभासया तेन मा भुञ्ज तेन भुक्षिषीय तेन मा विश ॥ १२ ॥ अहर्नो अत्यपीपरद्रात्रिर्नो अतिपारयत् । रात्रिर्नो अत्यपीपरदहर्नो अतिपारयत्” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ५, ९-१३) —‘इति’ पञ्चवै सूक्तं पठन्, तत्र च तृतीये मन्त्रे पठितं ‘प्रातरह्णस्येति’ पदं ‘सन्नामयन्’ यथाकालं मध्यन्दिनस्येति अपराह्णस्येति च परिवर्तयन्, पूर्वार्ह्णपराह्णेषु त्रिधैव कालेषु ‘आदित्य मुपतिष्ठेत’ ॥ ७ ॥ अथ स्वस्त्ययनकामकर्म—

भा०—जिन्हें यश की कामना हो, वे “यशोऽहं” इन पांच मन्त्रों से प्रातः मध्याह्न, और सायं तीन समय सूर्योपस्थान करें ‘प्रातरह्णस्य’ यह पाठ यथा काल परिवर्तन करें । अर्थात् मध्याह्न कालमें उस के स्थानमें “मध्यन्दिनस्य” और सायं समय ‘अपराह्णस्य’ ऐसा कहें ॥ ७ ॥

सन्धिबेलयोरुपस्थानं स्वस्त्ययनमादित्यनावमिति ॥८॥

‘सन्धिबेलयोः’ उभयोरेव “आदित्यनावमारोक्षं पूषणामपरिपारिनीम् । अचिच्छद्रां पारयिष्णींश्च शतारित्रांश्च स्वस्त्यये ॥ (ओन्नम आदित्याय नम आदित्याय नम आदित्याय) ॥१४॥ (म० ब्रा० २, ५, १४) —‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘उपस्थानं’ कर्तव्यम् तथाच ‘स्वस्त्ययनं’ सिध्येत् ॥८॥

भा०—प्रातः और सायं दोनों सन्धि बेला में “आदित्यनावं”—मन्त्र से उपस्थान करे, इस से स्वस्त्ययन (कल्याण) होगा ॥ ८ ॥

उद्यन्तं त्वादित्यानुदियांसमिति पूर्वाह्णे प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठासमित्यपराह्णे ॥ ९, १० ॥ आचितशतकामोऽर्द्धमासव्रतः ॥ ११ ॥

तत्र, पूर्वाह्णे’ उद्यन्तं त्वादित्यानुदियांसम् ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १५) ‘इति’ यजुश्च प्रयोक्तव्यम् । ‘अपराह्णं’ च “प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानु प्रतितिष्ठासम् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १६)”—‘इति’ च यजुः प्रयोक्तव्यमेव ॥९, १०॥ अथ आचितशतकामकर्म । ‘आचितशतकामः’ पुरुषः, ‘अर्द्धमासव्रतः’ स्यात् ॥ ११ ॥

[प्र० ४ खं० ६ सू० १-१४, खं० ५ सू० १-२] यशमादिकाम कर्माणि ॥ १८३/०

भा०:—इस उपस्थान काल में विशेषतः प्रातः सन्धि काल में “उद्यन्त” मन्त्र भी एवं सायं सन्धि काल में “प्रतिष्ठन्त” मन्त्र भी व्यवहृत होंगे । ९, १०। जो कोई १०० आश्रित (२५ मन, वा एक गाड़ी बोझ) की कामना करे, वह अर्द्धमास-व्रत का अनुष्ठान करे ॥ ११ ॥

तामिस्रादौ ब्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा तस्य कणानपरासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधाय दित्य मभिमुखो जुहुयाद्भलाय स्वाहा भत्ताय स्वाहेति ॥ १२ ॥ एतयैवावृतापरौ तामिस्रौ ॥ १३ ॥

‘तामिस्रादौ’ कृष्णप्रतिपदि सन्धिवेलायां ‘ब्रीहिकांसौदनं’ पक्त्वा, तेन च ‘ब्राह्मणान् भोजयित्वा’ ‘अपरासु’ द्वितीयादिषु ‘सन्धिवेलासु’ तस्य ब्रीहिकांसस्य ‘कणान्’ “भत्ताय स्वाहा ॥११॥ भत्ताय स्वाहा ॥१८॥ (म०ब्रा०२, ४, ११, १८) इति मन्त्रद्वयेन जुहुयात् । कुत्र प्रदेशे ? ‘प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे’ ‘अग्निमुपसमाधाय, आदित्य मभिमुखः’ सन् ॥ १२ ॥ ‘एतया एव आवृता’ पूर्वोक्तया एव रीत्या ‘अपरौ’ द्वौ ‘तामिस्रौ’ कृष्णपक्षौ व्यवहर्त्तव्यौ । तदेवं त्रिभिः कृष्णपक्षैः एषोऽर्द्धमासव्रतः सम्पाद्य इति ॥ १३ ॥

भा०:—कृष्ण पक्ष की परिवा तिथि को सन्धि वेला समय, कांस परिमित तण्डुल पाक करके, उसे कई एक ब्राह्मणों को भोजन करावे । इस के अनन्तर अमावास्या पर्यन्त प्रति सन्धिवेला में गांव के बाहर पश्चिम ओर चौराहे पर अग्नि जला कर उस में ‘भत्ताय’ और ‘भत्ताय’ इन दोनों मन्त्रों से, सूर्य के सम्मुख हो कर इस तण्डुल के कणा आदि से होम करे ॥१२॥ इसी पूर्वोक्त रीति से और भी दो कृष्ण पक्ष में अनुष्ठान करे । इस से तीन कृष्णपक्ष में यह अर्द्धमास व्रत सम्पन्न होगा ॥ १२, १३ ॥

तामिस्रान्तरेषु ब्रह्मचारीस्यादासमापनादासमापनात् ॥१४॥

‘तामिस्रान्तरेषु’ कृष्णपक्षमध्येष्वहोरात्रेषु व्रती पुरुषः ‘आसमापनात्’ व्रतसमाप्तिं यावत् ‘ब्रह्मचारीस्यात्’ ॥ १४ ॥ ६ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके षष्ठ्यखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१४॥

भा०:—जिस तीन कृष्णपक्ष में यह “अर्द्धमास व्रत” अनुष्ठान किया जावे, उस में व्रत की समाप्ति पर्यन्त व्रती को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये ॥ १४॥ ६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थअध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१४॥



अवसानं जोषयेत् ॥ १ ॥ समं लोमश मविभ्रंसि प्राच्य
उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्त्तरन्नक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका
यत्रौषधयः स्युः ॥ २ ॥

‘अवसानं’ विरामलक्षणं अन्यवास्तुभिरवेष्टितं वक्ष्यमाणलक्षणं भूखण्डं ‘जो-
षयेत्’ सेवेत वासायेति ॥ १ ॥ तच्च अवसानं ‘समं’ समतलं स्यात् । तच्च
‘लोमशं’ घासविशिष्टं स्यात् । तच्च ‘अविभ्रंसि’ विभ्रंशोऽयः पतनं न यत्र स-
म्भाव्यते तादृशं स्यात् । ‘यत्र’ ‘प्राच्यः उदीच्यः वा’ ‘आपः’ नद्यादिकाः ‘प्रव-
र्त्तरन्’ विद्येरन् । ‘यत्र’ च समीपे एव ‘अक्षीरिण्यः’ ‘अकण्टकाः’ ‘औषधयः’ ‘स्युः’ ॥ २ ॥

भा०:-अन्यान्य सकानसे यथा सम्भवदूर पर, अपने रहने का सकान बनाने
के लिये उपयोगी प्रशस्त (अच्छी) भूमि लेवे ॥ १ ॥ उक्त वास भूमि समतल
होवे, घासों से छिपी रहे, तालाब आदि से हटात् गिर जाने का भय न हो,
ऐसे स्थान के निकट पूर्व, या उत्तर दिशा में बृहत् जलाशय हो, एवं जिस
स्थान के समीप में क्षीरी, कण्टकी, और कटु औषधि वृक्ष न हों, ऐसा स्थान
वास के लिये पसन्द करे ॥ १, २ ॥

गौरपाथ्सु ब्राह्मणस्य लोहितपाथ्सु क्षत्रियस्य कृष्ण-
पाथ्सु वैश्यस्य । ३।४।५। स्थिराघात मेकवर्ण मशुष्क मनु-
षर ममरुपरिहित मकिलिनम् ॥ ६ ॥

पांसवो रेणवः । एवं पांसुपरीक्षां प्रकृत्य तत्र तत्र ब्राह्मणादयो वास्तुनि-
र्माणं कारयेयुरिति भावः । ३-५ । ‘स्थिराघातं’ स्वरूपाघातेनैव यन्नावटीभवेत्
तत् । ‘एकवर्णं’ क्वचिद्वीर मेवं बहुवर्णत्वं न दृश्यते यत्र, तादृशम् । ‘अशुष्कं’
यत्रोत्पद्यमाना औषधयो न शुष्काः स्युः, तथाविधम् । ‘अनूषरं’ यत्रोप्तं बीजं
प्ररोहेदेव, तादृशम् । ‘अमरुपरिहितम्’ मरुभूमिभिः अवेष्टितम् । ‘अक्लिन्नम्’
क्लिन्नं सजलम्, तद्विपरीतम् । एवम् अवसानं जोषयेते-त्येव ॥ ६ ॥

भा०:-जिस स्थानकी धूलि का रंग गौर, ब्राह्मण लोग अपने लिये ऐसीही
वास भूमि स्वीकार करें; क्षत्रिय लोगों के लिये लाल रंगकी धूली वाली वास
भूमि उपयुक्त एवं वैश्यगण काली सही वाली वास भूमि बनावें । ॥३-५॥
जिस स्थान में थोड़े चोट वा आघात से भूमि धस न पड़े, जिस स्थान
की धूलि अनेक रंग की न दीख पड़े, जिस स्थान में किसी फूल के पंड़
रोपने से वह सूख जावे, जिस स्थान में शस्य आदि के उपजने की शक्ति
भी हो, जिस के प्रायः चारो ओर मरु भूमि न हों, एवं जिस स्थान में जल
न हो,—ऐसी भूमि वासार्थ लेवे ॥६॥

दर्भसम्मितं ब्रह्मवर्चसकामस्य बृहत्तृणैर्बलकामस्य मृ-
दुतृणैः पशुकामस्य । ७-६ ॥

‘ब्रह्मवर्चसकामस्य’ ब्राह्मणस्य ‘दर्भसम्मितं’ कुशाबहुलं स्थानं स्यात् त-
थाच दैवं पित्र्यं वा कर्म कर्तुं कुशाहरणाय क्लेशो न भवेत् । ‘बलकामस्य’ क्ष-
त्रियस्य ‘बृहत्तृणैः’ आकीर्णं स्थानं मुचितम्, तथाचाश्वदीनां भोजनं सुनभं
स्यात् । ‘पशुकामस्य’ वैश्यस्य मृदुतृणैः परिव्याप्तं स्थानं वासयोग्यम्, तथाच
पशुचारणं सुकरं भवेदिति ॥ ७-६ ॥

भा०—जिस स्थान में समधिक कुश जन्मता हो, ऐसा स्थान ब्राह्मण के लिये
वासोपयोगी है, जिस स्थान में घोड़ा आदि के खाने योग्य बड़ी घास आदि
बहुत पाई जावे, ऐसी भूमि क्षत्रियों के रहने योग्य है । और जिस स्थान में
कीमल घास हों, चारण (चराने के लिये) भूमि के लिये चिन्ता न करना
पड़े, ऐसी भूमि वैश्यके लिये उपयुक्त है ॥ ७-६ ॥

शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा यत्र वा श्वभ्राः
स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखाः स्युः । १० । अनुद्वारञ्च ॥ ११ ॥

शादा इष्टका उच्यते, तत्सम्मितम् चतुष्कोणं नित्यर्थः । मण्डलं वर्तुलं
मुच्यते, मध्योन्नतं क्रमादभितो निम्नं यत्र, तद्द्वीपं मुच्यते । तथाच द्वीप-
मिव मध्योच्चं वर्तुलं सपि स्थानं न दोषाग्रहम् । अपि ‘वा’ ‘यत्र’ स्थाने ‘स्वयं’
खाताः’ अकृत्रिमाः ‘सर्वतोऽभिमुखाः’ ‘श्वभ्राः’ गर्ताः ‘स्युः’ तत् अचतुरस्त्र स-
द्वीपवर्तुलं सपि वासाहं भिति । १० । ‘अनुद्वारञ्च’ गृहे मनुष्यादिप्रवेशाय वा-
युप्रवेशाय वा यावन्ति द्वाराणि स्युः, तेषां सर्वेषां मेव समसूत्रपातानुकृतानि द्वा-
राणि यत्र, तादृशं गृहं कुर्वीतेत्येव । नात्र नेत्यनुवर्तते अप्रसक्तस्य निषेधाप्रवृत्तेः ११

भा०—रहने के मकान का स्थान चतुष्कोण हो; गोल होनेसे भी हानि नहीं;
किन्तु उसका मध्यभाग क्रम से ऊंचा हो । यदि ऐसा स्थान भी दुर्लभ हो,
तो त्रिकोण, बहुकोण, असमकोण, प्रभृति स्थान भी मकान के लिये स्वीकार
करे, परन्तु यदि ऐसे स्थानके चारों ओर अकृत्रिम कोई गड़हा हो ॥१०॥ घरमें
चाहे मनुष्य आदि के प्रवेश के लिये जितने दरवाजे हों, उन दरवाजे आदि
के समसूत्रपात से, उन के समान अन्य द्वार भी रहना चाहिये ॥ १ ॥

तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीतोदग-
द्वारं पुत्रपशुकामो दक्षिणाद्वारं सर्वकामो न प्रत्यगद्वारं

कुर्वीत । १२ । गृहद्वारं यथा न संलोकि स्यात् ॥ १३ ॥

‘तत्र’ तादृशे स्थाने ‘यशस्कामः’ ‘यलकामः’ पुरुषः ‘प्राग्द्वारम्’ ‘अवसानं’ वासगृहं ‘कुर्वीत’ । पुत्रकामः पशुकामश्च पुरुषः ‘उदग्द्वारम्’ अवसानं कुर्वीत ‘सर्वकामः’ पुरुषः ‘दक्षिणाद्वारम्’ अवसानं कुर्वीत । ‘प्रत्यग्द्वारं पश्चिमद्वारं अवसानं न कोऽपि कुर्वीतिति । १२ । तथा कुर्वीतिति ॥ १३ ॥

भा०—ऐसे स्थान में रहने का घर बनावे । उन में से जो विशेषतः यश और यल की इच्छा करे, वे मकान का दरवाजा पूर्वमुख रखें । जो विशेषतः पुत्र और पशु की इच्छा करें, वे उत्तरमुख (रुख) दरवाजा बनवावें; जिन्हें कोई विशेष कामना न हो, किन्तु सब ही प्रकार की कामना हो, वे दक्षिणमुख मकान करें, परन्तु पश्चिममुख मकान का दरवाजा कभी न करे ॥ १२ ॥ मकान के भीतर के घर के द्वार आदि इसप्रकार रहें, जिस में घर के भीतर के मनुष्य आदि बाहरी दरवाजे से न दीख पड़ें ॥ १३ ॥

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोधमपराद् देशादुत्तराञ्चाप्युदुम्बरम् ॥ अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद् ब्रूयात् प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसम्पीडा मक्ष्यामय मुदुम्बरात् ॥ आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षोयमदेवतः । न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः ॥ १४ ॥

अश्वत्थः—चलदलः, स च आदित्यदेवतः, तं पूर्वतः स्वावासस्य, वर्जयेत् ; पूर्वतः स्थितात् अश्वत्थात् अग्निभयं विद्यात् । प्लक्षः—पर्कटी, स च यमदेवतः, तं दक्षिणतः स्वावासस्य वर्जयेत् ; दक्षिणतः स्थितात् प्रमायुकान् ह्मितायुक्कान् अत्पायुषः स्युस्तत्र वामिन इति ब्रूयात् । न्यग्रोधः—वटः, स च वृक्षः ‘वारुणः’ वरुणदेवतः, तम् अपराद्देशात् पश्चिमात् प्रदेशात् स्वावासस्य, वर्जयेत् ; पश्चिमस्थितात् न्यग्रोधात् शस्त्रसम्पीडा भवेत् । उदुम्बरः—यज्ञवृक्षः, स च प्राजापत्यः प्राजापतिदेवतः, तम् उत्तरात् स्वावासस्य वर्जयेत्, उत्तरस्थितात् उदुम्बरात् अक्ष्यामय मक्षिरीगो भवेदेवेति ॥ १४ ॥

भा०—पीपल के पेड़ की देवता सूर्य, मकान के पूर्वदिशा में पीपल वृक्ष न रखे, पूर्वभाग में पीपल के पेड़ रहने से अग्नि का भय रहता है । पाकड़ (पेड़) की देवता यम, मकान के दक्षिणभाग में पाकड़ का पेड़ रहने से आयु की हानि होती है । वट वृक्ष की देवता वरुण है, घरके पश्चिमभाग में वटका पेड़

[प्र० ४ खं० १ सू० १३-२४] वास्तुनिर्माण कामकर्मवास्तुयागश्च ॥ २०१९७-

रहने से शस्त्राघात का सन्देह रहता है। गूलरवृक्ष की देवता 'प्रजापति' हैं अतएव सकान से उत्तरभाग में गूलर रहने से, नेत्ररोग होता है ॥ १४ ॥

तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीतैताश्चैव देवता अभियजेत ॥ १५ ॥

'तान्' अश्वत्थादीन् पूर्वादिष्ववस्थितान् 'अस्वस्थानस्थान्' स्वस्थानेभ्य उत्थाप्यान्यत्राभिलषितस्थानेषु संस्थितान् 'कुर्वीत'; अपि 'च' तत्तदुत्थानकाले 'पुताः देवताः' तत्तद्वृक्षदेवताः 'एव' 'अभियजेत' होमादिभिरर्चयेत् ॥ १५ ॥

भा०-अनुपयुक्त स्थान में समुत्पन्न पीपल आदि के पेड़ों को उखाड़ कर उपयुक्त स्थानमें रोप कर उस रवृक्षकी उन २ देवताको होमादिसे पूजाकरे ॥१५॥

मध्येऽग्निमुपसमाधाय कृष्णया गवा यजेताजेन वा श्वेतेन सपायसाभ्यां पायसेन वा ॥ १६-१९ ॥

'मध्ये' वास्तुभवनस्य, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय' पूर्वोक्तविधिना प्रश्वाल्य 'कृष्णया गवा' कृष्णायाः गोः मांसादिना 'यजेत'-इति प्रथमः कल्पः । 'श्वेतेन अजेनवा' यजेतेति द्वितीयः । 'सपायसाभ्याम्' गोऽजाभ्याम्, पायसेन च गोऽजयो रन्यतरेण चेति तृतीयः । 'पायसेन' पायसमात्रेणैव 'वा' इत्यधमः कल्पः ॥ १६-१९ ॥

भा०-वास्तु भूमि पर आग जलाकर काली गौ के मांस आदि से याग करे, सफेद छाग के मांस द्वारा भी यह 'याग' हो सकता है, काली गौ का मांस, या सफेद छाग के मांस के साथ यदि 'पायस' हो तो और भी उत्तम हो, न हो तो केवल पायस ही से याग करे ॥ १६-१९ ॥

वसा माज्यं माथ्सं पायस मितिसंयूयाष्टगृहीतं गृही-
त्वा जुहुयाद्वास्तोष्पत इति प्रथमा वामदेव्यर्च्यो महाव्याहृतयः
प्रजापतय इत्युत्तमा । २०-२१, २२, २३-२४ ॥

'इति' इमानि वसादीनि चत्वारि 'संयूय' सम्यक् मिश्रीकृत्य मिश्रितं तत् 'अष्टगृहीतं' चतुर्गृहीतं मिव गृहीत्वा 'जुहुयात्' । तत्र "वास्तोष्पते प्रतिजानीत्यस्मान् तस्मादेषो अमसीवो भवानः । यते महे प्रतिसन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे" ॥१॥ (म० ब्रा० २, ६, १)-इति मन्त्रेण 'प्रथमा' आहुतिः । ततो 'वामदेव्यर्च्यः' तिस्रः प्रयोक्तव्याः । ततश्च 'महाव्याहृतयः' प्रयोक्तव्याः । ततः 'प्रजापतये'-इति एतन्मात्रेणैव मन्त्रेण 'उत्तमा' आहुतिर्होतव्येति । २०-२४ ॥

भा०-वसा, घृत, मांस, और पायस, इन चार (सामग्री) को एकत्र मिला कर (जिस प्रकार चार बार लेना कहा गया है, उसी प्रकार) प्रतिवार ८ यहण करता हुआ होम करे। उन में से "वास्तोष्पते" मन्त्र से पहिली आहुति

देवे; अनन्तर 'वामदेश' संज्ञक तीन मन्त्रों से, उमके पीछे महाव्याहृति आदि का प्रयोग करे; पीछे "प्रजापतये"—इस मन्त्र से शेष आहुति देवे ॥ २०-२४ ॥

हुत्वा दश बलीन् हरेत् प्रदक्षिणं प्रतिदिशमवान्तरदे-
शेष्वानुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ॥ २५ ॥

'हुत्वा' उक्तवास्तुहोमानन्तर मेव 'प्रतिदिशं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा कृत्वा, 'अवान्तरदेशेषु' कोणेषु व्यतिहरो यथा न भवेत् तथा च कृत्वा, 'आनु-पूर्व्येण' एव 'दश' सङ्ख्याकान् 'बलीन्' 'हरेत्' ॥ २५ ॥ बलीनां स्थानानि मन्त्रांश्चोपदिशति-

भा०:-वास्तु होम करके उम के पीछे प्रदक्षिणानुसार प्रति दिशा में और प्रति कोण में क्रम से १० बलि प्रदान करे ॥ २५ ॥

इन्द्रायेति पुरस्ताद् वायव इत्यवान्तरदेशे यमायेति द-
क्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तरदेशे वरुणायेति पश्चान्महारा-
जायेत्यवान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्रायेत्यवान्तरदेशे
वासुक्य इत्यधस्ताद्दूर्ध्वं नमोब्रह्मण इति दिवि ॥ २६-३३ ॥

सुस्पष्टान्येतानि ॥ २६-३३ ॥

भा०:-रहने के मकान से पूर्व दिशा में, तत्पश्चात् अग्निकोण आदि आठ दिशाओं में, तत्पश्चात् नीचे ऊपर, इन दश दिशाओं में 'इन्द्राय' प्रभृति दश मन्त्रों से बलि प्रदान करे ॥ २६-३३ ॥

प्राच्यदूर्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः संवत्सरेसंवत्सरे
नवयज्ञयोर्वा ॥ ३४, ३५, ॥ ७ ॥

प्राच्यादिदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः 'अहरहः' प्रतिदिन मेव बलिहरणं कर्त्त-
व्यम्; एवञ्चैषः 'नित्यप्रयोगः'—इति कस्यचिन्मतम्। स्वमते तु संवत्सरे सम्बत्सरे
यदा यदा नवयज्ञौ व्रीहियज्ञौ यवयज्ञश्च भवतः तदा तदैवासा सपि तिसृणां
बलिहरणं मिति शम् ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके सप्तमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ४१॥

भा०:-इन्द्र देवता के लिये ऊपर की पूर्व दिशा में ब्रह्म देवता के लिये,
एवं नीचे की वायुकि देवता के लिये, प्रतिदिन बलिकर्म करे, या प्रति
वर्ष जिस समय नया अनाज हो, और जिस समय यव आदि शस्य
नूतनहों उस २ नवाज समयमें इनतीन बलिके करने सेभी होसकता है ॥ ३४-३५ ॥
गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्यायके सप्तमखण्डका भाषानुवादपूरा हुआ ॥ ४१ ॥

[प्र० ४ खं० १ मृ० २५-३५ खं० ८ मृ० १-४] अत्रणाग्रहायणी शेषकर्म ॥ २-१९८-

अत्रणाग्रहायणीकर्मणोरक्षताञ्छिष्टा प्राङ्बोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधाय हये राके इत्येकैकयाञ्जलिना जुहुयात् ॥ १ ॥

पुरस्तादुक्ते 'अत्रणाग्रहायणी' कर्मणी । तयोः अक्षतबलपञ्च विहिताः । सत्रसर्वैरेवाक्षतेर्बलिहरणं सकृत्वा कतिचित् 'अक्षतान्' 'शिष्टा' बलिशेषभूतान् रक्षित्वा तेरेवाक्षतैः 'अञ्जलिना' "हये राके सिनीवालि सिनीवालि पृथुष्टुके । सुभद्रे पश्ये रेवति यथा नो यज्ञ आवह (स्वाहा) ॥२॥ ये यन्ति प्राञ्चः पन्थानो य उ उत्तरत आययुः । ये चेमे सर्वे पन्थान स्तेभिर्नो यज्ञ आवह (स्वाहा) ॥३॥ यथा यन्ति प्रपदो यथा मासा अहर्जरम् । एवं मा श्रीधातारः समवयन्तु सर्वतः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ यथा समद्रुथं स्त्रवन्तीः समवयन्ति दिशो दिशः । एवं मा सखायो ब्रह्मचारिणः समवन्तु दिशो दिशः (स्वाहा) ५ (म० ब्रा० २, ६, २-५)" -'इति' सूक्तान्तर्गतानां चतसृणां सूचाम् 'एकैकया' 'जुहुयात्' । स च होमः, 'ग्रामात्-प्राङ् वा उदङ् वा निष्क्रम्य' 'चतुष्पथेऽग्निम् उपसमाधाय' तत्रैव कर्त्तव्य इति ॥१॥

भा०—इसके पहिले 'अत्रणाकर्म' और 'आग्रहायणी कर्म' कहे गये हैं । उक्त दोनों कर्मों में 'अक्षतबलि' भी कहा गया है । इस अक्षतबलि के समय समस्त अक्षत आदि बलि कार्य में व्यवहार न करके, उस में से थोड़ा अक्षत अवशिष्ट रखे । इसी को एक २ अञ्जलि कर 'हये राके' इत्यादि चार मन्त्रों से आहुति देवे । यह होम गांव से बाहर निकल कर पूर्व, या उत्तरदिशा में किसी चौराहे पर आग जला कर, करे ॥ १ ॥

प्रादुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूध्वं मुदीक्षमाणो देवजनेभ्यस्तिर्यङ्द्विद्वतरजनेभ्योऽर्वाङ्वेक्षमाणोऽनपेक्षमाणः प्रत्येत्याक्षतान् प्राश्रोयादुपेतैरमात्यैः सह ॥ २—४ ॥

'उत्क्रम्य' उत्क्रमणं व्युत्क्रमणं विपरीतगमनं प्रतिगमनारम्भणमिति यावत्, तत् कृत्वा तत्र पश्येत् यत्र कुत्रचित् 'प्राङ्' प्राङ्मुखः, 'ऊर्ध्वम्' उपरि 'उदीक्षमाणः' 'देवजनेभ्यः' देवगणानुद्दिश्य "वसुवन एधि वसुवन एधि वसुवन एधि" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ६) -'इति' मन्त्रं पठेत् । ततः 'तिर्यङ्' गृहगमनाय पश्चिमाभिमुखो दक्षिणाभिमुखो वा भवितुं तिरश्चीनः सन्, 'अर्वाङ्' अधः 'अवेक्षमाणः' 'द्विद्वतरजनेभ्यः' देवातिरिक्तप्राणिगणानुद्दिश्य तमेव मन्त्रं पठेत् । ततः 'अनपेक्षमाणः' पश्चादवलोकनं सकृद्वै प्रत्येत्य' स्ववासं 'उपेतैः' तदानीं तत्रो

पस्थितैः 'अमात्यैः' बन्धुवर्गैः 'सह' 'अज्ञतान्' होमावशिष्टान् 'प्राप्नी यात् भुञ्जीत २-४

भा०:-उसके पश्चात् मकान में फिरने के लिये, चल कर रास्ते में किसी एक स्थान में ऊपर मुंह होकर, देवताओं के लिये 'वसुधन एधि' इस मन्त्र का पाठ करे। पुनः पश्चिम मुख, या दक्षिणाभिमुख। अर्थात् घर के सम्मुख होने ही से टेढ़ा होना पड़ेगा, उसी तिरछा होते समय नीचे देखकर, अन्यान्य प्राणियों के लिये, पुनः इस मन्त्र का पाठ करे। अनन्तर पीछे न देख कर अपने स्थान पर आकर, उस समय उस स्थान में जो सब आत्मीय लोग उपस्थित हों, उन के साथ, होम से बची सामग्री भोजन करे ॥ २-४ ॥

स्वस्त्ययनम् ।५। वशङ्गमौ शङ्खश्चेति पृथगाहुती व्रीहियव-
होमौ प्रयुञ्जीत यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मै नित्यप्रयोगः ।६,७।

उक्तेन अवगाग्रहायणीशेषाक्षतबलिकर्मणा 'स्वस्त्ययनं' फलं भवेत्' तथा च स्वस्त्ययनकाम एवास्याधिकारी । ५ । अथ प्रसादकामकर्म ।- 'यस्य' जनस्य 'आत्मनि' स्वे प्रसादम् 'इच्छेत्' 'तस्मै' तदुद्देशतः "वशङ्गमौ देवयानी युवश्चस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति, एवं ममासौ वशमेतु (स्वाहा) ॥१॥ (म० ब्रा० २, ६, ६)-शङ्खश्च मन आयुश्च देवयानी युवश्चस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति एवं ममासौ वशमेतु (स्वाहा)" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ८)-'इति' आभ्यां मन्त्राभ्यां 'व्रीहियवहोमौ' व्रीहियव द्रव्यकहोमौ 'पृथगाहुती' विभिन्नद्रव्यहवनौ 'प्रयुञ्जीत' कुर्वीत । पृथगाहुतीत्युक्त्या वशङ्गमाविति मन्त्रेण व्रीहिहोमः शङ्खश्चेति मन्त्रेण च यवहोम इति । 'नित्यप्रयोगः' तत्प्रसादलाभपर्यन्तमहरह एवैषः प्रयोगः कर्त्तव्य इति ॥ ६,७ ॥

भा०:-उक्त अवगा और आयग्रहायणी दोनों कर्मों के अविशिष्ट अक्षत-बलि कर्म का फल-स्वस्त्ययन है, इसलिये जो लोग विशेष 'स्वस्त्ययन' चाहें, उन्हीं को यह करना चाहिये ॥५॥ जिस किसी व्यक्तिकी प्रसन्नता चाहे वह 'वशङ्गमौ' मन्त्र से व्रीहिहोम और 'शङ्खश्च' मन्त्र से यवहोम करे। जबतक उद्देश्य सिद्ध न हो, तबतक प्रतिदिन यही प्रयोग, अनुष्ठान करे ॥ ५-७ ॥

एकाक्षर्याया मर्द्धमासव्रते द्वे कर्मणी ।८। पौर्णमास्याश्चरात्रौ
खदिरशङ्कुशतं जुहुयादायुष्काम आयसान् वधकामः ॥९,१०॥

'एकाक्षर्यायाम्' "आकूतीं देवीं मनसा प्रपद्ये यज्ञस्य मातरश्च सुहवा मे अस्तु । यस्यास्त एक मक्षरं परश्च सहस्रा अयुतं च शाखास्तस्यै वाचे निहवे जुहोम्या मा वरो गच्छतु श्रीर्यशश्च (स्वाहा) ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ९)"

[प्र० ४ खं० ८ सू० ५-१२] प्रसादकामकर्मं शङ्कुशतस्थण्डिल होमौ च ॥ २७५
इत्यस्या सृष्टि 'द्वे कर्मणी' अनुपदवदयमाखे विद्यते, ते च द्वे एव 'अर्द्ध-
मासव्रते' वेदितव्ये । ८ । तत्र प्रथमं कर्म शङ्कुशतहवनं नाम, तच्च कामना-
द्वयभेदात् द्विविधम्, तद् द्विविधमेवोपदिशति । स्वस्य अपरस्य वा 'आयु-
ष्कामः' पुरुषः 'खदिरशङ्कुशतं' खादिराणां शङ्कूनां कीलकानां शतं जुहुयात्,
स्वस्य अपरस्य वा अथकामश्चेत् 'आयसान्' लोहविकृतान् शङ्कून् शतं जुहुया-
दिति । कदेत्युच्यते,—'पौर्णमास्यां रात्रौ' इति । ९ । १० । अथ स्थण्डिलहोमः ।

भा०:—'आकूतिं देवी' इम मन्त्र को एकाक्षरी कहते हैं । इस एकाक्षरी
मन्त्र विषयक जो दो कर्म कहे जाने वाले हैं, उन्हीं दो कर्मों को 'अर्द्धमास-
व्रत' जानो ॥ ८ ॥ यदि अपनी या दूसरे की आयु बढ़ने की कामना हो, तो खैर
की १०० कील होम करे । और अपनी या दूसरे की आयु के हानि की इच्छा
हो, तो लोहे के १०० कीलकों का होम करे; ये दोनों कार्य पूर्णिमा की रात
में करे और इन में एकाक्षरी मन्त्र का व्यवहार करे । यही शङ्कुशत होम
नामक पहिला कर्म है ॥ ८, १० ॥

अथापरम् ॥ ११ ॥ प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य च-
तुष्पथे पर्वते वारण्यैः स्थण्डिलं प्रताप्यापोह्याङ्गारान् मन्त्रं
मनसानुद्रुत्य सर्पिरास्येन जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'द्वे कर्मणी'—इति, तत्र नवमदशमसूत्राभ्यां द्विविधं शङ्कुशतहवनं
मुक्तम्; 'अथ' क्रमप्राप्तम् 'अपरम्' द्वितीयं कर्म स्थण्डिलहवनं मिदमुपदि-
श्यते । अपिचात्रापि द्वैविध्यमस्ति । ११ । 'ग्रामात्' स्ववासस्थानात् 'प्राङ्'
पूर्वाभिमुखः, 'उदङ् वा' अथवा उत्तराभिमुखः 'निष्क्रम्य, निर्गतो भूत्वा, 'चतु-
ष्पथे पर्वते वा' उपस्थितः सन्, 'आरग्यैः गोमयैः', 'स्थण्डिल' लोहपात्र 'प्र-
ताप्य' प्रतप्तं कृत्वा, 'अङ्गारान्' गोमयकृतान् स्थण्डिलस्पृष्टान् 'अपोह्य' दूरी-
कृत्य, 'मन्त्रं' प्रकृत मेकाक्षरीनामकं 'मनसा' 'अनुद्रुत्य' द्रुतं पठित्वा तत्रैव
प्रतप्ते स्थण्डिले 'आस्येन' स्वमुखेन 'सर्पिः' घृतं जुहुयात् ॥ १२ ॥

भा०:—पहिले ही (८ सं० सूत्र में) कहा गया है कि 'एकाक्षरी' मन्त्र
द्वारा दो कर्म सिद्ध होते हैं, उनमें से इसके पूर्व दो प्रकार 'शङ्कुशत होम
कर्म' कहा गया है । अब 'स्थण्डिल होम' नामक द्वितीय कर्म कहा जाता है ।
यह दो प्रकार का है ॥ ११ ॥ गांवकी वस्ती से पूर्व, या उत्तर जाकर किसी एक
चौराहे, या पहाड़ पर जङ्गली कगड़े से एक स्थण्डिल (वेदी) अच्छी प्रकार

तपा कर. उस अङ्गार आदि को हटाकर, इस एकदारी मन्त्र को मन ही मन शीघ्र पाठ कर. अपने मुंह में घी लेकर उस से होम करे ॥ १२ ॥

उवलन्त्यां द्वादशग्रामाः धूमे त्र्यवराहुर्या अमोघं कर्मत्याचक्षते ॥ १३-१५ ॥

तादृशे होमे हुते 'उवलन्त्यां' शिखायां यजमानस्य 'द्वादशग्रामाः' लभ्याः भवेयुः, प्रज्वलनाभावेन 'धूमे' मति त्र्यवराहुर्याः' अवराद्ध्यंशब्दोऽन्यूनवचनः अतो न्यूनतोऽपि त्रयो ग्रामाः भवेयुः, उवालाधूमयोः अल्पत्वबहुत्वाभ्यां लब्धव्य-ग्रामसंख्यानामतपत्वबहुत्वं। एवञ्चतत सर्वथाप्यनिष्फल मिति 'अमोघं कर्म' 'इति' नाम 'आचक्षते' वृद्धाः। तदेतत् 'स्थण्डिलहोम'-नाम एकाक्षर्या द्वितीयं कर्म ॥ १३-१५ स्थण्डिलहोमस्यैव प्रकारान्तरेण फलाभिरजन-कत्वमुच्यते।

भा०:-उस आहुति के देने ही, यदि शीघ्र उवाला उठे तो, अनुष्ठाता को १२ ग्राम लाभ होंगे और यदि कुछ भी उवाला न हो, वरण धूम दीख पड़े, तौभी लाभ गांव निलेंगे। (सर्वथा निष्फल न होगा) इसी कारण बूढ़े लोग इसको 'अमोघ कर्म' कहते हैं। यह भी 'अर्तुमासत्र' कहलाता है ॥ १३। १४। १५॥

वृत्तपविच्छित्तिकामो हरितगोमयान् सायं प्रातर्जुहुयात् १६

यजमानः यदि 'वृत्तपविच्छित्तिकामः' वृत्तिजीवनोपायः तस्य विच्छेदो न स्यात् इत्येवङ्कामः स्यात् तर्हि तत्रैव आरण्यगोमयैः प्रतप्ते स्थण्डिले भर्षि-होममिति मयतः 'हरितगोमयान्' सद्योविसृष्टगोमयान् तेनैव आस्येनैव 'सायं' प्रातः' जुहुयात्' इति समाप्त मेकाक्षरीकृत्यम् ॥ १६ ॥ अथ पण्यहोमः।

भा०:-यजमान अगर चाहे कि 'हमारी जीविका का नाश न हो', तो जङ्गली गोबरसे तप्त किथी हुयी वेदीपर, घी होम न करके, सायं और प्रातः-काल तात्कालिक गोबर को मुंह में रक्ख, उससे होम करे ॥ १६ ॥

त्रिरात्रोपोषितः पण्यहोमं जुहुयादिदमहमिमं विश्वकर्माणमिति वाससस्तन्तून् गोर्वालानेव मितरेभ्यः पण्येभ्यः ॥ १७-२० ॥

कास्येषु कर्मसु त्रिरात्राभोजनं विहितम् (प्र०४ खं०५ सू०९) पण्यहोमोऽपि कास्यं कर्म, अत्रापि तत् प्राप्त मिति विशेषं विधत्ते, 'त्रिरात्रोपोषितः' उपवासस्तु अल्पभोजनं न त्वभोजनमित्युक्तं पुरस्तात् (प्र०खं०५सू०१३-२६, प्र१ खं० ६-सू०१-८) 'पण्यहोमं' पण्यं विक्रयद्रव्यं, तस्मै होमः पण्यहोमस्तम्। "इदमहमिमं विश्वकर्माणं श्रीवत्स मभिजुहोमि (स्वाहा") ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २-५. १०) इति मन्त्रेण 'जुहुयात्'। किं जुहुयादिति होमद्रव्यं विधत्ते, 'वाससः'

[प्र०४खं०८सू०१६-२२, खं०८ सू०१-२] पश्यहीमो यशसादिकामकर्माणि च ॥ २०१
 वासः पश्यं चेत् तस्य 'तन्तून्' दशासूत्राणि जुहुयात् । गौः पश्यं चेत् तस्य
 'गोः' 'वालान्' पुच्छजीमानि जुहुयात् । 'इतरेभ्यः' अजाविकादिभ्यः पश्येभ्यो-
 ऽपि 'एवम्' एव एकदेशं लोमादिक मुद्घृत्य जुहुयादित्येव । ११-२० । अथ यज्ञ-
 स्कामसहायकामयोः यजनीयप्रयोगौ ॥

**पूर्णहोमो यजनीयप्रयोग इन्द्रामवदादिति च यशस्कामः
 पूर्वांशसहायकाम उत्तराम् ॥ २१, २२, ॥ ८ ॥**

'पूर्णहोमः' "पूर्णहोमं यज्ञसे जुहोमि, योऽस्मै जुहोति वर मस्मै ददाति, वरं
 वृणे यशसा भामि लोके (स्वाहा)" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ६, ११) '—इति होमः
 "इन्द्रामवदात् तमो वः परस्तात् । अहं वो ज्योतिर्मा मभ्येत सर्वे (स्वाहा)"
 ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १२) "—इति' मन्त्रेण 'च' होमः 'यजनीयप्र-
 योगः' (प्र० ४ खं० ५ सू० १२) बोध्यः । तत्र च 'यशस्कामः' चेत् 'पूर्वाम्' ऋचम्
 प्रयुञ्जीत 'सहायकामः' चेत् 'उत्तराम्' ऋचम् प्रयुञ्जीतेति । २१, २२ ॥ ८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रचतुर्थप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥८॥

भा०—यदि ऐसी इच्छा हो कि इस जो व्यवहार करें, उस की उन्नति हो
 उस २ द्रव्य में का, एक २ अंग लेकर जैसे—कपड़े का व्यवसाय करने को प्र-
 वृत्त हो, तो कपड़े के किनारे से सूत निकाल ले, गौ का व्यवसाय हो तो गौ
 की दुम में से कुछ वाल ले इत्यादि "इदमहमिनं" मन्त्र से होम करे ॥११,२०॥

भा०—"पूर्ण होमं यज्ञसे जुहोमि" इस मन्त्र से होम करे और "इन्द्रामव-
 दात्" इस मन्त्र से होम करे, ये दोनों होम 'यजनीयप्रयोग' हैं, उन में से यज्ञ
 की इच्छा होने पर, प्रथम मन्त्र का प्रयोग करे और 'सहायता' की कामना
 हो तो शेष मन्त्रका व्यवहार करे ॥ २१ । २२ ॥ ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अष्टम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥४॥८॥



**पुरुषाधिपत्यकामोऽष्टरात्र मभुक्तौदुम्वरान्तस्त्रुचमसे-
 धमानुपकल्पयित्वा प्राङ् वादङ् वा ग्रामान्विष्क्रम्य चतुःप-
 थेऽग्निं मुपसमाधायाज्यमादित्यमभिमुखो जुहुयादङ् वा
 एकच्छन्दस्यंशं श्रीर्वा एपेति च ॥ १, २ ॥**

पुरुषाणां सैनिकानां साधारणानां वानिकेषाम् आधिपत्यं यदि कामयेत,
 तर्हि तेन अष्टरात्रं भोजनं कर्तव्यम्, तत्रैव चाष्टरात्रे औदुम्बरान् कुवादीन्

प्रकल्प्य तदष्टरात्रान्ते तान् स्तुवादीन् गृहीत्वा 'प्राङ् उदङ् वा ग्रामात् निष्क्रम्य' यं कञ्चिदपि चतुष्पथं प्राप्य तत्रैव 'अग्निम् उपसमाधाय' 'आदित्यं' द्युस्थम् 'अभिमुखः' "सन् अन्नं वा एकः कृन्दस्य मन्त्रं श्लोकं भूतेभ्यश्च दधति (स्वाहा)" ॥१३॥ (म० ब्रा० २, ६, १३) इति मन्त्रेण 'आज्यं जुहुयात्'। ततः "श्रीर्वा एषा यत्सत्त्वानो, विरोचनो मयि सत्स्व मयदधातु (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १४) 'इति' मन्त्रेण 'च' पुनरपि आज्यमेव जुहुयादिति ॥ १, २ ॥

भा०:-यदि किसी की ऐसी इच्छा हो कि हमें 'पुरुषाधिपत्य' हो (सेनापति, अभूति बड़ा ओहदा, या बहुत लोग हमारा मान्य करें) तो, वह व्यक्ति आठ रात भोजन न करे, इसी बीच में गूलर की लकड़ी का स्तुवा चमस और ईधन संग्रह कर, सब को अपने साथ लेकर गांव के पूर्व उत्तर, बाहर जाकर किसी चौराहे पर अग्निस्थापन कर "अन्नं वा" मन्त्रसे घीकी आहुति देवे एवं उसी के पश्चात् लगातार "श्रीर्वाएष" इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥१, २॥

अन्नस्य घृत मेवेति ग्रामे तृतीयां गोष्ठे पशुकामो विदूयमाने चीवरम् ॥ ३-५ ॥

ततः 'ग्रामे' प्रत्यागत्य "अन्नस्य घृतमेव रमस्तेजः सम्पत्कामो जुहोमि (स्वाहा)" ॥१५॥ (म० ब्रा० २, ६, १५) 'इति' मन्त्रेण 'तृतीयाम्' आहुतिं जुहुयात् आज्यस्यैव । स च पुरुषाधिपत्य कामः पुरुषः यदि 'पशुकामः' अपि तर्हि ग्रामे होतव्यां ता माहुतिं 'गोष्ठे' एव जुहुयात् । तत्रापि तद् गोष्ठं 'विदूयमानम्' आर्द्रं चेत् तत्र 'विदूयमाने' गोष्ठे 'चीवरं' लौहचूर्णं जुहुयात् नाज्य मिति ॥ ३-५ ॥

भा०:-अनन्तर ग्राममें वापस आकर "अन्नस्य घृत मेव" इस मन्त्रसे तृतीय आहुति देवे । उस पुरुषाधिपत्य चाहने वाले व्यक्ति को, यदि यह भी इच्छा हो कि मुझे बहुत पशु हों, तो उस तृतीय आहुति को गोशाला में देवे । और यदि वह गोशाला गीली हो, तो उस स्थान में घी की तीसरी आहुति न करके, लौह चूर्ण होम करे (घी के बदले में) ॥ ३, ४, ५ ॥

प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् बध्नीतोपेत्य वसनवतः स्वाहाकारान्ताभिः सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम् ॥६, ७॥

'अध्वनि' मार्गे 'प्रतिभये' भयहेतु उपस्थिते 'वसनवतः' सहचारिणो पान्थजनान् उपेत्य तत्समीपं गत्वा 'स्वाहाकारान्ताभिः' ताभिरेव "अन्नं वा" (म० ब्रा० २, ६, १३-१५) इत्यादिभिस्त्रिसृभिः ऋग्भिः 'वस्त्रदशानां ग्रन्थीन्' 'बध्नीत' । एतेन कर्मणा

‘सहायानां’ सहचारिणा मपि पणिकानां ‘स्वस्त्ययनं’ भवेत्, किम्पुनः भयप्राप्तस्यै-
कस्य तस्येति ॥ ६, ७ ॥ अथ आचितसहस्रकामकर्म—

भा०—यदि रास्ते में दैवयोग से एकाएक किसी प्रकार का भय आपड़े,
तो ऋटिति सहचारी मुसाफिर के पास हो कर पूर्वोक्त “अन्नं वा” इन तीन
मन्त्रों से स्वाहाकारान्त अप करते हुए कपड़े के किनारे के सूत आदि बांधे।
इस से उक्त भय भीत व्यक्ति का भय तो दूर हो ही गा, किन्तु उस के साथी
पथिक गण को भी मङ्गल होगा ॥ ६, ७ ॥

आचितसहस्रकामोऽक्षतसत्त्वाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥८॥

ताभिस्तिसृभिः ऋग्भिः स्वाहाकारान्ताभिरेव, एकैकाहुतिर्होतव्येति च । ८

भा०—जो कोई सहस्र आचित (२५ मन अर्थात् एक गाढ़ी का बोझ) की कामना
करे वह तीनों मन्त्रों से अक्षत-सत्त्व की १००० आहुति देवे ॥ ८ ॥

पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥९॥

पशून् गवादीन् कामयते यः पुरुषः, सः ‘वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं
जुहुयात्’ स्वाहाकारान्ताभिस्ताभिस्तिसृभिरेवग्भिर्भरिति । ९। अथक्षुद्रपशुकामकर्म

भा०—यदि किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुँह गौ आदि बड़े २ पशु हों, तो
वह दो बड़ों के सुखे गोवर से उक्त तीन मन्त्र द्वारा १००० आहुति देवे ॥ ९ ॥

अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ॥ १० ॥

अविमिथुनयोः शुष्कैः पुरीषैरिति, ताभिस्तिसृभिः स्वाहाकारान्ता
भिरिति च । १० । अथ वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म—

भा०—जिस किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुँह भेड़ आदि छोटे २ पशु हों तो
वह दो भेड़ के सुखे गोवर से उक्त तीन मन्त्रों से १००० आहुति देवे । १० ।

**वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बूकान् सायंप्रातर्जुहुयात् क्षुधे
स्वाहा क्षुत्पिपासाभ्याथ स्वाहेति ॥ ११ ॥**

‘कम्बूकान्’ तुषान् ; फलीकरणाकक्षशानिति टीकान्तरम् । अन्यद् व्या-
ख्यात निवैव । ११ । अथ विषदोषनाशकामकर्म—

भा०—यदि किसी को यह इच्छा हो कि मेरी जीविका निरन्तर बनी रहे,
वह प्रतिदिन सायं प्रातःकाल “क्षुधेस्वाहा” मन्त्र से तुष की आहुति देवे । ११।
मा भैषीर्न मरिष्यसीति विषवता दष्ट मद्गिरभ्युक्षन् जपेत् ॥ १२ ॥

‘विषयता’ सर्वेषां, वृश्चिकादिना वा ‘दण्ड’ स्थानम् ‘अद्भिः अभ्युक्षन्’
 “मा भेषीनं मरिष्यमि जरदष्टि भंविष्यमि । रसं विषम्य नात्रिदं मुपं फेन मि-
 वास्यम्” १८ (म० ब्रा० २, ६, १८) इति मन्त्रं जपेत् ॥ १२ अथ स्नातकस्वस्त्ययनकर्म-

भा०-विषधर सांप आदि के हमने पर, उस काटेहुए स्थान को धोकर
 “माभैषीनं” इस मन्त्रका जप करे । इससे सब प्रकारके विषदोष दूर होंगे ॥ १२ ॥

**तुरगोपायेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्ड मुप-
 निदधीत स्वस्त्ययनार्थम् ॥ १३ ॥**

‘स्नातकः’ कृतसमावर्त्तनो द्वितीयाश्रमाय उद्युक्तः ‘संवेशनवेलायां’ शयन-
 सनये ‘स्वस्त्ययनार्थम्’ “तुरगोपाय मा नाय गोपाय मा । अशस्तिभ्यो अरातिभ्यः
 स्वस्त्ययन मसि ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १९)”-‘इति’ मन्त्रेण ‘वैणवं दण्ड’
 वंशयष्टिम् ‘उप’ समीपे स्वस्यैव ‘निदधीत’ स्थापयीत ॥ १३ अथ क्रिमिनाशकामकर्म

भा०-स्नातक गण (पूर्वोक्त ३ प्रकार के) अपने कल्याणार्थ, शयनकाल
 में “तुरगोपाय” इस मन्त्रसे बांसकी एक छड़ी या लाठी अपने पास रखे ॥ १३ ॥

**हतस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देश मद्भिरभ्यु-
 क्षन् जपेत् ॥ १४ ॥**

‘क्रिमिमन्तं देशम्’ व्रणादिक मधुउदरादिकञ्च ‘अद्भिः अभ्युक्षन्’* “हतस्ते
 अत्रिणा क्रिमि हतस्ते जमदग्निना । गोतमेन तिनीकुनो ऽत्रैव त्वा क्रिमे ब्रह्म-
 वद्यमवद्य ॥ १ ॥ भरद्वाजस्य मन्त्रेण, सन्तिनोमि क्रिमे त्वा । क्रिमिथंह वक्त्र-
 तोदिनं, क्रिमिसान्त्रानुचारिणम् । क्रिमिं द्विशीर्षं मर्जुनं, द्विशीर्षथंह चतुर्दनुस्
 ॥ २ ॥ हतः क्रिमीणां लुट्को हता माता हतः पिता । अथैषां भिन्नकः कुम्भो य
 एषां विषधानकः ॥ ३ ॥ *** क्रिमि मिन्द्रस्य आहुभ्या मवाञ्चं पातयाममि । हताः
 क्रिमयः साशतिकाः सनीलमलिकाः ॥ ४ ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० २, ७, १-४)”-‘इति’
 चतुर्ऋचं सूक्तं, ‘जपेत्’ । एतेनैव क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १४ ॥

भा०-जिस किसी (घाव, जखम आदि) स्थानमें कीड़े पड़गये हों उस स्थानको
 जल से धोकर “हतस्ते” इत्यादि चार मन्त्रों का जप करे; इसी से क्या पेट का,
 क्या किसी घाव के कीड़े क्यों न हों, सब ही कीड़े नष्ट हो जावेंगे ॥ १४ ॥

* अत्रि ऋषि ही ने सब से पहिले कृमिनाशन औषधि आविष्कार किया था, पीछे यमदग्नि, एवं उस के
 बाद गौतम ऋषि ने । ** भारद्वाज ऋषि के मन्त्रणा प्रभाव से आविष्कृत औषधि की सहायता से तीन प्रकार के
 क्रमियों को नाश करता हूँ ॥ *** इन्द्रयव (औषधि) से भ्रिवत् नाम औषधि से ।

[प्र०४ खं०१ सू०१३-१५ खं० १० सू०१-२] स्नातकस्वस्त्ययनादि कर्माणि ॥ २१९

पशूनाञ्चेच्चिकीर्षदपराह्णे सीतालोष्ट माहृत्य वैहायसीं
निदध्यात्तस्य पूर्वाह्णे पांशुभिः परिकिरन् जपेत् ॥१५॥९॥

तदेव क्रिमिनाशनं 'पशूनां' गृहपालितानां गवादीनां 'चिकीर्षेत्' चेत्, तर्हि
'अपराह्णे' काले 'सीतालोष्टं' लाङ्गुलानां लोष्टम् 'आहृत्य' 'वैहायसीं' दिशं
'निदध्यात्' अनावृते ऊर्ध्वे स्थापयेदिति यावत् । ततो रात्रिप्रभाते 'पूर्वाह्णे'
एव काले 'तस्य' लोष्टस्य 'पांशुभिः' रजोभिः पशोः क्रिमिसन्तं प्रदेशम् 'परि-
करन्' तमेव सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव पशूनां क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १५ ॥९॥
इति सामवेदीयगोभिलगृह्यमृतचतुर्थप्रपाठकेन वसखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥९॥

भा०:-यदि पशु आदिके कीड़ों को नाश करने की इच्छा हो, तो किनी
दिन दो पहर के पीछे, हल जोतने से जो डेला निकला हो, वह डेला लेकर
खुले मैदान में ऊपर की भूतल रखे, उस के दूसरे दिन उस डेले को फोड़ कर
उसकी धूलि, जहाँ कीड़े पड़े हों, उस पर छीट २ कर उक्त ४ मन्त्र जप करे।
इसी से गो आदि पशु के सब प्रकार के कीड़े नष्ट हो जायेंगे ॥ १५ ॥ ९ ॥

गोभिलगृह्यमृतके चतुर्थ प्रपाठके नवम खण्डका अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ४, ९ ॥

~~~~~(गार्ग्यगिरि)~~~~~

उत्तरतो गां ब्रह्मवापतिष्ठेरन्तर्हणा पुत्रवाससेति ॥ १ ॥  
इदमह मिमां पद्यां विराज मन्त्राद्यायाधितिष्ठामीति प्रति-  
तिष्ठमानो जपेद्यत्रैन महयिष्यन्तः स्युर्यदा वारहयेयुः ॥ २ ॥

आचार्यादीनां पशूनां सन्यतमस्य अहंणीयस्य 'उत्तरतः' 'गां ब्रह्मवा' "अ-  
हंणां पुत्रवासमा धेतुं भवत्यमे। ना नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तराथंमसाम् ॥१॥  
( म० ब्र० २, ८, १ )"—इति' मन्त्रं पठन्, तमहंणीयम् 'उपतिष्ठेरन् ॥१॥ 'यत्र'  
स्थाने 'एनम्' अहंणीयम् 'अहयिष्यन्तः' शिष्यादयः 'स्युः' 'यदा वा' यस्मिंश्च  
काले ते 'अहयेयुः' पूजयेयुः, तत्रैव स्थाने, तदेव काले, सः अहंणीयः आचार्या-  
दीनां सन्यतमः 'प्रतिनिष्ठमानः' दण्डायमानः "इदमह मिमां पद्यां विराज  
मन्त्राद्यायाधितिष्ठामि" ॥ २ ॥ ( म० ब्र० २, ८, २ )"—इति' मन्त्रं 'जपेत्' । २।  
विष्टादीनां पशूनां त्रिस्त्रिर्वेदनीयता साह ।

भा०:-आचार्य्य प्रभृति अहंणीय व्यक्ति के उत्तर भाग में गौ बान्ध कर  
रक्त्वे और "अहंणा पुत्र वासमा" मन्त्र से उन अहंणीय व्यक्ति के आने पर  
अनुमोदन करे ॥१॥ जिस स्थान में इन "अहंणीय" व्यक्ति की पूजा करने के लिये

शिव्य आदि की इच्छा हो, एवं जिस समय अर्चन करनी सम्भव हो, उसी स्थान में उसी समय, अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर “इदं गृह्य-विधिः” मन्त्र पढ़े ॥२॥

**विष्टरपाद्याघ्याचमनीयमधुपर्कानेकैकशस्त्रिस्त्रिवेदयेरन् ॥३॥**

विष्टरादीन् पञ्च ‘एकैकशः’ प्रत्येकं ‘त्रिः त्रिः’ उच्चार्य ‘वेदयेरन्’ निवेदयेरन्, अर्हयितार इति शेषः ॥ ३ ॥ विष्टरग्रहणविधिः ।

भा०—विष्टर ( बिछावन ) पाद्य ( पैर धोने का जल ) अघ्य ( हाथ धोने का जल ) आचमनीय ( कुल्ला करने का जल ) और मधुपर्क ( खाने की वस्तु ) ये पांच, इन में से एक २ करके तीन २ बार निवेदन करे ॥ ३ ॥

**या ओषधीरित्युदञ्चं विष्टर मास्तोर्याध्युपविशेत् ॥४॥  
द्वौ चेत् पृथग्गृह्याम् ॥ ५ ॥**

‘अर्हणीयो जनः विष्टरं प्राप्य “या ओषधीः सोमराज्ञी बह्वीः शतविचक्षणाः । ता मस्य मस्मिन्नासने रच्छिद्राः शर्म यच्छत ॥ ३ ॥ ” “या ओषधीः सोमराज्ञी विष्टिताः पृथिवीमनु । ता मस्य मस्मिन् पादयो रच्छिद्राः शर्म यच्छत ॥ ४ ॥ ( म० ब्रा० २, ८, ३, ४ )”—‘इति’ द्वयं सूक्तं पठन्, तं विष्टरम् ‘उदञ्चम्’ ‘उत्तरायम्’ कृत्वा आसने ‘आस्तीर्य’ पातयित्वा, ‘अधि’ तदुपरि ‘उपविशेत्’ ( आसने इति तु मन्त्रलिङ्गाद् ज्ञायते ) ॥ ४ ॥ ‘द्वौ’ विष्टरौ प्राप्तौ चेत्, द्वावेव तौ ‘पृथग्गृह्यां’ पूर्वसूत्रोक्ते या ओषधीरिति सूक्ते श्रुताभ्यां विभिक्षाभ्यां व्यवहार्यौ ॥ ५ ॥

भा०—अर्हणीय व्यक्ति विष्टर पाकर “या ओषधीः” इन दो मन्त्रों का पाठकर उत्तराय आसन पर बैठे ॥ ४ ॥ यदि पूजा करने वाला दो विष्टर देवे तो, पूर्वोक्त दो मन्त्रों में से एक २ को पढ़कर इन दो विष्टरों को देवे ॥५॥

**पादयोरन्यम् ॥ ६ ॥ यतो देवीरित्यपः प्रेक्षेत ॥ ७ ॥  
सव्यं पादं मवनेनिज इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥**

तत्र एकं विष्टरम् आसनोपरि आस्तीर्याध्युपविशेदित्युक्तम्, ‘अन्यम्’ द्वितीयं तु ‘पादयोः’ अधस्तात् आस्तीर्याध्युपविशेदित्येव । ६ । पाद्यग्रहण-विधिः ॥ अर्हयित्रा पाद्याय दत्ताः ‘अपः’ “यतो देवीः प्रतिपश्याम्यापस्ततो जा राद्धि रागच्छतु ॥ ५ ॥ ( म० ब्रा० २, ८, ५ )”—‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘प्रेक्षेत’ अर्हणीयो जन इति ( पाद्यादिलक्षणत्वस्या एव टीकायाः परिशिष्टे ) । ७ ।

“सव्यं पादं मवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियं दधे” ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ६)  
‘इति’ पठन् अर्हणीयः सः ‘सव्यं’ वामं ‘पादं’ प्रक्षालयेत् । ८ ।

भा०—एक विष्टर आसन पर डाले, दूसरा दोनों पैर के नीचे रखे ॥ ६ ॥  
पूजा करने वाले से, जल पैर धोने के लिये दिये जाने पर, उस जल को “यतो  
देवी” इस मन्त्र से मान्य व्यक्ति निरीक्षण करे ॥ ७ ॥ अनन्तर वह मान्य  
व्यक्ति थोड़ा जल देकर “सव्यं पादं मवनेनिजे” इस मन्त्र का पाठ कर अप-  
ना बाया पैर धोवे ॥ ८ ॥

दक्षिणं पादं मवनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् ।  
पूर्वं मन्यं मपरं मन्यं पितृभौ शेषेण ॥ १० ॥

ततः “दक्षिणं पादं मवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियमावेशयामि” ॥ ७ ॥  
( म० ब्रा० २, ८, ७ )—‘इति’ मन्त्रं पठन् स अर्हणीयः ‘दक्षिणं’ पादं प्रक्षाल-  
येत् । ९ । ‘शेषेण’ अवशिष्टेन पाद्योदकेन ‘उभौ’ पादौ मय्यदक्षिणौ एकत्रीकृत्य  
प्रक्षालयेत्, तत्र च “पूर्वं मन्यं मपरं मन्यं मुभौ पादाववनेनिजे । राष्ट्रस्य दूर्ध्वं  
अभयस्यावरुद्धयै ” ॥ ८ ॥ ( म० ब्रा० २, ८, ८ )—इति मन्त्रः प्रयोक्तव्यः । १० ।  
अर्घ्यग्रहणविधिः ।

भा०—उस के पश्चात् “दक्षिणपादं मवनेनिजे” इस मन्त्र का पाठ कर  
अपना दाहिना पैर धोवे ॥ ९ ॥ बाकी जल से दोनों पैर एकत्र धोवे इसी समय  
“पूर्वं मन्यं” इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १० ॥

अन्नस्य राष्ट्रिरसीत्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ यशोऽ-  
सीत्याचमनीयं माचामेत् ॥ १२ ॥ यशसो यशोऽसीति मधु-  
पर्कं प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

“अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम्” ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८)—‘इति’  
मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः, अर्हयित्रा दत्तम् ‘अर्घ्यम्’ प्रतिगृह्णीयात् । ११ ।  
आचमनीयग्रहणविधिः । “यशोऽसि यशो मयि धेहि” ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ८, १०)  
—‘इति’ मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः अर्हयित्रा दत्तम् ‘आचमनीयम्’  
आचमनार्थं मुदकं गृहीत्वा ‘आचामेत्’ आचमनविधिना आचमनं कुर्यादिति ।  
मधुपर्कग्रहणविधिः । ततोऽर्हयित्रा दत्तं ‘मधुपर्कं’ “यशसो यशोऽसि” ॥ ११ ॥  
( म० ब्रा० २, ८, ११ )—‘इति’ मन्त्रं पठन् अर्हयिता प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

भा०—“अन्नस्य राष्ट्रिरसि” इस मन्त्र का पाठ कर वह मान्य व्यक्ति अर्ह-



यिता का दिया अर्घ्य ग्रहण करे ॥११॥ अनन्तर अर्हयिता (पूजक) द्वारा आचमनीय जल देने पर, उस जल से “यसोऽमि” इस मन्त्र से, पूर्वोक्त आचमन विधि अनुसार, मान्य व्यक्ति आचमन करे ॥ १२ ॥ उस के पश्चात् अर्हयिता से ‘मधुपर्क’ दिये जाने पर मान्यव्यक्ति “यशसो” यह मन्त्र पढ़ कर उसे ग्रहण करे ॥ १३ ॥

यशसो भक्षोऽसि महसोभक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि त्रियं  
मयि धेहीति त्रिः पिबेत्तूष्णीं चतुर्थम् । १४, १५ ॥

गृहीतञ्च तं मधुपर्कं “यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि त्रियं मयि धेहि ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १२.)”—‘इति’ मन्त्रेण ‘त्रिः’ त्रिवारं ‘पिबेत्’ ‘तूष्णीम्’ असन्त्रक मेव ‘चतुर्थं’ पान मिति ॥ १४, १५ ॥

भा०—लिये हुये उस मधुपर्क को “यशसो” इस मन्त्र का तीनवार पाठ करे एवं उस के अनन्तर चतुर्थ वार विना मन्त्र पढ़े पान करे ॥ १४, १५ ॥

भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १६ ॥

मधुपर्काधिक्यञ्चेत् ‘भूयः’ पुनरपि पञ्चमवार सपि असन्त्रक मेव ‘अभिपाय’ ‘शेषं’ पानावशिष्टं ‘ब्राह्मणाय’ श्रद्धावते यस्मै कस्मै चित् ‘दद्यात्’ । १६। बहुगोमुक्तिप्रकारः

भा०—यदि मधुपर्क अधिक प्राप्त हो जावे, ( जो चार बार पीने पर भी न निघटे ) तो पञ्चम वार भी पीवे, इस वार भी मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ १६ ॥

आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिभूयात् ॥ १७ ॥

ततश्च ‘आचान्तोदकाय’ स्वस्थचित्ताय अर्हणीयाय ‘नापितः’ गवादेर्विशसिता ‘गौः’—इति पदं ‘त्रिः’ त्रिवारं ‘भूयात्’ । वारत्रयगोपदोच्चारणमात्रेणैकितेन बद्ध्वा गौरिदानी मालब्धव्या न वा ? इति अर्हणीय मुद्दिश्य विशसिता नापितः पृच्छेदिति । १७। ततस्तं नापितं किं प्रतिभूयादित्याह ।

भा०—पीछे जब वह मान्य व्यक्ति मुंह आदि धो कर स्वस्थ चित्त हावे, तब शस्त्र हाथ में ले नापित आकर उन मान्य व्यक्ति को तीनवार जललावे, “गौ ! ” अर्थात् इसी समय क्या गौ काटनी पड़ेगी ? ( यही इङ्कित से जिज्ञासा करे ) ? ॥ १७ ॥

[ प्र० ४ खं० १० सू० १४-२३ ] मधुपर्कगृह्यविधिर्द्विगोमुक्तिप्रकारश्च २१५

मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मेऽभिधेहीति तं जह्य-  
मुष्य चोभयोरुत्सृज गा मत्तु तृणानि पिबतूदकमिति ब्रूयात् १८

“मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मेऽभिधेहि ॥१३॥ (म० ब्रा० २, ८, १३)”  
—‘इति’ मन्त्रं “तं जह्यमुष्य, चोभयो \* रुत्सृज, गा मत्तु तृणानि, पिबतूदकम्  
॥ १४ ॥ (म० ब्रा० १, ८, १५)” —‘इति’ मन्त्रं च तं नापितं ब्रूयात्—इमौ  
मन्त्री पठक्वर्हणीयो गोमोचनयादेशं कुर्यादिति ॥ १८ ॥

भा०—अनन्तर नापित के उत्तर में मान्य व्यक्ति “मुञ्चगां” मन्त्र एवं “तं  
जह्यमुष्य” मन्त्र, इन दो मन्त्रों को पढ़ कर गौ छोड़ने की आज्ञा देवे ॥१८॥

माता रुद्राणा मित्यनुमन्त्रयेत् १९। अन्यत्र यज्ञात् २०॥

तादृशादेशेन मुक्तायां गवि ता मेव गा मयलोक्यन्वर्हणीय एव “मस्ता  
रुद्राणां दुहिता वसूमाधं स्वसादित्याना मयलस्यन्मभिः । प्र मु ष्येषां चिकितुषे  
जन्मन्मा गा मनागा मदिति वधिह ॥ १५ ॥ ८ ॥ २ (२, ८, १५)”—‘इति’  
अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रणं कुर्यादिति । १९ । गवालम्भनानालम्भनयोर्व्यव-  
स्थासाह—‘यज्ञात्’ यज्ञः (श्रौतसूत्रानुसारतोऽनुष्ठेयो ज्योतिष्टोमादिः) तस्मात्  
‘अन्यत्र’ गृह्यसूत्रोक्तविवाहादौ पूर्वोक्तो गोमोचन-विधिः विद्यादिति ॥ २० ॥

भा०—मान्य व्यक्ति की उसप्रकार की आज्ञा सुन, वधार्थ बांधी गौ को खूटेसे  
नापित छोड़ दे, मान्य व्यक्ति, “माता रुद्राणां” इस मन्त्र से उस गौ को अनु-  
मन्त्रण करे ॥१९॥ श्रौतसूत्रानुसार जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अनुष्ठित होंतें,  
उस से भिन्न स्थान में, अर्थात् गृह्य सूत्रोक्त विवाह आदि संस्कार में उक्त गौ  
मोचन व्यवस्था समझनी चाहिये ॥ २० ॥

कुरुतेत्यधियज्ञम् । २१ । षडध्यार्हा भवन्ति । २२ । आ-  
चार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति । २३ ।

‘अधियज्ञम्’ यज्ञम् अधिकृत्य आदेशवचनं तु ‘कुरुत’ बहुवचनं तस्याः गाः  
आलभनम् ‘इति’ एव । २१ । अर्हणीयपरिगणनम्—अध्यार्हाः अर्धप्राप्तियो-  
ग्याः ‘षट्’ एव भवन्ति । २२ । के ते ? इत्याह,—‘आचार्यः’ कर्त्तृपादिसहितसम-  
ग्रवेदाध्यापकः, ‘ऋत्विक्’ होत्रादीना मन्यतमः, ‘स्नातकः’ कृतसमावर्तनाङ्ग-  
स्नानः, ‘राजः’ अभिषिक्तो राज्ञे, ‘विवाह्यः’ विवाहं कर्त्तुं समतः, ‘प्रियोऽतिथिः’  
विद्यादिगुणवानभ्यागतः—इति षट् । २३ । अर्हणकालनिर्णयं करोत्याचार्यः ।

भा०—यज्ञ में—खूटे में इसप्रकार बंधेहुए गौको मोचनार्थ पंखने पर “करो”

अर्थात् उस "गौ" को बध करो" यही आदेश करना चाहिये ॥२१॥ छः व्यक्ति-  
मान्य वा अर्हणीय होते हैं ॥२२॥ आचार्य, ऋत्विग्, स्नातक, राजा, वर और  
गुणवान् अतिथि, ये छः व्यक्तिमान्य अर्हणीय हैं ॥२३॥

**परिसंवत्सरानर्हयेयुः । २४ । पुनर्यज्ञविवाहयोश्च पुनर्य-  
ज्ञविवाहयोश्च ॥ २५ ॥**

'परिसंवत्सरान्' वीप्सायां परि; संवत्सरान् प्रतीति यावत् । तथाच प्र-  
तिवृत्तीयादिवर्षान्ते तानाचार्यादीनर्हणीयान् 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः शिष्यादय  
इति । २४ । संवत्सरत्रयमध्येऽप्याह । यज्ञे विवाहे च समागतान् तान् संवत्स-  
रत्रयमध्ये 'पुनः' 'च' अपि अर्हयेयुरित्येव । द्विवचन मध्यायसमाप्तिसूचक-  
मिति शम् । २५ ॥ १० ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके दशमस्य

खण्डस्य व्याख्यानं सामश्रमिकृतं समाप्तम् ॥ ४ । १० ॥

॥ चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ ४ ॥

**॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥**

भा०-अन्यून प्रति-तीसरे वर्ष के अन्त में आचार्य आदि की पूजा करे ॥

॥ २४ ॥ यज्ञ और विवाह के अवसर पर मान्य लोग ( उक्त छः ) तीन वर्षके  
बीच में भी (जब ज़रूरत हो) यदि आवें तौ उन का यथावत् सत्कार करे ॥२५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के दशम खण्ड का भाषानुवाद समाप्त  
हुआ । चतुर्थ प्रपाठक भी समाप्त हुआ और गोभिलगृह्यसूत्र भी समाप्त हुआ ।

श्रीमान् माननीय बाबू शिवराम सिंह जी के कनिष्ठ पुत्र  
क्षत्रियकुमार उदयनारायण सिंह (मधुरापुर डा० विहदू-  
पुर जि० मुज़फ्फरपुर) कृत गोभिलगृह्यसूत्र  
का भाषानुवाद पूरा हुआ ।



# टीकापरिशिष्टम् ॥



इह गृह्यसूत्रे यानि कानिचित् दुर्बोधपदादीनि विद्यन्ते, तेषां  
मर्णादिबोधनायेदम् ।

**गृह्याकर्माणि ॥ १ ॥ प्र० १ खं० १ ।**

“पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च जनिष्याश्चापरे सुतः । गृह्या इति समाख्याता  
यजमानस्य दायकाः ॥ ३५ ॥ तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्मक्रियासु च । आ-  
चार्यविहितः कल्पस्तस्माद् गृह्या इति स्थितिः” ॥३६॥ इति गृह्यासङ्ग्रहः । १।

एवञ्च गोभिलाचार्यप्रणीता इयं स्मृतिः ‘गृह्या’—इत्युच्यते, तस्यां यानि  
कर्माणि वक्ष्यमाणानि, तान्येव गृह्याकर्माणि । इत्येकोऽर्थः । अपरार्थस्तु मूलेन  
साकमेव मुद्रितः । केचित्तु ‘गृह्या’—इति कर्माणीत्यस्य विशेषणं, पृथक् पदं, सु-  
पांसुलुगितयात्वेच रूप मिति मन्यन्ते, तथाच ‘गृह्येऽग्नौ अनुष्ठेयानि कर्माणि’  
इति तृतीयोऽर्थः सस्पद्यते ।

**अन्वाहार्यवन्ति ॥५॥ प्र० १ खं० १ ।**

“यत् आहुं कर्मणा मादौ या चान्ते दक्षिणा भवेत् । अमावास्यां द्वितीयं  
यत् अन्वाहार्यं तदुच्यते ॥” क० प्र० ३। अन्वाहार्यं विद्यते येषां कर्मणां तानी-  
मानि अन्वाहार्यवन्ती—त्यर्थः । तत्रापि विशेषोऽस्ति, तथाच्युक्तं कर्मप्रदीपे—  
“नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न आहुं आहुं निष्यते । न सोप्यन्ती—जातकर्म—प्रोषिता  
गत-कर्मसु ॥”—इत्यादि ।

**अभिरूपभोजनम् ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० १ ।**

“यत्र विद्या च वित्तं च सत्यं धर्मः शमो दमः । अभिरूपः स विज्ञेयः  
स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः ॥” गृ० सं० २ । १२

**अन्त्यां समिधम् ॥ ७ ॥ प्र० १ खं० १ ।**

“आचार्येणाभ्यनुज्ञात आचार्याग्नौ विधिर्यणा । प्रणीतेऽग्नौ समिद्दद्याद-  
न्त्या सा ब्रह्मचारिणाम् ॥” गृ० २ । १८ “नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित्स्थू-  
लतया क्वचित् । न वियुक्तस्वचा चैव न सकीटा न पाटिता । प्रादेशान्नाधिका नोना  
न तथा स्याद्विशालिका । न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजामता क० प्र० १ ।

अभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्ष्यं समुदाहृतम् । म्यञ्जताभ्युक्ष्यं प्रोक्तं तिरश्चावीक्ष्यं मतम् ॥” गृ० १ । १०३ भा०

लक्षणावृत् ॥ १० ॥ प्र० १ खं० १ ।

अथाहरणाद्यभ्युक्षणान्तं लक्षणं मुच्यते, तस्य आवृत् रीति रिति । गृह्या-संग्रहे तु—“लक्षणं तत् प्रवक्ष्यामि प्रमाणं दैवतञ्च यत् ॥४७॥ XXXXतस्मात् फलेन पुष्पेण पर्शनाथ कुशेन वा । प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु कर्मसु ॥ ४८ ॥ सव्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद् दक्षिणेन तु । तावन्नोत्थापयेत् पार्श्वं यावदग्निं निधापयेत् ॥ ४९ ॥ प्राग्गता पार्थिवी ज्ञेया आग्नेयी चाप्युदग्गता । प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कृता स्मृता ॥ ५० ॥ उत्तरं गृह्य रेखाभ्योऽरतिमात्रे निधापयेत् । द्वारमेकन्तु द्रव्याणां प्रागुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥५१॥ पार्थिवी चैव सौमी च लेखे द्वे द्वादशाङ्गुले । एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्ये उभे स्मृते ॥ ५२ ॥ षडङ्गुलान्तराः कार्या आग्नेयी संहितास्तु ताः । पार्थिवायास्तु रेखायास्तिस्त्रस्ता उत्तरोत्तराः ॥ ५३ ॥ शुक्लवर्णा पार्थिवी स्यादाग्नेयी लोहिता भवेत् । प्राजापत्या भवेत् कृष्ण नीलामैन्द्रीं विनिर्दिशेत् ॥ ५४ ॥ पीतवर्णेन सौमी स्याद्रेखाणां वर्णलक्षणम् । एष लेखविधिः प्रोक्तो गृह्याकर्मसु सर्वसु ॥ ५५ ॥ सूदमास्ता ऋजवः कार्या लेखास्ताः सुसमाहिताः ॥” ५६ ॥ १ ।

अग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“कपालैर्भिज्जपात्रैर्वा न त्वामैर्गोमयेन वा । अग्निप्रणयनं कार्यं यजमानभयावहम् ॥ ६४ ॥ अल्पः प्रणीतो विच्छिन्नोऽमनिदुश्चापरिश्रुतः । त्वरया पुनरानीतो यजमानभयावहः ॥ ६५ ॥ तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु । अग्निप्रणयनं कुर्यात् यजमान-सुखावहम् ॥ ६६ ॥ शुभं पात्रन्तु कांस्यं स्यात् तेनाग्निं प्रणयेद् बुधः । तस्याभावे शरावेण नवेनाभिमुखञ्च तम् ॥” ६७ ॥ गृ० सं० १ ।

अग्निसमाधानम् ॥ १४ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक् । (१) अन्त्या समिद्, (२) विवाहश्च, (३) विभागः, (४) परमेष्ठिनः ॥” गृ० सं० १ । ७६ गोभिलीयानान्तु त्रयएव कालाः । विभागकालस्तु गौतमीयानाम् ।

मथित्वा ॥ १७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

अरणिद्वयमिति शेषः । अरणिद्वयलक्षणं त्वेवम्,—“अश्वत्थो यः शमीगर्भः

प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा वोदीची वोर्ध्वगापि वा । अरक्षि-  
स्तन्मयी प्रोक्ता, सन्मध्यवोत्तरारणिः” ॥ इत्यादि क० प्र० १ “वेद्ययोनिः स  
विज्ञेयस्तत्र मथ्यो हुताशनः ।” गृ० सं० १ । ८०

उदिते, अनुदिते ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“रेखामात्रं तु दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितम् । उदयं तं विजानीयात् होमं  
कुर्याद् विचक्षणः ॥” गृ० सं० १ । ७१ “रात्रेः षोडशमे भागे ग्रहनक्षत्रभूषिते ।  
अनुदयं विजानीयाद्दोमं तत्र प्रकल्पयेत् ॥” गृ० सं० १ । ७३ समयाध्युषितकाले  
ऽपि होमो मन्वादिभिरुपदिष्टः, परं न तत्कौशुमानाम्, गोभिलानुक्तेः । तत्का-  
लनक्षत्रं त्वेवम्,—“ततः प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रविविम्बं न दृश्येत  
समयाध्युषितं स्मृतम् ॥” गृ० सं० १ । ७४

यज्ञोपवीतम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० २ ।

‘त्रिवृद्दूर्ध्वं कृतं कार्यं तन्तुत्रय मधोवृतम् । त्रिवृतञ्चोपवीतं स्यात् तस्यैका  
ग्रन्थिरिष्यते ॥’ क० प्र० १ “यज्ञोपवीतं कुर्यात् सूत्रेण नवतान्तवम् \* \* \* \*  
\* । द्विगुणं त्रिगुणं वापि एकग्रन्थिकृतं विदुः ॥” गृ० सं० १।४८—५१ ॥

जुहुयात्, कृतस्य, अकृतस्य ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

“होमपात्र मनादेशे द्रवद्रव्ये स्तुवः स्मृतः । पाणिरेवंतरस्मिंस्तु स्तुवा चात्र  
न हूयते ॥” क० प्र० १ “यवव्राह्मकृतं ज्ञेयं तण्डुलादि कृताकृतम् । आदनं तु  
कृतं विद्यात् न तस्य करणं पुनः ॥” गृ० सं० १।९३ ॥

चरुस्थाल्या, सुत्रेण ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० २ ।

“तिर्यग्दूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढा नातिवृहन्मुखी । सृन्मध्यौदुम्बरी वापि  
चरुस्थाली प्रशस्यते ॥” क० प्र० २ “खादिरो वाय पार्श्वौ वा द्विवितस्तिः स्तुवः  
स्मृतः । स्तुक् बाहुमात्रा विज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः ॥ स्तुवाग्रे प्राणवत् खातं  
द्वयङ्गुष्ठपरिमण्डलम् । जुह्वाः शराववत् खातं, स्तुवश्चार्द्ध षडङ्गुलम् ॥” क० प्र० १

अपराजितायां ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० २ ।

प्रक्रमणे तथोद्वाहे होमेष्विष्टकृते तथा । यस्यां दिशि विधिं प्राहुस्तामा-  
हुरपराजिताम् ॥” गृ० सं० २।७८ ॥

उपाश्वशु ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

“शनैरुच्चारयेन्मन्त्रं मीषदोष्टौ प्रचालयन् । किञ्चिदुच्छ्रितं स्वयं विद्यादु  
पांशुः स जपः स्मृतः ॥” म०

**अतिथिभिः ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ४ ।**

एकरात्रं हि निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥” मनुः ३।१०२ ॥

**फलीकरणानाम्, आचामस्य ॥ ३१ ॥ प्र० १ खं० ४ ।**

“कउचुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणाककुशाः ॥” गृ० भा० “ओदनाग्रद्रवं प्राहुराचामं हि मनीषिणः ॥” गृ० भा० ॥

**सन्ध्यां उपवसन् ॥ ३ ॥ प्र० १ खं० ५ ।**

“अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः । सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥” उपवासदिनकर्त्तव्यताकर्त्तव्यते स्वयमेवोक्ते “उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशेषणम् ॥” इति च स्मृत्यन्तरम् ।

**पूर्णः ॥ १०, ११ ॥ प्र० १ खं० ५ ।**

“राकामध्यगतश्चन्द्रः पूर्ण इत्यभिधीयते” ।

**स्थण्डिलं, इध्मान्, मेक्षणम्, औपवसथिकम् ॥ १३-१६ प्र० १ खं० ५ ।**

“वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थण्डिलचत्वरे ।” इत्यमरः । “प्रादेशद्वयसिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् ।” क० प्र० २ ॥

“इध्मः सन्नहनादानं चरुश्रपणं मेव च । तूष्णीं मेतानि कुर्वीत समस्तश्लेधम माददेत् ॥” गृ० सं० १ । १०२ “इध्मजातीयं सिध्मार्दुप्रमाणं मेक्षणं भवेत् । वृत्तञ्चाङ्गुष्ठपृथ्व्यं सवदानक्रियात्मकम् ॥ एषैव दर्वी यस्तत्र विशेषस्त नहं ब्रुवे । दर्वी द्व्यङ्गुलपृथ्व्या तुरीयो नन्तु मेक्षणम्”-इति क० प्र० २

**औपवसथिकं नाश्राति-इत्यादि ॥ १-९ ॥ प्र० १ । खं० ६ ।**

उपवासदिननियमितखाद्यमौपवसथिकमित्यर्थः । तस्मिन्-“लवणं मधु मांसञ्च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत नोरुत्रात्रौ कथञ्चन ॥” क० प्र० ३ अतएवाह स्मृतिः-“गृह्यस्थो ब्रह्मचारी च यस्त्वनश्रन्तपश्चरेत् । प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णो भवेत्तु सः ॥”-इति, “अनङ्गान् ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च ते त्रयः । अश्रन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्रताम् ॥”-इति च ।

**दर्भवटम् ॥ २१ ॥ प्र० १ खं० ६ ।**

“ऊर्ध्वकेशो भवेद् ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः । दक्षिणावर्त्तको ब्रह्मा वामावर्त्तस्तु विष्टरः ॥ कतिभिश्च कुशेर्ब्रह्मा ? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः ? पञ्चा-

शङ्खः कुशैर्ब्रह्मा तदर्हं न च विष्टरः ॥” गृ० १ । ८८, ८९” द्विराकृत्याय मध्ये वै  
अर्हं ब्रह्मान्त देशतः । यन्मिथः प्रदक्षिणावर्तः स ब्रह्मप्रस्थितः ॥”-इति पु०  
“यज्ञवास्तुनि मुष्ट्यास्तस्वो दर्भवटी तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरा-  
स्तरणेष्वपि ॥”-इति च क० प्र०

उलूखलमुसले, शूर्पम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० ७

“मुसलोलूखले धार्तं स्वायते मुष्टये तथा । इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं वैश्व  
मेव च ॥”-इति क० प्र० २

हविर्निर्वपति ॥ २ । ३ ॥ प्र० १ खं० ७

“ब्रूहाकर्मणि सीमन्ते यश्च पाकः सदा गृहे । विधाहे चैव लाजानां नो-  
क्तो निर्वपणे विधिः ॥” गृ० स० २ । ३९

अभिघार्योद्वास्य प्रत्यभिधारयेत् ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० ७

“पवित्रान्तर्हितं कृत्वा चरुं प्राज्ञोऽभिधारयेत् । उद्वास्य चैवं विधिना एवं  
तन्त्रं न लुप्यते । चतुर्भुष्टिश्चरुः कार्यश्चतुर्णामुत्तरोऽपि ज्ञा ॥” गृ० स० २ । ६९

परिधीन् ॥ १६ ॥ प्र० १ खं० ७

“बाहुमात्राः परिधय ऋजवः सत्यचोऽव्रणाः । त्रयो भवन्त्यशीर्णाया  
एकेषास्तु चतुर्दिशम् । प्रागग्रावभितः पश्चादुदगग्र मथापरम् । न्यसेत् परिधि  
मन्यश्च उदगग्रः स पूर्वतः ॥” क० प्र० २

प्रणीता ॥ १७ । १८ ॥ प्र० १ खं० ७

“विहितप्रतिषिद्धाञ्च प्रणीतां नोपकल्पयेत् ॥” गृ० स० १ । ९६

आज्यं, सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ॥ १९।२० प्र० १ खं० ७

“अग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा । चतुर्भिरेव यत् पूतं तदाज्य  
मितरद् घृतम् ॥ १०६ ॥ घृतं वा यदि वा तैलं, पयो वा यदि यावकम् । आज्य-  
स्थाने नियुक्तानां माज्यशकदो विधीयते ॥ १०७ ॥ आज्यानां सर्पिरादीनां सं-  
स्कारे विधिचोदिते । अनभिग्रयणं दध्नः शेषाणां अग्रणं स्मृतम् ॥ १०८ ॥ यथा  
सीमन्तिका नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता । एव माज्यस्य संस्कारः संस्कारे विधिनो-  
दिते ॥” १०९ ॥ इति गृ० स० १ ।

पवित्रे ॥ २१-२३ ॥ प्र० १ खं० ७

“अनन्तर्गभिर्लं मायं कौशं द्विदल मेव च । प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र  
कुत्रचित् ॥” क० प्र० १



सम्पूय, उत्पुनाति ॥ २४ ॥ प्र० १ खं० ७

“पवित्र मन्तरे कृत्वा स्थापया माण्यं समावपेत् । एतत् सम्पूयनं नाम पञ्चादुत्पवनं स्मृतम् ॥” गृ० सं० १ । १०६

आज्यम् ॥ २६ ॥ प्र० १ खं० ७

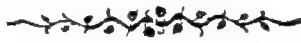
आज्यसहितं माज्यपात्रं माज्यस्थाली मिति यावत् । “आज्यस्थाली च कर्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा । महीमयी वा कर्तव्या सर्वास्वाज्यहुतीषु च ॥ आज्य-स्थाल्याः प्रमाणं तु यथाकमं तु कारयेत् । सुहृदा मन्त्राणां भद्रा माज्यस्थालीं प्रचक्षते ॥” क० प्र० २

उपघातम् ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ८

“पाणिना मेक्षणेनाथ सुवेणैव तु यद्विधिः । हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स उच्यते ।” इति गृ० सं० १ । १११

महाव्याहृतिभिः ॥ २ प्र० १ खं० ८

“भराद्यास्तिस्त्र एषैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः” । इति क० प्र० व्रीहयः जालयो मुद्रा गोधूमाः सर्वपास्तिलाः । यथाश्चौषधयः सप्त विपदो प्रप्ति धारिताः ॥—इति क० प्र० भा० ।



सुरोत्तमेन ॥ १ ॥ प्र० २ खं० १

‘सुरा’—इति निघण्टौ उदकनामसु (१ अ० १२ खं०) पाठभेदेन पञ्चविंश-तितमं पदं मस्ति, तदेवात्र ग्राह्यं मित्याधुनिकानाम् । परं तत्र तथा निगमा-दर्शनात् उदकार्थस्य सुराशब्दस्याभाव एवानेकेषां मतएवान्नः—

“स्ववर्णाभिरनिन्द्याभिरदूभिरक्षतमिश्रितैः । स्नानं चतुर्भिः कलशैः स्त्रीभिः स्त्रीं यत्र प्लावनम् ॥१५॥ गौडी पौष्टी च माधवी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः । पाणिकर्मणि गौष्टी स्यात् सत्या माध्वयधमा सुराः ॥” १६ ॥ इति गृ० सं० २ ।

प्राजनेन, ध्रुवणा मपां, लाजाम् ॥ १३-१६ ॥ प्र० २ खं० १

“अवसिक्तन्तु विधिना पाणिग्राहन्तु प्राजनी । रक्षार्थं मनुगच्छेत् सप्ताहं त्र्यहं मेव वा ॥” गृ० सं० २ । ३५ “महानदीषु या आपः कौप्याभ्याश्च हृद्देशे च । गन्धर्वर्णरसैर्युक्ता ध्रुवार्ता इति निश्चयः ॥” गृ० सं० २ । २५ “अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते । भृष्टास्तु व्रीहयो लाजा घटाः क्षासिद्धक उ-च्यते ॥” क० प्र० ३

प्रपदेन ॥ ६ ॥ प्र० २ खं० २

“पादाग्रं प्रपदम्”—इत्यमरः २।६।११।

प्रदक्षिणमग्निं परिणयति ॥ ४-१० ॥ प्र० २ खं० २

“लाजानाज्यं सुखं कुम्भं प्राजनाप्रमान मेव च । प्रदक्षिणानि कुर्वीत द-  
म्पती तु विना ग्रही ॥” गृ० स० २।२० ‘ग्रही’—इति उदकग्राहम्प्राजसग्राहश्च  
विनेत्यर्थः ।

अनुमन्त्रयते ॥ ११ ॥ प्र० २ खं० ३

“स्पृशन्नानिकाग्रं कचिदालोकयन्नपि । अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सर्वदैवानु-  
मन्त्रयेत् ॥” इति क० प्र० ।

अर्घ्यम् ॥ १४ ॥ प्र० २ खं० ३

“वह्न्यर्घ्यार्हा भवन्ति”—इत्यादि वक्ष्यत्याचार्यः स्वयं मेव ( ४।१०।२२ )

हविष्यम् ॥ १७ ॥ १ प्र० २ खं० ३

“अयुक्तं ममललवणैरपर्युषितं मेव च । हविष्यं मेतदकाद्यं समुरैरप्यसंयु-  
तम् ॥” गृ० स० २।१६

नदीः ॥ २ ॥ प्र० २ खं० ४

“मासद्वयं आवसादिं सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वीत वर्ज-  
यित्वा समुद्रगाः ॥ धनुः सहस्राययष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते । न ता नदी  
शब्दवद्वा गतांस्ते परिकीर्त्तिताः ॥” क० प्र० १

सुवसम्पातम्, हासयित्वा ॥ २-६ ॥ प्र० २ खं० ५

“हुत्वाज्यं परिशेषेण यद् द्रव्यं मुपकल्पितम् । सुवेणैव तु तत् स्पृष्टं स-  
म्पातं चैव तं विदुः ॥” गृ० स० १।११४ “उद्धर्त्तनं न लच्छेदो रोमच्छेदनं मेव  
च । स्नानं मेखलायाश्च हासनानि विदुर्बुधाः ॥” गृ० स० २।३८

न्यग्रोधशुङ्गां, व्रतवती, ब्रह्मन्धूः ॥ ६-१२ ॥ प्र० २ खं० ६

“लताग्रपल्लवो बुध्नः शुङ्गेति परिकीर्यते ।

पतिव्रता व्रतवती ब्रह्मबन्धूस्तथाश्रुतः ॥” क० प्र० ३

शलादुग्रन्थम् ॥ ४ ॥ प्र० २ खं० ७

“शलादु नील मित्युक्तं ग्रन्थः स्तवक उच्यते ।”—इति क० प्र० ३

“आमे फले शलादुः स्यात्”—इत्यमरः २।४।१५

दर्भपिण्डजूलिभिः, ॥ ५ ॥ प्र० २ खं० ७

“एतत्प्रमाणा मेवैके कौशी मेवार्द्रमञ्जरीम् । शुष्कां वा शीकं कुसुमां पि-  
ञ्जुलीं परिचक्षते ।”—क० प्र० १ ‘एतत्प्रमाणां’ प्रादेशप्रमाणा मिति यावत् ।

वीरतरेण, शलल्या ॥६॥ प्र० २ खं० ७

“त्रिभिःश्वेतैश्च शलली, प्रोक्तो वीरतरः शरः ।” शृ० सं० १ । ८५

“श्वाविच्छलाका शलली तथा वीरतरः स्मृतः ।” क० प्र० ३

कृसरः ॥६॥ प्र० २ खं० ७

“तिलतण्डुलसम्पक्कः कृसरः सोऽभिधीयते ।” क० प्र० ३

कपुष्णिकां, कपुच्छलम् ॥१८॥ प्र० २ खं० ८

“कपुष्णिकाभितः केशा मूहूर्ध्नि पश्चात् कपुच्छलम् ।” इति क० प्र० ३

यथागोत्रकुलकल्पम् ॥ २५ ॥ प्र० २ खं० ८

“दक्षिणाकपर्दीः शिष्टा आश्रेयास्त्रिकपर्द्दिनः ।

आङ्गिरसः पञ्चषडा मुण्डा भृगोः शिखिनोऽन्ये ॥” शृ० सं० २ । ४०

उपनयेत् ॥१॥ प्र० २ खं० १०

“गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः ।

बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयनं विदुः ॥”—इति स्मृ०

ऐणेयरौरवाजानि ॥६॥ मुञ्जकाशताम्बल्यः ॥१०॥ प्र० २ खं० १०

“अनृषो नाणवको ज्ञेयः, एणः कृष्णमृगः स्मृतः ।

रुरुर्गौरमृगः प्रोक्तः, ताम्बलः शशा उच्यते ॥” क० प्र० ३

स्नानम् ॥२०॥ प्र० ३ खं० १

जलक्रीडादिपूर्वकं नज्जनमेव स्नानमिहेष्यते । “न गात्रोत्सादनं कुर्यादना  
पदि कथञ्चन । जलक्रिया मलङ्कारं व्रती दृष्ट इवाप्तवेत् ॥” क० प्र० ३

वरः ॥ ४५ ॥ प्र० ३ खं० २

“गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते । न ततोऽन्यद् वरं यस्माद् तस्माद्  
गौर्वर उच्यते ॥” इति क० प्र० ३

अक्षतधानाः ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ३

“अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ताः भृष्टा धाना भवन्ति ते ।” क० प्र० ३

पक्षिणीम् ॥ ११ ॥ प्र० ३ खं० ३

“द्वायद्वावेकरात्रिश्च पक्षिणीत्यभिधीयते ।” इति शु०

निर्घाते ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ३

“यदास्तस्मिन्ने बलवान् नास्तु मरुताहतः । पतत्यथः स निर्घातो जायते  
वायुसम्भवः ॥” इति श्रुतिः

शिष्टाचारः ॥ २६ ॥ प्र० ३ खं० ३

“धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रु-  
तिप्रत्यक्षहेतवः ॥” स्मृ०

अद्भुते ॥ ३० ॥ प्र० ३ खं० ३

“प्रकृतिविरुद्धं मद्भुतमापदः प्राक् प्रबोधाय देवाः सृजन्ति” इत्याद्यर्थकम्

अनग्निंका ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

“नग्निकां तुषदेत् कन्यां यावज्जन्मती भवेत् । ऋतुमती त्वनग्निका, तां  
प्रयच्छेत्वनग्निकाम् । १३ अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी । अव्य-  
ञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना च नग्निका । १८ वयस्यनैस्तु सपुत्रपत्नैः सोमो भु-  
ञ्जीत कन्यकाम् । पयोधरैस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्तितः । १९ तस्मादव्य-  
ञ्जनोपेता अरजा अपयोधरा । अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥”  
२० इति श्रु० सं० २ ।

मनुरपि—“देवदत्तां पतिर्भायां विन्दते नेच्छयात्मनः ।”—९, ९५

विलयनम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ६

“दध्यर्दुमयितं सर्वं तद्वै विलयनं स्मृतम् ।” इति श्रु० भा० सप्तमखण्डे—

प्रक्रमे ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ७

“संसक्तपदविन्यासस्त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः । स्मार्त्तं कर्मणि सर्वत्र ग्रीते  
त्वध्वर्युचोदितः ॥” इति श्रु० भा०

कपालम् ॥ ७ ॥ प्र० ३ खं० ७

“कपालं सृणमयं पात्रं चक्राघटितं मुच्यते । आसुरं चक्रघटितं दैवे पैत्रे  
च वर्जयेत् ॥” इति श्रु० सं० २ । ७८ भा०

न्यञ्जौ पाणी ॥ १७ ॥ प्र० ३ खं० ७

“दक्षिणं वामतो वाह्यं मात्माभिमुखं मेव च । करं करस्य कुर्वीत करस्ते  
न्यञ्जकर्मणः ॥” क० प्र० २

स्थालीपाकवृतान्यत् ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ७

“स्थालीपाकावृतान्यत् यत्र संज्ञा निपात्यते । तत्राज्यभागौ हुत्वेव सुख  
मास्तीर्यावद्यति ॥” श्रु० सं० १ । ११५

पृषातके पायसश्चरुः ॥ १ ॥ प्र० ३ खं० ८

“ययो यदाश्वसंयुक्तं तत् पृषातकं मुच्यते । दध्यैके । सदुपासाद्य कर्तव्यः पायसश्चरुः ॥ क० प्र० ३

गोनामभिः ॥ ३ ॥ प्र० ३ खं० ८ ।

“काम्या मिथा च हव्या च इहा रन्ता सरस्वती । नही विभ्रता चाग्रवा च गोनामानि विदुर्वृषाः ॥” इति गृ० स० २ । ६०

नवयज्ञे ॥ ८ ॥ प्र० ३ खं० ८ ।

“शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते । धान्यपाकवशादन्ये श्यामाकी वनिनः स्मृतः ॥ आश्वयुज्यां तथा कृष्ट्यां वास्तुकर्मणि याज्ञिकाः । यज्ञार्थतरववेत्तारो होम मेघं प्रचक्षते ॥” क० प्र० ३

फलवतीम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“सफला वदरीशाखा फलवत्यभिधीयते ।” क० प्र० ३

जातशिलासु ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“यना विकसिताशङ्काः स्मृता जातशिलास्तु ताः ।” क० प्र० ३

स्वस्तरम् ॥ १२ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“स्वस्तरे सर्वे मासाद्य यथा यदुपयुज्यते । दैवपूर्वं ततः आहुं सत्वरः शुचिरारभेत् ॥” क० प्र० २ “पारिभाषिक एव स्यात् कालो गोवाजियज्ञयोः । अन्यस्यानुपदेशात् स्वस्तरारोहणस्य च गृ० स०

अपूपाम्, त्रैयम्बकप्रमाणान् ॥ ८, १० ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“त्रैयम्बकं करतल मपूपा मण्डकाः स्मृताः ।” क० प्र० ३

उल्मुकेन ॥ १८ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“अङ्गारोज्ज्वात मुल्मुकम्”—इत्यमरः २, ९, ३० ।

स्रोताश्चसि ॥ २५ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“सप्त तावन्मूर्द्धन्यानि तथा स्तनचतुष्टयम् । नाभिः ओशिरपानञ्च गोः स्रोतांसि चतुर्दश ॥” क० प्र० ३



सर्वाङ्गेभ्यः ॥ १ ॥ प्र० ४ खं० १ ।

“हृज्जिह्वाक्रोष्ठसक्थीनि यकृद्दृक्कौ गुदं स्तनाः । ओशिः स्कन्धसटा पार्श्वे पश्वङ्गानि प्रचक्षते ॥

एकादशाना मङ्गाना नवदानानि सङ्ख्यया । पार्श्वस्य वृद्धकुशैवो द्वित्वा-  
दाहुस्तुर्दश ॥” क० प्र० ३

वृषीम् ॥ १५ ॥ प्र० ४ खं० २ ।

“वृषीं कुर्यादुदङ्मुखीम्” ०५ सं १ । ३८ काष्ठासनमित्यर्थः । “शङ्कुशैवो-  
पवेशश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते” गृ० सं० १ । ८४ । वृष्यपरपर्याय उपवेशः इति  
नारायणोपाध्यायः ।

स्थगरम् ॥ १७-२० ॥ प्र० ४ खं० २ ।

“स्थगरं सुरभि ज्ञेयं चन्दनादि विलेपनम् ।” क० प्र० २ ।

पूर्वस्यां कर्ष्वाम् ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“पुरतो यात्मनः कर्षूः सा पूर्वा परिकीर्त्यते । मध्यमा दक्षिणेनास्यास्त-  
दक्षिणत उत्तमा ॥ क० प्र० २ ।

एवमेवेतरयोः ॥ ९ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“पितुरुत्तरकर्ष्वन्ते मध्यमे मध्यमस्य तु । दक्षिणे तत्पितुश्चैव पितृहान्  
पर्वणि निषपेत् ॥” क० प्र० २ ।

पिण्डम् ॥ १० ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

पितृहप्रमाणं त्वाह “पितृहान् दत्त्वा विलम्बप्रमाणकान् ।” क० प्र० १

वृद्धिपूर्तेषु ॥ ३४ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“वृद्धिः पुरुषसंस्कारः”—इत्येव महभाष्यम् । “वापीकूपतडागादि देवताय-  
तनानि च , अन्नप्रदान नारायाः पूर्णं नित्यमिधीयते ॥” जातूकर्णः ।

गोलकानां ॥ २५ प्र० ४ खं० ४ ।

“पालाशा गोलकाश्चैव” क० प्र० ३ ।

परिसमूहेत् ॥ ५ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“कृत्वाग्न्यभिमुखौ पात्री स्वस्थानस्थौ सुसंयतौ । प्रदक्षिणं तत्रासीनः कु-  
र्यात् परिसमूहनम् ॥” क० प्र० २ ।

वैरूपाक्षः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“वैरूपाक्षोऽसि—इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ४, ५

प्रपदः ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“तपश्च तेजश्च”—इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ४, ५

अविदासिनि ॥ २६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“नञ्ये स्वन्निहल सम्भते च वारिणा परिसंहतस् । अविदासिनं हृद् विद्या-  
तादृशं कर्मणो विदुः ॥” इति गृ० स० २-१२

उपतिष्ठेत ॥ २८ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“तदसंसक्तपार्श्विर्वा एकपादद्विपादपि । कुर्वाण कृताञ्जलिर्वापि ऊर्ध्व-  
बाहुरथापि वा ॥” अ० भा० ।

परिविष्यमाणे ॥ २९ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभाः व्योम्नि दृश्यन्ते  
परिवेषस्तु स स्मृतः ॥—इति भरत-धृत-साहसङ्गः ।

आचितशतकामः ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

“सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽहो कुरुविस्तस्तु तत्पले । तुला स्त्रियां पलशतं भारः  
स्याद् विंशतिस्तुलाः । आचितो दश भाराः स्युः शाकटो भार आचितः ॥” इति  
अमरकोशे २, ९, ८७ ॥

ब्रीहिकांसौदनं, कणान् ॥ १२ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

“द्रोणः स्यात् कांसमानकः” ब्रीहीणां कांसं ब्रीहिकासम्, तस्य औदनं भक्तं  
ब्रीहिकांसौदनम्, तम् । “कसृकाश्च कलाश्चैव कलीकरलककुशाः ।” गृ० भा० ॥

अनुषरम्, अमरुपरिहितम्, अकिलिनम् ॥ ८॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“उर्वरा सर्वसस्याद्या स्यादूषः क्षारमुत्तिका । ऊषवानूषरो द्वावप्यन्यलिङ्गौ  
स्थलं स्थली ॥” अ० को० २, १, ५, “किलिनं सजलं प्रेरकं दूरसातदको मरुः ।” क० प्र० ३

दर्भसम्मितम् ॥ ९॥ प्र० ४ खं० ७ ।

दर्भैः सम्मित माच्छन्नम् । अतएव गृह्यान्तरे,—“यस्मिन् कुशवीरलप्रभूतम्”  
शादासम्मितं, मण्डलद्वीपसम्मितम्, सर्वतः ॥ १०॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“शादा चैवेष्टका स्मृता” (क० प्र० ३) । तथा सम्मितं तुल्यं चतुरस्र मिति  
यावत् । नवहलं वर्तुलम् । “द्वीप मुञ्जत माख्यातम्” (क० प्र० ३) । तत्सम्मितं  
तत्तुल्य मिति । “दिशाश्च विदिशाश्चैव यत्र नोक्ता विचारणा । सर्वतस्तत्र शब्दोऽयं  
विधिधीने निपात्यते ॥” गृ० स० १, १६ ॥

इन्द्राय, पितृभ्यः ॥ २६-३३ ॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“अमुष्मै नम इत्येवं बलिदानं विधीयते । बलिदानप्रदानार्थं नमस्कारः  
कृतो यतः ॥”—इति, “स्वधाकारेण निनयेत् पित्र्यं बलि मतः सदा ।”—इति  
च विशेषोपदेशात् “इन्द्राय नमः”—इत्यादि “पितृभ्यः स्वधा”—इति च बोध्यम् ।

एकाक्षर्याम् ॥ ८ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

“आकूतिं देवीं मनसा प्रपद्ये ( म० ब्रा० २, ६, ९ )”-इत्येतस्मिन् मन्त्रे “एक  
मक्षरम्”-इति दर्शनादय मेव मन्त्र एकाक्षरीति व्यपदिश्यतेऽत्र ।

खदिरशङ्कुशतम् ॥ ९ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

“सत्त्वः शङ्खः कार्यास्तीक्ष्णाया वीतकण्टकाः । समिद्धाक्षसंयुक्तः सूची-  
सुत्यास्तथायताः॥” क० प्र० २ “शङ्कुश्चैवोपवेषश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते” । गृ० सं० १ । ८४

पूर्णहोमः ॥ २१ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

पूर्णहोमं यज्ञसे जुहोमि (म० ब्रा० २, ६, ११)-इति पूर्णशब्दान्वितमन्त्रेण होमः ।

चीवरम् प्र० ४ ख० ९ ।

“लीहचूर्णन्तु चीवरम्” क० प्र० ३

कम्बूकान् ॥ ११ ॥ प्र० ४ ख० ९ ।

“कलीकरणककुशान्”-इति महभाष्यम् । कणान्-इत्येव तन्निष्कर्षार्थ इति  
मत्सुहृदः । तुषानित्येवास्मद्गुरुवचनम् । तदन्नार्थनिर्णये भूमिदेवाः प्रमाणम् ।

संवेशनवेलायाम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ ख० ९ ।

“स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि ।” अ० को० १, ७, ३६

विष्टरम् ॥ ४ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

“ब्रह्मविष्टरयोश्चापि सन्देहे समुपस्थिते । ऊर्ध्वकेशो भवेद् ब्रह्मा लम्ब-  
केशस्तु विष्टरः ॥ ८८ ॥ कतिभिस्तु भवेद् ब्रह्मा ? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः ? पञ्चाशद्भिः  
कुशैर्ब्रह्मा तदर्हं न तु विष्टरः ॥” इति गृ० सं० १ । ८९ ॥ “यज्ञवास्तुनि मुष्ट्याञ्च  
स्तम्बे दर्भवतौ तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ।” क० प्र० १

अपः=पादम् ॥ ७ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

“पादार्थमुदकं पाद्यं केवलं जल मेव तत् । तत्तैजसेन पात्रेण शङ्खेनापि  
निवेदयेत् ॥ ” गृह्यान्तरम् ।

अर्घ्यम् ॥ ११ ॥ प्र० ख० १० ।

“दध्यक्षतसुमनस आपश्चेति चतुष्टयम् । अर्घ्यं एष प्रदातव्यो गृह्ये अर्घ्या-  
र्हाः स्मृताः ॥ ” गृ० २ । ६२ अष्टाङ्गमर्घ्यं तक्षणाञ्चैवम्, -“दध्यक्षतसुमनसो घृतं  
सिद्धार्थका यवाः । पानीयञ्चैव दर्भाश्च अष्टाङ्गो अर्घ्य उच्यते ॥ ” गृ० सं० २।६३  
“कांस्येनैवार्हणीयस्य निनयेदर्घ्यं मङ्गलौ । ” क० प्र० ३

मधुपर्कम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ ख० १० ॥

“सर्पिषा मधुना दध्ना अर्घयेदहं यन् सदा । ऋषिप्रोक्तेन विधिना मधुपर्कं  
याजिकः ॥ ६४ ॥ कंसे त्रितय मासिष्य कंसेन परिसंवृतम् । परिश्रितेषु देयः स्या-



मधुपर्क इति ध्रुवम् ॥” ॥५॥ इति गृ०स०२। “साक्षतं सुसनीयुक्तं मुदकं दधिसं-  
युतम् । अर्घ्यं दधिमधुभ्याञ्च मधुपर्कं विधीयते । कांस्थापिधानं कांस्थस्यं मधु-  
पर्कं समर्पयेत् । क० प्र०३ “दधनि पयसि वायवा कृतास्ते मधुदद्यान्मधुपर्कमेत-  
दाहुः । दधिमधुसलिलेषु सक्तवः पृथगेते विहितास्त्रयस्तु मन्थाः” इति गृ०स०२।६८  
शेषम् ॥ १६ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

पीतावशिष्टम् । नास्योच्छिष्टता; तथाहि—“मधुपर्कं तथा सोमे अप्सु प्राणा-  
हुतीषु च । अनुच्छिष्टो भवेद् विप्रो यथा वेदविदो विदुः ॥६६॥ प्राणाहुतिषु सोमेषु  
मधुपर्कं तथैव च । आस्यहोमेषु सर्वेषु नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥६७॥—इति गृ०स०२।

आचार्यः, ऋत्विक् ॥ २३ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

“उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यञ्च त मा-  
चार्यं प्रचक्षते ॥” म० स० २ । १४० “आन्याधर्मपाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् म-  
खान् । यः करोति वृत्तो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥” म० स० २ । १५३

—००:०—०—०—०:०—

अग्निनामानि ( गृ० सं० १ प्र० )

“लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः । अग्निस्तु सारुतो नाम  
गर्भाधाने विधीयते ॥२॥ पुश्रंसवने चान्द्रमसः शुक्लाकर्मणि शोभनः । सीमन्ते  
सङ्गलो नाम प्रागल्भी जातकर्मणि ॥ २ ॥ नास्मि स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्रा-  
शने च शुचिस्तथा । सभ्यनामाऽथ बूडे तु व्रतादेशे समुद्रवः ॥ ४ ॥ गोदाने  
सूर्य्यनामा तु केशान्ते ह्यग्निरुच्यते । वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योजकः  
स्मृतः ॥ ५ ॥ चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे । आवसथ्ये भवो ज्यो-  
वैश्वदेवे तु पावकः ॥ ६ ॥ ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्यादीश्वरो दक्षिणे तथा । विष्णु-  
राहवनीये तु अग्निहोत्रे त्रयोमयः ॥ ७ ॥ लक्षहोमे तु वह्निः स्यात् कीटिहोमे  
हुताशनः । प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥ ८ ॥ देवानां हव्यवा-  
हस्तु पितॄणां कव्यवाहनः । पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥ ९ ॥  
पौष्टिके वलदश्चैव क्रोधोऽग्निश्चाभिचारके । वश्यार्थं कामदो नाम वनदाहे तु  
दूतकः ॥ १० ॥ कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे । समुद्रे वाइवो ज्ये-  
क्षये संवत्सको भवेत् ॥ ११ ॥ एतेऽग्नयः समाख्याताः आवयेद् ब्राह्मणः सदा ।  
सप्तत्रिंशतिर्विरूपाता ज्ञातव्याश्च द्विजेन तु ॥ १२ ॥”

इति टीकापरिशिष्टम् समाप्तम् ॥

इति श्रीसामगाचार्यसत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्यविरचितया ‘व्याख्यान’-नाम-  
टीकया तत्परिशिष्टेन च समन्वितं क्षत्रिय कुमारोदयनारायणसिंह कृत  
भाषानुवादेन च मण्डितं ।

गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

## गोभिलगृह्यसूत्रस्य शुद्धिपत्रम् ॥

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध        | शुद्ध         | पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध    | शुद्ध     |
|-------|--------|---------------|---------------|-------|--------|-----------|-----------|
| २     | १८     | कुशाद्यपकर-   | कुशाद्युपक-   | ८८    | २६     | कारणे     | करस       |
|       |        | रणानि         | रणानि         | ८५    | २०     | काठन      | काटने     |
| ३     | २६     | परिसमूहो      | परिसमूहो      | ८८    | १५     | (दोपार    | (दोपहर    |
| ८     | ५      | ऊर्ध्वं       | ऊर्ध्वं       | ९८    | १८     | ऐक्य      | ऐक्येय    |
| १३    | १      | सू० १०-२२     | सू० १०-२३     | १०५   | ११     | हृद्      | हृद्      |
| १४    | १८     | उपने          | उठने          | ११३   | १८     | अथाहि     | अथापि     |
| १५    | १      | सू० २३-३२     | सू० २४-३२     | ११५   | ८      | 'वर्षन्त' | 'वर्षन्त' |
| १५    | १३     | तत्त्वम्      | तत्त्वम्      | १२०   | ८      | आचार्य    | आचार्य    |
| २०    | २५     | निययवाक्यत्वं | नियतवाक्यत्वं | १२७   | २८     | सहित      | सवित      |
| २२    | १८     | अनुनिधानम्    | अनुविधानम्    | १२८   | १२     | ज्वाचीनाः | ज्वाचीनाः |
| २७    | २०     | अग्रान्द्य    | अग्रान्द्य    | १२८   | ३०     | स्फटयति   | स्फुटयति  |
| २८    | २९     | रुद्रायनमः    | रुद्रायनमः    | १२९   | ६      | विद्यत्   | विद्यत्   |
| ३३    | २५     | सर्वतः        | सर्वतः        | १३०   | १८     | पाठन      | पाठ न     |
| ३८    | १५     | यजुर्वा       | यजुर्वा       | १३५   | २६     | सूर्य     | सूर्य     |
| ४१    | १      | पवित्रान्त-   | पवित्रान्त-   | १४२   | २३     | सावधानो   | सावधानो   |
|       |        | हिता          | हितान्        | १४५   | १९     | गोषु      | गोषु      |
| ४१    | १      | तण्डुलान्     | तण्डुलान्     | १४६   | १७     | तन्त्री   | तन्त्रां  |
| ४४    | ७      | केने          | केन           | १५७   | २६     | मान       | मास       |
| ४७    | १४     | स्विष्टकृते   | स्विष्टकृते   | १५९   | २८     | अग्ने     | अग्नेः    |
| ४८    | ६      | अभिष्वारण     | अभिघारण       | १६२   | २१     | अपुपाष्टक | अपूपाष्टक |
| ५४    | २६     | नैमित्तिकेषु  | नैमित्तिकेषु  | १६४   | २७     | गौ की     | गौ की     |
| ५८    | ५      | अगाद्य        | अगाध          | १६६   | १      | तदव       | तदैव      |
| ५८    | १२     | अगाधि         | अगाध          | १७२   | २४     | चरु       | चरु       |
| १९    | १०     | गृहीयात्      | गृहीयात्      | १७४   | १६     | यजमानस्य  | यजमानस्य  |
| ६५    | ९      | न ही          | न हो          | १८५   | १०     | तत्रैव    | तत्रैव    |
| ७१    | १      | ब्रह्मचर्य    | ब्रह्मचर्य    | १८६   | २३     | बृहे      | बृहे      |
| ७७    | १५     | तपि           | पति           | १८९   | १३     | जपदिति    | जपेदिति   |
| ७७    | ३०     | अक्कि         | अक्क्         | १९२   | २२     | मन्तेषु   | मन्तेषु   |
| ७८    | ३      | गृह्          | गृह्य         | १९८   | १६     | मनुषर     | मनूषर     |
| ७९    | ५      | विचरे         | विचरे         | २०३   | २५     | एधि       | एधि       |
| ८०    | ३१     | कुर्यात्      | कुर्यात्      | २०६   | १      | एकजरी     | एकाजरी    |
|       |        |               |               | २०९   | २०     | मुक्त     | मुक्तं    |

## आर्यभटीय सटीक सानुवाद । मूल्य १)

महामति पं० आर्यभट्ट कुसुमपुर निवासी ने वेद के अनुकूल आर्याहन्दी में यह अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ शाके ४२१ में, बनाया था । इसी पुस्तक में पृथिवी का भ्रमण साफ लिखा है। इस की भूमिका में समुद्रमयन, रासलीला, आदि पुराणोक्त उपाख्यानों का विचार किया गया है । यह ग्रन्थ आज तक हिन्दुस्तान में नहीं छपा था हम ने इस को जर्मन देश से मंगवाकर मूल तथा पं० परमेश्वर कृष्ण टीका और भाषानुवाद सहित छपवाया है ॥ मूल्य १) है ।

## सूर्यसिद्धान्त भाषाटीका और बृहद्भूमिका सहित मू० १॥)

यह ग्रन्थ-सिद्धान्त ज्योतिष के उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्राचीन सर्वमान्य है । भारतवर्ष में ज्योतिष के अनुसार पञ्चांग आदि बनने तथा गणित आदि सिद्धान्त ज्योतिष के विषय सम्बन्धी विवाद होने पर-इसी ग्रन्थ का प्रामाण्य माना जाता है । आज तक इस अमूल्य ज्योतिष के ऊपर ऐसा अपूर्व विचार नहीं किया गया था । इस की भूमिका के १५० पृष्ठों में प्रायः संस्कृत ज्योतिष, अंगरेजी आदि ज्योतिष, वेद, ब्राह्मणादि पुस्तकों से भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र का गौरव सिद्ध किया गया है । केवल इस एक ही पुस्तक के पढ़ने से बिना गुरु प्रायः ज्योतिष के विषयों का ज्ञाता हो सकता है ॥

## गौतमीय न्यायशास्त्र सभाष्य सानुवाद—मूल्य ३॥)

वेद, उपवेद और वेद के छः अङ्गों के रक्षार्थ-हमारे ऋषियों ने-छः उपाङ्ग स्वरूप-छः दर्शन शास्त्र रचे हैं । इन दर्शनों में ( अपने २ तरीके पर ) वेदोक्त सत्य सनातन धर्म को युक्ति तथा प्रमाणों से बड़े २ नास्तिकों के आक्षेपों का उत्तर देकर-हमारे वेदोक्त धर्म की रक्षा कियी गयी है । इन छः दर्शनों में से सब से अधिक हमारे गौतम ऋषि ने चार्वाक, बौध, आह्वन, जैन आदि मतों का अकाट्य उत्तर दिया है । इस दर्शन में एक बड़ी विलक्षणता यह है कि इस का ठीक २ सत्रक लेने पर, शास्त्रार्थ वा बहम की रीति खूब मालूम हो जाती है और चाहे कैसा भी प्रश्न नास्तिक क्यों न हो इस शास्त्र के जानने वाले के सामने नहीं टहर सकता । इस न्याय विद्या को "तर्क," भक्तिक या Logic कहते हैं । गौतम मुनि कृत ५३० सूत्रों पर वात्स्यायन मुनिकृत संस्कृत भाष्यका-अत्युत्तम सरलभाषानुवाद, स्थान २ पर उपयुक्त टिप्पणियाँ दीयी गयी है । और यह प्रति १३ शुद्ध प्रतियों से मिला कर अत्यन्त शुद्ध छपाई गयी है । इस में एक और विशेषता है कि इस की भूमिका में आस्तिक और नास्तिक दर्शनों पर युक्ति और प्रमाणों द्वारा विचार लिखा गया है और-छः दर्शनों का परस्पर विरोधाभास-के भ्रम को दूर किया गया है ।

पता-उदयनारायणसिंह-शास्त्रप्रकाश कार्यालय

मधुरापुर, बिहड़पुर, मुजफ्फरपुर ।

# मानवगृह्यसूत्रम्

कृष्णयजुर्वेदस्य मैत्रायणीशाखाया  
गृह्यकर्मप्रतिपादकम्  
भाषावृत्तियुतम्

ब्राह्मणसर्वस्वमासिकपत्रसम्पादकेन  
भीमसेनशर्मणा लोकोपकाराय  
निर्मितया नागरीभाषया  
समलङ्कृतम्

सत्यव्रतशर्मद्विवेदस्यप्रबन्धेनतदीयवेदप्रकाश  
नाम्नियन्त्रे मुद्रापयित्वाप्राकाशयन्तीति ॥

अस्यमुद्रणाद्यधिकारोवृत्तिकृता सर्वेषां स्वाधीनएवप्रक्षितः

संवत् १९६१ सन् १९०५



## अथमानवगृह्यसूत्रप्रस्तावः ।

(यह मानवगृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद की ५६ शाखाओं में से मैत्रायणी शाखा का सूत्र है) इस के भाषानुवाद में जिन २ मन्त्रों की प्रतीकें दी हैं वे मन्त्र मैत्रायणी शाखा में मिलेंगे । और जो पूरे २ लिखे हैं वे सब अन्य वेद शाखाओं के मन्त्र हैं । क्योंकि सभी गृह्य श्रीत कल्पसूत्रकारों की यह शैली ही है कि वे अपनी शाखा के मन्त्रों की प्रतीकें रखते तथा अन्य शाखाओं के जिन मन्त्रों को लेना चाहते हैं उन को सूत्रों के साथ पूरे २ उ्यों के त्यों लिख देते हैं । वेद के छः अङ्गों में एक कल्प भी प्रधान वेदाङ्ग है । छः अङ्गों में वेद के तीन अङ्ग प्रधान हैं । व्याकरण निरुक्त और कल्प ये ही तीनों कठिन भी हैं । इन तीन में भी व्याकरण मुख्य है इसी लिये ( मुखं व्याकरणं स्मृतम् ) कहा है । इन्हीं तीन अङ्गों के पढ़ने जानने से वेदार्थ करने समझने की योग्यता हो सकती है। इस कल्प नामक अङ्ग की ऋषियों ने वेद के ( हस्तौ कल्पाण्य पठ्यते ) हाथ कहा है । यह वेद का कल्प अङ्ग गृह्य और श्रीत दो भागों में विभक्त है । जैसे हाथों के बिना मनुष्य अपने सुखार्थ कुछ काम नहीं कर सकता वैसे ही कल्प के बिना खाली वेद को देखने जानने वाला अपने हितार्थ वेदोक्त कर्म कुछ नहीं कर सकता । और कर्म द्वारा ही मनुष्य का दुष्ट मिट हो सकता है इस लिये वेद के कल्पाङ्ग का पढ़ना देखना जानना हम को अपना दुष्ट नाशनाथ अत्यावश्यक है । गृह्य श्रीत दोनों प्रकार के प्रत्येक शाखा के साथ भिन्न २ हजारों कल्प सूत्र पूर्व काल में थे जो कालवश अधिकांश लुप्त हो गये । इस वेद के कल्पाङ्ग के साथ ही जैमिनि आचार्य के बनाये पूर्वमीमांसा शास्त्र का बड़ा सम्बन्ध है । कल्पाङ्ग की रीति भांति को जो नहीं जानता वह पूर्व मीमांसा शास्त्र को भी नहीं समझ सकता । इन गृह्य श्रीत दोनों प्रकार के कल्प सूत्रों में गृह्य की अपेक्षा श्रीत कठिन है क्यों कि श्रीत को भाषा टीका होने पर भी समझना कठिन है । सम्प्रति कोई रोक टोक न होने से जो लोग कल्प वेदाङ्ग शास्त्र का कुछ भी कर्म नहीं जानते वे भी लोभ वश हो २ कर इन में किसी २ गृह्य सूत्रादि का भाषानुवाद कर २ यत्र तत्र प्रकाशित करने को तत्पर हो गये हैं इस से और भी अधिक २ अज्ञान तथा अनर्थ फैलने की सम्भावना है । ईश्वर ही रक्षा करेगा । इसी मैत्रायणी शाखा का मानव कल्प श्रीतसूत्र भी मिलता है जो कलकत्ता में पहिले ही छप चुका है । जिस का पता कहीं २

हमने इस गृह्यसूत्र के भाषाटीका में भी दिया है। ये दोनों मानव कल्प गृह्य श्रौतसूत्र एक ही आचार्य के बनाये हैं परन्तु यह मानव गृह्यसूत्र जहाँ तक हमें ज्ञात है अब तक भारतवर्ष में नहीं छपा था। यहि कहीं छपा भी हो तो भाषाटीका न होने से इस को सर्वसाधारण मनुष्य लेकर देख नहीं सकते थे। यह ग्रन्थ रूस का छपा (जगन्मोहन वर्मा-ग्राम देईपार। डाक छपिया जि० वस्ती से) हमें मिला है। इस लिये हमने इस को भाषाटीका करके छपा दिया है।

हमारे पाठक लोग मानव धर्म शास्त्र [ जो मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है जिस का द्वितीय नाम भृगुप्रोक्त संहिता भी है ] को जानते ही हैं। वेदादि शास्त्रों की मर्यादा जानने वाले ब्राह्मणादि को यह भी विदित है कि पूर्व मीमांसाकार जैमिनि आचार्य ने जिस वेदोक्त सनातन धर्म का लक्षण (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) सूत्र से किया है उस धर्म का ठीक २ पता संस्कृत के विद्वानों को इन्हीं कल्प सूत्रों के पढ़ने देखने विचारने से लगता है। अर्थात् श्रुतियों में कहे धर्म की ठीक २ करने की रीति भांति समझाने के लिये प्रथम श्रौत तथा गृह्य नाम कल्पसूत्र हमारे पूर्वज ऋषियों ने बनाये थे। श्रुति में कहे धर्म को खोलने वाले होने से ही उन का नाम श्रौत सूत्र रखा गया है। उस श्रुति में कहे धर्म में जो शंका उत्पन्न होती थी वा होती है और होगी उन का समाधान करने के लिये जैमिनि आचार्य ने पूर्वमीमांसा शास्त्र बनाया है। जैसे घट पटादि पदार्थों के बनने की शक्ति पहिले से ही पृथिवी के भीतर अनादि विद्यमान है वा यों कहो कि घट पटादि सभी पदार्थ अपने २ सूक्ष्म रूप से अपने २ उपादान कारण पृथिव्यादि में पहिले से ही विद्यमान हैं तभी तो पृथिव्यादि से वैसी २ दशा में प्रकट हो २ कर अपने २ कारण में लीन हो जाते हैं। इसी अभिप्राय को लेकर सांख्यशास्त्र का यह सिद्धान्त चला है कि (नासत् आत्मलाभः। न सत् आत्महानम्) असत् वस्तु के स्वरूप का लाभ और सत् वस्तु के स्वरूप की हानि कदापि नहीं होती। वैसे ही सब श्रौत सूत्रादि ग्रन्थों का मूल वेद है पृथिवी से घट पटादि के तुल्य सब ग्रन्थ कोई साक्षात् कोई परम्परागत वेद से निकले हैं। इस से श्रौत गृह्य मीमांसा न्याय सांख्यादि सब का मूल वेद है। तथा श्रौत गृह्यनामक कल्पसूत्रों का भी समझना अब कालक्रम से मनुष्यों के अल्पज्ञ होते जाने

से ऋषियों की कठिन प्रतीत हुआ तब अठारह स्मृतियां मानवधर्म शास्त्रादि बनाये कि जिन से उसी प्रेरणारूप वेदीक्त धर्म के मर्म को ठीक २ समझाया जावे । चाहे यों कहो मानो कि सनातन वैदिक धर्म का अधिक २ मर्म खोलने के लिये ही स्मृतियां और उन पर इतिहासपुराणादि पुस्तक बनते गये हैं । मनुस्मृति आदि में ( वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यकर्म यथाविधि ) इत्यादि श्लोकों में कहे गृह्यकर्म ये ही हैं कि जो मानवगृह्यसूत्रादि में कहे गये हैं । और यथाविधि कहने से जैसा विधान उन कर्मों का गृह्यसूत्रों में कहा गया है उसी विधि से करे । इस कथन से मनु आदि महर्षियों ने गृह्य श्रौत सूत्रों का स्पष्ट संकेत किया है । इस से सिद्ध होता है कि इन गृह्यनामक कल्प-सूत्रों का आशय ले २ कर मनु आदि धर्मशास्त्र बने हैं । अर्थात् किसी स्मृति के बनने में किसी वेदशाखा के किसी गृह्यसूत्र का आशय लिया गया है । तदनुसार अनेक बातों के साफ २ मिलने से जान पड़ता है कि ( मनुस्मृति के बनने में विशेष कर इस मानवगृह्यसूत्र का आशय लिया है । इसके लिये कई उदाहरण हम नीचे दिखाते हैं )

मनुस्मृति में धर्म के व्याख्यान का आरम्भ द्वितीयाध्याय से चला है वहां प्रथम ब्रह्मचर्य धर्म कहा है यहां इस गृह्यसूत्र के आरम्भ में भी प्रथम ब्रह्मचारी के नियम चले हैं । ब्रह्मचारी सब बाल मुढ़ावे वा केवल शिखा रक्खे वा सब बाल रखावे ( मनु० अ० २ श्लोक २९९ । मुण्डोवास्याज्जटिलोवास्या दधवा स्याच्छिखाजटः । मानवगृह्ये पु० १ खं० २ सू० ६ मुण्डः शिखाजटः सर्वजटो वा ) प्रातः सायंकाल सूर्य के उदय अस्त पर सोता रहे तो प्रायश्चित्त ( मनु० अ० २ । श्लो० २२० । मानवगृह्ये पु० १ । खं० ३ । सू० १ ) आशय की पौर्णमासी पर उपाकर्म करे ( मनु० अ० ४ । ९५ । मानवगृह्य पु० १ खं० ४ सू० १ से ) गुरु की अनुमति आज्ञा लेकर समावर्तन करे ( मनु० अ० ३ । श्लो० ४ । मानवगृह्य पु० १ खं० २ सू० १८ ) रजस्वला के साथ सोने आदिका निषेध ( मनु० अ० ४ श्लो० ४० । मानवगृह्य पु० १ । खं० २ सू० १९ ) ग्राम से बाहर निकल कर एकान्त जङ्गल में सन्ध्या करना ( मनु० अ० २ । श्लो० १०४ । मानवगृह्य पु० १ खं० २ सू० २ ) ब्रह्मचारी को मधुमांस का तथा स्त्री के स्पर्शादि का निषेध ( मनु० अ० २ । श्लो० १०७ । मानवगृह्य पु० १ । खं० १ सू० ११ । १२ ) इत्यादि सैकड़ों अंश जैसे २ इस मानवगृह्यसूत्र में लिखे हैं वैसे



ही उर्षों के त्यों मनुस्मृति में भी मिलते हैं । इस से यह सिद्ध है कि इसी मानवगृह्यसूत्र का विशेष सहारा ले कर मनुस्मृति नामक धर्मशास्त्र बना है । इस पर कोई यह शक कर सकता है कि मनुस्मृति का सहारा लेकर मानवगृह्यसूत्र पीछे बना होऐमा भी तो दोनों के अंग मिलने से अभिप्राय निकल सकता है तब यही क्यों मान लिया जाय मनु आदि स्मृति पीछे से बनी हैं । तब इस का समाधान यह है कि मानवगृह्यसूत्रकार मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं रखते । इससे यह निश्चय है कि जो यस्तु जिस के पश्चात् वा जिस के विद्यमान होते हुए बनता है वह अपने से पहिले की स्वांश में अवश्य ही अपेक्षा रखता है । परन्तु मनुस्मृति आदि में अनेक स्थलों पर ( यथाविधि ) पद आता है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि वह गृह्यसूत्र में लिखे विधान को बीच २ बतलाना है । इस कारण पूर्वोक्त विचार सर्वथा ठीक ही जानना चाहिये मन्वेद ठीक २ न समझने से होते हैं ॥

हमने इस मानवगृह्यसूत्र को जैसा पुस्तक मिला वैसा ही शोध कर छपाया है । अशुद्धि विशेष न दीख पड़ने से शुद्धि पत्र इस के साथ नहीं लगाया गया है । यदि कम उठने के कारण कहीं २ छपने का दोष रहजाने से किन्हीं महाशयों को कोई २ अशुद्धि जान पड़े तो स्वयं शोध लें । और इस ग्रन्थ का सूची पत्र साथ में लगा होने से इस ग्रन्थ में कहे सब विषयों का ठीक २ पता लगजायगा । इस ग्रन्थ के अन्त में जिन के यहां पुत्र नहीं होते वा हो कर नहीं रहते उन के पुत्र उत्पन्न होने के लिये बहुत अच्छा पुत्रेष्टि याग कहा है । परन्तु उस को कोई धर्मरत्न अद्भुत शुद्धाचारी विद्वान् करावे यदि स्त्री को वन्ध्यादोष न हो तो पुत्रोत्पन्न होने की पूर्ण मन्त्रावना है । इस ग्रन्थ में मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण भाषानुवाद में कहीं कोई बड़ा दोष किन्हीं महाशय की प्रतीत हो तो वे कृपादृष्टि से हर्ष अवश्य सूचित करें

ह० भीमसेनशर्मणः

सम्पादक ब्रा० स० रय-इटावा-

## अथ मानवगृह्यसूत्राणां विषय सूचीपत्रम् ॥

| संख्या | विषयाः                        | पृष्ठानि | संख्या | विषय                               | पृष्ठानि |
|--------|-------------------------------|----------|--------|------------------------------------|----------|
| १-     | ब्रह्मचारि नियमाः             | १        | ३२-    | केशान्तसंस्कार                     | ४३       |
| २-     | सगिदाधानम्                    | २        | ३३-    | उपनयनसंस्कारः                      | ४४-४८    |
| ३-     | मन्थ्योपासनम्                 | ३        | ३४-    | चारुर्होत्रकी दीक्षा               | ४८       |
| ४-     | नैष्ठिक ब्रह्मचारिणाः कृत्यम् | ४        | ३५-    | आग्निंकी दीक्षा                    | ४९       |
| ५-     | समावर्त्तन संस्कारः           | ५        | ३६-    | आश्वमेधिकी दीक्षा                  | ५०       |
| ६-     | ज्ञातक नियमाः                 | ६        | ३७-    | आश्वमेधप्राप्त्याधानम्             | ५२       |
| ७-     | प्रार्याश्चिन्तानि            | ७        | ३८-    | सामान्य(स्थानीपाकः) प्रकरणम्       | ५५-५८    |
| ८-     | उपाकर्मविधिः                  | ८        | ३९-    | स्मार्त्तमिहोत्रम्                 | ५८       |
| ९-     | वेदाध्ययनविधिः                | ९        | ४०-    | पशुयागः                            | ५९       |
| १०-    | वेदानध्यायाः                  | ९        | ४१-    | आश्वयुजीयागः                       | ५९       |
| ११-    | वेदाहर्षणविधिः                | १०       | ४२-    | नवऋषिः                             | ५९       |
| १२-    | वेदभागविशेषाध्ययनविचारः       | ११       | ४३-    | पशुयागः                            | ६०       |
| १३-    | अन्तरकल्पकर्मविचारः           | ११       | ४४-    | शूलगवयजाः                          | ६२       |
| १४-    | होम विशेष विचारः              | १३       | ४५-    | ध्रुवाश्व कल्पयागः                 | ६३       |
| १५-    | वेदाध्ययनाहर्षणविधिः          | १४       | ४६-    | आयुहायणीकर्म                       | ६५       |
| १६-    | विवाह संस्कारः                | १४-३४    | ४७-    | स्वस्तरारोहणाधरोहणे                | ६६       |
| १७-    | विवाहाहर्षकन्याविचारः         | १५       | ४८-    | स्मार्त्तचातुर्मास्यानि            | ६६       |
| १८-    | ब्राह्मणविवाही                | १५       | ४९-    | अष्टकान्नयकर्मणि                   | ६७-६९    |
| १९-    | वधवाश्वप्रवेशविधिः            | ३४       | ५०-    | कालगुनीयागः                        | ७०       |
| २०-    | प्राजापत्यः स्थानीपाकः        | ३६       | ५१-    | माताह्वयादीनिकर्मणि                | ७१       |
| २१-    | पिरडुपितृयज्ञः                | ३६       | ५२-    | गानाकर्मविधिः                      | ७१-७३    |
| २२-    | दम्पत्योर्ब्रह्मचर्यम्        | ३६       | ५३-    | मणिकावधानम्                        | ७४       |
| २३-    | गर्भाधान विधिः                | ३६       | ५४-    | वास्तोष्पत्ययागः (वास्तुप्रतिष्ठा) | ७४       |
| २४-    | मीमन्तोन्नयनसंस्कारः          | ३७       | ५५-    | पंचमहायज्ञाः (वैश्वदेवकर्म)        | ७५       |
| २५-    | पुंसवनसंस्कारः                | ३८       | ५६-    | धनलाभाय वष्टीकल्पः                 | ७७       |
| २६-    | जातकर्म संस्कारः              | ३८       | ५७-    | विनायक(भूतोत्पात)शान्तिकर्म        | ७९       |
| २७-    | नामकरण संस्कारः               | ३९       | ५८-    | अदुतोत्पातप्रायश्चित्तानि          | ८३       |
| २८-    | प्रवासादागतस्य कृत्यम्        | ४०       | ५९-    | मर्षवलिकर्म                        | ८५       |
| २९-    | निष्क्रमण संस्कारः            | ४०       | ६०-    | कपोतपदप्रायश्चित्तम्               | ८७       |
| ३०-    | अन्नप्राशन संस्कारः           | ४१       | ६१-    | पाठाहुतः पुत्रेष्टियागः            | ८८       |
| ३१-    | चूडाकर्मसंस्कारः              | ४२       | ६२-    | सामान्य परिभाषा                    | ९०       |



# अथ मानवगृह्यसूत्रम्

उपनयनप्रभृति व्रतचारी स्यात् ॥ १ ॥ मार्गवासाः सं-  
हतकेशो भैक्षाचार्यवृत्तिः सशल्कदण्डः सप्तमुञ्जां मेखलां  
धारयेदाचार्यस्याप्रतिकूलः सर्वकारी ॥ २ ॥ यदेनमुपेयात्त-  
दस्मै दद्याद् बहूनां येन संयुक्तः ॥ ३ ॥ नास्यशय्यामाविशेत् ४  
न संवस्त्रयेत् ॥ ५ ॥ न रथमारोहेत् ॥ ६ ॥ नानृतं वदेत्  
॥ ७ ॥ न मुपितां स्त्रियं प्रेक्षेत् ॥ ८ ॥ न विहारार्थं जल्पेत् ॥ ९ ॥

भाषार्थः—यज्ञोपवीतसंस्कार होने से लेकर आगे कहे नियमों का पालन करने वाला ब्रह्मचारी हो ॥ १ ॥ मृगचर्म का वस्त्र हुपट्टे के स्थान में ओढ़ने वाला हो सब बाल रक्ते वा सब कटावे अथवा केवल छोटी रक्ते भिक्षा मांगकर वा आचार्य से भोजनरूप जीविका करे वक्रुलसहित ढांक वा घेल का दण्ड धारण करे सात मूजों (कोथों) की मेखला कटिभाग में धारण करे । आचार्य—गुरु के समस्त फूठ वा छल कपटादि कुछ न करे आज्ञाकारी रहे और गुरुसेवार्थ गुरु को स्नानादि कराना आदि सब काम करे ॥ २ ॥ जो कुछ घनादि वस्तु ब्रह्मचारी को मिले वह सब गुरु को समर्पण करे यदि कई गुरु हों तो जिस के समीप विशेष रहना हो उस को घनादि देवे ॥ ३ ॥ गुरु की शय्या वा आसन पर पीछे भी न बैठे न लेटे ॥ ४ ॥ सूत आदि के अच्छे २ वस्त्र गुरु के तुल्य न धारण करे वा स्त्री आदि के वस्त्रों से अपने वस्त्रों वा शरीर का स्पर्श न होने देवे ॥ ५ ॥ रथ घोड़ा हाथी आदि पर न चढ़े ॥ ६ ॥ मिथ्या भाषण कठोर भाषण और किसी की मिन्दा वा चुगली न करे व्यर्थ न बोलें ॥ ७ ॥ किसी मझी स्त्री को न देखे न स्पर्श करे स्त्री का स्मरण भी न करे ॥ ८ ॥ काम भोग सखन्धी स्त्रियों का कथन वा घन सुवर्णादि का कथन न करे न बुने अर्थात् कामेयता तथा वित्तैयता से सर्वथा अपने को बचाता रहे ॥ ९ ॥

नरुच्यर्थकिंचनधारयीत ॥ १० ॥ सर्वाणिसांस्पर्शिकानि  
स्त्रीभ्योवर्जयेत् ॥ ११ ॥ नमधुमांसेप्राशनीयात्क्षारलवणे  
च ॥ १२ ॥ न स्नायादुदकंवाऽभ्यवेयान् ॥ १३ ॥ यदिस्ना-  
यादण्डइवाप्सुप्लवेत् ॥ १४ ॥ प्रागस्तमयान्निष्क्रम्यसमिधा-  
वाहरेत् । हरिण्यौब्रह्मचर्यसकामइतिश्रुतिः ॥ १५ ॥ इमंस्तो-  
ममर्हत्तइत्यग्निंपरिसमुच्चपर्युक्ष्यपरिस्तीर्य-एधोऽस्येधिपीम-  
हीतिसमिधमादधाति, समिदसिसमेधिपीमहीतिद्वितीयाम् ॥ १६ ॥  
अपो अद्यान्वचारिषमित्युपतिष्ठते ॥ १७ ॥ यदग्ने तपसा  
तपो ब्रह्मचर्यमुपेमसि । प्रियाः श्रुतरय भूयास्मायुष्मन्तः  
सुमेधसः ॥ इति मुखं विमृष्टे ॥ १८ ॥

भाषार्थः--चित्त को प्रसन्न करने के लिये वा अपनी शोभा बढ़ाने के लिये  
वृत्तर चन्दन पुष्पमालादि कुछ धारण न करे ॥ १० ॥ स्त्री का वर्जन काव्य सु-  
मना स्त्री के स्तनादि अङ्गों का देखना छूना खुजलाना उबटन करना आदि  
तथा गाना बजाना नाचनादि सब काम सर्वथा छोड़ देवे ॥ ११ ॥ शहद सांस  
खार और लवण न खावे परन्तु यवाखार और सेंधे लवण का निषेध नहीं  
है ॥ १२ ॥ नित्य कामना से स्नान न करे जलाशय में घुसकर स्नान न करे ।  
किन्तु जलाशय के समीप आचमनादि के लिये आया करे ॥ १३ ॥ यदि स्नान  
भी करे तो शरीर को मल २ कर न धोवे तथा उबटन न करे किन्तु लफड़ी के  
तुल्य जल पर उतराता रहे ॥ १४ ॥ सूर्यास्त होने से पहिले अपने आश्रम से  
बाहर निकल के दूर से स्वयं सूखी हुई समिधा लावे तो श्रुति में लिखा है कि  
ब्रह्मतेज बढ़ता है ॥ १५ ॥ ( इमंस्तोममर्हत्त० ) इस मन्त्र से अग्नि के समीप  
हाथ से वा कं चीसे संमार्जन कर अग्नि के सब ओर प्रदक्षिण जल सेचन करके  
सब ओर कुछ बिछा के ( एधोऽस्येधि० ) मन्त्र से एक समिधा अग्नि में चढ़ावे  
और ( समिदसि० ) मन्त्र से दूसरी समिधा चढ़ावे ॥ १६ ॥ ( अपोअद्यान्व० )  
मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करे ॥ १७ ॥ ( यदग्नेतपसा० ) मन्त्र पढ़ के दहिने  
हाथ में जल लेके मुख का स्पर्श करे ॥ १८ ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा इति श्रोत्रे अभिमृशति ॥ १९ ॥  
 भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा इति चक्षुषी ॥ २० ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांस-  
 सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितमित्यङ्गानि ॥ २१ ॥ इह धृतिरिह स्व-  
 धृतिरिति हृदयदेशमारभ्य जपति ॥ २२ ॥ रुचं नो धेहीति  
 पृथिवीमारभते ॥ २३ ॥ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्या-  
 युषमगस्त्यस्य त्र्यायुषम् । यद्वेदानां त्र्यायुषं तन्मे अस्तु  
 त्र्यायुषम् । इति भस्मनाङ्गानि संस्पृश्यापोहिष्ठीयाभिर्मा-  
 र्जयते ॥ २४ ॥ इति प्रथमः खण्डः समाप्तः ॥

अथ सन्ध्यामुपास्ते ॥ १ ॥ प्रागस्तमयान्निष्क्रम्योत्तर-  
 तो ग्रामस्य पुरस्ताद्वा शुची देशे निषद्योपस्पृश्यापामञ्ज-  
 लं पूरयित्वा प्रदक्षिणमावृत्य-आयाहि विरजे देव्यक्षरे

( भद्रं कर्णेभिः ० ) मन्त्र से दोनों कानों का स्पर्श करे प्रथम दहिने फिर बायें  
 का ॥ १९ ॥ ( भद्रं पश्येमाक्ष ० ) मन्त्र से दोनों आंखों का एक साथ ॥ २० ॥  
 ( स्थिरैरङ्गैः ० ) मन्त्र से शिर आदि सब अङ्गों का स्पर्श करे ॥ २१ ॥ ( इह-  
 धृतिः ० ) मन्त्र का हृदय को स्पर्श करता हुआ जप करे ॥ २२ ॥ ( रुचं नो धेहि ० )  
 मन्त्र को पृथिवी का स्पर्श करता हुआ जपे ॥ २३ ॥ ( त्र्यायुषं जमदग्नेः ० ) म-  
 न्त्र को पढ़ता हुआ शिर आदि सब अङ्गों में चढ़ाई हुई समिधों की भस्म  
 लगावे फिर ( आपोहिष्ठा ० ) आदि तीन मन्त्रों से तीन बार मार्जन करे  
 ॥ २४ ॥ प्रातःकाल सन्ध्योपासन के पश्चात् समिधाधान करे । सन्ध्या करने  
 को सायंकाल निकले तभी समिधा लाया करे सन्ध्या आश्रम से बाहर और  
 समिधाधान आश्रम में किया करे ॥

भाषार्थः — अथ सन्ध्योपासन कर्म का विचार लिखते हैं । सायंकाल  
 बैठकर सन्ध्या करे ॥ १ ॥ सूर्यास्त होने से पहिले गुरु के आश्रम वा ग्राम से  
 निकलकर उत्तर वा पूर्व दिशा में जाकर शुद्ध स्थान में बैठ कर हाथ पांव धो

ब्रह्मसंमिते । गायत्री ! छन्दसां मातरिदं ब्रह्म जुषस्व मे ॥  
 इत्यावाहयति ॥२॥ ओजोऽसीति जपित्वा, कस्ते युनक्तीति  
 योजयित्वा, ओंभूर्भुवः स्वस्तस्वितुरित्यष्टौकृत्वः प्रयुङ्क्त्व  
 इत्याम्नाताः कामाः । आदेवोयातीति त्रिष्टुभं राजन्यस्य।  
 युञ्जतइति जगतीं वैश्यस्य ॥ ३ ॥ उदुत्यं जातवेदसमिति  
 द्वे निगद्य कस्ते विमुञ्चतीति विमुच्योदकाञ्जलिमुत्सृजति  
 ॥४॥ एवं प्रातस्तिष्ठन् ॥५॥ एतेन धर्मेण द्वादशचतुर्विंशतिषट्  
 त्रिंशतमष्टाचत्वारिंशतं वा वर्षाणि यो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो  
 वा ब्रह्मचर्यं चरति मुण्डः शिखाजटः सर्वजटो वा मलङ्गुर-

के अञ्जुली में जलभर कर प्रदक्षिणावृत्ति करके (आया हि विरजे०) मन्त्र  
 पढ़ के गायत्री का आवाहन करे ॥ २ ॥ फिर ( ओजोऽसि० ) मन्त्र पढ़ के  
 गायत्री देवी की स्तुति करके ( कस्तेयुनक्ति० ) मन्त्र पढ़ के अपने साथ गा-  
 यत्री देवी को युक्त कर ( ओं भूर्भुवः० ) मन्त्र की प्रणव सहित ब्राह्मण ब्रह्म-  
 चारी आठवार नित्य २ पढ़ा करे तो ब्रह्मचारी की सब कामना पूर्ण हो  
 जाती हैं ( आदेवोयाति० ) इस त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्र का उपदेश उपनयन  
 समय क्षत्रिय ब्रह्मचारी को होना चाहिये तथा (युञ्जते०) इस जगती मन्त्र का  
 उपदेश वैश्य ब्रह्मचारी को करना चाहिये और वे दोनों इन्हीं अपने २ मन्त्रों  
 का आठ २ बार नित्य २ प्रणवव्यवृत्ति सहित जप किया करें । यह व्यवस्था  
 श्रुत्यनुकूल ही जानो ॥३॥ (उदुत्यंजातवेद०) इत्यादि दो मन्त्रोंको उच्चस्वरसे पढ़के  
 (कस्ते विमुञ्चति०) मन्त्र द्वारा गायत्री का विमोचन करके पहिले भरी जलाञ्ज-  
 लि की भूमि पर छोड़ देवे । अर्थात् अञ्जुली में जल भर के आठवार प्रणवादि  
 सहित गायत्री का जप छोरे २ करने बाद यह कृत्य ब्राह्मण करे और अपने २  
 मन्त्रों से ऐसा ही क्षत्रियादि करें ॥ ४ ॥ इसी उक्त प्रकार से प्रातःकाल खड़े  
 होके सन्ध्या करे ॥५॥ इस उक्त प्रकार ठीकर नित्यनियम धर्मका पालन करता  
 हुआ १२ । २४ । ३६ । वा ४८ वर्ष तक मुण्ड जटिल वा शिखा मात्र रखने वा-  
 ला ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ब्रह्मचर्य ब्रह्मचारण करता है और मलिन शरीर

बलःकृशः स्नात्वा स सर्वं विन्दते यत्किञ्चिन्मनसेच्छतीति॥६॥  
 एतेन धर्मेण साध्वधीते ॥ ७ ॥ छन्दस्यर्थान् बुद्ध्वा स्ना-  
 स्यन् गां कारयेत् ॥८॥ आचार्यमर्हयेच्छ्रोत्रियः ॥९॥ अन्यो घे-  
 दपाठी न तस्यस्नानम् ॥१०॥ आपोहिष्ठेति तिसृभिर्हिरण्य-  
 वर्णाःशुचय इति द्वाभ्यां स्नात्वाऽहते वाससी परिधत्ते॥११॥  
 वस्यसि वसुमन्तं मा कुरु सौवर्चसाय मा तेजसे ब्रह्मवर्च-  
 साय परिदधामीति परिदधाति ॥१२॥ यथा द्यौश्च पृथिवी  
 च न विभीतो न रिप्यतः । एवं मे प्राण मा विभ एषं मे  
 प्राण मा रिषः ॥ इत्याहुक्ते ॥१३॥ हिरण्यमावध्नीते ॥१४॥  
 छत्रं धारयते दण्डं मालां गन्धम् ॥१५॥ प्रतिष्ठे स्यो दैवते  
 द्यावापृथिवी मा मा संताप्तमित्युपानही ॥१६॥ द्विवस्त्रोऽत

निर्वल पतला कण हुआ समावर्त्तन स्नान करता है वह जो २ मन से चाह  
 ता है उस मन्त्र को प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥ इन उक्त नियम से जो कुछ पढ़  
 ता है वह पढ़ना ठीक सुफल होता है ॥ ७ ॥ व्याकरण भीमांसादि पढ़ने द्वा-  
 रा वेदार्थ जान कर समावर्त्तन करता हुआ मधुपर्कादि से पूज्य घने ॥ ८ ॥  
 श्रोत्रिय हुआ वेद वेदाङ्ग पढ़के ब्रह्मचारी आचार्य का पूजन करे ॥ ९ ॥  
 ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं एक नैष्ठिक द्वितीय घेद समाप्ति पर समाव-  
 र्त्तन करने वाला इन में नैष्ठिक वेदपाठी समावर्त्तन स्नान न करे ॥ १० ॥  
 ( आपोहिष्ठा० ) इत्यादि तीन मन्त्रों से तथा ( हिरण्यवर्णा० ) इ-  
 त्यादि दो मन्त्रों से सुगन्धिमिश्रित जलद्वारा स्नान करके जो किसी यान में  
 से फाड़े न हों ऐसे चारेदार नये दो वस्त्रों को एक घोती एक ऊपर धारण  
 करे ॥ ११ ॥ अर्थात् ( वस्यसि० । मन्त्र पढ़ के वस्त्र धारण करे ॥ १२ ॥ फिर  
 ( यथा द्यौश्च० ) मन्त्र से प्रथम दहिनी फिर बायीं आंख में अञ्जन लगावे॥१३॥  
 फिर बिना ही मन्त्र पढ़े कानों में सुवर्ण के कुण्डल और सुवर्ण के कड़ा आ-  
 दि आभूषण धारण करे ॥ १४ ॥ फिर छाता घांस की छड़ी पुष्पमाला चन्दन  
 केशरादि सुगन्ध इन सब को धारण करे ॥ १५ ॥ फिर ( प्रतिष्ठेस्यो० ) मन्त्र  
 से प्रथम दहिने पग में फिर बायें पग में नयजूते पहिने ॥१६॥ इस से आगे सदा



ऊर्ध्वं भवति तस्माच्छोभनं वासो भर्तव्यमिति श्रुतिः ॥१७॥

आमन्त्र्य गुरुन् गुरुषधूश्च म्वान् गृहान् व्रजेत् ॥ १८ ॥

प्रतिषिद्धमपरया द्वारा निष्क्रमणं मलवद्वाससा सह संवस्त्रणं  
रजःसुवासिन्या सह शय्या गुरोर्दुःकृतायचनमस्थाने शयनं  
स्मयनं सरणं स्थानं यानं गानं तस्य चेक्षणम् ॥ १९ ॥ पौ-

र्णमास्याममावास्यायां वाऽऽग्नेयेन पशुना यजेत् ॥ २० ॥

तस्य हविर्भक्षयित्वा यथासुखमतऊर्ध्वं मधुमांसे प्राशनी-  
यात् क्षारलवणे च ॥ २१ ॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

यमेवं विद्वांसमभ्युदियाद्वाभ्यस्तमियाद्वा प्रतियुध्य जपेत्-

दो वस्त्र धारण करने वाला स्नातक हो क्योंकि श्रुति में लिखा है कि स्नातक  
गृहरथ शुद्ध शोभित निमज्ज घस्त्र धारण करे । अर्थात् मनावर्त्तन में प्रथम से र-  
खे हुए मद्य वाल शिखा छेकके पहिले मुहावे पीछे पूर्वोक्त स्नानादि करे ॥१७॥  
यदि पिता से भिन्न गुरु के पास वेदाध्ययनार्थ गया हो तो गुरु  
और गुरुपत्नी से आज्ञा लेकर अपने पितृघर को जावे ॥ १८ ॥ अथ स्नातक  
गृहस्थ के लिये कुछ नियम कहते हैं । घर के मुख्य द्वार को छोड़ के किसी  
खिड़की आदि से न निकला करे । मगिन कपड़े वालों का स्पर्श न करे ।  
रजस्वला पत्नी के साथ न सोवे । माता पितादि गुरु लोगों के विषय में समस्त  
वा परोक्ष में कटुवाक्य न कहे न सुने । शयन स्थान से अभ्यत्र न सोवे धिना  
प्रयोजन न हंसे व्यर्थ न डोले निष्प्रयोजन कहीं न टहरे गाना बजाना नाचना  
न करे और न अन्यो के गानादि को सुनने देखने को जावे ॥ १९ ॥ समावर्त्तन  
संस्कार के पश्चात् जो पौर्णमासी वा अमावास्या पड़े उसी दिन अग्नि देवता  
वाला पशुयाग करे ॥ २० ॥ उस में यज्ञ शेष हविष् भक्षण करके आगे शहद  
मांस खार और लवण चाहे तो खावे । मांस भक्षण का यहां विधान नहीं किन्तु  
इससे पूर्व कदापि न खावे यह दिखाना है । मांसभक्षण राग प्राप्त होने से उमका  
विधान हो नहीं सकता प्राप्ति में निषेध और अप्राप्ति में विधि होता है "२१"  
यह दूसरा खण्ड समाप्त होगया ॥

भाषार्थ—जिसने उक्त प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतके साथ गुरु मुख से वेदाध्ययन करके

पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः । पुनर्द्रविणमैतुमाम् । पुन-  
र्ब्राह्मणमैतुमाम् । अथो यथेने धिष्ण्यासो अग्नयो यथास्थानं  
कल्पयन्तामिहैव । इत्यभ्युदितः ॥ १ ॥ पुनर्म आत्मा पुनरायुरैतु  
पुनः प्राणः पुनराकूतिरैतु । वैश्वानरो वावृधानो वरेणा-  
न्तस्तिष्ठतो मे मनो असृतस्य केतुः ॥ इत्यभ्यस्तमितः ॥ २ ॥  
उभावेववाभ्युदितो जपेदुभावेव वाभ्यस्तमितः ॥ ३ ॥ यद्य-  
चरणीयान्वा चरेदनाक्रोश्यान्वा क्रोशेदभोज्यस्य वाऽन्नम-  
शनीवादक्षि वा स्पन्देत्कर्णो वा क्रोशेदग्निं वा चित्यमा-  
रोहत्-श्मशानं वा गच्छेद्यूपं योपस्पर्शेद् रेतसो वा स्कन्दे-  
देताभ्यामेव मन्त्राभ्यामाहुती जुहुयादपि वाज्यलिप्ते स-  
मिधावादध्यादपिवा मन्त्रावेव जपेत् ॥ ४ ॥ एवमधर्ममा-  
चर्याऽस्थूलम् ॥ ५ ॥ स्थूले वेषणया विहरेदवस्त्री लोमस्व-

समावर्त्तन किया हो वह स्वातन्त्र्य गृहस्थ प्रातःकाल सोता रहे वा अन्य काम  
में लगा रहे और सूर्योदय होजाये वा सायंकाल में सूर्य अस्त होजावे और  
सन्ध्योपासन न कर पावे तो जागकर वा सचेत होकर प्रातःसन्ध्या के व्यति-  
क्रम में ( पुनर्मामैत्वि० ) इत्यादि दो मन्त्रों का जप करे ॥ १ ॥ तथा सायंकाल  
की सन्ध्या छूटने पर ( पुनर्म आत्मा० ) इत्यादि जपे ॥ २ ॥ अथवा दोनों प्र-  
कार के उक्त मन्त्रों का दोनों के प्रायश्चित्त में जप करे ॥ ३ ॥ यदि खिड़की से  
निकलनादि विरुद्ध आचरण करे यदि स्त्री पुत्रादि को धनकावेकोशे यदि सूद-  
खोर व्याज लेन वाले आदि का अन्न खावे यदि आंख फड़के वा कान में शब्द  
हो यदि यज्ञके अग्नि पर खड़ाहो यदि मुर्दाके साथ श्मशान भूमिमें जावे वा  
यज्ञके यूपस्तम्भ का स्पर्श करे वा स्वप्न में घोर स्थलित हो तो इहों पृथक् दो  
मन्त्रों से प्रायश्चित्तार्थ दो आहुती होम करे अथवा घी में हुम्बोके दो समिधा  
अग्निमें चढ़ावे वा (पुनर्मामैत्वि०) इत्यादि दो मन्त्रों का जपही इन अपराधोंमें भी  
प्रायश्चित्त करे ॥ ४ ॥ इसी प्रकार उपपातकादि छोटा वा थोड़ा अधर्म करके भी  
उक्त मन्त्रों से आहुति दे समिधा चढ़ावे वा जप करे ॥ ५ ॥ और यदि चार स-

गाच्छादोऽग्निमारोहेस्संग्रामे वा घातयेदपि वाऽग्निमिन्घा-  
नं तपसाऽऽमानमुपयोजयीत ॥ ६ ॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

वर्षासु अश्वमेधेन स्वाध्यायानुपाकुरुते ॥ १ ॥ स जुहो-  
ति । अप्वानामासि तस्यास्ते जोष्टीं गमेयम् । अहमिद्वि पि-  
तुःपरि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्यइवाजनि स्वाहा ॥ अ-  
प्वो नामासि तस्यते जोष्टं गमेयम् । अहमिद्वि पितुःप-  
रि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्यइवाजनि स्वाहा ॥ सरस्व-  
ती नामासि सरस्वानामासि युक्तिर्नामासि योगो नामासि  
मतिर्नामासि मनोनामासि तस्यास्ते जोष्टीं गमेयम् । तस्य  
ते जोष्टं गमेयमिति सर्वत्रोऽनुपजति ॥ २ ॥ युजे स्वाहा

हापातकों में से कोई पाप किया हो तो उस पाप के चिह्न सहित भूमण्डल  
पर तीर्थादि में भ्रमण करे । जैसे ब्रह्महत्या की हो तो बिना शिर के रूप  
पुरुष का चिह्न हो ( गुरुतपे मगः कार्यः ) गुरुपत्नी गमन में मग का चिह्न  
रहे । अथवा सूतवस्त्र से रहित रोमों सहित चर्म ओढ़ के सम्यक् प्रवर्तित  
अग्नि में गिरके जल जावे ( प्राग्येदात्मानमग्नीषा समिद्धे त्रिरवाक् शिराः । इ-  
ति मनुः । ) अथवा युद्ध में किसी के शस्त्र से मर जावे ( मनुः—लक्ष्यं शस्त्रभृ-  
तां वा स्यात् ) अथवा अग्नि में समिदाधानादि नियम से करता हुआ प्रा-  
च्यायनादि तप करने में लग जावे ॥ ६ ॥ यह तीसरा खण्ड पूरा हुआ ॥

वर्षा ऋतु में अथवा नक्षत्र के दिन स्वाध्यायोपाकरण नामक कर्म करे ॥ १ ॥  
यह वेदाध्ययन वा ब्रह्मयज्ञ का आरम्भ करने वाला ( अप्वानामासि० ) इ-  
त्यादि आठ आहुति होम आचार और आज्यभागाहुतियों के पश्चात् करे ।  
तथा ( सरस्वतीनामा० ) इत्यादि छः खण्डों में जो २ स्त्रीलिङ्ग हैं उनके सा-  
थ ( तस्यास्ते० ) इत्यादि जोड़े । और ( सरस्वानामा० ) आदि पुंनपुंसक  
लिङ्गों में ( तस्यतेजो० ) इत्यादि जोड़ना तथा मन्त्र के अन्त में स्वाहा लगा-  
ना चाहिये ॥ २ ॥ तदनन्तर विद्यार्थियों वा अन्य सहाध्यायी वेदपाठियों

प्रयुजे रवाहो युजे स्वाहेत्येतैरन्तेवासिनां योगमिच्छन्निति ॥३॥  
 प्राक्स्विष्टकृतोऽथजपति ॥ ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदि-  
 ष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतुवक्तारम् । वा-  
 ङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरा-  
 युर्मयि धेहि वेदस्य वाणीः स्थ । ओंभूर्भुवः स्वस्तस्वितुरि-  
 ति ॥ ४ ॥ दध्मपाणिस्त्रिः सावित्रीमधीते । त्रींश्चादितोऽनुवा-  
 कान् । को वो युनक्तीति च । उपाकुर्महेऽध्यायानुपतिष्ठन्तु  
 छन्दांसोति च ॥ ५ ॥ तथ्यानध्यायाः समूहन्वातो वलीक-  
 क्षारप्रभृति वर्षं न विद्योतमाने न स्तनयतीति श्रुतिराका-  
 लिकं देवनुमुलं विद्युदुन्वोल्काऽन्यक्षराः शब्दाः । आचारे-  
 णान्ये ॥ ६ ॥ अर्द्धपञ्चमासानधीत्योत्सृजति पञ्चार्द्धपञ्चा-

को चाहता हुआ स्नातक ( युजेस्वाहा ) इत्यादि तीन मन्त्रों से होम करे । ३।  
 इस के अनन्तर स्विष्टकृत आहुति से पहिले ( ऋतंवदिष्यामि० ) इत्यादि म-  
 न्त्र का जप करे फिर स्विष्टकृत होम करे ॥ ४ ॥ फिर दहिने हाथ में कुश ले-  
 कर तीन बार गायत्री सावित्री मन्त्र पढ़े फिर ( इषेस्वा० ) इत्यादि तीन  
 अनुवाक पढ़े । तदनन्तर ( कोवोयु० ) इत्यादि पढ़े ॥ ५ ॥ उपाकर्म के बाद  
 तीन वा पांच दिन, आंधी आने पर वलीक नाम छज्जा से वर्षने पर अर्थात्  
 इतनी वर्षा कम से कम हो जिस से छज्जा के कोर वा श्रीलाती टपकने लगे तब  
 भी अनध्याय करे पर इस से कम वर्षने पर नहीं । तथा विजुली चमकने और  
 बादल गर्जने पर भी जब तक चमके वा गर्जे तब तक वेद न पढ़े । ज्योतिः  
 शास्त्र में लिखे अनुसार यहाँ का जब घुटु हो तब एक दिन रात वेद न पढ़े।  
 विजुनी इन्द्र धनुष् औ बड़े उल्का तारे टूटने पर तथा शूगालादि के कुसम-  
 य रोने पर भी और सामवेद की ध्वनि होने पर अन्यवेद न पढ़े । इनसे भिन्न  
 अनध्याय मनु आदि धर्म शास्त्र में कहे अनुसार जानो ॥६॥ साढ़े चार वा सा-

न्वा॥७॥अथ जपति ऋतमवादिषं सत्यमवादिषंतन्मावीत्तद्व-  
 त्तारमावीदावीन्मामावीद्वक्तारम् । वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता-  
 मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरायुर्मयि धेहि । वेदस्य वाणोः  
 स्थ । ओंभूर्भुवः स्वस्तत्सवितुरिति ॥८॥ दर्भपाणिस्त्रिः सावित्री-  
 मधीते । त्रींश्चादितोऽनुवाकान् । को वो विमुञ्जतीति विमुच्यो  
 त्सृजामहेऽध्यायान्प्रतिश्वसन्तु छन्दांसीति च ॥ ९ ॥ प्रतिपदं  
 पक्षिणीं रात्रीं नाधीयीत । नातऊर्ध्वमभ्रेषु ॥१०॥ आकालिको  
 विद्युत्स्तनयित्त्वर्षेषु ॥११॥ गोनामेषु मन्त्रब्राह्मणकल्पपि  
 तृमेधमहाव्रताष्टापदीवैषुवतानि दिवाऽधीयीत वैषुवत  
 माद्रपाणिः ॥ १२ ॥ रुद्रान्न नक्तं न भुक्त्वा न ग्रामे ॥१३॥  
 शुक्रियस्य प्रवर्ग्यकल्पे नियमो व्याख्यातः । त्रयोविंशन्तु सं

दे पांच सहिने तक नियम से वेदाध्ययन करके वेदाध्यायीत्सर्ग कर्म करे ॥ ९ ॥  
 फिर उस में ( ऋतमवादिषं० ) इत्यादि का जप करे ॥ ८ ॥ फिर दहिने  
 हाथ में कुश लेकर तीन बार गायत्री सावित्री को जपे और ( वषे त्वा० )  
 इत्यादि तीन अनुवाक पढ़े फिर ( कोवोविमुञ्जति० ) इत्यादि पढ़े ॥ ९ ॥  
 प्रतिपदा को एक दिन दो रात वेद न पढ़े । इस के पश्चात् भी वादल होने पर  
 भी न पढ़े ॥ १० ॥ विजुली घमकने वादल गजने और वर्षा होने पर आगे भी  
 एक दिन रात वेद का अनध्याय करे ॥ ११ ॥ गौओं के नाम वाले मन्त्र  
 ब्राह्मण और कल्पसूत्रों को दिन में पढ़े । पितृमेध कर्म सम्बन्धी मन्त्र  
 ब्राह्मण और कल्प सूत्र तथा महाव्रत सम्बन्धी कल्प सूत्र अष्टापदी ब्राह्मण  
 और विषुवान् नामक यज्ञ के प्रतिपादक वैषुवत मन्त्र ब्राह्मणों को दिन में  
 पढ़े पर जल में हाथ भिगोकर वैषुवत को पढ़े ॥ १२ ॥ रुद्र देवता के प्रति-  
 पादक मन्त्र ब्राह्मण और कल्पों को रात में भोजन के पश्चात् और ग्राम में न  
 पढ़े ॥ १३ ॥ शुक्रिय नामक पञ्चीश अनुवाकों को भी रात में भोजन के प-  
 श्चात् और ग्राम के भीतर न पढ़े । और इन शुक्रिय मन्त्र ब्राह्मण कल्पों के

मीत्य ॥ १४ ॥ गवां तु न सकाशे गोनामानि गर्भिणीना-  
मसकाशेऽष्टापदीं । रेतोमूत्रमिति च ॥ १५ ॥ शुनासीर्यस्य  
च सीर्यं चक्षुष्कामस्य । चक्षुर्नाथेहिचक्षुषइति । सूर्याऽपोऽ  
वगाहतइति च । आदित्यसीर्ययाम्यानि षड्ऋचानि दिवा-  
ऽधीयीत ॥ १६ ॥ उपाकृत्योत्सृज्य च त्र्यहं पञ्चरात्रमेके  
॥ १७ ॥ वेदारम्भणे समाप्तौ चाकालम् ॥ १८ ॥ षष्ठ्यण्डः समाप्तः  
अथातोऽन्तरकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ दर्भमयं वा-

अध्ययन के दिशा कालादि विशेष नियम मानव कल्प सूत्र के प्रवर्ग्य प्रकरण  
में कहे जानो । इन शुक्रिय के २५ अनुवाकों में तेईश्वर अनुवाक को आखें  
सीच कर पढ़ना चाहिये ॥ १४ ॥ गौश्रों के नामों वाले मन्त्र ब्राह्मण कल्पोंको  
गौश्रों के समीप न पढ़े । परन्तु अष्टापदी संज्ञक ब्राह्मण को गर्भिणी गौश्रोंसे  
पृथक् पढ़े । तथा (रेतो मूत्रम्) इत्यादि अपवित्र नामों वाले मन्त्र ब्राह्मण  
और कल्पों को उन २ अपवित्र पदार्थों के समीप न पढ़े ॥ १५ ॥ शुना सी-  
रीय पर्व की सूर्य देवता वाली (चक्षुर्नाथे । सूर्याऽपो) इन दो ऋचाश्रों को  
चक्षुश्रों का सुख चाहने वाला तथा शुनासीरीय पर्वकी आदित्य सूर्य  
और यन देवता वाली दो २ कर ( छः ) ऋचाश्रों को चक्षुसुख न चाहता  
हुआ भी दिन में पढ़े ॥ १६ ॥ वेदोपाकर्म और वेदोत्सर्ग कर्म करने पश्चात्  
तीन दिन अनध्याय रखे किहीं आचार्यों का मत है कि पांच दिन अनध्याय  
करे ॥ १७ ॥ वेद का आरम्भ करने और वेदकी समाप्ति करने पश्चात् जिस समय  
आरम्भ समाप्ति किये हों उसी समय तक अनध्याय रखे उस के बीच में फिर  
द्वितीय बार आरम्भ समाप्ति न करे ॥ १८ ॥ यह चौथा खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब यहां से आगे इस पांचवें खण्ड में अन्तरकल्प नामक कर्म का व्या-  
ख्यान करेंगे । यह कर्म उपाकर्म के बाद होता है उससे पहिले नहीं होता ।  
इस कर्म की प्रवृत्ति स्वाध्याय नामक ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत है इस लिये इसका  
नाम अन्तरकल्प है ॥ १ ॥ दर्भ कूट कर बनाये वस्त्र को पहन कर आच-  
मन करके नदी आदि जलाशय के घाट पर ( अपांतरत्रे ) इस मैत्रायणी शा-

सः परिधायाचम्यापांनपत्रइति तीरे जपित्वाऽपोऽवगाह्य  
 ओंभूर्भुवःस्वस्तत्सवितुरिति ॥२॥ दर्भपाणिस्त्रिः सावित्री-  
 मधीते त्रींश्चादितोऽनुवाकान् ॥ ३ ॥ आपो देवीः । हविष्म-  
 तीरिमाः । निग्राभ्याः स्थ । महित्रीणामवाऽस्तु । अग्नेरायुरसि ।  
 देवीरापोऽअपांनपात् । देवीरापोमधुमतीः । अग्नयेस्वाहारा-  
 त्रींरात्रीमित्यष्टौ ॥ ४ ॥ या ओषधयः । समन्यायन्ति । पु-  
 नन्तु मा पितरः । अग्नेर्मन्वे । सशेवृधमधिधाः । कयानश्चित्र-  
 आभुवदिति तिस्रः ॥ ५ ॥ तच्छंयोरारवृणीमहइति मार्जयित्वा  
 वासांस्युत्सृज्याचार्यान् पितृधर्मण तर्पयन्ति ॥ ६ ॥ आ-  
 दृकल्पेन शेषो व्याख्यातः ॥ ७ ॥ इति ५ खण्डः ॥

अथातोऽग्निं प्रवर्त्तयन्ति ॥ १ ॥ उत्तरतो ग्रामस्य पु-

खा अ० २७ अनु० ८ का जप करके जल में डुबकी लगावे फिर ( ओंभूर्भुवःस्व-  
 स्तत्स० ) इत्यादि गायत्री को दहिने हाथ में कुण लेकर तीन बार पढ़े ॥ २ ॥  
 और वेद के आदि से ( इपेत्वा० ) इत्यादि तीन अनुवाक पढ़े ॥ ३ ॥ फिर  
 ( आपो देवीः ) इत्यादि प्रतीकों वाले आठ अनुवाक पढ़े ॥ ४ ॥ फिर ( या-  
 ओषधयः० ) इत्यादि चार अनुवाकों को और ( सशेवृधम्० ) इत्यादि तीन ऋ-  
 चाओं को पढ़े ॥ ५ ॥ फिर ( तच्छंयोरार० ) इत्यादि पांच ऋचाओं से मार्जन  
 करके कुण के वस्त्र छोड़ कर कल्पसूत्रकार तथा अपने उपनयनादि कराने वा-  
 लों में जो २ आचार्य मरगये हों उन सब का अपसव्यादि पितृधर्म से सब का  
 त्र लोग तर्पण करें ॥ ६ ॥ आचार्यों के तर्पण के पश्चात् होने वाला शेषकाम इ-  
 सी ग्रन्थ में कहे आदृ कल्प अर्थात् पुरुष २ खं० ९ सू० १० से १४ तक कहे अ-  
 नुसार जानो ॥ ७ ॥ यह पांचवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब इस ठठे खण्ड में अन्तरकल्पका अङ्ग भूत स्वातर्की तथा ब्रह्मचारि-  
 यों के लिये अग्नि होम कहते हैं ॥ १ ॥ ग्राम से पूर्व वा उत्तर शुद्ध स्थान में  
 श्रीत वेदी के आकार में कुछ जगह अनावे । उस वेदी के आहवनीय स्थान  
 पूर्वान्त में चौकोण स्थण्डिल बनाके उस पर विष्टर रूप वा मुट्ठी २ भर दाभ

रस्ताद्वा शुचौ देशे वेद्याकृतिं कृत्वाऽऽहवनीयस्थाने सप्तक-  
 न्दांसि प्रतिष्ठाप्य विष्टरान् दर्भमुष्टीन्वा दक्षिणाग्निस्था-  
 ने प्रौगाकृतिं कौसितं स्वात्वा पश्चादुत्करमपां पूरयित्वा ।  
 गार्हपत्यस्थानेऽग्निं प्रणीय युञ्जानः प्रथमं मन इत्यष्टौ हृत्वा-  
 ऽऽकृतमग्निं प्रयुजं स्वाहेति षड्जुहोति । विश्वोदेवस्य नेतुरिति  
 सप्तमीम् ॥२॥ यज्ञियानां समिधां त्रींस्त्रोन् समित्पूलानुपकल्प्य  
 प्राकृत्विष्टकृतस्तिष्ठन्तो व्याहृतिपूर्वकं खण्डिलस्यादितस्त्रि-  
 भिरनुवाकैरकैकेन स्वाहाकारान्ताभिरादधति ॥३॥ आपो-  
 हिष्ठीयाभि कौसितान्मार्जयित्वा धानाभिर्ब्राह्मणान् स्व-  
 स्तिवाचयन्ति धानाभिर्ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयन्ति ॥४॥

इति पण्डः खण्डः समाप्तः ।

के गायत्री आदि मातृ कर्तों को पूर्व २ की ओर स्थापित करे । और दक्षि-  
 णाग्नि की जगह में पूर्वाभिमुख गाड़ी के आकार वाला कौसित नाम छोटा  
 गड़। खोदे पश्चात् उत्कर कुण्ड औरों के अनुसार बनाके इन तीनों में  
 जल भर देवे । फिर उस वेदि में पश्चिम में गार्हपत्य के सदृश मण्डलाकार स्थ-  
 ण्डिल बना के उस पर अग्निको स्थापित करके आचार प्राज्यभागाहुतियों के अ-  
 नन्तर (युञ्जानः प्रथमं मनः) इत्यादि आठ (आकृतमग्निं) इत्यादि छः और (वि-  
 श्वोदेवस्य नेतुः) इस को मिला के सब १५ पन्द्रह आहुति घी की देवे ॥२॥ प-  
 लाज वेन आदि यज्ञियवृक्षों की समिधाओं के तीन तीन पूला (मूठार भर पु-  
 षक् २ प्रति पुरुष के) बांध कर स्विष्टकृत आहुति से पहिले सब खड़े हुए वेद  
 में कहे अग्निस्थापन प्रकरण के आदि के तीन अनुवाकों के साथ व्याहृतिल-  
 गा के उन तीनों अनुवाकों से एक २ समित्पूला अग्नि में चढ़ावे ॥३॥ (आपोहि-  
 ष्ठा) इत्यादि तीन ऋचाओं से आहवनीयादि स्थानों में दर्भ मुष्टि रूप क-  
 न्द आदि जिनमें जल भरा था उन सब का मार्जन करके तीन आदि ब्राह्म-  
 णों को एक २ करके भुंजे हुए औ दे दे कर स्वस्तिवाचन करावे ॥ यह कृता ख-  
 ण्ड पूरा हुआ ॥



अथोपनिषदर्हाः । ब्रह्मचारी सुचरिती मेधावी कर्मकृ-  
 दुनदः प्रियो विद्यां विद्यायान्वेष्यन् ॥१॥ तानि तीर्थानि ब्र-  
 ह्मणः ॥२॥ भार्यां विन्दते ॥३॥ कृत्तिकास्वातिपूर्वैरिति वरयेत्  
 ॥४॥ रोहिणीमृगशिरःश्रवणश्रविष्ठोत्तराणीत्युपयमे तथोद्वाहे  
 यद्वा पुण्योक्तम् ॥५॥ । पञ्चविवाहकारकाणि भवन्ति वित्तं  
 रूपं विद्या प्रज्ञा बान्धवइति ॥६॥ एकालाभे वित्तं वि  
 सृजेद् द्वितीयालाभे रूपं तृतीयालाभे विद्यां प्रज्ञायां बान्ध  
 वइति च विवहन्ते ॥ ७ ॥ । बन्धुमतीं कन्यामस्पृष्टमैथुना

७. अथ सातवें खण्ड में विवाह विषय का आरम्भ है। इस में प्रथम वेदान्तो  
 पनिषद् पढ़ाने योग्य अधिकारी निम्न लिखित सात होते हैं । ब्रह्मचारी १।  
 मदाचारी २। बुद्धिमान् ३ सन्ध्यातर्पणादि कर्म श्रद्धा से करने वाला ४ धनदेने  
 वाला ५ आचार्य को प्रिय ६ और किसी विद्या के बढ़ने विद्यावाहनेवाला ७॥१॥  
 ये ब्रह्मचारी आदि वेद नामक शब्द ब्रह्म के तीर्थ हैं अर्थात् ऐसी को वेद प-  
 ढाने चाहिये ॥२॥ आगे लिखे प्रकार से भार्या स्त्री को प्राप्त हो ॥३॥ कृत्तिका  
 स्वाति और पूर्वाफल्गुनी आदि तीनों पूर्वा नक्षत्रों में विवाह करे ॥४॥ रोहि-  
 णी मृगशिर श्रवण धनिष्ठा और तीनों उत्तरा ये नक्षत्र उपयमनाम वाग्दान औ-  
 र विवाह के लिये अच्छे हैं । अथवा पाशाशरी आदि उपोतिष के अ-  
 च्छे ग्रन्थों में कहे नक्षत्रों में विवाह करे ॥५॥ कन्या का पिता वर की पांच द-  
 शा देखे १-धन । २-रूप । ३-विद्या । ४-बुद्धि । ५-कुटुम्ब । रूप कहने से काशे अन्धे  
 आदि का निषेध और बान्धव के साथ कुलीनता भी आजाती है ॥६॥ यदि  
 पांचो गुण वर में न मिलने हों तो धन को छोड़ दे क्योंकि धन अनित्य है वि-  
 द्या बुद्धि वाले के पास धन हो जाना सुगम है । दो गुण न मिलते हों तो  
 रूप को भी छोड़ दे क्योंकि विद्या कुरुपों का भी रूप है । तीसरा न मिले  
 तो विद्या को भी छोड़ दे क्योंकि बुद्धिमान् होगा तो पीछे भी पढ़ सकता  
 है तथा नभीपढ़ सके तो भी बुद्धिमान् निर्बुद्धिपण्डित से अच्छा है तथा बुद्धि और  
 कुटुम्ब इन दोनों में कुटुम्ब न होने पर भी बुद्धिमान् वर का विवाह कर-  
 देवे ॥ ७ ॥ जिस के साथ किसी पुरुष का संयोग न हुआ हो भाई जिस के को-

मुपयच्छेत समानवर्णामसमानप्रवरां यवीयसीं नग्निकां  
 श्रेष्ठाम् ॥८॥ विज्ञानमस्याः कुर्यादष्टौ लोष्टानाहरेत् सीता-  
 लोष्टं वेदिलोष्टं दूर्वालोष्टं गोमयलोष्टं फलवतो वृक्षस्या-  
 धस्ताललोष्टं श्मशानलोष्टमध्वलोष्टमिरिणलोष्टमिति ॥९॥  
 देवागारे स्थापयित्वाऽथ कन्यां ग्राहयेत् । यदि श्मशानलोष्टं गृ-  
 ह्णीयादध्वलोष्टमिरिणलोष्टं वा नोपयमेत् ॥१०॥ संजुष्टां  
 धर्मेणोपयच्छेत ब्राह्मेण शौत्केन वा ॥११॥ शतमिति रथं द-  
 द्याद्गोमिथुनं वा ॥ १२ ॥

इति सप्रमः खण्डः समाप्तः ॥

इ विद्यमान हो जो अपने वर्ण की हो जिस के प्रवर ऋषि अपने से भिन्न हों  
 जो ठीक युवति अच्छी हो जिस की छाती के स्तन न उगे हों न ऋतुमती हुई  
 हो जिस का रूप लावण्य वर्ण अच्छा गोरा हो ऐसी कन्या से विवाह करे ।  
 पुरुष की युवावस्था का आरम्भ सोलहवें वर्ष से और स्त्री की युवावस्था का  
 आरम्भ ग्यारहवें वर्ष से हो जाता है ॥ ८॥ विधवा वा बन्ध्यादि गुप्त वा अ-  
 दृष्ट दोषों की परीक्षा के लिये जुताखंत, होम की वेदि, दूध, गोबर, फल जिस  
 में लगते हों ऐसे वृक्ष के नीचे का, मरघट, मार्ग और ऊपर भूमि इन सब में  
 से एक २ मही का ढेला लेकर किसी देवता के मन्दिर में आठों ढेला रक्खे  
 और उन में से एक ढेला कन्या से उठवावे यदि मरघट, मार्ग और ऊपर के  
 ढेलों में से उठालेवे तो उस के साथ विवाह न करे ॥ ९ । १० ॥ ब्राह्म वा  
 आर्ष विवाह की रीति से उस के साथ विवाह करे । एक बैल एक गौ वा दो  
 बैल दो गौ वा उन का मूल्य कन्या के पिता को देकर विवाह करना आर्ष  
 कहाता है ॥ ११॥ शतमान सुवर्णभूषित रथ वा दोगै दो बैल अथवा सुवर्ण-  
 दि के आभूषण भोजन के वस्तु अन्नादि वा वस्त्र देकर विवाह करे ये सब प-  
 दान्तर में विकल्प हैं ॥ १२ ॥ यह सातवां खण्ड पूरा हुआ ॥

पश्चादग्नेश्चत्वार्यासनान्युपकल्पयेत् ॥ १ ॥ तेषूपविशन्ति  
 पुरस्तात्प्रत्यङ्मुखो दाता पश्चात्प्राङ्मुखः प्रतिग्रहीता दा-  
 तुरुत्तरतः प्रत्यङ्मुखी कन्या दक्षिणत उदङ्मुखी मन्त्रकारः  
 ॥ २ ॥ तेषां मध्ये प्राकृतूलान्दर्भानास्तीर्य कांस्यमक्षतोदके-  
 न पूरयित्वाऽविधवास्मै प्रयच्छति ॥ ३ ॥ तत्र हिरण्यम् ॥ ४ ॥  
 अष्टौ मङ्गलान्यावेदयति ॥ ५ ॥ मङ्गलान्युक्त्वा ददामि  
 प्रतिगृह्णामीति त्रिब्रह्मदेया पिता भ्राता वा दद्यात् ॥ ६ ॥  
 सहिरण्यानञ्जुलीनावंपति धनायत्वेति दाता पुत्रेभ्यस्त्वेति  
 प्रतिग्रहीता तस्मै प्रत्यावयति ॥ ७ ॥

अरुची से मन्थन करके निकालकर स्थापित किये अग्निसे पश्चिममें चार आसन  
 बिछावे ॥ १ ॥ उन आसनों पर निम्न रीतिसे बैठे। अग्नि से पूर्व में पश्चिमाभिमुख  
 कन्यादाता बैठे अग्नि से पश्चिम में पूर्वाभिमुख वर वा पूज्य बैठे दाता से  
 उत्तर में पश्चिम को मुख कर कन्या बैठे और अग्नि से दक्षिण में उत्तर को  
 मुख कर मन्त्र पढ़ने वाला पुरोहित वा आचार्य बैठे ॥ २ ॥ उन सब के बीच  
 पूर्व को जिन का अग्रभाग हो ऐसे कुश बिछाकर अक्षतों सहित जल से कांसे  
 का पात्र भर के सौभाग्यवती जो विधवा न हो दाता के हाथ में देवे ॥ ३ ॥  
 उस पात्र में सुवर्ण डाले ॥ ४ ॥ अविधवा स्त्री आठ वस्तु मङ्गल रूप दाता को  
 देवे ॥ ५ ॥ कन्या का पिता भाई वा नाना जो संरक्षक हो वह जिसका वर  
 से मूल्य नहीं लिया हो ऐसी ब्रह्मदेया कन्या को तीन बार अक्षत सुवर्ण डाले  
 जल पात्र सहित ( ददामि ) कहकर देवे और वर तीन बार ( प्रतिगृ-  
 ह्णामि ) कहकर कन्या को स्वीकार करे ॥ ६ ॥ यदि कुछ धनादि वर से ले-  
 कर कन्या के पिता ने विवाह किया हो तो वर सुवर्णादि धन अंजली में ले  
 और कन्या का पितादि कन्या का हाथ पकड़ के कहे कि ( धनायत्वाददामि )  
 तथा वर अपने हाथों में लिया सुवर्णादि कन्या के पिता को देता हुआ क-  
 न्या का हाथ पकड़े और कहे कि ( पुत्रेभ्यस्त्वा प्रतिगृह्णामि ) इस प्रकार  
 धन और कन्या का दोनों लौट फेर कर लें ॥ ७ ॥

चतुर्व्यंतिहृत्य ददाति ॥ ८ ॥ सावित्रेण कन्यां प्रतिगृह्य  
प्रजापतयइति च कइदं कस्माअदादिति सर्वत्रानुषजति  
कामैतत्तइत्यन्तम् ॥ ९ ॥ समाना वाआकूतानीति सह ज-  
पन्त्याऽन्तादनुवाकस्य ॥ १० ॥ खेरथस्यखेऽनसः खेयुगस्य-  
शतक्रतो । अपालामिन्द्रस्त्रिःपूर्यवकृणोत्सूर्यत्वचम् ॥ इ-  
ति तेनोदकांस्येन कन्यामभिषिञ्चेत् ॥ ११ ॥ इति ८ खण्डः ॥  
षडध्या भवन्त्यृत्विगन्चार्यो विवाहो राजा स्नातकः प्रि-  
यश्चेति ॥ १ ॥ अप्राकरणिकान्वा परिसंवत्सरादहंयन्ति ॥ २ ॥  
प्राकरणिकाः कर्तारः सदस्याश्च वृताः ॥ ३ ॥ न जीवत्पि-

चार बार देन लेन की लीट फेर दोनों करें ॥ ८ ॥ घर सविता देवता वाले  
( देवस्यत्वाऽ ) इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से कन्या को स्वीकार करे तथा प्रत्येक  
मन्त्र के अन्त में ( कइदं ) से लेकर ( कामैतत्ते ) पर्यन्त मन्त्र को सब के सा-  
थ जोड़ लेवे ॥ ९ ॥ फिर अनुवाक के अन्त पर्यन्त शेष बचे ( समानावाआकू-  
तानि ) इत्यादि मन्त्रों को कन्या के देने लेने वाले सब लोग एक साथ ही  
जपें अर्थात् स्पष्ट बोलें ॥ १० ॥ फिर घर ( खेरथस्य ) इत्यादि ऋचा पढ़के  
कामे के पात्र में पूर्व से रखे अस्तर्तों सहित जल से कन्या के शिरपर अभि-  
षेक करे ॥ ११ ॥ यह आठवां खण्ड समाप्त हुआ ॥ ( मधुपर्क )

भा० अब इस नवम खण्ड में मधुपर्क सभ्यन्ती विचार कहते हैं । ऋत्वि-  
ज्-पुरोहित १ । उपनयन कराके वेद पढ़ाने वाला आचार्य २ । जामाता घर  
३ । राजा सृष्टाभिषिक्त ४ । स्नातक ब्रह्मचर्य समाप्त करने वाला ५ । श्वशु-  
रादि प्रिय ६ ये छ; पुरुष मधुपर्कादि के विधान से शास्त्रानुसार पूज्य होते हैं  
॥ १ ॥ विवाह तथा (अग्निष्टोमादि यज्ञों के समय) तो मधुपर्क से पूजन का  
प्रकरण है वहां तो घर आदि का मधुपर्कविधि से पूजन होना ही इष्ट है ।  
परन्तु बिना प्रकरण के अकस्मात् ऋत्विजादि आत्रों तो एक वर्ष में एक ही वा-  
र मधुपर्क द्वारा पूजन करे अर्थात् एक वर्ष में द्विवार पूजन न करे ॥ २ ॥ यज्ञ  
कर्म में वरणा किये ऋत्विज् और सदस्य लोग भी प्राकरणीक होते हैं उस स-  
मय उन के वरणा से पहिले मधुपर्क द्वारा पूजन होना सचित है ॥ ३ ॥ जिस

तृकोऽर्घ्यं प्रतिगृह्णीयादिति श्रुतिरथवा प्रतिगृह्णीयात् ॥४॥  
 अथैनमर्हयन्ति ॥५॥ कांस्ये चमसे वा दधि मधुचानीय  
 वर्षीयसाऽपिधायाचमनीयप्रथमैः प्रतिपद्यन्ते ॥ ६ ॥ विरा-  
 जोदोहोऽसि विराजोदोहमशीय मयिदोहः पद्यायै विराजः  
 कल्पतामित्येकैकमाह्रियमाणं प्रतीक्षते ॥ ७ ॥ सावित्रेण  
 विष्टरं प्रतिगृह्य-अहंवर्षमसदृशानामुद्यतामिवसूर्यः ।  
 इदंतमभितिष्ठामि योमाकश्चाभिदासति ॥ इति जपति ॥८॥  
 राष्ट्रभृदसीत्याचार्य आसन्दीमनुमन्त्रयते ॥९॥ मात्वादोष-  
 इत्यधस्तात्पादयोर्विष्टरमुपकर्षति ॥१०॥ विष्टर आसीनायै-  
 कैकं त्रिःप्राह ॥११॥ नैव भोइत्याह नम आर्षेयायेति श्रुतिः  
 स्पृशत्यर्घ्यम् ॥१२॥ पाद्येन पादौ प्रक्षाल्य सावित्रेण मधु-

का पिता जीवित हो वह मधुपर्क द्वारा पूजा में विकल्पित है अर्थात् उसकी पूजा करे वा न करे ऐसा श्रुति में लिखा है ॥ ४ ॥ इन ऋत्विजादि का पूजन निम्न लिखित रीति से करे ॥ ५ ॥ कांस्य के कटोरे में वा प्रणीता के तुल्य चमस पात्र में सहित और दही ला के एक बड़े पात्र से ढांप कर आचमनीय जल आदि सहित पूज्य से निकट पूजक आवे ॥६॥ आचमनादि के लिये लाये एक २ जलादि वस्तु को पूज्य ऋत्विगादि पुरुष ( विराजो दोहोऽसि० ) इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ देखे ॥७॥ फिर ( देवस्यत्वा० ) इस सविता देवता वाले मन्त्र को पढ़ के विष्टर को हाथ में ले-के (अहं वर्षम०) मन्त्र को जपे ॥८॥ आघायादि पूज्य बैठने को लाये कुर्सी चौकी वा सिंहासनादि को देखता हुआ (राष्ट्रभृदसि०) मन्त्र पढ़े ॥९॥ (मात्वादोष) इत्यादि मन्त्र पढ़ के पूज्य आचार्यादि दोनों पगों के नीचे विष्टर को द-खावे ॥१०॥ (आचमनीयम्) (विष्टरः) इन दोनों को देता हुआ पूजक एकर बार बोले परन्तु अर्घ्य पाद्यादि देता हुआ ( पाद्यं पाद्यं पाद्यम् ) इत्यादि प्रकार तीनर बार कहे ॥११॥ फिर पूज्य (नैव भोः) कहे कि मैं पूजाई नहीं किन्तु (नम-आर्षेयाय) मैं ऋषियों को नमस्कार करता हूँ क्योंकि यहां भी वेही पूज्य हैं ऐसा श्रुति में कहा है फिर अर्घ्य का स्पर्श करके ग्रहण करे ॥१२॥ पाद्य जल से

पकं प्रतिगृह्य प्रतिष्ठाप्यावसाय्य-नमोरुद्राय पात्रसदे न-  
मो रुद्राय पात्रसद इति प्रादेशेनाध्यधि प्रतिदिशं प्रदक्षिणं  
सर्वतोऽभ्युद्दिशति ॥१३॥ मधुवाताऋतायतइति तिसृभिरङ्ग-  
गुल्या प्रदक्षिणं प्रत्यृचं त्रिरायौति ॥१४॥ अमृतोपस्तरणम-  
सीत्युपस्तरति ॥१५॥ सत्यंयशःश्रीर्मयि श्रीः श्रयतामिति म-  
धुपर्कं त्रिःप्राशनमिति ॥१६॥ अमृतापिधानमसीत्याचामति ॥१७॥  
सुहृदेऽवशिष्टं प्रयच्छति ॥१८॥ असिपाणिर्गां प्राह ॥१९॥ हतोमे  
पाप्मा पाप्मानं मेहत ओंकुरुत इति प्रेष्यति ॥ २० ॥ चतुरो  
ब्राह्मण द्वांना गोत्रान्भोजयेत् ॥ २१ ॥ पशवः पायसं वा

प्रथम दहिना फिर घाम पग की धो कर (देवस्यत्वा०) इन सविता देवता वाले  
मन्त्र से दाता के तीन बार कहने पर मधुपर्क को दहिने हाथ में ले कर वाम  
हाथ में स्थापित करके दहिने हाथ की तर्जनी और अंगुष्ठ द्वारा थोड़ा २ ऊ-  
पर २ की ईशान से लेकर प्रत्येक दिशा में प्रदक्षिणा क्रम से (नमोरुद्राय०) म-  
न्त्र को प्रत्येक दिशा के साथ बार २ पढ़ता हुआ मधुपर्क के छौंटा देवे ॥१३॥  
फिर (मधुवाताऋतायते०) इत्योदि तीन ऋषा पढ़ २ के दहिने हाथ की अ-  
नामिका अंगुली से मधुपर्क को मिलावे ॥१४॥ फिर (अमृतोप०) मन्त्र पढ़ के  
उपस्तार रूप आचमन प्रथम करे ॥१५॥ फिर (सत्यंयशः०) मन्त्र को पढ़ के ती-  
न बार थोड़ा २ लेकर मधुपर्क का प्राशन करे एकवार मन्त्र पढ़ के दोवार तू  
ष्णीम् ॥१६॥ तदनन्तर (अमृतापि०) मन्त्र पढ़ के ऊपर से अभिचार रूप आचम-  
न करे ॥१७॥ पश्चात् शेष वचे मधुपर्क को अपने किसी प्रिय मित्र को पात्र स-  
हित दे देवे ॥१८॥ फिर खड़ा हाथ में लेकर ( गौर्गौर्गैः ) ऐसा दाता पूजक  
कहे ॥१९॥ यदि संज्ञपन चाहता हो तो पूज्य आचार्यादि (हतोमेपाप्मा०) इ-  
त्यादि प्रैषवाक्य यजमान से कहे ॥ २० ॥ ( मधुपर्क में पशु संज्ञपन सदा से  
ही विकल्पित है । सत्ययुगादि में भी नियत नहीं हैं पर कलियुग में ( लोक-  
विकृष्टमेवच ) इत्यादि मन्त्रादि के वचनानुसार सर्वथा ही वर्जित है कथमपि  
कर्त्तव्यनहीं फिर भिन्न २ गोत्र वाले चार ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ २१ अथवा  
पशु का अङ्ग रूप पायस नाम खीर मधुपर्क पूजन में करा लेवे क्योंकि दूध भी

कारयेत् नामांसो मधुपर्क इति श्रुतिः ॥ २२ ॥ यद्युत्सृजेत्-  
मातारुद्राणां दुहितावसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः । प्र-  
नुवोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदिति वधिष्ठ । भूर्भुवः-  
स्वरोमुत्सृजेत् तृणान्यत्तु ॥ २३ ॥ अथालङ्करणमलङ्करण-  
मसि सर्वस्मा अलं मे भूयासम् ॥ २४ ॥ प्राणपानौ मे तर्पय (स-  
मानव्यानौ मे तर्पय उदारूपे मे तर्पय) सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भू-  
यासं, सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति यथालिङ्ग-  
मङ्गानि संमृशति ॥ २५ ॥ अथ गन्धोत्सदने वाससी ॥ २६ ॥  
परिधास्ये यशोधस्ये दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्तु । शतं जीवेम-  
शरदः पुरुचीरायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ यशसा माद्यावा-  
पृथिवी यशसेन्द्रावृहस्पती । यशोभगश्च मारिष्यशोमा प्रति-  
मुच्यताम् ॥ इत्यहं वासः परिधत्ते ॥ २७ ॥ कुमार्याः प्रमदने

पशु का अंश होने से उस में कारण रूप से सभी विद्यमान है । श्रुति में लिखा  
है कि मांस के बिना मधुपर्क नहीं होता सो खीर बना लेने परभी पशुवंश होने  
से मधुपर्क का श्रुत्यर्थ चरितार्थ है ॥ २२ ॥ तथा विकल्पित पक्षान्तर में गौ को  
छोड़ देना चाहे तो ( मातारुद्राणां० ) इत्यादि मन्त्र पढ़ के छुड़वा देवे ॥ २३ ॥  
फिर ( अलंकरणम्० ) मन्त्र पढ़ के मालादि आभूषण पहने ( प्राणपानौ० )  
पढ़ के नासिका के दोनों छिद्रों का स्पर्श करे ( समानव्या० ) से नाभिका  
( उदानरूपे० ) से कण्ठ का ( सुचक्षा० ) से दोनों आंखों का ( सुवर्चा सु० )  
से मुख का और ( सुश्रुत्कर्णाभ्यां० ) से दोनों कानों का स्पर्श करे प्रथम  
दहिने फिर बायें काम को दहिने हाथ से ( सर्वत्र ) स्पर्श करे ॥ २५ ॥  
फिर स्नातक पुरुष पूर्व कही स्नानविधि से पहिले ही मधुपर्क प्राशन  
करलेने पर विवाह के समय शरीर में चन्दन और सुगन्ध तैलादि सहित उ-  
बटन लगावे ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है और विवाहानन्तर स्नानवि-  
धि करे । २६ ॥ और ( परिधास्ये० ) मन्त्र से चिरेदार नयी धोती पहिने त-  
था ( यशसामा० ) मन्त्र से एक चिरेदार नया हुपट्टा ओढ़े ॥ २७ ॥ कुमारी

भगमर्यमणं पूषणं त्वष्टारमिति यजति ॥ २८ ॥ प्राक्स्विष्ट-  
कृतश्चतस्रो अविधवानन्दी रुपवादयन्ति ॥ २९ ॥ अभ्यन्तरे  
कौतुके देवपत्नीर्यजति ॥ ३० ॥ इति नवमः खण्डः समाप्तः ॥

ग्रामुदञ्चं लक्षणमुदुत्यावोक्ष्य, स्थण्डिलं गोमयेनोप-  
लिप्य मण्डलं चतुरस्रं वा, अग्निं निर्मथ्याभिमुखं प्रणयेत्  
(तत्र ब्रह्मोपवेशनम्) ॥ १ ॥ दर्भाणां पवित्रे मन्त्रवदुत्पाद्ये-  
मंस्तोममर्हतइत्यग्निं परिसमुह्य पर्युक्ष्य परिस्तीर्य पश्चा-  
दग्नेरेकवद्वर्हिः स्तृणाति ॥ २ ॥ उदक्प्राक्तूलान्दर्भान्प्र-  
कृष्य दक्षिणांस्तथोत्तरानग्रेणाग्निं दक्षिणैरुत्तरानवस्तृणा-

जिस के साथ विवाह होता हो उस के क्रीड़ा स्थान में भग अर्यमा पूषा और  
त्वष्टा इन देवताओं के नाम से घी की आहुति देवे ॥ २८ ॥ स्विष्टकृत आहु-  
ति से पहिले जो विधवा न हों ऐसी सौभाग्यवती चार स्त्रियां ढोल आदि  
सांगलिक वाजे बजावें और मंगल रूप भजन गावें ॥ २९ ॥ कन्या का पिता वा  
भाई घर के भीतर नियत किये कौतुकागार कौतुक स्थान में ( देवपत्नीभ्यः  
स्वाहा ) मन्त्र से होम करे अथवा सिनीवाली से लेकर कुडूपर्यन्त देव पत्नियों  
के लिये आहुति देवे ॥ ३० ॥ यह नवम खण्ड समाप्त हुआ ॥

पश्चिम से पूर्व की ओर जो उदक्संस्थ पांच रेखा और दक्षिण से उत्तर  
को एक रेखा बीच में स्पष्ट वा खुब मूल द्वारा कर के वहां से कुछ मट्टी अ-  
नामिकांगुष्ठ द्वारा ईशान में फेंक कर थोड़ा जल सेचन करके बिछाया हुई  
शुद्ध मट्टी की गोलाकार वा चौकोणवेदी को गी के गोबर से लीप कर उस में अ-  
रणी द्वारा मन्थन करके अथवा पुरुष १ ख० १७ सू० १ । २ में कहे जन्माग्नि  
को पूर्वाभिमुख हो के स्थापित करे ( उस से दक्षिण में वरत करके ब्रह्मा की  
बैठावे ) ॥ १ ॥ मन्त्र पूर्वक दर्भों के पवित्र बना के ( इमंस्तोमं ) मन्त्र से  
अग्नि के मुख और माह के ईशान कोण से लेके प्रदक्षिण सब ओर जल सेचन  
कर सब ओर कुश बिछा के अग्नि से पश्चिम में एकावृत्ति कुश बिछावे ॥ २ ॥ वेदि  
से उत्तर और दक्षिण में पूर्व की अग्रभाग करके अग्नि से पूर्व में उत्तर की त-



ति ॥ ३ ॥ दक्षिणतोऽग्नेर्ब्रह्मणे संस्तृणात्यपरं यजमानाय  
 पश्चाद्दे पत्न्यै अपरमपरं शाखोदकधारयोर्लाजाधार्याश्च  
 पश्चाद्वयुगधारस्य च ॥ ४ ॥ स्योनापथिविभवेत्येतयाऽव-  
 स्थाप्य शमीमयीः शम्याः कृत्वाऽन्तर्गोष्ठेऽग्निमुपसमाधाय  
 भर्ता भार्यामभ्युदानयति ॥ ५ ॥ वाससोऽन्ते गृहीत्वा-अ-  
 घोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवापशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वी-  
 रसूदेवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ इत्य-  
 भिपरिगृह्याभ्युदानयति ॥ ६ ॥ उत्तरेण रथं वाऽनो वाऽनु-  
 परिक्रम्यान्तरेण ज्वलनवहनावतिक्रम्य दक्षिणस्यां धुर्युत्त-  
 रस्य युगतनमनोऽधस्तात्कन्यामवस्थाप्य शम्यामुत्कृष्य

या पश्चिम में दक्षिणों के साथ मिलते हुये उत्तराय विद्यावे ॥ ३ ॥ अग्नि से दक्षिण में ब्रह्मा के लिये विद्याये आसन पर और ब्रह्मा से पश्चिम में यजमान के आसन पर तथा यजमान से पश्चिम में पत्नी के आसन पर कुश विद्यावे । ब्रह्मा यजमान और पत्नी से दक्षिण में आस पल्लव शाखा धारण करने वाले के लिये और उस से पश्चिम में जल भरे कलश की धारण करने वाले के लिये कुश विद्यावे तथा इन से पश्चिम २ को लाजा धारण करने वाली सौभाग्यवती स्त्री और हल का जुआ [ युग ] धारण करने वाले के लिये कुश विद्यावे ॥ ४ ॥ फिर ( स्योनापथिवि० ) मन्त्र से शाखाधार आदि चारों को स्थापित करके पहिले से न बनायी हों तो शमी-( लोंकर ) वृक्ष की शम्या प्रादेश मात्र ( सैलें ) बना कर कोठे के भीतर अग्नि को प्रज्वलित करके निम्न रीति से वर अपनी पत्नी को अग्नि के समीप लावे ॥ ५ ॥ पत्नी के हुपटे का छोर पकड़ के ( अघोर चक्षुः० ) इत्यादि मन्त्र पढ़े पश्चात् दोनों बाहु से उठा कर लावे ॥ ६ ॥ खड़े हुये रथ वा शकट ( छकड़ा ) के उत्तर से दक्षिण की ओर की परिक्रमा कर वा अग्नि और गाढ़ी के बीच से निकल के युग ( जुआं ) के जो दोनों भाग बैलों के कन्धे पर रहते हैं उन के बीच की धुर कहते हैं उस धुर और शम्या ( सैल ) के छिद्र के बीच उत्तर की नीचे क-

हिरण्यमन्तर्धाय हिरण्यवर्णाः शुचयइति तिसृभिरद्विरभि-  
 पिच्य, अत्रैव वाणशब्दं कुरुतेति प्रैष्यति ॥७॥ अथास्यै वा-  
 सः प्रयच्छति-या अकृन्तन्या अतन्वन्या आवन्या अवाह-  
 रन् । याश्च ग्ना देव्योऽन्तानभितोऽततनन्त । तारत्वा देव्यो  
 जरसे संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥ इत्यहत्  
 वासः परिधाप्यान्वारभ्याघारावाज्यभागौ हृत्वा । अग्नये  
 जनविदे स्वाहेत्युत्तरार्द्धं जुहोति । सोमाय जनविदे स्वाहेति  
 दक्षिणार्द्धं । गन्धर्वाय जनविदे स्वाहेति मध्ये ॥८॥ युक्तो वह,  
 यदाकूतमिति द्वाभ्यामग्निं योजयित्वा नक्षत्रमिष्ट्वा नक्षत्र  
 देवतां यजेत्तिथिं तिथिदेवतामृतुमृतुदेवतां च ॥ ९ ॥

न्या को स्थित कर शय्या को छिद्र से निकाल के उस युग छिद्र में सुवर्ण घरके  
 ( हिरण्यवर्णाः० ) इत्यादि तीन ऋचा पढ़ २ के छिद्र के ऊपर से कुशों वा  
 आम के पत्तों द्वारा कन्या के शिर पर अभिषेक करे और इसी अवसर में (वा-  
 ण शब्दं कुरुत ) ऐसे वाक्य द्वारा वादित्र (वाजे) वज्राने की आज्ञा देवे ॥७॥  
 फिर पत्नी को अग्नि के पास उठाकर लावे और ( या अकृन्तन्० ) इत्यादि  
 मन्त्र पढ़ के चीरेदार साड़ी [ जो किसी स्थान में से फाड़ी न गयी हो ] प-  
 त्नी को पहनावे । तदनन्तर पत्नी के अश्वारूढ करने पर प्रजापति और इन्द्र  
 देवता के लिये दो आघार और अग्नि तथा सोम देवता के लिये दो आज्य  
 भाग की आहुति दे कर ( अग्नयेजन० ) से वेदिस्थ प्रज्वलित अग्नि के उत्त-  
 रार्द्ध में ( सोमाय जन० ) से दक्षिणार्द्ध में और ( गन्धर्वाय जन० ) से बीच अ-  
 ग्नि में आहुति देवे ॥ ८ ॥ पश्चात् ( युक्तो वह० । यदा कूत० ) इन दो मन्त्रों  
 से अग्नि देवता को युक्त नाम संबोधित करके जिस तिथि में वह काम निवा-  
 ह होता हो उस दिन जो नक्षत्र हो उस नक्षत्र का जो देवता हो तथा प्रति-  
 पदादि जो तिथि हो उस के नाम से और उस तिथि के देवता के नाम से  
 तथा उस समय जो ऋतु हो और उस ऋतु का जो देवता हो उन सब के ना-

सोमोददहन्धर्वाय गन्धर्वोदददग्नये । रयिं च पुत्रांश्चादाद-  
 ग्निमंह्यमथोऽमाम् ॥ अग्निरस्याः प्रथमो जातवेदाः सो-  
 ऽस्याः प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदिदं राजा वरुणोऽनु-  
 मन्यतां यथेदं स्त्रीपोत्रमग्नम रुद्रियाय-स्वाहा-इति ॥ हि-  
 रिरण्यगर्भं इत्यष्टाभिः प्रत्यृचमाज्याहुतीर्जुहुयात् ॥ १० ॥ ये-  
 न च कर्मणेच्छेत्तत्र जयान् जुहुयात् जयानां च श्रुतिस्तां  
 यथोक्ताम् । आकूत्यै त्वा स्वाहा । भूत्यै त्वा स्वाहा । प्रयुजे  
 त्वा स्वाहा । नभसे त्वा स्वाहा । अर्यम्णे त्वा स्वाहा । समृद्ध-  
 ध्यै त्वा स्वाहा । जयायै त्वा स्वाहा । कामाय त्वा स्वाहेत्यृ-  
 चास्तोमं, प्रजापतय इति च ॥ ११ ॥ शुचिः प्रत्यङ्मुपयन्ता  
 तां-समीक्षस्वेत्याह ॥ १२ ॥ तस्यां समीक्षमाणार्या जप-  
 ति-ममव्रते ते हृदयं दधातु मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु ।  
 मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ठा नियुनक्तु म-  
 ह्यम् ॥ इति ॥ १३ ॥

न से छः आहुति देवे ॥ ९ ॥ पश्चात् ( सोमोददह० ) इत्यादि दो ऋचाओं से एक आहुति दे कर ( हिरण्यगर्भः० ) इत्यादि आठ ऋचाओं से घी की आ-  
 ठ आहुति देवे ॥ १० ॥ जिस कर्म से कार्य की सिद्धि चाहता हो वहां २ ज-  
 या होम करे । जया संज्ञक आहुतियों की यथोक्त श्रुति हैं कि शत्रु के विना-  
 शार्थ भी जया होम होता है । ( आकूत्यै० ) इत्यादि जया होम की आठ  
 आहुति दे कर ( ऋचास्तोमं० ) मन्त्र से नवमी और ( प्रजापतये स्वाहा )  
 से दशमी आहुति देवे ॥ ११ ॥ पवित्र हुआ वर ( अर्थात् स्त्री के साथ कामा-  
 भिलाष रहित धर्मनिष्ठ मन को रख के) पश्चिम को मुख करके पत्नी से कहे  
 ( समीक्षस्व ) मुझे देखो ॥ १२ ॥ वह पत्नी वर को देखती हो तब वर ( म-  
 मव्रतेते० ) इत्यादि मन्त्र को पत्नी की ओर देखता हुआ पढ़े ॥ १३ ॥

कानामासीत्याह ॥१४॥ नामधेये प्रोक्ते-देवस्य त्वा सवितुः प्र-  
सवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांपूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसाविति  
हस्तं गृह्णन्नाम गृह्णाति । प्राङ्मुख्याः प्रत्यङ्मुख ऊर्ध्व-  
स्तिष्ठन्नासीनाया दक्षिणमुत्तानं दक्षिणेन नीचारिक्तमरि-  
क्तेन ॥ यथेन्द्रो हस्तमग्रहीत्सविता वरुणो भगः । गृभ्णामि ते सौम-  
गत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासत् । भगो अर्यमा सविता  
पुरन्धिर्महः त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ याग्रे वाक्समवदत् पुरा  
देवासुरेभ्यः । तामय गाथां गास्यामो यास्त्रीणामुत्तमं मनः  
॥ सरस्वती प्रदमव सुभगे वाजिनीवति । यां त्वा विश्वस्य  
भूतस्य भव्यस्य प्रगायाम्यस्याग्रतः ॥ अमोऽहमस्मि सा त्वं  
सा त्वमस्याप्यमोऽहम् । द्यौरहं पृथिवी त्वमृक्त्वमसि सा-  
माहम् । रेतोऽहमस्मि रेतो धत्तम् ॥ ता एव विवहावहै पुंसे  
पुत्राय कर्त्तवै । श्रिये पुत्राय वेधवै । रायस्पोषाय सुप्रजा-  
स्त्वाय सुवीर्याय ॥१५॥ अभिदक्षिणमानीयाग्नः पश्चात्-ए-  
तमश्मानमार्तिष्ठतमश्मेव युवां स्थिरौ भवतम् । कृण्वन्तु  
विश्वेदेवा आयुर्वां शरद् शतम् ॥ इति दक्षिणाभ्यां पदभ्या

इस के पश्चात् वर कन्या से कहे कि (का नाममि तुम्हारा क्या नाम है ॥१४॥ जब कन्या  
अपना नाम बोले तब (देवस्य त्वा०) मन्त्र पढ़के निम्न रीतिसे कन्या का हाथ पकड़ें  
और मन्त्र के अन्त में पढ़ें (असौ) शब्द के स्थानमें कन्या का नाम सम्बोधना-  
न्त बोले । कन्या का मुख पूर्व की वर का पश्चिम की हो कन्या बैठी हो वर  
खड़ा हो कन्या का दहिना हाथ रीता उत्तान ऊपर की और वर के दहिने  
हाथ में कोई फलादि हो इस प्रकार अपने दहिने हाथ से कन्या का दहिना  
हाथ अंगुठा अंगुलियों सहित पकड़के (यथेन्द्रो हस्तमग्रहीत्०) इत्यादि मन्त्र पढ़ें ॥१५॥  
अन्य कोई पुरुष कन्या की वर से दक्षिण में और अग्नि से पश्चिम में खड़ी करके  
कन्या वर दोनों के दहिने पगों की एक पट्टर की निम्न पट्टर बाता हुआ (ए-

मश्मानमास्थापयति ॥१६॥ यथेन्द्रः सहेन्द्राण्य । अवारुहद्ग-  
न्धमादनात् । एवं त्वमस्मादश्मनोऽवरोह सह पत्न्या  
॥आरोहस्व समे पादौ प्रपूर्व्यायुष्मती कन्ये पुत्रवती भव॥-  
इत्येवं द्विरास्थापयति ॥१७॥ चतुःपरिणयति ॥१८॥ समितं संक-  
त्पेथामिति पर्याये पर्याये ब्रह्मा ब्रह्मजपंजपेत् ॥ १९ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

ततो यथार्थं कर्मसंनिपातो विज्ञेयः ॥१॥ अर्यम्णेऽग्नये पू-  
ष्णे (ऽग्नये) वरुणाय च ब्रीहीन्यवान्वाऽभिनिरूप्य प्रोक्ष्य  
लाजा भृज्जति ॥२॥ मात्रे प्रयच्छति सजाताया अविधवायै  
॥ ३ ॥ अथास्यै द्वितीयं वासः प्रयच्छति तेनैव मन्त्रेण ॥४॥

तमश्मान०) इत्यादि मन्त्र पढ़े ॥१९॥ फिर (यथेन्द्रः स०) मन्त्र पढ़ के दोनों के  
पगों को नीचे उतरवावे । पश्चात् उक्त प्रकार (एतमश्मान०) मन्त्र से फिर पा-  
षाण शिलापर दोनों के दहिने पग धरा के (यथेन्द्रः०) मन्त्र से फिर उतरवा  
वे ऐसे दो बार करके ॥१७॥ पश्चात् चार बार अग्नि के प्रदक्षिण परिक्रमा आ-  
गे कहे लाजाहोम के साथ कन्या वर दोनों करें ॥१८॥ और (समितं संकल्पेयां०)  
मन्त्र का प्रत्येक परिक्रमा के साथ एकबार ब्रह्मा जप करे ॥१९॥ यह दशवां ख-  
ण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—जिन कर्म का जहां प्रयोजन हो उसी अवसर में उस का अनु-  
ष्ठान करना चाहिये । अर्थात् सूत्रकार किसी अन्यत्र करने के काम को अन्यत्र  
भी कह देते हैं पर करने वाले को सौका देखकर यथावसर करना चाहिये  
इसी लिये इन सूत्रों में लिखे विवाहादि कर्म मिलसिलेवार पढ़ति बने  
बिना ही नहीं सकते हैं ॥ १ ॥ अर्यमाग्नि पूषाग्नि और वरुणाग्नि देवताके  
लिये लाजा भृज्जने के अर्थ धान वा जी का ग्रहण करके लाजा भृजे ॥ २ ॥ वे  
भृजे हुए लाजा वा जी कन्या की माता को वा जी विधवा न हो ऐसी क-  
न्यामाता की सहोदर बहिन कन्या की मौसी को देवे ॥ ३ ॥ इस के अन-  
न्तर उसी मन्त्र से कन्या को ऊपर से ओढ़ने के लिये द्वितीय वस्त्र देवे ॥४॥

दर्भरज्जवा — इन्द्राण्याः संनहनमित्यन्तौ समायम्य पुमांसं  
ग्रन्थिं बध्नाति ॥ ५ ॥ सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं  
त्वा नह्याम्यद्विरोषधीभिः । सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा  
संनद्धा सृनुहि भागधेयम् ॥ इत्यन्तरतो वस्त्रस्य योक्त्रेण  
कन्यां संनह्यते ॥ ६ ॥ अधैनान्युपकल्पयते-शूर्पं लाजा इ-  
षीका अश्मानमाञ्जनम् ॥ ७ ॥ चतसृभिर्दर्भेषीकाभिः शरेषी-  
काभिर्वा समुज्जाभिः सतूलाभिरित्येकैकया त्रैककुभस्या-  
ञ्जनस्य संनिष्कृष्य-वृत्रस्यासि कनीनिकेति भर्तुर्दक्षिणमक्षि-  
त्रिः प्रथममाङ्कते । तथापरं, तथा पत्न्याः शेषेण तूष्णीम् ॥ ८ ॥  
दिशि शलाकाः प्रविध्यति-यानि रक्षांस्यभितो ब्रजन्त्यस्या  
वध्वा अग्निसकाशमागच्छन्त्याः । तेषामहं प्रतिविध्यामि  
चक्षुः स्वस्ति वध्वै भूपतिर्दधातु ॥ इति ॥ ९ ॥ लाजाः पश्चा-

फिर ( इन्द्राण्याः संनहन० ) इन मन्त्र को पढ़ के आचार्य दाभ की रस्सी  
के दोनों छोर मिलाकर प्रदक्षिण रीति से गांठ देवे ॥ ५ ॥ फिर ( संत्वानह्या  
मि० ) मन्त्र पढ़ के कन्या के कटि भाग में पहने हुए साड़ी वस्त्र के बीच ( दो-  
नों ओर ऊपर नीचे वस्त्र रहे ) में वह दर्भ रज्ज प्रदक्षिण लपेटे । यह पत्नी  
की दीक्षार्थ मेखला है ॥ ६ ॥ इस के अनन्तर सूप खीले दाभ वा मूँज की चार  
सीकें पश्चर की शिला और आखों में लगाने का सुरमा इन सब को संहाल के  
रक्खे ॥ ७ ॥ जिनमें मूँज और अग्रभाग में फूला घुआ लगा हो ऐसी पूरी लम्बी दाभ  
की वा मूँज की चार सीकों के छोर ठीक करके उन एक २ में पहड़ी सुरमा  
लगा के पहिले कन्या एक सीक से घर की दहिनी आंख में ( वृत्रस्यासि० ) म-  
न्त्र से तीनवार सुरमा लगावे तथा इसी प्रकार बायीं आंख में दूसरी सीक से  
लगावे फिर शेष बची दो सीकों से घर पत्नी की दहिनी बायीं आंखों में बि-  
ना मन्त्र सुरमा लगावे ॥ ८ ॥ फिर ( यानि रक्षांसि० ) मन्त्र पढ़ के सब दि-  
शाओं में एक २ सीक जिन से सुरमा लगी है प्रदक्षिण क्रम से घर फेंके ॥ ९ ॥

दग्नेरुपसाद्य शमीपर्णैः संसृज्य शूर्पं समं चतुर्धा विभज्या-  
 ग्रेणाग्निं पर्याहृत्य लाजाधार्यं प्रयच्छति ॥ १० ॥ लाजा  
 भ्राता ब्रह्मचारी वाऽञ्जुलिनाऽजल्योरावपति ॥ ११ ॥ उपस्त  
 रणाभिधारणैः संपातं ता अविच्छिन्नैर्जुहुतः - अर्यमणं  
 नुदेवं कन्याअग्निमयक्षतः सोऽस्मान्देवोऽर्यमा प्रेतः मुञ्च-  
 तुमामुतः स्वाहा ॥ तुभ्यमग्नेपर्यवहन्त्सूर्यावहतुनासह ।  
 पुनःपतिभ्योजायांदा अग्नेःप्रजयासह ॥ पुनःपत्नीमग्निर-  
 दादायुषासहवर्चसादीर्घायुरस्यायः पतिर्जीवातिशरदःशतम् ॥  
 इयंनार्युपब्रूते ( ऽग्नौ ) लाजानावपत्तिका । दीर्घायुरस्तुमे-  
 पतिरेधन्तांज्ञातयोमम ॥ इति ( जपन्ति ) ॥ १२ ॥ एवंपू-

तदनन्तर लाजा नाम धान की खीलों को अग्नि से परिचय में रखके उन में ज-  
 मी ( खींकर वृत्त ) के पत्ते मिलाकर उन को मृप में चार भाग धरात्र पृथ-  
 क्करखके अग्नि के उत्तर पूर्व से प्रदक्षिण जाके लाजा के गूप को दक्षिण की ओर  
 खड़ी लाजा धारण करने वाली स्त्री को देवे ॥ १० ॥ कन्या का भाई वा ब्रह्मचारी  
 विद्यार्थी कन्यावर दोनों को मिलाई हुई अञ्जुली में लाजा अपनी अञ्जुली में ले-  
 कर गिरावे ॥ ११ ॥ लाजा गिराने में पूर्व अञ्जुली में उपस्तार रूप घी लगावे फि-  
 र लाजा गिरा के खीलों के ऊपर में घी छोड़े वह अभिधारण कहलाता है फिर  
 बीच में न सकेते हुए धार बांध कर ( अर्यमणं ) आदि मन्त्रों से दोनों कन्या व-  
 र होस करें । ( अर्यमणंनुः ) से लेकर ( प्रजयासह ) तक पहिले वर पढ़ें । फिर ( पु-  
 नः पत्नीम् ) मन्त्र को अध्वर्यु पढ़ें ( इयं नार्युपब्रूते ) मन्त्र को कन्या पढ़ें  
 चारों मन्त्रों के पाठ के साथ धीरे २ निरन्तर दोनों कन्या वर लाजा गिराते  
 जावे यह एक आहुती हुई ॥ १२ ॥ फिर पूर्व लिखी अग्नि की परिक्रमा दोनों  
 एक बार करें परिक्रमा के साथ ( समितं ) मन्त्र को ब्रह्मा पढ़ें ( अर्था-  
 त् वहां क्रम यह है कि प्रथम घेदि में रेखा करे अग्निस्थापन, दर्भ पवित्र व-  
 नाना, अग्नि का परिमसूहनादि स्थापनान्त, स्तुवादि पात्रस्थापन, लाजा

पणंनुदेवं, वरुणंनुदेवम् ॥१३॥ येनद्यौरुग्रेत्यादय उद्वाहे हो-  
माः । जयाभ्यातानाः संततिहोमा राष्ट्रभूतश्च ॥१४॥ आकू-  
तायस्वाहेति जयाः । प्राचीदिग्वसन्तऋतुरित्यभ्यातानाः ।  
प्राणादपानंसन्तन्विति संततिहोमाः । ऋताषाड्ऋतधामेति  
(द्वादश) राष्ट्रभूतश्च ॥१५॥ त्रातारमिन्द्रं, विश्वादित्याइति  
मङ्गल्ये ॥ १६ ॥ लाजाः क्रोमेन चतुर्थं स्विष्टकृतमिति ॥१७॥  
अथैनां प्राचीं सप्रपदानि प्रक्रमयति । एकमिषे । द्वेऊर्जे ।  
त्रीणि प्रजाभ्यश्चत्वारि रायस्पोषाय । पञ्च भवाय । षड्ऋ-  
तुभ्यः । सखासप्तपदीभव सुमृडोकासरस्वती । मातेव्योमसंह-  
शि ॥ विष्णुस्त्वामुन्नयत्विति सर्वत्रानुषजति ॥१८॥ पश्चाद-  
ग्नेरोहिते चर्मण्यानडूहे प्राग्ग्रीवे लोमतो दर्भानास्तीयं तेषु

निर्वपणादि, सूप आदि का स्थापन, फिर आज्यग्रहणादि समिदाधान पर्यन्त  
( पु० २ ख० २ ) में कहे अनुसार फिर ( ऋचास्तोमं० ) पर्यन्त आचारहो-  
मादि । फिर हस्तग्रहणान्त करके अश्वनाभ्यापन लाजाहोमादिकरे ) फिर  
पूपा और वरुण का ऊह अर्यमाके स्थान में काके ( पूषणंनुदेवं कन्या० ) इ-  
त्यादि मन्त्रों में दो बार लाजा होम परिक्रमा और अश्वमारोहणावरोहण फिर  
करें ॥ १३ ॥ ( येन द्यौरुग्रेऽ ) इत्यादि होम विवाह में करे तथा ( आकूताय० )  
इत्यादि पूर्वोक्त जयाहोम ( प्राचीदिग्० ) इत्यादि अभ्यातान ( प्राणादपानं० )  
इत्यादि संतति होम और ( ऋताषाड्० ) इत्यादि बारह आहुति राष्ट्रभूत होम  
भी विवाह में करे ॥ १४ । १५ ॥ ( त्रातारमिन्द्रं० ) ( विश्वादित्या० ) इन दो  
मन्त्रों से मंगल आहुति करे ॥१६॥ फिर ( अर्यमसंनु० ) इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रों  
में अर्यमाके स्थान में काम शब्द का ऊह करके कि ( कामंनुदेवं० ) चौथी स्वि-  
ष्टकृत स्थानी लाजाहुति करे ॥ १७ ॥ फिर इस कन्या को ( एकमिषे० ) इत्यादि  
के आगे ( भवसुमृडोका० ) से ( मुन्नयतु ) पर्यन्त मंत्र सब में लगा २ के एक २  
मन्त्र से एक २ पग पूर्व की खजावे ॥ १८ ॥ तदनन्तर अग्नि से पश्चिम में लाल  
खैल के चर्म को पूर्व की शिर तथा ऊपर की लोम करके बिछावे उस पर दाभ



वधूमुपवेशयत्यपिवा दर्भेष्वेव ॥१९॥ इमंविष्यामिवरुणस्य-  
पाशं यज्जग्रन्थसवितासत्यधर्मा । धातुश्चयोनौसुहृतस्य-  
लोकेऽरिष्टांमासहपत्यादधातु ॥ इति योक्त्रपाशं विषाय वा-  
ससोऽन्ते बध्नाति ॥२०॥ अनुमतिभ्यां व्याहृतिभिश्च । त्वंनो  
अग्ने । सत्वंनोअग्ने । अयाश्चाग्नेऽसीतिच ॥२१॥ शमीमयीस्ति-  
त्नोऽक्ताः समिधः । समुद्रादूर्मिरित्येताभिस्तिस्मिभिः स्वाहा-  
कारान्ताभिरादधाति ॥२२॥ अक्षतसक्तूनां दध्नश्च समवदा-  
येदंहविः प्रजननंमइति च हुत्वा । वितेमुञ्चामिरशनांवि-  
शमीनिति च हुत्वा पवित्रेऽनुग्रहत्याऽऽज्येनाभिजुहोति ॥२३॥  
एधोऽस्येधिषीमहीति समिधमादधाति । समिदसिसमे-  
धिषीमहीति द्वितीयाम् ॥२४॥ अपोअद्यान्वचारिपमित्युप-  
तिष्ठते ॥२५॥ कम्भादुदकेनापोहिष्ठीयाभिर्मार्जयन्ते ॥ २६॥

विष्ठाके वधू को बैठावे अथवा केवल दाभों पर बैठाने ॥१९॥ फिर (इमंविष्यामि०)  
इस मन्त्र को पढ़ के कन्या के कटिभाग में बांधी हुई दाभ की रस्मी को खोल  
कर ओढ़े हुए वस्त्र के छोर में बांध देवे ॥२०॥ फिर (अनुमति०) के लिये दो,  
तीन व्याहृति और (त्वंनोअग्ने०) इत्यादि तीन आहुति देवे ॥२१॥ तदनन्तर शमी  
( कोंकर ) वृक्ष की तीन समिधा घी में हुबो के ( समुद्रादूर्मि ) इत्यादि स्वाहा-  
कारान्त तीन मन्त्रों से अग्नि में चढ़ावे ॥ २२ ॥ पश्चात् विना कूटे जौ के स-  
त्तू और दही में से दो २ आहुत्यंश अवदान लेकर ( इदंहविःप्र० ) मन्त्र से  
होम करके पवित्रों में घी लगा के पवित्रों का होम करदे और ( वितेमुञ्चा-  
मि० ) इत्यादि मन्त्रों से घी की आहुति करे ॥ २३ ॥ पश्चात् ( एधोऽसि० )  
मन्त्र से एक और ( समिदसि० ) मन्त्र से दूसरी समिधा अग्नि में चढ़ावे ॥२४॥ फिर  
( अपोअद्यान्व० ) मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करे ॥२५॥ फिर कुरम्भ जल भरा  
कलश धारण करने वाले के कलश से दाभ वा आम के पत्तों द्वारा जल ले २

वरे दक्षिणा ॥२७॥ इत्येकादशः खण्डः समाप्तः ॥

सुमङ्गलीरियंवधूरिमांसमेतपश्यत । सौभाग्यमस्यैदत्वा  
याथास्तंविपरेतन ॥ इति प्रेक्षकान् व्रजतोऽनुमन्त्रयते ॥१॥  
अत्रैव सीमन्तं करोति । त्रिश्येतया शलत्या समूलेन वा  
दर्भेण । सेनाहनामेत्येतया ॥२॥ अथाभ्यञ्जन्ति । अभ्यज्य-  
केशान्सुमनस्यमानाः प्रजावरीर्यशसेवहुपुत्राअघोराः । शिवा  
भर्तुःश्वशुरस्यावदायायुमतीःश्वश्रुमतीश्चिरायुः ॥ इति॥३॥  
जीवोर्णायोपसमस्यति । समस्यकेशानवृजिनानघोरान् शि-  
वासखीभ्योभवसर्वाभ्यः । शिवाभवसुकुलोह्यमाना शिवाज-  
नेषुसहवाहनेषु ॥ इति ॥ ४ ॥ अथैनौ दधिमधु समश्नुतो  
यद्वा हविष्यं स्यात् ॥ ५ ॥ तस्य स्वस्तिवाचयित्वा, समा-  
नावाआकृतानीति सह जपन्ति ॥ ६ ॥

कर ( आपोहिष्ठा० ) आदि तीन मन्त्रों से पत्नी का अभिषेक करे ॥२६॥ और  
श्रेष्ठ गौ आचार्य को दक्षिणा में देवे ॥२७॥ यह ग्यारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—जो लोग विवाह देखने को आये हों फिर लौट कर अपने घर  
को जाते हों उन को देखता हुआ (सुमङ्गलीरियं०) मन्त्र पढ़े ॥१॥ इसी अ-  
वसर में घर अपनी पत्नी का सीमन्तस्नानकर अर्थात् निम्न रीति से मांग  
भरे । तीन जगह श्वेत सेही के कांटे से अथवा जड़ सहित उखाड़े दाम के गु-  
च्छे से (सेनाहनाम०) इस ऋचाको पढ़के मांग के केश दोनों ओर की करे ॥२॥  
पश्चात् ( अभ्यज्य केशान्० ) मन्त्र पढ़ के बालों में तेल लगावे और कंकन  
( ककवा ) से काढ़े ॥ ३ ॥ फिर जीते हुये मेढ़ा की ऊन से बनाये डोरे के साथ  
बालों को ( समस्यकेशान्० ) मन्त्र पढ़ के गूँथे अर्थात् वेनी बना के बांध देवे  
॥ ४ ॥ अनन्तर दोनों पति पत्नी दही और शहद मिला कर एक साथ खावे  
अथवा हविष्यान्न खावे ॥ ५ ॥ खाने से पहिले पुरोहितादि से कहे (स्वस्ति-  
ब्रूहि ) तब ब्राह्मण मन्त्र सहित स्वस्ति कहे फिर ब्राह्मण सहित तीनों (स-  
मानावा०) मन्त्र की साथ ही पढ़ें ॥ ६ ॥

उभौ सह प्राश्नीतः ॥ ७ ॥ इति द्वादशः खण्डः ॥  
 पुण्याहे युङ्क्ते ॥ १ ॥ युजजन्तिब्रध्नमितिद्वाभ्यां युज्यमा-  
 नमनुमन्त्रयते दक्षिणमथोत्तरम् ॥ २ ॥ अहतेन वाससा द-  
 र्भैर्वा रथं संमार्ष्टि ॥ ३ ॥ अङ्कून्यङ्कावभितोरथंघेध्वान्ता  
 वाताअग्निमभिधेसंचरन्ति । दूरहेतिःपतत्रीवाजिनीवांस्ते-  
 नोऽग्नयःपप्रयःपालयन्तु ॥ इति चक्रोऽभिमन्त्रयते ॥४॥ व-  
 नस्पतेवीडव्ङ्गइत्यधिष्ठानम् ॥५॥ सुकिंशुकंशल्मलिंविश्व-  
 रूपं हिरण्यवर्णंसुवृतंसुचक्रम् । आरोहसूर्यममृतस्यलोकं  
 स्यान्नपत्येवहतुंकृणुष्व ॥ इत्यारोहयति ॥ ६ ॥ अनुमायन्तु-  
 देवता अनुब्रह्मसुवीर्यम् । अनुक्षत्रंतुयद्बलमनुमामैतुयद्यशः ॥  
 इति प्राडभिप्रयाय प्रदक्षिणमावत्तयति ॥७॥ प्रतिमायन्तु-  
 देवताः प्रतिब्रह्मसुवीर्यम् । प्रतिक्षत्रंतुयद्बलं प्रतिमामैतुय-

फिर पति पत्नी दानों दही सहित मिला के वा इविध्यान्न को साथ २ खावें ॥७॥ यह बारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब शुभ नक्षत्र और शुभ ग्रह युक्त पुण्य दिन अपने घर पत्नी को ले जाने के लिये रथादि को जोड़े ॥ १ ॥ जब कोई अध्वर्यु आदि रथ में घोड़े वा बैलों को जोड़ता हो तब उस की ओर देखता हुआ घर (युजजन्तिब्र०) मन्त्र पढ़े पहिले दहिने को जोड़ते समय फिर बायें को जोड़ते समय पृथक् २ दो बार मन्त्र पढ़े ॥ २ ॥ तदनन्तर चीरे दार नये वस्त्र से वा दाभों से रथादि सशरी को दोवार भाड़े ॥ ३ ॥ पश्चात् (अङ्कून्यङ्काव०) मन्त्र पढ़के रथ के पहियों का अभिमन्त्रण करे प्रथम दहिने का फिर बायें का ॥ ४ ॥ (वनस्पते०) मन्त्र पढ़ कर रथ पर बैठने के स्थान का अभिमन्त्रण करे ॥५॥ फिर (सुकिंशुकं०) मन्त्र पढ़ के पत्नी को अध्वर्यु आदि के द्वारा रथ पर चढ़वावे ॥ ६ ॥ फिर स्वयं रथ पर बैठ के (अनुमायन्तु०) मन्त्र पढ़ के पहिले थोड़ा पूर्व की रथ चला कर प्रदक्षिणक्रम से जाने के मार्ग पर फेर कर लावे ॥७॥ ठीक घर की जाने वाले रास्ते पर रथ चलता हो तब रथ को देखता हुआ

द्यशः ॥ इति यथास्तं यन्तमनुमन्त्रयते ॥ ८ ॥ अमङ्गल्यं  
चेदतिक्रामति । अनुमायन्तिवति जपति ॥ ९ ॥ नमोरुद्रा-  
यग्रामसदइति ग्रामे । इमारुद्रायेति च ॥ १० ॥ नमोरुद्रायै-  
कवृक्षसदइत्येकवृक्षे । ये वृक्षेषु शष्पिञ्जराइति च ॥ ११ ॥ न-  
मोरुद्राय श्मशानसदइति श्मशाने । येभूतानामधिपतयइ-  
ति च ॥ १२ ॥ नमोरुद्राय चतुष्पथसदइति चतुष्पथे । ये-  
पथांपथिरक्षयइति च ॥ १३ ॥ नमोरुद्राय तीर्थंसदइति ती-  
र्थे । येतीर्थानि प्रचरन्तीति च ॥ १४ ॥ यत्रापस्तरितव्या आ-  
सीदति । समुद्रायवैणवेसिन्धूनांपतयेनमः । नमोनदीनां-  
सर्वासांपत्ये । विश्वाहाजुपतांविश्वकर्मणामिदंहविः स्वः  
स्वाहेत्यप्सूदकाञ्जलीन्निनयति ॥ अमृतं वा आस्ये जुहो  
म्यायुः प्राणेऽप्यमृतं ब्रह्मणा सहमृत्युंतरात् । प्रासहादिति  
रिष्टिरिति मुक्तिरिति मृक्षीयमाणः सर्वंभयं नुदस्वस्वाहेति

( प्रतिमायन्तु देव० ) मन्त्र को पढ़े ॥ ८ ॥ यदि मार्ग में कहीं श्मशान, कूड़ा  
आदि का ढेर और अनिष्ट घृणित असंगल वस्तु के समीप हो के निकलने  
पड़े तो ( अनुमायन्तु० ) इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ ९ ॥ यदि ग्राम में हो  
कर निकले तो ( नमोरुद्राय ग्राम० ) तथा ( इमा रुद्राय० ) इन दो मन्त्रों  
का जप करे ॥ १० ॥ मार्ग में एक वृक्ष पड़े तो ( नमो रुद्रायैकवृक्षसदे० )  
और ( ये वृक्षेषु० ) दो मन्त्रों को जपे ॥ ११ ॥ यदि मार्ग में श्मशान ( मर-  
घट ) पड़े तो ( नमो रु० । ये भूताना० ) दो मन्त्रों को जपे ॥ १२ ॥ यदि चौ-  
राहा पड़े तो ( नमो रुद्राय० । ये पथां० ) इन दो मन्त्रों को जपे ॥ १३ ॥  
यदि मार्ग में कोई घाट पड़े तो ( नमो रुद्राय० । ये तीर्थानि० ) दो मन्त्रों  
को जपे ॥ १४ ॥ यदि नदी आदि पार उतरने योग्य जलाशय आवे तो  
अंजुली से जल भरकर ( समुद्राय वै० ) मन्त्र पढ़ के जलाशय में अंजुली  
के जल का होम कर देवे । फिर तीन बार अपने शिर आदि अङ्गों

त्रिः परिमृज्याचामति ॥ १५ ॥ यदि नावा तरेत्सुत्रामा-  
 णमिति जपेत् ॥ १६ ॥ यदि रथाक्षः शम्याणी वा रिष्येता-  
 न्यद्वा रथाङ्गं तत्रैवाग्निमुपसमाधाय जयप्रभृतिभिर्हुत्वा  
 सुमङ्गलीरियं वधूरिति जपेत् । वध्वा सह । वधूं समेत पश्यत  
 ॥ १७ ॥ व्युत्क्राम पन्थां जरितां जवेन । शिवेनवैश्वानरइ-  
 ङ्यास्याग्रतः । आचार्योयेनयेनप्रयातितेनतेनसह ॥ इत्युभावे-  
 व व्युत्क्रामतः ॥ १८ ॥ गोभिः सहास्तमिते ग्रामं प्रविशन्ति  
 ब्राह्मणवचनाद्वा ॥ १९ ॥ इति त्रयोदशः खण्डः समाप्तः ॥  
 अपरस्मिन्नहूः सन्धौ गृहान्प्रपादयीत ॥ १ ॥ प्रति ब्रह्म-

पर जल से मार्जन करके ( अमृतं वा आस्ये० ) मन्त्र पढ़के तीन बार आचमन  
 करे ॥ १५ ॥ यदि नौका पर चढ़ के पार उतरना हो तो नौका पर चढ़ा हुआ  
 ( सुत्रामाणं० ) मन्त्र का जप करे ॥ १६ ॥ यदि मार्ग में चलते २ रथ की धुरी  
 सैल वा आरा आदि कोई रथ का अंग टूट फूट जावे तो ( उस की बढई से  
 बनवाना यह भिन्न लौकिक काम है उस को तो सभी के तुल्य करे ) पर वि-  
 वाह के वेदि का अग्नि साय ( लाना चाहिये ) लाया हो उस की प्रज्वलित  
 कर आचार आर्यभाग के पश्चात् जपादि होम करके ( सुमङ्गलीरि० ) मन्त्र  
 को पत्नी सहित पढ़े ( इसमें समेत ) के स्थान में ( वधूं समेत ) कहे ॥ १७ ॥ फिर  
 स्त्री पुरुष दोनों ( व्युत्क्रामपन्थां० ) मन्त्र को पढ़ के रथ से उतरें और पृ-  
 थक् २ चले और फिर बैठ जावें ॥ १८ ॥ सूर्यनारायण के अस्त होने पर जंगल से  
 गौओं के घर आने के साथ विदा कराके लाये घराती लोग गांव में चुसें ।  
 यदि दिन वा अधिक रात जाने का समय हो तो ब्राह्मण की आज्ञा लेकर गांव  
 में चुसें ॥ १९ ॥ यह तेरहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब वधू के गृहप्रवेश की रीति दिखाते हैं । ठीक सन्ध्या के समय रथ से उतार के  
 बहू को घर में लावे ( प्रति ब्रह्मम्० ) मन्त्र को पढ़ के यजमान बहू को रथ से उतारे ॥ २ ॥ उस  
 समय दही चन्दनादि मंगल वस्तु कोई घर में से लावे और मंगल सूचक मन्त्रादि का

स्त्रिति प्रत्यवरोहति ॥ २ ॥ मङ्गलानि प्रादुर्भवन्ति ॥ ३ ॥  
 गोष्ठात्संततामुलपराजिं स्तृणाति ॥४॥ रथादध्योपासनात् ।  
 येष्वध्येतिप्रवसन्येषुसौमनसंमहत् । तेनोपह्वयामहे तेनोजान  
 न्त्वागतम् ॥ इति तथाभ्युपैति ॥५॥ गृहानहंसुमनसः प्रप-  
 द्ये वीरंहिवीरवतः सुशेवा । इरांवहन्तीघृतमुक्षमाणास्तेष्वहं-  
 सुमनाः संवसाम ॥ इत्यभ्याहिताग्निं सोदकं सौषधमावस-  
 थं प्रपद्यते । रोहिण्या मूलेन वा यद्वा पुण्योक्तम् ॥६॥ प-  
 श्चादग्नेरोहिते चर्मण्यानडुहे प्राग्ग्रीवे लोमतो दर्भानास्तीर्य  
 तेषु वधूमुपवेशयत्यपिवा दर्भेष्वेव ॥ ७ ॥ अथास्यै ब्रह्म-  
 चारिणमुपस्थ आवेशयति । सोमेनादित्या बलिनः सोमेन  
 पृथिवी मही । असौ नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोमआहितः ॥  
 इति ॥८॥ अथास्य तिलतण्डुलानां फलमिश्राणामञ्जलिं पूर-

उच्चारण घर में हो ॥ ३ ॥ रथ से लेकर घरके भीतर तक पूर्व को अग्रभाग कर  
 २ बराबर निरन्तर कुश बिछावे ॥ ४ ॥ और अध्वर्यु ( देव्वध्येति प्र० ) मन्त्र  
 को पढ़ता हुआ उन बिछाये कुशों पर बहू को घर में ले चले ॥ ५ ॥ फिर (गृ-  
 हानहं सुमनसः०) मन्त्र को पढ़ते हुए एक जल भरा पात्र धान की खीले  
 आदि और विवाह के अग्नि को साथ लिये हुए घर में प्रवेश करें । प्रवेशके  
 समय रोहिणी वा मूल नक्षत्र हो अथवा ज्योतिःशास्त्रानुकूल सुहूर्त हो ॥ ६ ॥  
 पहिले से बनाये कुण्ड में अग्नि का स्थापन करके उस अग्नि से पश्चिम में  
 लाल बैल का चर्म पूर्व की शिर और ऊपर की लोम रख कर बिछावे उस पर  
 दाभ बिछा के उन पर वा बैल का चर्म न मिले तो बिछाये हुए केवल दाभों  
 पर बहू को बैठावे ॥७॥ फिर (सोमेनादित्या०) मन्त्र पढ़ के मृगचर्मादि धारणा  
 किये किसी ब्रह्मचारी को इस बहू की गोदी में बैठावे ॥ ८ ॥ तब कोई फल  
 जिन में मिले हों ऐसे तिल और चावलों से ब्रह्मचारी की अंजुली भर कर  
 बहू की गोदी से उठा देवे । इस के अनन्तर ध्रुव, अस्त्यन्ती जीवन्ती और

यित्वोत्थाप्य । अथास्यै ध्रुवमरुन्धतीं जीवन्तीं सप्तऋ-  
षीनिति दर्शयेत् ॥९॥ अच्युताध्रुवाध्रुवपत्नी ध्रुवं पश्येम  
सर्वतः ॥ ध्रुवासःपर्वताइमे ध्रुवास्त्रीपतिकुलेयम् ॥ इति तस्यां  
समीक्षमाणायां जपति ॥ १० ॥ श्वोभूते प्राजापत्यं पयसि  
स्थालीपाकं अपयित्वा तस्य जुहोति (आज्यशेषे) ॥११॥ च-  
क्रीवानडुहौवामे वाङ्मैतुतेमनः । चाक्रवाकं संवननं तन्नी सं-  
वननं कृतम् ॥ इति यजमानस्त्रिः प्राश्नाति । अवशिष्टं तूष्णीं-  
पत्नी ॥१२॥ अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञः । स व्याख्यातः ॥१३॥ सं-  
वत्सरं ब्रह्मचर्यं चरतो द्वादशरात्रं [त्रिरात्रमेकरात्रं] वा ॥१४॥  
अथास्यै गृहान् विसृजेत् ॥१५॥ योक्त्रपाशं विपाय तौ संनि-  
पातयेत् ॥ अपश्यन्त्वा तपसा चेकितानं तपसो जातं तपसो वि-  
भूतम् । इह प्रजामिहरयि रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥

सप्तऋषि इन नक्षत्रों को बहू को दिखावे सप्तऋषियों के बीच की तारा जीवन्ती  
कहानी है ॥९॥ वह बहू जब ध्रुवादि को देखती हो तब वर (अच्युताध्रुवा०)  
इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥१०॥ फिर अगले दिन प्रातःकाल प्रजापति देवता  
के लिये दूध में [पु० १ खं० १० सू० ३०] में कहे अनुसार स्थालीपाक पका के उससे (प्र-  
जापतये स्वाहा) मन्त्र द्वारा प्रजापति के लिये तूष्णीं प्रधान होम करे ॥११॥ फिर  
शेष ऋचे घी में दही मिलाकर इस दही के साथ शेष ऋचे स्थालीपाक को (चक्री-  
वानडुहौ०) मन्त्र पढ़ के यजमान तीन बार खावे और शेष ऋचे को पत्नी वित्त  
मन्त्र तीन बार खावे ॥१२॥ फिर उसी दिन दोपहर बाद मानव कल्पसत्र १११२ में  
लिखे अनुसार पिण्ड पितृयज्ञ करे ॥१३॥ विवाह विधि हो जाने पर स्त्री पुरुष  
दोनों एक वर्ष, बारह दिन, तीन दिन, या एक दिन कम से कम ब्रह्मचारी रहे  
अर्थात् मैथुन न करें खार लवण छोड़ के हविष्यान्न खावें पृथक् २ पृथिवी पर  
सोवें ॥१४॥ इसी अवसर में घर के काम काज घन के लेन देन आदिका अधिकार  
पत्नी को देदेवे ॥१५॥ ब्रह्मचर्य की समाप्ति में [पु० १ खं० ११ सू० ६] से पत्नी के कटि में  
बांधी मेखला को खोलकर [यह ब्रह्मचारिणी रहने का चिह्न था इस को नि-

अपश्यंत्वामनसादीध्यानां स्वायांतनूऋत्विषेवाधमानाम् ।  
 उपमामुच्चायुवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजयापुत्रकामे ॥ प्रजा-  
 पतिस्तन्वंमेजुषस्व त्वष्टादेवैः सहमान इन्द्रः । विश्वैर्देवैर्ऋ-  
 तुभिः संविदानः पुंसांबहूनां मातरौ स्याव ॥ अहंगर्भमदधामो-  
 षधीष्वहं विश्वेषु भवनेष्वन्तः । अहंप्रजाअजनयंपृथिव्या अ  
 हंजनिभ्योऽपरीषु पुत्रान् ॥ इति ऋत्यादिव्यत्यासं जपति ॥ १६ ॥  
 करदिति भसदभिमृशति ॥ १७ ॥ जननीत्युपजननम् ॥ १८ ॥  
 बृहदिति जातं प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥ एतेन धर्मेण ऋतावृ-  
 तौ संनिपातयेत् ॥ २० ॥ इति चतुर्दशः खण्डः समाप्तः ॥

तृतीये गर्भमासे अरणी आहृत्य पष्ठेऽष्टमे वा । जयप्रभृति-  
 मिर्हुत्वा पश्चादग्नेर्दर्भेष्व्वासीनायाः ( पत्न्याः ) सर्वानप्र-  
 मुच्य केशान् वनीतेनाभ्यज्य त्रिश्येतया शलत्या शमीशा-

काल के] निम्नरीति से दोनों समागम करें समागम से पहिले (अपश्यंत्वात्प०)  
 मन्त्र को पति को देखती हुई पत्नी पढ़े फिर (अपश्यंत्वामनसा०) मन्त्र को प-  
 त्री की ओर देखता हुआ पति पढ़े फिर (प्रजापतिस्तन्वं०) मन्त्र को पत्नी पढ़े  
 और (अहंगर्भमद०) मन्त्र को पति पढ़े ॥ १६ ॥ फिर (करत्) ऐसा कह कर पुरुष प-  
 त्री के उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श करे (जननी) ऐसा कह कर अपने उपस्थेन्द्रिय का  
 स्पर्श करे (बृहत्) ऐसा कह कर दोनों के संयोगान्त में गर्भाशय का स्पर्श करे ॥ १७ ॥ १८ ।  
 १९ ॥ इसी रीति से प्रत्येक ऋतुकाल में दोनों समागम किया करें ॥ २० ॥ यह चौद-  
 वां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—गर्भ स्थिति से तीसरे छठे वा आठ वें महीने में अरणी द्वारा  
 अग्निमन्थन कर स्थापन करके आधाराङ्गभागों के वाद ( १ । ११ । २१ )  
 में कहा अनुमतिव्याहृति आदि पवित्र होमान्त करके ( २ । १० । ८ ) के अ-  
 नुसार अग्नि का प्रधान होम कर के जयाहोमादि करे अग्नि से पश्चिम में  
 बिछाये दाभों पर बैठी पत्नी के शिर के सब केश खोलकर उन में मक्खन ल-



खया च सपलाशया पुनः पत्नीमग्निरदादिति सीमन्तं करोति ॥ १ ॥ इति पञ्चदशः खण्डः ॥

अष्टमे गर्भमासे जयप्रभृतिभिर्हुत्वा, फलैः स्नानं यित्वा, या ओषधय इत्यनुवाक्रेणाहतेन वाससा प्रच्छाद्य गन्धपुष्पैरलङ्कृत्य फलानि कण्ठे वै संसृज्याऽग्निं प्रदक्षिणं कुर्यात् ॥ १ ॥ प्रजां मे नर्य पाहोति मन्त्रेणोपस्थानं कृत्वा गुणवतो ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ २ ॥ फलानि दक्षिणां दद्यात् ॥ ३ ॥ ततः स्वस्तिवाचनं च ॥ ४ ॥ यो गुरुस्तमर्हयेत् ॥ ५ ॥ इति षोडशः खण्डः ॥

पुत्रे जाते वरं ददाति ॥१॥ अरणिभ्यामग्निं मथित्वा तस्मिन्नायुष्यहोमाञ्जु होति ॥ २ ॥ अग्नेरायसीत्यनुवाक्रेण

गाकर तीन जगह श्वेत सेही के कांटे की और पत्तों सहित शमी ( छर्चोकर ) की डाली की एकत्र कर उससे ( पुनः पत्नीमग्नि० ) इत्यादि मन्त्र पढ़ सांग करे और पूर्ववत् वेनी बांधे ॥ १ ॥ यह पन्द्रहवां खण्ड समाप्त हुआ ।

गर्भ आठवें महिने का ही तब आचारादि सामान्य होमसहित जयाऽभ्यासानादि होम करके सब ओषधि फलादि से मिश्रित जलसे गर्भिणी को स्नान कराके (याओषधयः०) इस अनुवाक को पढ़ के चिरेदार नयी माड़ी उड़ा के सुगन्धित केशरादि पुष्पमाला और मणिरत्न सुवर्णादि के आभूषणों से सुशोभित करे और फलों की माला बना के कण्ठ में पहनाके अग्नि की प्रदक्षिणा करावे ॥ १ ॥ ( प्रजां मे नर्य० ) मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करके सदाचारी विद्वान् तीन आदि ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ २ ॥ दक्षिणा में फल देवे ॥ ३ ॥ पश्चात् स्वस्तिवाचन करावे ॥ ४ ॥ पुत्रोत्पन्न होने पर अपने गुरु का पूजन करे ॥ ५ ॥ यह सोलहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—यदि पुत्र उत्पन्न हो तो उक्त अपने गुरु को धन दक्षिणा देवे ॥ १ ॥ अरणिके द्वारा अग्निमन्थन करके उस अग्नि में आयुष्य होम की ( अग्नेराय० ) इत्यादि २१ प्रधान आहुति घी से करे । इस से पूर्व आचारादि तथा पीछे अनुमति आदि की आहुति देवे ॥ २ । ३ ॥ पवित्रादि होम के अ-

प्रत्यृचं प्रतिपर्यायमेकविंशतिमाज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥ आ-  
ज्यशेषे दधिमध्वपो हिरण्यशकलेनोपहत्य त्रिःप्राशापयति  
॥ ४ ॥ अश्माभव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतंभव । वेदोवैपुत्र-  
नामासि, सजीवशरदः शतम् ॥ इति प्रादेशेनाध्यधि प्रति-  
मुखं प्रदक्षिणं सर्वतोऽभ्युद्दिशति ॥ ५ ॥ पलाशस्य मध्यम-  
पर्णं प्रवेष्ट्य तेनास्य कर्णयोजपेत् । भूस्ते ददामीति दक्षिणे ।  
भुवस्ते ददामीति सव्ये । स्वस्ते ददामीति दक्षिणे । भूर्भुवः  
स्वस्ते ददामीति सव्ये ॥ ६ ॥ इषं पिंवोजं पिंवेति स्तनौ  
प्रक्षाल्य प्रधापयेत् ॥ ७ ॥ इति सप्तदशः खण्डः ॥

दशम्यां रात्र्यां पुत्रस्य नाम दध्यात् । घोषवदाद्यन्त-  
रन्तस्थं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा । त्र्यक्षरंदान्तं कुमारीणाम् ॥ १ ॥

न्त में शेष बचे घी में दही गड़द और जल को सुवर्ण के टुकड़े से मिना के अ-  
नामिका अंगुली से तीन बार बच्चे को चटावे ॥ ४ ॥ ( अश्मा भव० ) इत्या-  
दि मन्त्र के पांच भागों को पढ़ता हुआ मुख की ओर मुख के समीप २ प्रद-  
क्षिणक्रम से प्रादेश द्वारा संकेत करे ॥ ५ ॥ ढांक के पत्तों में से बीच के पत्ते  
को लपेटकर उस का एक छोर बच्चे के कान में एक अपने मुख में लगा के  
निम्न मन्त्र पढ़े ( भूस्ते द० ) दहिने ( भुवस्ते० ) बायें में ( स्वस्ते० ) दहिने  
में फिर ( भूर्भुवः स्वस्ते० ) बायें कान में जपे ॥ ६ ॥ फिर ( इषंपिन्वो० ) मन्त्र  
पढ़ के पत्ती के दोनों स्तनों ( कुचों ) को धोकर बच्चे को पिलावे ॥ ७ ॥ यह  
सप्तदशों खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—जात कर्म से लेकर दशवें दिन पुत्र का नाम धरे । कोई आ-  
चार्य दशमी रात्री व्यतीत होने पर ग्यारहवें दिन नाम रखना मानते हैं । व-  
र्गों के तीसरे चौथे घोषवत् अक्षर जिस के आदि में परलव अन्तस्थ अक्षर जिस  
के बीच में हों ऐसे दो या चार अक्षर का नाम पुत्र का और तीन अक्षर का  
दकारान्त नाम कन्याओं का रखे ॥ १ ॥ उसी नाम से अभिवादन गुरु आदि

तेनाभिवादयितुं, त्यक्त्वा पितुर्नामधेयं, यशस्य नामधेयं  
 देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं, देवतायाश्च प्रत्यक्षं प्रतिषिद्धम् ॥२॥  
 स्नात्वा सहपुत्रोऽभ्युपैति ॥३॥ अथैनमभिमृशाति-अग्नेष्ट्वा  
 तेजसासूर्यस्यवर्चसा विश्वेषांत्वादेवानां क्रतुनाभिमृशामीति  
 प्रक्षालितपाणिर्नवनीतेनाभ्यज्याग्नौ प्रताप्य, ब्राह्मणाय प्रो  
 च्याभिमृशेदिति श्रुतिः ॥ ४ ॥ वर कर्त्रे ददाति ॥ ५ ॥ अ-  
 ङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे । आ-मावैपुत्रनामासि  
 सजीवशरदःशतम् ॥ इति प्रवासादेत्य पुत्रस्य मूढुनि जपेत्  
 ॥ ६ ॥ न मधुमांसे प्राश्नीयादापशुवन्धात् ॥ ७ ॥ संवत्सरे  
 चाजाविभ्यामग्निधन्वन्तरी यजेत् ॥८॥ इत्यष्टादशः खण्डः ॥

अथादित्यदर्शनम् ॥ १ ॥ चतुर्थं मासि पयसि स्थाली

को किया करे । पुत्र के नाम के साथ ही पीछे पिता का भी नाम लगाया  
 जाय पर अभिवादन में पिता के नाम को छोड़ देवे । जिस तिथि वा नक्षत्र में  
 जन्म हो उस के देवता सम्बन्धी वा नक्षत्र सम्बन्धी नाम कीर्ति के लिये अच्छे हैं ।  
 परन्तु देवता और पिता का साक्षात् नाम रखना सना है ॥ २ ॥ फिर पुत्र के  
 सहित अपने पिता को अभिवादन करके अग्नि के सम्मुख बैठे ॥३॥ फिर धीरे हुए  
 हाथों में मक्खन लगा के अग्नि में तपा के और बच्चे का स्पर्श करने की ब्रा-  
 ह्मण से आज्ञा लेकर ( अग्नेष्ट्वा० ) मन्त्र पढ़के बच्चे का स्पर्श करे ॥४॥ जात-  
 कर्मादि कराने वाले आचार्य को दक्षिणा देवे ॥ ५ ॥ जब देशान्तर से आवे तब  
 ( अङ्गाद० ) मन्त्र को पुत्र के शिर में मुख लगा के जपे ॥ ६ ॥ पशुबन्ध यज्ञ करने  
 से पहिले शहट और मांस न खावे (उससे आगे भी खाने का विधि नहीं किन्तु  
 पहिले न खाने का निषेध है ) ॥ ७ ॥ पुत्र जन्म से लेकर एक वर्ष में बकरी  
 और भेड़ के द्वारा अग्नि और धन्वन्तरि देवता का पूजन करे ॥ ८ ॥

यह अठारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब इस उन्नीशवें खण्ड में विधि सहित सूर्य का दर्शन करनारूप निष्क्र-  
 मण संस्कार कहते हैं ॥ १॥ बालक चौथे महीने में हो तब दूध में स्थालीपाक

पाकं अपयित्वा तस्य जुहोति ॥ २॥ आदित्यः शुक्रउदगा-  
त्पुरस्तात्, हंसः शुचिषत्, यदेदेनमिति सूर्यस्य जुहोति ॥ ३॥  
उदुत्यं जातवेदसमित्येतयोपस्थायादिन्यस्याभिमुखं दर्शयेत् ।  
नमस्ते अस्तु भगवन् शतरश्मे तमोनुद । जहि मे देव दौर्भाग्यं  
सौभाग्येन मांसं योजयस्व ॥ इति ॥ ४ ॥ अथ ब्राह्मणतर्प-  
णम् ॥ ५ ॥ ऋषभो दक्षिणा ॥ ६ ॥ इत्यूनविंशः खण्डः समाप्तः ॥

अथान्नप्राशनम् ॥ १ ॥ पञ्चमे षष्ठे वा मासि पयसि  
स्थालीपाकं अपयित्वा, स्नातमलङ्कृतमहतेन वाससा प्र-  
च्छाद्याऽन्नपतेऽन्नस्य नोदेहीति हुत्वा, हिरण्येन प्राशयेद-  
न्नात्परिस्तुत इत्यृचा ॥ २ ॥ [ रत्नसुवर्णापस्कराण्यायुधानि  
दर्शयेत् ॥ ३ ॥ यदिच्छेत्तदुपसंगृहणीयात् ॥ ४ ॥ ततो ब्रा-

वना कर उस का निम्न रीति से होम करे ॥ २ ॥ तूष्णीं अग्नि का मन्थन स्था-  
पन प्रज्वालन करके इसी अग्नि में दूध का स्थालीपाक बनाकर ( आदि-  
त्यः० । हंसः शुचि० । यदेदेन० ) इन तीन स्वाहान्त मन्त्रों से सूर्य देवता का  
होम आचारादि के पश्चात् करे ॥ ३ ॥ ( उदुत्यं० मन्त्र से सूर्य का उपस्थान  
करके ( नमस्तेऽस्तु० ) इत्यादि मन्त्र पढ़ के बच्चे को आदित्य की ओर मुख  
कर दर्शन करावे ॥ ४ ॥ इस के अनन्तर ब्राह्मण को भोजन करावे ॥ ५ ॥ और  
एक बैल दक्षिणा में देवे ॥ ६ ॥ यह उन्नीशवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

अथ इस बीशवें खण्ड में अन्नप्राशन कहते हैं ॥ १ ॥ पाचवें व छठे म-  
हिने में दूध में स्थालीपाक बनाके [ यदि ऋष्ट पुष्ट बालक हो तो पांचवें म-  
हिने में अन्यथा छठे में करे ] सर्वापधी आदि युक्त जल से बालक को स्नान  
कराके और आभूषण पहनाके नया चीरेदार वस्त्र उढ़ा कर आचारादि के प-  
श्चात् (अन्नपते०) मन्त्र से प्रधान होम स्थालीपाक से करके (अन्नात्परिस्तुत०)  
इस ऋचा की पढ़ कर सुवर्ण से बालक को स्थालीपाक खवावे ॥ २ ॥ [ रत्न और सु-  
वर्ण जिन में लगा हो ऐसे हथियार बच्चे को दिखावे ॥ ३ ॥ जिस आयुध को  
आगे धारण कराना चाहता हो उस को बालक से स्पर्श करावे ॥ ४ ॥ इस के

ह्यणभोजनम् ॥५॥ वासो दक्षिणा ॥६॥ ] इति विंशः खण्डः॥

तृतीयस्य वर्षस्य भूयिष्ठे गते चूडाः कारयेत् । उदग-  
यने ज्यौत्स्ने पुण्ये नक्षत्रेऽन्यत्र नवम्याः ॥१॥ जयप्रभृति-  
भिर्हुत्वा-उष्णेनवायुरुदकेनेद्यजमानस्यायुषा । सविताव-  
रुणोदधद्यजमानायदाशुषे ॥इत्युष्णा अपोऽभिमन्त्रयते ॥२॥  
अदितिःकेशान्वपत्वापउन्दन्तुजीवसे । धारयतुप्रजापतिः  
पुनःपुनःस्वस्तये ॥ इत्यभ्युन्दन्ति ॥ ३ ॥ ओषधेत्रायस्वैन-  
मिति दक्षिणस्मिनकेशान्ते दर्भमन्तर्दधाति ॥ ४ ॥ स्वधि-  
तेमैनंहिंसीरिति क्षुरेणाभिनिदधाति ॥ ५ ॥ येनावपत्सवि-  
ताक्षुरेण सोमस्यराज्ञीवरुणस्यकेशान् । तेनब्राह्मणोवपत्वा  
युष्मानयं जरदष्टिरस्तु ॥ येनपूषावृहस्पतेरिन्द्रस्यचायुषे-  
ऽवपत् । तेनतेवपाम्यायुषेदीर्घायुत्वायजीवसे । येनभूश्चय-  
रत्ययं ज्योक्चपश्यतिसूर्यः । तेनतेवपाम्यायुषे सुश्लोक्या  
यस्वस्तये ॥ इति तिसृभिस्त्रिः प्रवपति ॥ ६ ॥ यत्क्षुरेण

बाद ब्राह्मणों को भोजन कराके दक्षिणा में वस्त्र देवे ॥५। ६॥ ] यह बीशवां खण्ड पूरा हुआ ॥

अब चूहाकर्म मुण्डन संस्कार दिखाते हैं । बालक के आयु का तीसरे वर्ष में अधिक भाग बीत जाने पर अब उत्तरायण शुक्ल पक्ष हो वा पुष्य नक्षत्र हो तब नवमी तिथि को छोड़ कर मुण्डन करावे ॥ १ ॥ फिर आघाराज्यभागादि के बाद जयादिहोम करके ( उष्णेनवायु० ) मन्त्र पढ़ के गर्म जल का अभिमन्त्रण करे ॥२॥ फिर (अदितिः केशान्०) मन्त्र पढ़ के गर्म जल से बच्चे के वालों को भिगीवे ॥३॥ ( ओषधेत्रा० ) मन्त्र पढ़ के शिर के दहिने वालों के अन्त में वालों के बीच दाभ रखे ॥ ४ ॥ ( स्वधितेमैनं० ) मन्त्र पढ़ के दाभ सहित वालों पर छुरा रखे ॥५॥ फिर (येनावपत्०) इत्यादि तीन मन्त्र पढ़ २ के तीन बार कुश सहित वालों को काटे ॥ ६ ॥ फिर (यत्क्षुरेण०) मन्त्र पढ़ के

वर्त्तयतासुतेजसा वप्तवंपसिकेशान् । शुनिधिशिरोमास्यायुः  
 प्रमोषीः ॥ इति लौहायसं क्षुरं केशवापाय प्रयच्छति ॥९॥  
 मातेकेशाननुगाद्वर्चएतत्तथाधातादधातुते । तुभ्यमिन्द्रोव-  
 रुणोवृहस्पतिः सवितावर्चआदधुः ॥ इतिप्रवपतोऽनुमन्त्रयते ॥  
 सुहृत्परिग्राहं हरितगोशकृत्पिण्डे समवचिनोति ॥ ९ ॥ उ-  
 प्त्वायकेशान्वरुणस्यराज्ञो बृहस्पतिः सविता विष्णुरग्निः ।  
 तेभ्यो निधानं महतं न विन्दन्नन्तरा द्यावापृथिव्योरपस्युः  
 ॥ इति प्रागुदीचो ह्रियमाणाननुमन्त्रयते ॥ १० ॥ अरिक्ते  
 पत्न्या श्लेषयेदिति श्रुतिः ॥११॥ वरं कर्त्रे ददाति । पक्ष्मगु-  
 ङं तिलपिशलं च केशवापाय ॥ १२ ॥ एतेन तु कल्पेन षो-  
 डशे वर्षे गोदानम् । अग्निं वाधयेष्यमाणस्याग्निगोदानि-  
 को मैत्रायणिरिति श्रुतिः ॥ १३ ॥ अदितिः श्मश्रु वपत्वि-

लोहे के छुरे को हजामत करने वाले नाई को देदेवे ॥९॥ फिर (मातेकेशान्०)  
 मन्त्र पढ़ता हुआ बाल बनाते नाई का अनुमन्त्रण करे (उसकी ओर देखे) ॥९॥  
 नाई के बनाने से गिरते हुए बालों को सुहृद्भाव से ले २ कर गौ के हरे गोबर  
 के पिण्ड पर धरता जावे ॥ ९ ॥ फिर (उत्प्रायकेशान्०) मन्त्र से पूर्व वा  
 उत्तर की गोबरपिण्ड सहित ले जाते हुए केशों का अनुमन्त्रण करे ॥ १० ॥  
 उस बालों सहित गोबर के पिण्ड की धान्य जिन में भरा हो ऐसे पत्नी के  
 हाथों से स्पर्श करावे ऐसा श्रुति में लिखा है ॥ ११ ॥ कर्म कराने वाले पुरो-  
 हित को गौ दक्षिणा में देवे । केशर गुड़ और कुटे हुए तिल नाई को देवे  
 ॥ १२ ॥ इसी रीति से जन्म से सोलहवें वर्ष गोदान नाम केशान्त संस्कार करे  
 अथवा वेदाध्ययन करता हुआ जब आवश्यकयाग्नि का स्थापन विधिपूर्वक  
 करे तब पहिले वा पीछे केशान्त संस्कार करे । क्योंकि श्रुति में लिखा है कि  
 (अग्निगोदानिको मैत्रायणिः) अर्थात् महर्षि मैत्रायणि ने अग्निस्थापन के  
 समय गोदान (केशान्त) संस्कार किया था ॥ १३ ॥ इसी खण्ड में मन्त्रों में  
 आये (केशान्) के स्थान में केशान्त संस्कार में मन्त्र बोलते समय श्मश्रु-

त्यूहेन श्मश्रु प्रवपति शुन्धिमुखमिति च ॥ १४ ॥ इत्येक-  
विंशः खण्डः समाप्तः ॥

सप्तमे नवमे वोपायनम् ॥१॥ आगन्त्रासमगन्महि प्र-  
थममतिंयुयोतुनः । अरिष्टाःसंचरेमहि स्वस्तिचरतादिशः ।  
स्वस्त्यागृहेभ्यः ॥ इत्युप्तकेशेन स्नातेनाक्तेनाभ्यक्ते-  
नालङ्कृतेन यज्ञोपवीतिना समेत्य जपति ॥ २ ॥ अथारमै  
वासः प्रयच्छति—या अकृन्तन्याअतन्वया आवन्या अ-  
वाहरन् । याश्रग्नादेव्योऽन्तानभितोऽततनन्त । तास्त्वा-  
देव्योजरसेसंव्ययन्त्वायुष्मन्निदंपरिधत्स्ववासः ॥ इत्यहंतं  
वासः परिधाप्यान्वारभ्याघारावाज्यभागौ हुत्वाऽऽज्य  
शेषे दध्यानीय-दधिक्राव्णोअकारिषमिति दधि त्रिःप्रा-  
श्नाति ॥ ३ ॥ कोनामासीत्याह ॥ ४ ॥ नामधेये प्रोक्ते-

पद का और शिरः शब्द के स्थान में ( मुखम् ) का ऊह करना चाहिये ॥१४॥  
यह इक्कीशवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

✓ भाषार्थः—सातवें वा नवमें वर्ष में ब्राह्मणादि द्विज बालकों का उपनयन संस्कार करना चाहिये ॥ १ ॥ प्रथम पितादि घर के लोग बालक का क्षौर करा के स्नान करावे फिर आंखों में अञ्जन शिर आदि में मक्खन लगाके अंगूठी आदि आभूषण तथा बनाया हुआ यज्ञोपवीत पहनावे तब ऐसे बालक के समीप जाकर आचार्य (आगन्त्रासमग०) मन्त्र का जप करे ॥ २ ॥ फिर ( या अकृन्तन्या० ) इत्यादि मन्त्र पढ़ के चीरेदार नया बख बालक को ( परिधत्स्व० ) ऐसा कहके पहनावे । फिर बालक के अन्वारम्भ करने पर आचार तथा आज्यभाग होम करके होम के शेषघृत में से किंचित् पृथक् लेकर उस में दही मिलाकर ( दधिक्राव्णो० ) मन्त्र द्वारा तीन बार बालक को प्राशन करावे ॥३॥ फिर आचमन कर लेने पर आचार्य कहे (कोनामासि) तुम्हारा क्या नाम है ॥ ४ ॥ तब बालक अपना शर्मान्तादि नाम (अमुकशर्मा-

देवस्य त्वासवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांपूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं  
 गृह्णाम्यसाविति हस्तं गृह्णन्नाम गृह्णाति । प्राङ्मुखस्य  
 प्रत्यङ्मुख ऊर्ध्वं स्तिष्ठन्नासीनस्य दक्षिणमुत्तानंदक्षिणेन नी-  
 चारिक्तमरिक्तेन-सविता ते हस्तमग्रहीदसावग्निराचार्य-  
 स्तव देवसवितरेष ते ब्रह्मचारी त्वं गोपाय स मा वृत ॥ कस्य  
 ब्रह्मचार्यसि । प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि । कस्त्वा कमपनयते । का  
 य त्वा परिददामि । कस्मै त्वा परिददामि । भगाय त्वा प-  
 रिददाम्यणम्णे त्वा परिददामि । सवित्रे त्वा परिददामि ।  
 सरस्वत्यू त्वा परिददामि । इन्द्राग्निभ्यां त्वा परिददामि ।  
 विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि । सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः प-  
 रिददामीति परिददाति ॥ ५ ॥ ब्रह्मणो ग्रन्थिरसि स ते  
 माविस्त्रसदिति हृदयदेशमारभ्य जपति । प्राण नां ग्रन्थिर-  
 सीति प्राणदेशम् ॥ ६ ॥ ऋतम्य गोप्त्री तपसस्तरुत्री धनती

हृगस्मि भोः ) कहे नख आचार्य ( देवस्यत्वा० ) इत्यादि मन्त्र पढ़ना हुआ  
 बालक का दहिना हाथ पकड़े और ( अमौ ) पद के स्थान में बालक का  
 सम्बोधनान्त नाम बोले । सो बालक के हाथ पकड़ने की रीति यह है  
 कि शिष्य का मुख पूर्व की आचार्य का पश्चिम की हो शिष्य बैठा हो  
 आचार्य खड़ा हो शिष्य का हाथ नीचा और खाली हो ऐसे शिष्य के  
 दहिने हाथ की किमी मगल बंधक वस्तु सहित अपने दहिने हाथ से  
 आचार्य पकड़े और ( सविताते० ) इत्यादि मन्त्र पढ़े ( कस्य ब्रह्म० ) इत्या-  
 दि मन्त्रों में प्रज्ञापति आदि उन २ देवताओं का ध्यान करता हुआ रक्षा के  
 लिये ब्रह्मचारी को देवताओं को भौंसे ॥ ५ ॥ अपना दहिना हाथ ब्रह्मचा-  
 री के हृदय पर रख के ( ब्रह्मणोग्रन्थि० ) मन्त्र पढ़े तथा ब्रह्मचारी की ना-  
 सिका के छिद्रों का स्पर्श करता हुआ ( प्राणानां० ) मन्त्र को आचार्य पढ़े  
 ॥ ६ ॥ फिर ब्रह्मचारी ( ऋतम्यगो० ) इत्यादि मन्त्र को पढ़ना हुआ सात



रक्षः सहमाना अरातीः । सा नः समन्तमभिपर्येहि भद्रे ध-  
 त्तारस्ते सुभगे मेखले मारिषाम् ॥ इति मौञ्जीं पृथिवीं त्रि-  
 गुणां मेखलामादत्ते ॥ ७ ॥ युवासुवासाइति मेखलां प्रदक्षि-  
 णां त्रिःपरि ययति ॥ ८ ॥ पुंसस्त्रीन्ग्रन्थीन्बध्नाति ॥ ९ ॥ इयंदुरुका  
 त्परिबाधमाना वर्णपुराणं पुनतीम आगात् । प्राणापानाभ्यां व-  
 लमाभजन्ती शिवादेवी सुभगे मेखले मारिषाम् ॥ इति तस्यां परि-  
 वीतायां जपति । मम व्रते ते हृदयं दधातु मम चित्तमनुचित्तन्ते अ-  
 स्तु । मम वाचमेकव्रतोजुषस्व बृहस्पतिष्टानियुनस्तुमह्यम्  
 ॥ इति ॥ १० ॥ यज्ञियं यवृक्षस्य दण्डं प्रदाय कृष्णाजिनं चादित्य  
 मुपस्थापयति । अध्वनामध्वपते श्रैष्ठ्यस्य स्वस्तरयाध्वनः पार-  
 मशीय । तच्च स्रद्धेर्वहितपुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं  
 जीवेम शरदः शतम् । शृणुयाम शरदः शतं पूत्रवाम शरदः शत-  
 म् । अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शदात् ॥ यामे-  
 धाऽप्सरःसु गन्धर्वेषु च यन्मनः । दैवीयामानुषी मेधा सा  
 मामाविशतादिहैव ॥ इति ॥ ११ ॥ अभिदक्षिणमानीयाऽग्नेः

कीर्णों की तीन लहों वाली मोटी मेखला को हाथ में लेवे ॥ ७ ॥ फिर ( यु-  
 वासु० ) मन्त्र पढ़ के उस मेखला को प्रदक्षिणक्रम से तीन बार अपने वटि  
 भाग में लपेटे ॥ ८ ॥ पुरुष की मेखला में तीन गांठें लगावे वा वे तीन गांठें  
 पुरुष चिह्नवाली हों स्त्रीसम्बन्धी न हों स्त्री की मेखला पूर्व विवाह में क-  
 ह चुके हैं उस की गांठ अन्य प्रकार की होगी ॥ ९ ॥ मेखला धारण कर लेने पर  
 ब्रह्मचारी ( इयंदुरुकात्० ) मन्त्र पढ़े और ( ममव्रते० ) मन्त्र को आचार्य  
 पढ़े ॥ १० ॥ फिर बिल्व-वेल, पलाश-ढाँक, आदि यज्ञिय वृक्ष का दण्ड और  
 कृष्णमृग का चर्म ब्रह्मचारी को दे कर ( अध्वनाम० ) इत्यादि मन्त्रों को  
 पढ़ता हुआ आचार्य ब्रह्मचारी से आदित्य देवता का उपस्थान करावे ॥ ११ ॥  
 अपने से दक्षिण अग्नि से पश्चिम में ब्रह्मचारी को खड़ा कर एक पत्थर की  
 शिला पर ब्रह्मचारी का दहिना पग धरावे और साथ ही आचार्य ( ऐह्यश्रमानं० )

पश्चात्-एषमानमातिष्ठाश्मेव त्वं स्थिरः भव। कृण्वन्तवि-  
श्वेदेवा आयुष्टे शरदःशतम् ॥ इति दक्षिणेन पादेनाश्मान-  
मास्थापयति ॥ १२ ॥ पश्चादग्नेर्महदुपस्तीर्य सूपस्थलं कृत्वा प्रा-  
डासीनः प्रत्यङ्गडासीनायानुवाचयति गायत्रीं सावित्रीमपि ह्ये-  
के त्रिष्टुभमपि ह्येके जगतीमोमित्युक्त्वा व्याहुतिभिश्च  
॥ १३ ॥ तां त्रिरवगृह्णीयात्तां द्विरवकृत्य तां सकृत्समर्पेत् । पा-  
दशोऽर्दुर्चशः सर्वामन्तेन ॥ १४ ॥ यत्तिसृणां प्रातरन्वाह यद्-  
द्वयोर्देकस्याः संवत्सरे द्वादशाहे षडहे त्र्यहं वा तस्मात्सद्यो  
ऽनूचयेति श्रुतिः ॥ १५ ॥ वरं कर्त्रेददाति कांस्यं वसनं च ॥ १६ ॥  
यस्य तु मेधाकामः स्यात्पलाशं नवनीतेनाभ्यज्य तस्य छाया  
यांचाचयेत्-सुश्रवः सुश्रवा असि । यथात्वं सुश्रवः सुश्रवा असि

मन्त्र पढ़े ॥ १२ ॥ इस के अनन्तर स्थापित अग्नि से पश्चिम में आचार्य के बैठने  
को ऊंची गद्दी लगा के पूर्व की मुख कर उच्चासन पर आचार्य बैठे उस के सा-  
मने पश्चिमाभिमुख नीचे आसनपर बैठे ब्रह्मचारी को प्रणव तथा व्याहृतियों  
सहित सविता देवता वाली ( तत्सवितुः ) इस गायत्री मन्त्र का तीनों वर्ण के  
ब्रह्मचारियोंको आचार्य उपदेश करे यह किहूँ आचार्यों का मत है। और को-  
ई कहते हैं कि पूर्व ( पु० १ खं० २ सू० ३ ) के लेखानुसार ( आदेवो ) इस त्रिष्टुभ् सावि-  
त्री का क्षत्रिय को और ( युञ्जते ) जगती सावित्री का वैश्य ब्रह्मचारी को उ-  
पदेश करे ॥ १३ ॥ उस गायत्रीके तीन भाग कर के उपदेश करे । दोवार खण्ड २  
करके तथा एक बार पूरे षडष्टे मन्त्र का करे । प्रथम बार तीनों पाद पृथक् २  
द्वितीय बार ( धीमहि ) तक एकभाग आगे दूसरा तृतीय बार में सब मन्त्र ए-  
क बार में कहलावे ॥ १४ ॥ गायत्री सावित्री के उपदेशार्थ एक, दो, तीन, छः और  
बारह रात्री उपतीत होने पर उपदेश करे इन विकल्पित पांच पक्षों में जिस दि-  
न करे उस दिन प्रातःकालही करे परन्तु उपनयन संस्कारके समय तत्कालही उपदे-  
श करना श्रुतिके अनुकूल उत्तम पक्ष है ॥ १५ ॥ उपनयन कराने वाले पुरोहितादि को  
धन वा गौ कांसे का पात्र और नया वस्त्र दक्षिणा में देवे ॥ १६ ॥ आचार्य जिस ब्र-  
ह्मचारी का बुद्धिमान् होना चाहता हो उस को मक्खन जिस में लगाया गया

एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु ॥ यथा त्वं देवानां वेदानां निधिपो असि । एवमहं मनुष्याणां वेदानां निधिपो भूयासम् ॥ इति अधीते ह वा अयमेषां वेदानामेकं द्वौ त्रीन् सर्वान्वेति यमेवं विद्वांसमुपनयतीति श्रुतिः ॥ १८ ॥ व्याख्यातं ब्रह्मचर्यम् ॥ १९ ॥ अथ भैक्षं चरत मातरमेवायं याश्चान्याः सुहृदो यावत्यो वा संनिहिताः स्युः ॥ २० ॥ आचार्याय भैक्षमुपकल्पयते । तेनानुज्ञातो भुञ्जीतेति श्रुतिः ॥ २१ ॥ इति द्वाविंशः खण्डः ॥

अथ दीक्षाचातुर्होत्रिकी संवत्सरम् ॥ १ ॥ चतुर्होतृन्स्वकर्मणो जुहुयात् । सह षड्दोत्रा सप्तहोतारम् ॥ २ ॥ अन्ततो

हो ऐसे ढांक वृक्ष की छाया में (सुश्रवः ०) इत्यादि मन्त्र कहनावे ॥ १७ ॥ श्रुति में लिखा है कि उपनयन विधि को यथार्थ ठीक जानने वाला आचार्य जिस शिष्य का ठीक २ उपनयन करता है वह एक दो तीन या सब वेदों को ( मनु ० अ० ३।२) अवश्य पढ़ता है ॥ १७ ॥ ( पु० १।खं० १।२) में ब्रह्मचर्य का व्याख्यान कर चुके ॥ १९ ॥ अब भिक्षा मांगने का विचार दिखाते हैं । ब्रह्मचारी प्रथम माता से ही भिक्षा मांगे (मनु ० अ० २।५०) माता के अभाव में प्रेम रखने वाली मौसी आदि जो २ समीप हों उन २ से मांगे ॥ २० ॥ भिक्षा माग कर प्रथम आचार्य को समर्पण करे और जब गुरु आज्ञा देवे तब भोजन करे ॥ २१ ॥

यह वार्द्धशर्वा खण्ड पूरा हुआ ॥

चातुर्होत्रिकी दीक्षा यह कर्मका नाम है । ब्रह्मचारी के लिये जो नियम इस ग्रन्थ के आदि में कहे हैं वे अधिकांश दीक्षित के नियमों से मिलते हैं । यद्यपि श्रौतमूत्रों में दीक्षित के लिये पूरे २ नियम कहे गये हैं तथापि इसी खण्ड के ८ वें सूत्र से लेके कुछ नियम यहां भी कहे हैं । इस चातुर्होत्रिकी दीक्षा को ब्रह्मचारी एक वर्ष तक करे ॥ १ ॥ वाचस्पति आदि देवों को चतुर्होतादि संज्ञा हैं । ब्रह्मचारी अपना कर्म करता हुआ वाचस्पति आदि चार होताओं के लिये दीक्षा के दिनों में आहुति दिया करे । और वाक् आदि छः होताओं के साथ सप्त होतृ होम करे ॥ २ ॥ अन्त में ब्रह्मणादि दीक्षित को दुग्धादि भोजनार्थ

व्रतं प्रदायादितो द्वावनुवाकावनुवाचयेत् ॥३॥ एवमेवोद्दीक्षां  
जुहुयात् ॥ ४ ॥ अथ दीक्षाग्निकी द्वादशरात्रम् ॥५॥ युञ्जा-  
नः प्रथममनइत्यष्टौ हुत्वाऽऽकूतमग्निं प्रयुजं स्वाहेति षड्  
जुहोति । विश्वो देवस्य नेतुरिति सप्तमीम् ॥६॥ व्रतं प्रदा-  
यादितोऽष्टावनुवाकाननुवाचयेत् ॥ ७ ॥ त्रिषवणमुदंकमा-  
हरेत् त्रींस्त्रीन्कुम्भान् ॥ ८ ॥ एकेन वाससाऽनन्तर्हितायां  
भूमौ शयीत भस्मनि करीपे सिकतासु वा ॥ ९ ॥ नोदकम-  
भ्यवेयात् ॥ १० ॥ समाप्ते घृतवताऽपूपेनेष्ट्वा वात्सप्रं वाच-  
येत् ॥ ११ ॥ ततो घृतवद्विरूपैर्ब्राह्मणानभोजयेत् ॥ १२ ॥  
एवमेवोद्दीक्षां जुहुयात् ॥ १३ ॥ अथ दीक्षाश्वमेधिकी द्वाद-

नियत वस्तु देकर वेद के आरम्भ के दो अनुवाकों का अनुवाचन करावे ॥ ३ ॥  
इसी प्रकार उद्दीक्षा का भी होम करे ॥ ४ ॥ शत्रु आग्निकी दीक्षा का  
व्रत बारह दिन का होता है सो भी दिखाते हैं ॥ ५ ॥ प्रथम आचार  
आरंभ आठवभागों के पत्रात् ( युञ्जानः प्र० ) इत्यादि आठ आहुति करके  
( आकूतमग्निं प्र० ) इत्यादि छः आहुति करे पीछे ( विश्वोदेवस्य० ) मन्त्रसे  
सातवीं आहुति करे ॥ ६ ॥ फिर भोजनार्थ दुग्धादि देकर अग्निकारण के आ-  
दि से आठ अनुवाकों का अनुवाचन करावे । ब्रह्मचारी ऐसा नित्य २ बारहों  
दिन करे ॥ ७ ॥ और कुछ विशेष नियम ये हैं कि सायं प्रातः और मध्याह्न में  
तीनों समय तीन २ घड़ा भर २ जलाशयमें जल लाया करे ॥ ८ ॥ जिस पर कु-  
छ पलाल आदि भी न बिछा हो ऐसी शून्य भूमि पर अथवा भस्म बिछी हो  
वा कण्डों का चूरा बिछा हो अथवा बालू बिछाया हो उस पर एक वस्त्र केव-  
ल लंगोटी वा धोती पहन कर सोया करे ॥ ९ ॥ दीक्षा के दिनों में जल में  
घुन कर स्नान न करे और अन्य प्रकार से भी स्नान न करे ॥ १० ॥ बारह  
दिन का व्रत समाप्त होने पर मालपुत्रा द्वारा प्रधान देवता अग्नि के लिये  
होम करके वत्सप्री देवता लाले अनुवाक का जप करे ॥ ११ ॥ तदनन्तर  
मालपुत्रा द्वारा तीन ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ १२ ॥ इसी प्रकार उद्दीक्षा  
का भी होम करे ॥ १३ ॥ शत्रु बारह दिन का आश्वमेधिकी दीक्षा का व्रत

शरात्रम् ॥ १४ ॥ वैतसमिधममुपसमाधाय नवमेनानुवाकेन  
हुत्वा पष्टेनोपस्थाप्य व्रतं प्रदायादित एकविंशत्यनुवाका-  
ननुवाचयेत् ॥ १५ ॥ त्रिषवणमश्वस्य घासमाहरेत् । त्रींस्त्री-  
न्पूलान् ॥ १६ ॥ एकेन वाससाऽनन्तहिंतायां भूमौ शयीत  
भस्मनि करीषे सिकतासु वा ॥ १७ ॥ या ओषधयः । समन्या  
यन्ति । पुनन्तु मा पितरः । अग्नेर्मन्वइति चतुर्भिरनुवा  
कैरपोऽभिमन्त्र्य स्नानमाचरेत् ॥ १८ ॥ एवमेवोद्दीक्षां जुहु-  
यात् ॥ १९ ॥ शादंदद्विरिति चतुर्दशानुवाकाननुवाचयेत् ॥  
॥ २० ॥ रहस्यमध्येप्यमाणः प्रवर्ग्यम् ॥ २१ ॥ आदेशो यथा

कहते हैं । जैसे आग्निकी दीक्षा ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिये ही नियत है वैसे ही  
यह आश्वमेधिकी दीक्षा क्षत्रिय ब्रह्मचारी के लिये ही है अन्यके लिये नहीं है  
॥ १४ ॥ वैतनामक वृक्ष की समिधाओं से अग्नि को प्रज्वलित करके नववें अनुवा-  
क से होम और छठे अनुवाक से देवता का उपस्थान करे । तदनन्तर भोजनार्थ  
नियत ययागू दीक्षित को यथायोग्य देकर आदि से इक्कीश अनुवाकों का  
अनुवाचन करे ॥ १५ ॥ सायं प्रातः और मध्याह्न तीनों काल में तीन २ पूजा  
घास घोड़े के लिये लावे । अर्थात् इस आश्वमेधिकी दीक्षा से क्षत्रिय ब्रह्मचा-  
री अच्छे प्रकार देवबुद्धि से घोड़े की सेवा भी अन्य अपने नियम पालने के  
तुल्य किया करे ॥ १६ ॥ जिस पर कुछ न बिछा हो ऐसी खाली भूमि पर वा  
भस्म बिछा कर घाकंडों का चूरा बिछा के अथवा बालू बिछा के उस पर एक  
वस्त्र धारण किये सोया करे ॥ १७ ॥ (या ओषधयः०) इत्यादि चार अनुवाकों  
से जल का अभिमन्त्रण कर के नित्य २ स्नान किया करे ॥ १८ ॥ इसी प्रकार  
उद्दीक्षा का भी होम करे ॥ १९ ॥ ( शादंदद्विः० ) इत्यादि चौदह अनुवाकों का  
अनुवाचन करावे ॥ २० ॥ रहस्य नाम वेद के उपनिषद् भाग को पढ़नी चाह-  
ता हो तो गानय श्रौत सूत्रादि में लिखे अनुसार ब्रह्मचारी प्रवर्ग्य संभरण क-  
र्म के प्रतिपादक सः अ ब्रह्मण का प्रथम अध्ययन करे ॥ २१ ॥ यदि दीक्षा ले

पुरस्ताद् व्याख्यातम् ॥ २२ ॥ आदितः पञ्चविंशत्यनु-  
वाकाननुवाचयेत् ॥ २३ ॥ त्रैविद्यकमुपनयनेन व्याख्यातम्  
॥ २४ ॥ आदितस्त्रीननुवाकाननुवाचयेत् ॥ २५ ॥ व्या-  
ख्यातानि व्रतानि व्याख्यातानि व्रतानि ॥ २६ ॥ उदुत्तमं  
वरुणपाशमिति मेखलामुन्मुञ्चति ॥ २७ ॥ इति मैत्रायणी-  
यमानवगृहेषु त्रयोविंशः खण्डः प्रथमः पुरुषश्च समाप्तः ॥

कर वेदान्त पढ़ना चाहता हो तो पु० १ खं० २१ में लिखे ब्रूह्मकर्म विधि के अनुसार क्षौर कराके पढ़े ॥ २३ ॥ उपनयन संस्कार प्रायः साङ्ग एक वेद के पढ़ने की होता है क्योंकि साङ्गोपाङ्ग सब वेदों का पढ़ लेना काल और श्रम अधिक लगने से सब का काम नहीं है । और यदि तीनों वेद पढ़ने के व्रत का कोई संकल्प करे तो उस का भी उपनयन के तुरन्त व्याख्यान जानो ॥ २४ ॥ फिर इस त्रैवेदिक व्रत में आदि से लेकर तीन अनुवाकों का अनुवाचन करे ॥ २५ ॥ इस प्रकरण में मानवगृह्य सूत्र का अभिप्राय यह है कि चातुर्होत्रिकी दीक्षा में उन दिव्य होताओं का होमादि द्वारा पूजन तथा चार, छः और सात होताओं से होने वाले सप्तहोत्रादि विषयक मन्त्र ब्राह्मण और कल्प ग्रन्थों का विशेष कर उस दीक्षा के समय अध्ययन करे । तथा आग्नि की दीक्षा में अग्नि-देव सम्बन्धी मन्त्र ब्राह्मण कल्पों की पढ़े और आश्वमेधिकी दीक्षा में क्षत्रिय ब्रह्मचारी आश्वमेध सम्बन्धी मन्त्र ब्राह्मण कल्पों की पढ़े । ब्रह्मचारी के व्रतों का व्याख्यान ग्रन्थ के आरम्भ में और इसी कण्डिका के नवमादि सूत्रों में कर चुके हैं ॥ २६ ॥ ( उदुत्तमं ) मन्त्र पढ़ के ब्रह्मचारी मेखला उतारे ॥ २७ ॥ ( अनुमान होता है कि पूर्वार्द्ध समाप्ति का चिह्न २६ वें सूत्र में है इस कारण यह सत्ताईशवां सूत्र समावर्तन संस्कार में होना चाहिये ) ॥

यह मैत्रायणीय मानवगृह्यसूत्र का तेईशवां खण्ड तथा प्रथम पुरुष समाप्त हुआ ॥

इति श्रीमानवगृह्यसूत्रस्य भीमसेनशर्मनिर्मितायां  
नागरीभाषावृत्तौ प्रथमपुरुषः समाप्तः ॥

# अथ द्वितीयपुरुषारम्भः

औद्वाहिकं प्रेतपिता शालाग्निं कुर्वीत ॥ १ ॥ अन्य-  
त्र ततः प्रेते पितरि प्रज्वलयन्तोऽग्निं जागरयेयुः पर्वणि  
ज्यौस्त्वे पुण्ये नक्षत्रेऽन्यत्र नवम्याः ॥ २ ॥ स्नातः शुचि-  
रहतवासाः ॥ ३ ॥ वाग्यतावरणिपाणी जागृतः ॥ ४ ॥ अ-  
वकाशेऽक्षतान्यवान् पिष्ट्वा मन्थमायौत्थनालम्बमिक्षुश-  
लाकया बहुलम् ॥ ५ ॥ हिरण्यपाणिं सवितारं वायुमिन्द्रं  
प्रजापतिम् । विश्वान्देवानङ्गिरसो हवामहे । अमुं क्रव्या-

भाषार्थः—जिस का पिता मर गया हो वह विवाह सम्बन्धी शालाग्नि ना-  
म आवसथ्याग्नि को विधिपूर्वक स्थापित करे । माता पिता जीवित रहें त-  
ब तक उन की सेवा करे ( मनु० अ० २ । २३५ । जब तक माता पिता जी-  
वें तब तक अन्य कुछ भी धर्म उन की सेवा का बाधक न करे ) ॥ १ ॥ यदि  
पिता ने स्वयं पुत्र को भाग देकर अपने से पृथक् कर दिया हो तो पिता के  
जीवित रहते हुए भी पुत्रों को अग्निस्थापन कर्म का अधिकार है । और  
यदि पुत्रों से अन्यत्र देशान्तर में पिता मर जावे तब दोनों दशा में अनाया-  
स्या पीर्णमासी पर्व तिथि में अथवा शुक्ल पक्ष में नवमी तिथि को छोड़ के  
जिस दिन पुण्य नक्षत्र हो उसी दिन प्रज्वलित करते हुए विधिपूर्वक अग्नि  
को स्थापित कर मरण पर्यन्त जागृत सचेत रखें ॥ २ ॥ प्रथम अग्न्याधान का  
अङ्ग रूप स्नान करके दोनों पति पत्नी चोरेदार नये दो २ सूत्र धारण करें  
॥ ३ ॥ अग्नि स्थापन से पहिली रातको उत्तरारणि को पति और अधरार-  
णि को पत्नी हाथ में ले मौन हो कर जागरण करें ॥ ४ ॥ अगले दिन उपःका-  
ल से पहिले भूमी सहित सजे जी पीस कर पात्र में न लगती हुई ईख की स-  
लाई से बहुत से सत्तू घोले ॥ ५ ॥ ( हिरण्यपाणि० ) मन्त्र पढ़ के घोले हुए  
जी के आटा को अरणी से निकाले अग्नि पर सेवन करे जिस से पहिला अ-

दं शमयन्त्वग्निम् ॥ इति मन्थेनाग्निमवसिञ्चति ॥ ६ ॥  
 सोमोराजाविभजतूमाग्निर्विभाजयन् । इहैवास्तुहव्यवाह-  
 नोग्निः क्रव्यादं नुदस्व ॥ इति कटे कृतायां वाग्निं समारो-  
 प्य प्रहिणोति ॥ ७ ॥ क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमिदूरं । यमरा-  
 ज्यंगच्छतुरिप्रवाहः । इहैवायमितरोजातवेदा देवेभ्योहव्या-  
 वहतुप्रजानन् ॥ इत्यग्निमादाय दक्षिणाप्रत्यग् घरन्ति ॥ ८ ॥  
 सहाधिकरणैर्यन्ति ॥ ९ ॥ स्वकृतहरिणे-सीसेमलिम्लुचामहे  
 शिरोमिमुपवर्हणे । अव्यामसितायां मृष्ट्वाऽस्तंप्रेतसुदानवः ॥  
 इति सीसमुपधाने न्यस्याध्यधि ॥ १० ॥ धाम्नोधाम्नइति  
 तिसृभिः परोगोष्ठं मार्जयन्ते ॥ ११ ॥ अनपेक्षमाणाः प्रत्या-  
 यन्ति ॥ १२ ॥ नलैर्वेतसशाख्या वा पदानि लोपयन्ते-मृ-  
 त्योःपदानिलोपयन्ते यदेतद् द्राघीयआयुःप्रतिरंदधानाः ।  
 आप्यायमानाःप्रजयाधनेन शुद्धाःपूताभवन्तुयज्ञिवासः ॥ १३ ॥  
 अनड्वाहंप्लवमन्वारभध्वं येनावेपत्सरमारपन्ती । इति ॥ १४ ॥

ग्नि वृत्त जावे ॥ ६ ॥ अथवा नयी बनायी हुई चटाई पर पहिले अग्नि को  
 धरके अलग ले जावे ॥ ७ ॥ ( क्रव्यादमग्निं० ) मन्त्र पढ़ते हुए पहिले अग्नि  
 को नैऋत्य दिशा में कुण्डों सहित ले जावे ॥ ८ । ९ ॥ फिर जंगल में स्वयं ब-  
 नायी चटायी पर शिरो भाग में ( सीसे मलिम्लु० ) मन्त्र पढ़ के सीसा धर  
 कर उस के समीप २ लाये हुए कुण्डों सहित अग्नि को स्थापन कर देवे ॥ १० ॥  
 फिर अग्निस्थान से पृथक् ( धाम्नो धाम्न० ) इत्यादि तीन मन्त्रों से सब  
 लोग अपने पर मार्जन करें ॥ ११ ॥ फिर पीछे की न देखते हुए घर की लौटें  
 ॥ १२ ॥ और लौटते हुए नरसल तृणों की कूची से वा वेंत की डाली से पृ-  
 थिवी में चलने से हुए अपने पगों के चिह्नों की ( मृत्योः पदानि० ) मन्त्र प-  
 ढ के बिगाड़ते चले आवें ॥ १३ ॥ क्रव्याद नाम मुर्दा जलाने वाले अग्नि को



अग्न्यायतनमुद्धृत्यावोक्ष्याग्न्याधेयिक्यान्पार्थिवान्संभारा-  
न्निवपत्यूषसिकतवर्जम् ॥ १५ ॥ अरणिभ्यामग्निं मथित्वा  
हिरण्यशकलं च न्युप्य प्रागुदयादुपस्थकृतो-भूरिति ज्वल-  
न्तमादधाति ॥ १६ ॥ गौर्वासः कांस्यं च दक्षिणा ॥ १७ ॥

इति प्रथमः खण्डः समाप्तः ॥

प्रागुदञ्चं लक्षणमुद्धृत्यावोक्ष्य, स्थण्डिलं गोमयेनोप-  
लिप्य मण्डलं चतुरस्रं वाग्निं निर्मध्याभिमुखं प्रणयेत् ॥ १॥  
दर्भाणां पवित्रे मन्त्रवदुत्पाद्याग्नेयं स्थालीपाकं श्रपयति  
॥ २ ॥ पवित्रान्तर्हितेऽप आनीय तण्डुलानोप्य मेक्षणेन

दूर जंगल में छोड़ कर लौटे हुए लोग (अनङ्ग्वाहं<sup>१</sup>) मन्त्र पढ़ के बैलका स्पर्श करें ॥ १४ ॥ फिर से बनाये अग्निस्थापन के कुण्ड में किंचित् रेखा करने से उठी मही को फेंक के जल सेवन करके ऊपर की मही और बालू को छोड़ कर सुअर की खोदी चीटी के बिल की और मूषे की खोदी मही तथा कंकड़ी और जल इन अग्न्याधान सम्बन्धी पार्थिव पदार्थों को अग्नि के स्थापन के कुण्ड में नीचे धरे ॥ १५ ॥ फिर सब के ऊपर सुवर्ण का टुकड़ा कुण्ड में धर के उस पर अरणियों द्वारा मघ के निकाले प्रउन्नत अग्नि को सूर्योदय से पहिले पद्मासन से बैठा हुआ ( भूः ) ऐसा पढ़के कुण्ड में स्थापित करे ॥ १६ ॥ उस समय गौ वस्त्र और कांसे का पात्र अध्वर्यु को दक्षिणा में देवे ॥ १७ ॥

यह प्रथम खण्ड समाप्त हुआ ॥

फिर यज्ञ शाला में कुण्ड से पृथक् पूर्व की पांच और उत्तर की एक रेखा करके वहाँ से किंचित् मही फेंक जल सेवन करके गोलाकार वा घीकोण स्थण्डिल वेदि की गोबर से लीप कर अग्नि मग्न्यन करके सम्मुख रखे ॥ १ ॥ दाभों के दो प्रादेश मात्र पवित्रों की तीन दाभों से (वैष्णवेभ्यः) मन्त्र द्वारा छेदन करके अग्नि देवता के लिये स्थालीपाक पकावे ॥ २ ॥ पवित्र जिस पर धरें हों ऐसे चरुपात्र में जल लाकर उस में चावल गिरा के कुण्डस्थ अग्नि पर धर कर करछी स्थानी मेक्षक नामक यज्ञ पात्र से प्रदक्षिण क्रम से चावल

प्रदक्षिणं पर्यायुवन् जीवतण्डुलं श्रपयति ॥३॥ घृतेनानुत्पू-  
 तेन नवनीतेन वोत्पूतेन शृतमभिघार्योत्तरत उद्वासयति ॥४॥  
 इमंस्तोममर्हतडत्यग्निं परिसमुह्य पर्युक्ष्य परिस्तीर्य पश्चाद-  
 ग्नेरेकवृद्धिः स्तृणाति ॥५॥ उदक्प्राक्तूलान्दर्भान्प्रकृष्य द-  
 क्षिणांस्तथोत्तरानग्रेणाग्निं दक्षिणैरुत्तरानवस्तृणाति ॥६॥ द-  
 क्षिणतोऽग्नेर्ब्रह्मणे संस्तृणात्यपरं यजमानाय, पश्चाद्दे पत्न्यै  
 ॥७॥ उत्तरतः संस्तीर्णे पवित्रे स्त्रुक्स्तुवावाज्यस्थालीं प्रक्षाल्य सं-  
 स्तीर्णे द्वे द्वे प्रयुनक्ति ॥८॥ तूष्णीं दक्षिणत आज्यं निरूप्य मन्त्र-  
 वत्पर्यग्निं कृत्वा तूष्णीं स्त्रुक्स्तुवौ संमृज्याऽदध्यधेनत्वाचक्षुषा  
 वेक्षति पत्न्याज्यम्वेक्षते ॥ ९ ॥ तूष्णीमधिश्चित्योपाधि

और जल को मिलाता हुआ किंचित् पकावे सम्पक् गलने न पावे अर्थात् अ-  
 धपके हों तब ॥ ३॥ जिस का उत्पन्न संस्कार न किया हो ऐसे घी से वा उ-  
 त्पन्न किये सक्त्वन से स्त्रुक् द्वारा चरु का अभिघारण करके अग्नि से उत्तर  
 में उतार कर धरे ॥ ४ ॥ फिर ( इमंस्तोममर्हत ) इस मन्त्र से अग्नि के सब  
 ओर भाड़ के सब ओर जल सेवन और सब ओर कुर्गों से परिस्तरण करके  
 अग्नि से पश्चिम में एक पक्ष पूर्व को अग्रभाग करके एक मूठा कुश विछावे ॥ ५ ॥  
 अग्नि के सब ओर कुश विछाने की रीति यह है कि अग्नि कुण्ड से उत्तर और  
 दक्षिण में पूर्व को अग्रभाग करके तथा पूर्व पश्चिम में उत्तर को अग्रभाग करके  
 विछावे ॥६॥ अग्नि से दक्षिण में ब्रह्मा के लिये और ब्रह्मा से पश्चिम में यजमान  
 के लिये और यजमान से दक्षिण पश्चिम को और पत्नी के लिये उन २ के आसन  
 पर कुश विछावे ॥७॥ अग्नि से उत्तर में विछावे कुर्गों पर दो पवित्र स्त्रुक् स्त्रुव  
 और आज्यस्थाली को प्रक्षालन करके विछे कुर्गों पर दो २ पात्र धरे ॥ ८ ॥  
 अग्नि से दक्षिण में तूष्णीं बिना मन्त्र आज्यस्थाली में घृतपात्र से घी  
 गिराके सूखे कुशगला कर घी के सब ओर मन्त्र पूर्वक फिराकर संमार्जन कुर्गों  
 द्वारा तूष्णीं बिना मन्त्र स्त्रुक् और स्त्रुवा का संमार्जन करे और (अदध्यधेनत्वाऽ)  
 मन्त्र पढ़ के पत्नी घी को देखे ॥९॥ फिर तूष्णीं बिना मन्त्र पढ़े अध्वर्यु आज्य-

श्रित्य पश्चादग्नेरुपस्थाय मन्त्रवदुत्पूयावेक्षते ॥१०॥ तेजो-  
ऽसीत्याज्यं यजमानोऽवेक्षते ॥ ११ ॥ आज्यस्थाल्यां स्त्रुवं  
निधायाग्नेः स्थालीपाकमन्वायातयत्यपरेण मेक्षणम् ॥१२॥  
तूष्णीं प्राञ्चमिधममुपसमाधाय, ब्रह्माणमामन्त्र्य ओंजुहुधी  
त्युक्ते, दक्षिणेन हस्तेनान्तरेण जानुनी प्राहासीन आधारी  
जुहोति । प्राजापत्यमुत्तरार्द्धे प्राञ्चं मनसा, ऐन्द्रं दक्षिणार्द्धे  
प्राञ्चमेव ॥ १३ ॥ अथाज्यभागौ जुहोति । आग्नेयमुत्तरार्द्धे  
सौम्यं दक्षिणार्द्धे । समावनक्ष्णौ ॥१४॥ युक्तोवह । यदाकूतमि-  
ति द्वाभ्यामग्निं योजयित्वा । नक्षत्रमिष्टानक्षत्रदेवतां यजेत्ति-  
थिं तिथिदेवतामृतुमृतुदेवतां च ॥ १५ ॥ उपस्तीर्याप उपस्पृश्य

स्थाली को अग्नि पर रखके तपा के उतारले अग्नि से पश्चिम में आज्यस्थाली को रखके ( विष्णोर्नमः ) मन्त्रपूर्वक पवित्रों द्वारा उत्पवन करके घी को देखे ॥ १० ॥ फिर (तेजोऽसि०) मन्त्र पढ़के यजमान आज्य को देखे ॥११॥ फिर आज्यस्थाली में स्त्रुवा को धरके स्थालीपाक से आगे पूर्व में स्त्रुवासहित आज्यस्थाली को और उस से पश्चिम में मेक्षण को उत्तराग्रधरे ॥ १२ ॥ तदनन्तरतूष्णीं विना मन्त्र पढ़े अग्नि पर पूर्व को अग्रभाग कर २ समिधा धरके ( ब्रह्मन्होष्यामि ) ऐमा कहके ब्रह्मा से आज्ञा मांगे ब्रह्मा के ( ओंजुहुधि ) कहने पर पूर्वाभिमुख बैठा दोनों घोंटू ( जानु ) के बीच में हाथ करके दहिने हाथ से निम्नरीति से प्रथम आचार की दो आहुति करे प्रजापति का मन से ध्यान करता हुआ प्रजापति देवता के लिये अग्नि कुण्ड के उत्तरार्द्ध में पूर्व की झुकती हुई पहिली आचाराहुति स्त्रुवा द्वारा छोड़े । और इन्द्र देवता के लिये अग्नि कुण्ड के दक्षिणार्द्ध में पूर्वकी झुकती दूसरी आचाराहुति स्त्रुवासे छोड़े ॥ १३ ॥ अब आज्यभाग की दो आहुति निम्न लिखित रीति से करे । अग्नि देवता के लिये कुण्ड के उत्तरार्द्ध में और सोम देवता के लिये कुण्ड के दक्षिणार्द्ध में कुटिलता रहित सरल स्वभाव से दोनों आहुति स्त्रुवा में घी भर २ के छोड़े ॥ १४ ॥ तदनन्तर ( युक्तोवह० । यदाकू

मेक्षणेन स्थालीपाकस्यावद्यति मध्यात् (प्रथमं ) पूर्वाहुतिं  
द्वितीयम् । पश्चाद्वात्तृतीयं यदि पञ्चावदानस्य ॥१६॥ अवत्त  
मभिघार्य स्थालीपाकं प्रत्यभिघारयति ॥१७॥ अग्नये स्वाहेति  
मध्ये जुहोति ॥१८॥ यो देवानामसीति रौद्रस्य ॥१९॥ जया-  
न्हुत्वाऽऽज्यस्य स्विष्टकृते समवद्यत्युत्तराहुतिसकृद्द्विमात्रम् ।  
द्विर्वा यदि पञ्चावदानस्य ॥२०॥ अवत्तं द्विरभिघार्य नात ऊर्ध्वं  
स्थालीपाकं प्रत्यभिघारयति ॥२१॥ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्य-

तं ) इन दो मन्त्रों से अग्नि देवता का ध्यान करे अर्थात् अग्नि को सर्वरूप  
कर्म कर्ता क्रियादि रूप से देखे । फिर उस होम के दिन जो नक्षत्र जो तिथि  
और जो ऋतु हो तथा उन २ नक्षत्र तिथि और ऋतु के जो २ देवता हों उन  
सब के नाम से छः आहुति करे ॥१५॥ ये दश आहुति, घी से करके प्रथम स्तुवा से  
थोड़ा घी स्तुब् में उपस्तार रूप गिरा के दहिने हाथ से जलस्पर्श कर मेक्षणद्वा-  
रा चरु के बीच से एक आहुति भाग लेके स्तुब् में धरे और चरु के पूर्वाहुति से-  
मेक्षण द्वारा आहुति का दूसरा भाग ले यदि पांच प्रवरों वाला यजमान हो  
तो चरु के पश्चिमाहुति से तीसरा अवदान लेवे ॥१६॥ फिर चरु पात्र में जहां २  
से आहुति भाग लिये हों वहां २ स्तुवा से घी कोड़ के स्तुब् में धरे आहुति  
भागों के ऊपर एक स्तुवा घीका प्रत्यभिघारण करे ॥१७॥ फिर (अग्नये स्वाहा)  
मन्त्र से स्तुब् के चतुरवत्त वा पञ्चावत्त का होम करे ॥ १८ ॥ और ( यो  
देवानां ) मन्त्र से रुद्र देवता के लिये चतुरवत्त वा पञ्चावत्त का प्रथमाहुति  
के तुल्य होम करे ॥ १९ ॥ इस प्रकार प्रधान होम की दो आहुति स्थालीपाक  
से करके तथा घी से जया होम की १३ आहुति करके स्तुब् में उपस्तार  
करके स्विष्टकृत् के लिये चरु के उत्तरभाग से एक ही बार में आहुति  
के दो भाग [ एक अवदान अंगुष्ठ पर्वमात्र प्रमाण का होता है ] लेवे यदि  
यजमान पञ्चावत्ती हो तो तीन अवदान के बराबर एक साथ लेवे ॥ २० ॥  
फिर स्तुब् में ऊपर से अभिघारण करके चरु पात्र में जहां से अवदान लिया  
है उस पर स्तुवा भर के घी कोड़े पर इस से आगे चरु का अभिघारण न करे  
॥ २१ ॥ फिर उत्तर पूर्व ईशान कोण में अन्य आहुतियों से न मिलती हुई

संसक्तमुत्तरार्द्धपूर्वाद्धे जुहोति ॥२२॥ मेक्षणं दर्भांश्चाधायानु-  
मतिभ्यां व्याहृतिमिश्र । त्वंनोअग्ने । सत्वंनोअग्ने । अया-  
श्चाग्नेऽसीत्येताभिर्जुहुयात् ॥ २३ ॥ वितेमुञ्जामिरशनांविर-  
श्मीनिति च हुत्वा पवित्रेऽनुग्रहत्याज्येनाभिजुहोति ॥ २४ ॥  
एधोऽस्येधिषीमहीति समिधमादधाति । समिदसिसमेधि-  
षीमहीति द्वितीयाम् ॥ २५ ॥ आपोऽअद्यान्वचारिषमित्यु-  
पतिष्ठते ॥ २६ ॥ आपोहिष्ठीयाभिर्मार्जयते ॥ २७ ॥ पूर्ण-  
पात्रं दक्षिणा ॥ २८ ॥ बर्हिरनुग्रहरति ॥ २९ ॥ एतेन स्थाली-  
पाकेन स्थालीपाकाः सर्वत्र व्याख्याताः ॥ ३० ॥ इति द्विती-  
यः खण्डः ॥

अग्नयेस्वाहेति सायं जुहोति प्रजापतयइति द्वितीया-  
म् ॥ १ ॥ सूर्यायस्वाहेति प्रातः । प्रजापतयइति द्वितीयाम् ॥ २ ॥

( अग्नये स्विष्ट० ) मन्त्र से स्विष्टकृत आहुति देवे ॥ २२ ॥ पश्चात् मेक्षण और  
ऊपरी दर्भों की अग्नि में छोड़ कर अनुमति दो देवताओं के लिये ( अन्वद्य-  
नोऽनुमति० ) इत्यादि दो मन्त्रों से तीन व्याहृतियों से तथा ( त्वंनो अग्ने० )  
इत्यादि चार मन्त्रों से घी की आहुति दे के पवित्रों का होम कर देवे ॥ २३ ॥  
फिर ( एधोऽस्ये० ) मन्त्र से एक तथा ( समिदसि० ) से दूसरी समिधा घी में  
हुओं के चढ़ावे ॥ २५ ॥ फिर ( आपोऽअ० ) मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करे ॥ २६ ॥  
तदनन्तर ( आपोहिष्ठा० ) इत्यादि तीन अचाओं से मार्जन करे ॥ २७ ॥ दोसौ  
कूपन २५६ मुट्ठी भर चावल का पूर्ण पात्र दक्षिणा में देवे ॥ २८ ॥ पश्चात् वे-  
दि के सब ओर बिछाये तथा अन्य कुशों का अग्नि में होम करे ॥ २९ ॥ इ-  
सी प्रकार सर्वत्र स्थालीपाकों का विधान जानो ॥ ३० ॥

यह दूसरा खण्ड समाप्त हुआ ॥

अब नित्य प्रति सायं प्रातःकाल का स्वार्त्त अग्निहोत्र दिखाते हैं ( अ-  
ग्नये स्वाहा ) मन्त्र से एक और ( प्रजापतयेस्वा० ) मन्त्र से तूष्णीं दूसरी आ-  
हुति सायंकाल वैवाहिक अग्नि में दिया करे ॥ १ ॥ ( सूर्याय० । प्रजापतये० )

अग्नीषोमीयः स्थालीपाकः पौर्णमास्यामैन्द्राग्नोऽमावा-  
स्यायाम् । उभयत्र चाग्नेयः । आगन्तुः पूर्वः पौर्णमा-  
स्यामुत्तरोऽमावास्यायाम् ॥ ३ ॥ आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां  
प्रातर्नित्येषु स्थालीपाकेषु स्थालीपाकमन्वायातयति ॥४॥  
तस्याग्निं रुद्रं पशुपतिमोशनं त्र्यम्बकं शरदं पृषातकं गाडिति  
यजति ॥५॥ दधिघृतमिश्रः पृषातकः । तस्यानोमित्रावरुणा।  
प्रवाहवेति च हुत्वा । अम्भःस्याम्भोवोभक्षीयेति गाः प्रा-  
शापयति ॥६॥ अवसृष्टाश्रवसेयुः ॥७॥ ब्राह्मणान् घृतवद्भोज-  
येत् ॥८॥ नानिद्वाग्रयणेन नवस्याशनीयात् ॥९॥ पर्वण्याग्रयणं  
कुर्वीत । वसन्ते यवानां शरदि त्रीहीणाम् ॥१०॥ अग्रपाकस्य

ये दो आहुति प्रातःकाल करे । प्रत्येक पौर्णमासी को अग्नीषोम देवता के  
लिये तथा प्रत्येक अमावास्या में इन्द्राग्नी देवता के लिये स्थालीपाक बनाके  
पूर्ववत् होम करे । और पौर्णमासी अमावास्या दोनों में अग्नि देवता के  
लिये स्थालीपाक का होम करे । तथा आग्रयणादि पर्वों में शान्त्याद्यर्थ जो  
नैमित्तिक कर्म कहा है उसको पौर्णमासी में पहिले और अमावास्या में पीछे से  
करे ॥३॥ आश्विन मास की पौर्णमासी में नियम से कहे अन्यस्थाली पाकों में  
ही इस स्थालीपाक को भी पका लेवे अर्घात् संमिलित (तन्त्र) कर देवे ॥४॥  
उस आश्विन की पौर्णमासी में अन्यो के साथ बनाये घृत से ( अग्रयेस्वाहा )  
इत्यादि नाम मन्त्रों को पढ़ २ के अग्नि, रुद्र, पशुपति, ईशान त्र्यम्बक और श-  
रद देवताओं के लिये यज्ञ करे तथा निम्न प्रकार पृषातक से गौओं का पूजन  
करे ॥५॥ दही और घी के मेल का नाम पृषातक है । उस पृषातक से (आनोमि-  
त्रा०) इत्यादि दो मन्त्रों से अग्नि में आहुति देकर (अम्भःस्य०) मन्त्र से शेष  
पृषातक गौओंको खवावे ॥६॥ गौएं उस समय बछड़ों से पृथक् रखी जावें ॥७॥  
ब्राह्मणों को घृत सहित भोजन कराया जावे ॥८॥ नवान्नेष्टि किये बिना नयी  
अन्न न खावे ॥९॥ वसन्त ऋतु की पौर्णमासी अमावास्यामें जो से और शरद का  
में चावलों से नवान्नेष्टि करे ॥१०॥ पहिलेपहिल पके जौ वा चावलों का दूध

पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा । तस्य जुहोति । सजूर-  
ग्नीन्द्राभ्यां स्वाहा । सजूर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । सजूर्द्या-  
वापृथिवीभ्यां स्वाहा । सजूः सोमाय स्वाहेति ॥११॥ शरदि  
सोमाय श्यामाकानां वसन्ते वेणयवानाम् । उभयत्र वा-  
ज्येन ॥१२॥ वत्सः प्रथमजो दक्षिणा ॥१३॥ ब्राह्मणएव हविः  
शेषं भुञ्जीतेति श्रुतिः ॥१४॥ इति तृतीयः खण्डः समाप्तः ॥

पशुना यक्ष्यमाणः पाकयज्ञोपचाराग्निमुपचरति ॥१॥  
पशुबन्धवत्तूष्णीमावृद्धदेवताहोमवर्जम् ॥२॥ प्रोक्ष्यानुमान्यो-  
पपाय्य पर्यग्निकृत्वा शामित्रं प्रणीय वपाश्रपणीभ्यामुदञ्च-  
प्रक्रममाणमन्वारभन्ते ॥३॥ संज्ञप्यमानमवेक्षते ॥४॥ संज्ञप्तं

में स्थालीपाक पका के उस का आचारादि के पश्चात् (सजूरग्नी०) इत्यादि चार मन्त्रों से प्रधान होम करे ॥११॥ इन में जो चौथी आहुति सोम देवता के लि-  
ये कही है उस को शरद् ऋतु में सामा से और वसन्त में वेणुयवों से करे अथ-  
वा दोनों समय सोमाहुति घी से करे ॥१२॥ पहिले वार व्याना वरुणा इन न-  
वान्नेष्टि में आचार्य को दक्षिणा में देवे ॥१३॥ क्षत्रिय वैश्यों को भी नवान्नेष्टि  
आदि यज्ञ करने का तो अधिकार है परन्तु श्रुति में लिखा है कि क्षत्रियादि के  
यज्ञ में भी हविःशेष ऋत्विज् ब्राह्मण ही खावे यजमान भागभी क्षत्रियादि न-  
खावे ॥ १४ ॥ यह तीसरा खण्ड पूरा हुआ ॥

पशुयोग करना चाकता हुआ पूर्व कहे पाकयज्ञ की रीति (पु० २ खं० २ सू० १)  
में कहे अनुसार वेदि में चिह्नादि कर अग्नि का मन्थन स्थापनादि करे ॥१॥  
मानवकल्प सूत्र में लिखे पशुबन्ध कर्म के अनुसार यहां भी देवता होम को छोड़  
के अन्य सब कृत्य बिना मन्त्र तूष्णीं करे ॥२॥ पशु का प्रोक्षण, स्तुति, जल पिला-  
ना और पशु के सब ओर अग्नि का अङ्गार घुमाना उत्तर में शामित्रशाला का  
नियत करना जब अध्ययु पशुको उत्तर की ओर ले चले तब वपाश्रपणी से उस  
का अन्वारम्भ यजमानादि करें इत्यादि सब काम बिना मन्त्र करें ॥३॥ पशु के  
संज्ञपन को यजमान देखे ॥४॥ फिर पशु को खान करा के इन्द्राग्नी आदि जि-

स्नपयित्वा । यथादेवतं वषामुत्कृत्य श्रूपयित्वाऽऽधारावा-  
ज्यभागौ हुत्वा । जातवेदोवषयागच्छ देवांस्त्वंहिहोता प्र-  
थमो बभूव । घृतस्याग्नेतन्वासंभव सत्याःसन्तुयजमानस्य  
कामाः स्वाहा ॥ इति वषां जुहोति ॥ ५ ॥ स्वाहास्वाहेति  
परिवर्ष्यौ ॥ ६ ॥ स्थालीपाकमन्वायातयति । समानदेवतं  
पशुना ॥ ७ ॥ तद्गुतावाज्यभागौ ॥ ८ ॥ अनिरुक्तः स्विष्ट-  
कृत् ॥ ९ ॥ पाशुबन्धिकानामवदानानां रसस्यावदाय दैव-  
तैः प्रचर्य वसाहोमशेषेण दिशः प्रतियजति । यथा वाजि-  
नेन । वनस्पतिमाज्यस्य ॥ १० ॥ जयान् हुत्वा त्र्यङ्गाणां  
स्विष्टकृते समवद्यति ॥ ११ ॥ स्थालीपाकेन शेषो व्याख्या-

म देवता के उद्देश से पशुयाग हो उस के लिये वषा निकाल के पका कर तथा  
आधाराज्यभागों का होम करके ( जातवेदोवषया० ) मन्त्र से वषा-  
अपणी पर पकायी वषा का अग्नि में होम करे ॥ ५ ॥ ( स्वाहा-  
देवभ्यः ) इस मन्त्र को पढ़ के वषाहोम से पहिले एक आहुति घी  
की करे और ( विश्वेभ्यो देवेभ्यःस्वाहा ) मन्त्र से वषा होम के पश्चात् घी की  
एक आहुति देवे ॥ ६ ॥ फिर पकाये हुए पुरोडाश स्थानी स्थालीपाक का  
अभिधारण कर उत्तर में उद्गमन करके पूर्व कहे अनुसार आहुति भाग सूत्र  
में लेकर जिस देवता के लिये पशुयाग हो उसी के लिये स्थालीपाक का हो-  
म करे ॥ ७ ॥ आज्यभागों का होम वषा होम से पहिले इस में अवश्य करे  
किसी कारण से विकल्प न माने ॥ ८ ॥ स्विष्ट कृत् आहुति में स्विष्ट कृत् श-  
ब्द को छोड़ के ( अग्नयेस्वाहा ) इतना ही मन्त्र यहाँ पढ़े ॥ ९ ॥ फिर पशु-  
बन्ध याग सम्बन्धी अवदान लेकर उद्दिष्ट देवताओं के लिये होम करके वसा  
होम से पहिले घी से वनस्पति होम करे फिर वसा होम से शेष बची वसा  
को वाजिन के तुल्य प्रदक्षिण क्रम से सब दिशाओं में छोड़े ॥ १० ॥ फिर  
जया होम घी से करके तीन अंगों से स्विष्टकृत् आहुति के लिये अवदान  
लेवे । सूत्र ९ में कहे प्रकार इस अवसर में स्विष्टकृत् आहुति का होम करे ॥ ११ ॥



तः ॥ १२ ॥ पशोः पशुरेव दक्षिणा ॥ १३ ॥ इति चतुर्थः ख-  
ण्डः समाप्तः ॥

(सैद्धः शरदि शूलगवः) ॥ १ ॥ प्रागुदीच्यां दिशि ग्रा-  
मस्यासकाशे निशि गवां मध्येऽतष्टो यूपः ॥ २ ॥ प्राक्स्वि-  
ष्टकृतोऽष्टौ शोणितपुटान् पूरयित्वा-नमस्ते रुद्रमन्यव इति  
प्रभृतिभिरष्टभिरनुवाकैर्दिक्ष्वन्तर्दिक्षचोपहरेत् ॥ ३ ॥ नाऽशृतं  
ग्राममाहरेत् ॥ ४ ॥ शेषं भूमौ निखनेदपि चर्म ॥ ५ ॥ अपूपा-

पु. २ खं ० २ में कहे रयालीपाक के अनुसार इस पशुबन्ध कर्म का शेष कृत्य  
जानी ॥ १३ ॥ इस पशुयाग में पशु ही दक्षिणा में दिया जाय ॥ १४ ॥ यह  
बीच खण्ड पूरा हुआ ॥

भाषार्थः—शरद् ऋतु में रुद्र देवता के लिये शूलगव नामक यज्ञ करे ॥ १ ॥  
ग्राम वा नगर से ईशान दिशा के एकान्त शुद्ध जंगल में रात में गौओं के बी-  
च बिना झिला [यहां अठ पहलू यूप न होगा] यूप नामक यज्ञ स्तम्भ गाढ़े ॥ २ ॥  
स्विष्टकृत आहुति से पहिले अंजुली में आठ बार शोणित भर २ के प्रदक्षिणा  
क्रम से ईशानादि आठ दिशाओं में मुख कर २ ( नमस्ते रुद्र० ) इत्यादि अनु-  
वाकों से समर्पण करे ॥ ३ ॥ यदि ग्राम में हविष्य लाये तो बिन पका कदा-  
पि न लावे ॥ ४ ॥ शेष बचे हविष्य को चर्म सहित पृथिवी में खोद कर गाढ़  
देवे ॥ ५ ॥ कोई ऋषि वा आचार्य अपूप नाम पुरोडाश वा सामपुञ्जाओं को  
ही पाकयज्ञ के पशु कहते मानते हैं । इस पक्ष में शोणित निवेदन का रया-  
नी अपूपों में से घी ले २ कर ( नमस्ते० ) आदि मन्त्रों से समर्पण किया जा-  
यगा । शृङ्खलसूत्रों में कहे सभी पशुयागों के लिये यह सामान्य कर सूत्रकार-  
ने प्रत्याम्नाय दिखाया है । सो जैसे फांसी देने वा अन्य प्रकार से किहूँ को  
मरवा देने का अधिकार राजा का ही है साधारण का नहीं । तथा मनुष्य को  
अच्छा करने के लिये चीर फाड़ करने का अधिकार अच्छे २ डाक्टर वैद्यों का  
ही है सब का नहीं जैसे कमल के पत्तों पर जल नहीं लिपता पर अन्य सब  
पत्ते भीग जाते हैं वैसे ही उत्तमाधिकारी ज्ञानी बिद्वानों के लिये ही पशु-

नेके पाकयज्ञपशूनाहुः ॥ ६ ॥ इति पञ्चमः खण्डः समाप्तः ॥

अथातो ध्रुवाश्वकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥ आश्वयुज्यां  
पौर्णमास्याम् ॥ २ ॥ ऋत्विगव्यङ्गः स्नातः शुचिरहतवासाः  
॥३॥ प्रागस्तमयान्निष्क्रम्योत्तरतो ग्रामस्यपुरस्ताद्वा शुचौ  
देशेऽश्वत्थस्याधस्तान्न्यग्रोधस्य वाऽपां वा समीपे वेद्याकृ-  
तिंकृत्वा तस्यां चतुष्कोणवनस्पतिशाखायामवसक्तचीरायां  
गन्धस्रग्दामवत्यां [ अगृहीतशुक्लमाल्यनिकरवत्यां ] चतु-  
र्दिशं विन्यस्तोदकुम्भसहिरण्यबीजपिटिकायामपूपसूस्तर-  
लाजोल्लोपिकमङ्गलफलाक्षतवत्यां सर्वगन्धसर्वरससर्वा  
पथीः सर्वरत्नानि चोपकल्प्य प्रतिसरदधिमधुमोदकस्वस्ति

यान है । ऐसे घोर कलि काल में कोई ऐसे पशुयागों का अधिकारी नहीं है ।  
। यदि सम्प्रति कोई शूलगव वा खं० ९। पु० २ में कहे पशुयागादि करना  
चाहे तो वह पुरोडाश वा सालपुत्रादि से उन २ के प्रतयास्नाय करे । यही  
सारांश जानो ॥ यह पांचवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भाषार्थः—जिस यजमान के घर पर घोड़े रहते हों वह घोड़ों की पुष्टि  
और दृढ़ स्थिति के लिये आश्विनमास की पौर्णमासी के दिन ध्रुवाश्व क-  
ल्पनामक यज्ञ इस कठे खण्ड में कहे अनुसार करे ॥ १ । २॥ इस कर्म के ऋ-  
त्विज् किसी वक्षुआदि अंग से हीन नहीं स्नान करके शुद्ध हुए नये चीरेदा-  
र वस्त्र पहिने ॥ ३ ॥ सूर्यास्त होने से पहिले ग्राम वा नगर से निकल के पू-  
र्व वा उत्तर शुद्ध स्थान में जाकर पीपल वा बटवृक्ष के नीचे अथवा जलाशय  
के समीप पाशुक यज्ञ की वेदि के तुल्य वेदी बनाकर उस के चारों कोनों पर  
किसी गन्धि वनस्पति की शाखा गाड़ें चारों दिशा में चित्र विचित्र पत्ता  
का लगावे, जिस में चन्दन तथा अगर आदि सुगन्ध, पुष्पमाला तथा रास्त्रा-  
नामक लता के पत्रादि की माला खन्धवारादि में लगी हों तथा सब ओर  
जिस में सफेद फूल बिछाये गये हों तथा सुवर्ण जिन के भीतर डाली गया  
हो ऐसे बीजों से भरी पिटारी और जल से भरे घड़ा जिस के चारों दिशा

कनन्द्यावत्तवत्यामग्निं प्रणीय । अश्वत्थ [ पलाश ] ख-  
 दिररोहितकीटुम्वराणामन्यतमस्येधममुपसमाधाय तिसः  
 प्रधानदेवता [ इति ] यजत्युच्चैःश्रवसं वरुणं विष्णुमिति  
 स्थालोपाकैः पशुभिश्चाश्विनौ चाश्वयुजौ चाज्यस्य ॥४॥  
 जयान्हुत्वा । याऽओषधयः । समन्यायन्ति । पुनन्तु मा  
 पितरः । अग्नेर्मन्वइति चतुर्भिर्नुवाकैरपोऽभिमन्त्र्याश्वा  
 न्सनपयन्ति ॥ ५ ॥ गन्धस्त्रग्दामभिरलङ्कृत्य प्रदक्षिणं दे-  
 वयजनं त्रिःपरियन्ति ॥ ६ ॥ प्रहर्षं कारयन्ति ॥ ७ ॥ इष्टे  
 यथास्थानं व्रजन्ति ॥ ८ ॥ गौरनड्वांश्च दक्षिणा ॥९॥६खंडः

में धरे हों तथा, पूजा संकलपारे खसखस भुंजी खीले अन्ननाधान वा चा-  
 वल और मंगलफन जिस में विद्यमान हों तथा मर्ष सुगन्ध सर्व रस तथा  
 ग्राम और वनकी सब ओषधियां जिस में विद्यमान हों और सब रत्न जिस  
 में विद्यमान हों तथा कलावा नया सूत दही शहद खलड्डू जिस में धरे गये  
 हों तथा चार दरवाजे बन्दनवार सहित हों तथा जिस के बीच गोल घर हों  
 ऐसी वेदि के बीच अग्नि को स्थापित करके खैर लालकरंज और गूगरी इन  
 में से किसी एक वृक्ष की समिधारस के उच्चैःश्रवा वरुण और विष्णु इन तीन  
 प्रधान देवताओं के लिये पूर्वोक्त प्रकार से बनाये स्थालीपाक द्वारा और पशु-  
 ओं द्वारा यज्ञ करे तथा अश्विनी और अश्वयुज् देवताओं के लिये घीसे होम  
 करे ॥ ४ ॥ फिर जया होम करके ( या ओषध० ) इत्यादि चार अनुवाकों से  
 जल का अभिमन्त्रण करके घोड़ों को स्नान करावें ॥ ५ ॥ केशर चन्दनादि सु-  
 गन्ध पुष्पमाला और रास्त्रादिक लताओं की माला आदि से घोड़ों को सुभू-  
 चित करके वेदि के सब ओर तीन बार घोड़ों से प्रदक्षिणा करावें ॥ ६ ॥ तद-  
 नन्तर घोड़ों से ह्रींसने का शब्द करावें ॥ ७ ॥ सामान्य प्रकरण में कहे अ-  
 नुसार आरम्भ समाप्ति का शेष काम यहां भी पूर्ववत् जानो । यज्ञ हो जाने  
 पर सब लोग अपने २ स्थान को जावें ॥ ८ ॥ इस प्रवाश्वकल्प कर्म की समा-  
 प्ति में एक गी तथा एक बैल दक्षिणा में देवे ॥ ९ ॥ यह छठा खंड पूरा हुआ ॥

आग्रहायण्यां पौर्णमास्यां प्रयसि स्थालीपाकं श्रुपयित्वा  
 तस्य जुहोति-अपःश्वेतपदागहि पूर्वणचापरेणच । सप्त च  
 वारुणारिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजवान्धव्यः स्वाहा ॥ श्वेतो  
 रुषत्यो विदधात्यश्वो दधद्गर्भं वृषः सत्वर्ग्यो ज्योक् । स-  
 मंजनाश्चक्रमपोवसानाः प्रोषादसाविरसिविश्वमेजत् । श्वे-  
 ताय सौषिदश्वाय स्वाहा ॥ नवै श्वेतस्याभ्याचारे अहि-  
 र्जघान किंचन । श्वेताय वैतहव्याय स्वाहा ॥ अभयं नः प्राजा-  
 पत्येभ्यो भूयात्स्वाहा ॥ इति ॥१॥ स्वस्तरेऽहतं वास उदग्दश-  
 मास्तीर्योदकांस्येऽश्मानं व्रीहीन्यवान्वाऽस्य परिषिञ्चति-  
 स्योनापृथिविभवेति द्वाभ्यां सुत्रामाणमिति द्वाभ्याम् ॥२॥  
 शमीशाखया च सपलाशयोदञ्चं त्रिः समुन्मार्ष्टि-स्योना  
 पृथिविभवेति द्वाभ्यां सुत्रामाणमिति द्वाभ्यां नमोऽस्तुसर्पेभ्य  
 इति तिसृभिश्च ॥ ३ ॥ शाम्यन्तु सर्पाः स्वशया भवन्तु ये  
 अन्तरिक्ष उत ये दिविश्रिताः । इमां महीं प्रत्यवरोहेम ।

भाषार्थः—आग्रहन मास की पौर्णमासी के दिन दूध में पु०२ख०२ में १००  
 अनुसार स्थालीपाक पकाके आचारादि सामान्य कृत्य करके (अपःश्वेत०)  
 इत्यादि मन्त्रों से स्थालीपाक की चार प्रधानाहुति करके जयादि होम अ-  
 ध्वर्यु ब्रह्मा को दक्षिणा और ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥१॥ इस कर्म का नाम  
 सर्पयाग है । फिर रात को अध्वर्यु यजमान को स्वस्तरारोहण कर्म करावे । प्रथम  
 बिछाये हुए कोमल पलाल पर उत्तर की चीरा करके नया खस्र द्वितयी वा चौतयी  
 आदि बिछावे । फिर जल जिस में भरा हो ऐसे कांसे के पात्र में एक पत्थर  
 तथा औं वा धानों की (स्योना पृथिवि०) इत्यादि चार मन्त्रों से गिरावे  
 ॥२॥ फिर पत्तों सहित शमी (बरोकर) वृक्ष की डाली से कांसे के पात्र से जल  
 से २ कर (स्योना पृथिवि०) इत्यादि सात मन्त्रों से बिछोना परमार्जन करे ॥३॥  
 फिर रात्रि की सोने के समय यजमानादि सब को उस बिछोना पर पूर्व की  
 शिर पश्चिम की पग करा २ के दक्षिण से उत्तर की ओर की (शाम्यन्तु सर्पाः०)

शिवामजसां शिवांशान्तां सुहेमन्तामुत्तरामुत्तरां समां क्रि  
यासम् ॥ इति ज्येष्ठप्रथमानुदीच आवेशयति ॥ ४ ॥ उदी-  
र्ध्वं जीवो असुर्न आगादपः प्रागात्तम आज्योत्तिरेति । अरै-  
कपन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतरं न आयुः ॥ इति क-  
निष्ठप्रथमानुज्जिहते ॥ ५ ॥ चैत्र्यामुद्रोहणम् ॥ ६ ॥ न त-  
त्र स्थालीपाको न शाखया समुन्माष्टि ॥ ७ ॥ अयंतल्पः प्र-  
तरणोवसूनां विश्वादिभ्यतल्पो अस्मान् । ज्योग्जीवेम स-  
र्ववीरावयंतम ॥ इति तल्पमभिमन्त्रयते ॥ ८ ॥ त्रीणि ना-  
भ्यानि फाल्गुन्यामाषाढयां कार्त्तिक्याम् ॥ ९ ॥ तासु ना-  
धीयीत ॥ १० ॥ तासु पयसि स्थालीपाकः स व्याख्यातः ॥ ११ ॥  
इति सप्तमः खण्डः समाप्तः ॥

इत्यादि मन्त्र पढ़ के लिटावे । सब से दक्षिण में सब से बड़े को उस से  
उत्तर २ में छोटे छोटी को लिटावे ॥ ४ ॥ फिर प्रातःकाल ( उदीर्ध्व-  
जीवो ) मन्त्र पढ़ के छोटे छोटी को पहिले २ उठावे सब से पीछे सब से ब-  
ड़े को उठावे ॥ ५ ॥ इस प्रकार पौष माघ फाल्गुन चैत इन चार महीनों में  
पलाल पर उक्त विधि से नित्य २ सोखें जायें । फिर चैत्रकी पौर्णमासी की रात्रि  
को खट्वारोहण [ खटिया पर सोने उठने का विधि ] करावे । यहां कांसे के  
पात्र में पत्थर जी ढाल के शमी शाखा से खट्वा का मार्जन और स्थाली पा-  
क न करे ॥ ६ । ७ ॥ किन्तु ( अयंतल्पः ) मन्त्र पढ़ के खट्वा का अभि म-  
न्त्रण करे ॥ ८ ॥ और सोने के मन्त्र में पढ़े ( इमां महीं ) के स्थान में ( ह-  
संतल्पं ) तथा ( सुहेमन्ता ) के स्थान में ( सुवसन्ता ) ऊह करे । फाल्गु-  
न, आषाढ़ और कार्तिक मास की तीन पौर्णमासी ऋतु सन्धि होने से सं-  
वत्सरात्मक प्रजापति की नाभिसूयानी हैं इन्हीं में अत चातुर्मास्य पर्ब  
कहे हैं ॥ ९ ॥ इन तीनों में वेद न पढ़े ॥ १० ॥ किन्तु इन तीनों में दूध में स्था-  
लीपाक पका के प्रधान अग्नि देवता के लिये होम करे शेष विधि पु० २ ।  
खं० २ में व्याख्यान कर चुके हैं यह स्मार्त्तों में नाभ्य कर्म कहाता है ॥ ११ ॥

यह सातवां खण्ड पूरा हुआ ।

तिस्रोऽष्टकाः ॥१॥ ऊर्ध्वमाग्रहायण्याः प्राक्फाल्गुन्यास्तामि  
 स्त्राणामष्टम्यः ॥ २ ॥ तासु नाधीयीत ॥ ३ ॥ तासु पयसि  
 स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति—यादेव्यष्टकेष्वप-  
 सापस्तमास्वपाअवयाअसि । त्वं यज्ञे वरुणस्यावयाअसि  
 तस्यैतएनाहविषाविधेम ॥ १ ॥ उलूखलाग्रावाणोघोषमकु-  
 र्वत हविःकृशवन्तपरिवत्सरीयम् । एकाष्टके सुप्रजसः सुवी-  
 रा ज्योग्जीवेमबलिहृतोवयन्ते ॥ २ ॥ यांजनाः प्रतिनन्दन्ति  
 रात्रीधेनुमिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सानो अस्तु सु-  
 मङ्गली ॥३॥ संवत्सरस्यप्रतिमां येत्वारारात्रीमुपासते । तेषा-  
 मायुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेणसंसृजस्व ॥ ४ ॥ इति । चतस्रः  
 स्थालीपाकस्य ॥ ४ ॥ अष्टकायैसुगंधसे स्वाहेति सर्वत्रा-  
 नुषजति ॥ ५ ॥ हेमन्तो वसन्तोऽग्नीष्मन्नृतवः शिवानः शि-  
 वानो वर्षाअभयारिचरन्तः । वैश्वानरोऽधिपतिः प्राणदीनो  
 अहोरात्रेऽणुतांदीर्घमायुः ॥ १ ॥ शान्तापृथिवीशिवमन्तरि-  
 क्षं द्यौर्नादेव्यभयंकृणोतु । शिवा दिशः प्रदिश आदिशो न आ-  
 पो विद्युतः परिपान्त्वयुः ॥२॥ आपोमरीचीः परिपान्तुवि-  
 श्वतो धातासमुद्रोअभयंकृ गोतु । भूतंभविष्यदुतभद्रमस्तुमे  
 ब्रह्माभिगूर्त्तस्वराक्षाणः ॥ ३ ॥ कविरग्निरिन्द्रः सोमः सूर्यो  
 वायुरस्तुमेअग्निर्वैश्वानरो अपहन्तुपापम् । बृहस्पतिः सवि-

अथ अष्टका कर्म का विचार दिखाने हैं ॥१॥ अगहन की पीर्णमासी से फाल्गुन की  
 पीर्णमासी तक कृष्णपक्षों की तीस अष्टमी होती हैं उन में वेद न पढ़ें ॥२॥  
 उन अष्टमियों में दूध में स्थालीपाक बनाकर आचारादि विधिपूर्वक ( या  
 देव्यष्टके ) इत्यादि चारों मन्त्रों के अन्त में ( अष्टकायैसुगंधसे स्वाहा ) इ-  
 तना जोड़ के स्थालीपाक की चार प्रधानाहुति करे ॥ ५ ॥ फिर ( हेमन्तो

ताशर्म्यच्छतु श्रियंविराजंमयिपूषादधातु ॥ ४ ॥ विश्वआदि  
त्यावसवश्चसर्वं रुद्रागोप्तारोमरुतश्चसन्तु । ऊर्जं प्रजाममृतं-  
दीर्घमायुः प्रजापतिमयिपरमेष्ठीदधातु ॥ ५ ॥ इति पञ्चाज्य-  
स्य ॥ जयान्हुत्वेडामग्नइति स्विष्टकृदिति ॥ ७ ॥ एवं सर्वा-  
सु ॥ ८ ॥ इत्यष्टमः स्वण्डः समाप्तः ॥

उत्तमायाः प्रदोषे चतुष्पथेऽङ्गशो गां कारयेत् ॥ १ ॥ योय-  
आगच्छेत्तस्मै दद्यात् ॥ २ ॥ श्वोऽन्यां कारयेत् ॥ ३ ॥ तस्या वपां  
जुह्यात्-बहवपांजालवेदः पितृभ्यो यत्रैतान्वेत्यनिहितान्प  
राके । मेदसोघृतस्यकुल्याअभिनिःस्रवन्तु सत्याः सन्तु यजमा  
नस्यकामाः स्वाहा ॥ इति ॥ ४ ॥ अथास्यावक्षसउदगोदनं श्रपयति  
॥ ५ ॥ तस्याष्टकाहोमकल्पेन शेषो व्याख्यातः ॥ ६ ॥ अवशिष्टं भक्तं  
रन्धयति ॥ ७ ॥ श्वोऽवशिष्टं भक्तं रन्धयित्वा पिण्डानामावृता  
त्रोन्मांसौदनपिण्डान्निदधाति ॥ ८ ॥ आहुमपरपक्षे पितृ-

वसन्तो० ) इत्यादि मन्त्रों से पांच आहुति घी की करें ॥ ६ ॥ फिर जयादि  
होम करके ( इडामग्ने० ) मन्त्र से स्विष्टकृत् आहुति करे ॥ ७ ॥ इसी प्रकार  
सब भाद्रपद की अष्टका में भी करे ॥ ८ यह आठवां खण्ड पूरा हुआ ॥

फालगुन की कृष्णाष्टमी की सन्ध्या के समय घीर-हे पर गोयाग करे ॥ १ ॥  
को २ यागदर्शनार्थ आवे उसे २ यज्ञ का प्रसाद खोया देवे ॥ २ ॥ प्रातः का-  
ल अगले दिन अन्य गोयाग करे ॥ ३ ॥ आधारदिके पश्चात् उस की वपाका  
होम ( बहवपां० ) मन्त्र पढ़के करे ॥ ४ ॥ इस के वक्षः से उत्तर में भात प-  
कावे ॥ ५ ॥ इस का शेष विचार अष्टका होम के साथ व्याख्यान हो चुका जानो  
॥ ६ ॥ अगले दिन प्रातःकाल शेष आधा भात रांधकर पिण्डदान की रीति से  
पितरों के लिये तीन पिण्ड देवे ॥ ७ ॥ ८ ॥ इसी पु० २ खं० ५ में कहे अनुसार यहां  
भी पशु याग के स्थान में अपूर्वों द्वारा प्रत्याम्नाय ही सर्वथा श्रेयस्कर है

भ्यो दद्यात् ॥९॥ अनुगुप्तमन्नं ब्राह्मणान्भोजयेत् । नावेदवि-  
दभुञ्जीतेति श्रुतिः ॥१०॥ यदि गवा पशुना वा कुर्वीत प्रोक्ष-  
णमुपपायनं पर्यग्निकरणमुल्मुकहरणं वपाहोममिति ॥११॥  
त्रैधं वपां जुहुयात् । स्थालीपाकमन्नदानानि च ॥१२॥ सो-  
मायपितृमतेस्वधानम इति जुहोति । यमायाद्भिरस्वतेपितृ-  
मतेस्वधानम इति द्वितीयाम् । अग्नये कव्यवाहनायस्वधा-  
नम इति तृतीयाम् ॥१३॥ एवं मासि मासि नियतम् । तन्त्रं  
पिण्डपितृयज्ञे ॥१४॥ इति नवमः खण्डः ॥

वपाहोम जहां २ कहा है वहां २ सर्वत्र दूध की वा घी की मलाई उसी री-  
ति से उत्तर के होम करना प्रत्यास्नाय ठोक है । पशुयाग लोक विद्विष्ट होने  
से त्याज्य है पिण्डदान में अपूपका प्रत्यास्नाय जानो पितरों के लिये कृष्ण-  
पन्न में आहुत करना चाहिये ॥ ९ ॥ गूद पतित और रजस्वलादिने न  
देखा हो ऐसे सुरक्षित शुद्ध भात खीर मोहनभोगादि अन्न तीन आदि  
ब्राह्मणों को होमाहुतियों के पश्चात् आहुत में भोजन करावे । वेद को न जानने  
वाले ब्राह्मण को आहुत में भोजन न करावे ऐसा श्रुति में लिखा है ( मनु० अ०  
३।१८४-१८६ ) ॥१०॥ यदि कोई कभी गौ वा अन्य पशु से होम यज्ञादि करे तो व-  
हां प्रोक्षण, स्तुति, पर्यग्निकरण, उल्मुकहरण और वपाहोम इन कामों को स-  
र्वत्र करे ॥११॥ सर्वत्र आहुत में वपाहोम, स्थाली पाक और अङ्गावदान होम इ-  
न तीनों की ( सोमायपितृ० ) इत्यादि तीन मन्त्रों से तीन २ आहुति अग्नि  
में करे ॥ १२ ॥ १३ ॥ इन प्रकार महीने २ में प्रत्येक अमावास्या के दिन पित-  
रों के लिये आहुत करना चाहिये । और सामय कल्प सूत्र में कहे पिण्डपितृ  
यज्ञ के साथ स्मार्त्त आहुत को तन्त्र कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥ धर्मनिष्ठ सर्व-  
गुणी पुरुष को मांस भक्षण कदापि कर्त्तव्य नहीं इसी लिये मांसद्वारा आहुत  
भी उन लोगों को नहीं करना चाहिये किन्तु मुन्यन्न खोपा खीर आदि से वे  
आहुत करें । मांसाहार निषिद्ध होने पर भी जो २ जिस २ देश काल में मांसा-  
हारी हों उन्हीं के लिये मांस से आहुत होमादि का विधान जहां तहां जानो ।  
यह नवम खण्ड पूरा हुआ ॥



फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां पुरस्ताद्धानापूपाभ्यां भगं चार्यमणं  
 च यजेत् ॥१॥ इन्द्राण्या हविष्यान् पिष्ट्वा पिष्टानि समुत्पूय-  
 यावन्ति पशुजातानि तावतो मिथुनान्प्रति० पा० पयित्वा  
 कांस्येऽध्याज्यान्कृत्वातेनैव-रुद्राय स्वाहेति जुहोति । ईशा-  
 नायेत्यंके ॥२॥ सायमपूपाभ्यां प्रचरत्यग्नीन्द्राभ्याम् ॥३॥ आ-  
 ग्नेयस्तुन्दिलः । न तस्य स्थियः प्राश्नन्ति । सर्वा मात्या इतर  
 स्य ॥४॥ स्थालीपाकेनेन्द्राणीं-श्वोवा ॥५॥ संधेष्वेकवद्वह्निं  
 रग्निराधोराज्यभागाहुतयः स्विष्टकृच्च ॥६॥ अग्निग्निन्द्रः सो-  
 मः सविता सरस्वत्यश्चिन्नानुमती रेवती राका पूषा रुद्र

भाषार्थः—फाल्गुनी पौर्णमासी के दिन पहिले जी के धाना और मालपु-  
 आ वा पुरोडाश बना के भग तथा अर्यमा दो देवताओं का आचारादि पूर्वक-  
 होम करके जया होम करे ॥१॥ तदनन्तर इन्द्राणी देवता के लिये जी वा चावल  
 पीस छान कर जितने पशु यजमान के घर हों उनमें ही आटा के दो २ परवा  
 कृति बनाके पकावे ऊपर से अभिचारण पु० २ खं ० सू-४ के अनुसार करे फिर सा-  
 यंकाल इन्द्राणी का चरु बनावे उसी में उन पिष्ट पशुओं को हालदेवे फिर कांसे के  
 पात्र में नीचे घी हाल के उस पर परी से ऊपर से अधिक घी छोड़ के रुद्र देवता  
 के लिये आचारादि के अनन्तर प्रधान होम करे । किन्ही कामत है कि ईशान  
 देवता के लिये होम करे ॥२॥ तदनन्तर सायंकाल दो मालपुआ बना के अग्नि  
 और इन्द्र देवता के लिये आचारादि के पश्चात् प्रधान होम करे ॥३॥ अग्नि दे-  
 वता का अपूप बीच में मोटा हो । उस अग्निदेवता वाले अपूप का शेष भा-  
 ग स्त्रियां न खावें । पर इन्द्र देवता वाले को सब बालवच्चे खावें पीछे दक्षि-  
 णा दानादि कर्म समाप्त करें ॥४॥ तदनन्तर उसी दिन मायंकाल इन्द्राणी देव-  
 ता के लिये स्थालीपाक बना के आचारादि पूर्वक इन्द्राणी का प्रधान याग  
 और जयाहोमादि करे वा अगले दिन प्रातःकाल करे ॥५॥ अनेक प्रधान होम एक  
 साथ मिला के तन्त्र करने हों तो एक पर्त कुश विद्याना अग्निस्थापन आचा-  
 राज्यभाग और स्विष्टकृत् इन सब कामोंको एकही एकवार करे बार २ नहीं ॥६॥  
 अथ हलाभियोग कर्म जिस में हल जोड़ने का आरम्भ किया जाय उसमें

हृत्स्येतैरायोजन, पर्ययन, प्रवपन, प्रलवन, सीतायज्ञ, खल  
यज्ञतन्तीयज्ञानहुदुयज्ञंवेता देवता इति यजति । सांवत्स-  
रेषु च पर्वसु ॥ ७ ॥ नद्युदधिकूपतडागेषु वरुणं यजति ।  
ओषधिवनस्पतिषु सोमम् । अनादिष्टदेवतेष्वग्निम् ॥ ८ ॥

इति दशमः खण्डः ॥

अवसानं समं समूलम् ॥ १ ॥ दक्षिणाप्रवणमन्त्रकाम-

पहिले दिन मातृपूजा तथा आभ्युदयिक आहु करे फिर अगले दिन अग्नि,  
इन्द्र सोम, सीता, सविता, सरस्वती, अश्विना, अनुमती, रेवती, राका, पुषा  
और रुद्र इन देवताओं का निम्न लिखित कर्मों से होमादि द्वारा पूजन करे।  
आयोजन नाम खेत जोतने का सामान जोड़ना, प्रथम ही खेत में जाना प-  
र्ययन, पहिले ही बीज बोना प्रवपन, प्रथमही पके खेत का काटना प्रलवन,  
यदि लवन पाठान्तर माना जाय तो पहिले ही खेत का भरना, लड्डू आदि  
से सीता नाम कूंड का पूजना सीतायज्ञ, जब अन्न कट कर खलियान में आ  
जाये तब खलयज्ञ और गाहि मीज शैला के अन्न की राशी तयार हो तब  
तन्तीयज्ञ होता और जब अन्न घर में आजाये तब मालामुकुटादि से बैल के  
सींगों का पूजन करना अमहुदुयज्ञ कहाता है । इन कामों में तथा वर्ष भरमें  
आने वाले गुरुपूना श्राद्ध पूना आदि पर्व दिनों में सर्वप्रायश्चित्तों के साथ २  
अग्नि आदि देवताओं के लिये ( अग्नयेस्वाहा ) इत्यादि नाममन्त्रों से प्रधान  
होम करे । उस में सामान्य विधि से पवित्रादि का आसादनादि आचाराज्य  
भाग पहिले और जया होमादि पीछे करे ॥७॥ नदी तलाब के मेल पर नदी  
समुद्र के मेल पर और नये कुआ तालाब बनवाने पर वरुण देवता के लिये  
प्रधान होम करे । ओषधियों के पकने पर वा खेत में प्रथम समागम होने पर  
पीपल आदि वनस्पतियों के प्रथम मिलने पर सोम देवतायें प्रधान होम करे  
और जहां कोई देवता नियत न हो वहां अग्निदेव के लिये होम करे ॥ ८ ॥

यह दशमं खण्ड पूरा हुआ ॥

भाषार्थः—अब पञ्चमहायज्ञादि कर्म दिखायेंगे सो महायज्ञ घर में होते हैं  
इस लिये शालाकर्म अर्थात् नया घर बनाने का विचार दिखाते हैं । जिस में  
महायज्ञादि कर्म ठीक २ पूरे हो सकें ऐसा बड़ी समचीरस भूमि में जहां दूध

स्य । मारुकारतत्र प्रजा भवन्ति ॥२॥ सर्वतः समवस्त्रावम् ॥३॥  
 समवस्त्रुत्य वा यस्मात्प्रागुदीचीरापो निर्वहेयुस्तद्वा ॥४॥  
 गर्त्तं खात्वा यत्तैः पांशुभिः प्रतिपूर्येत तद्वा ॥ ५ ॥ यदि  
 धारयिष्णूदकतरं स्यात् ॥६॥ इदमहं विशमन्नाद्याय तेजसे  
 ब्रह्मवर्चसाय परिगृह्णामीति वेश्म परिगृह्य । गर्त्तं हिरण्यं  
 निधाय।च्युताय ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति जुहोति ॥ ७ ॥ समी-  
 चीनामासीति पर्यायैरुपतिष्ठते प्रतिदिशं—द्वाभ्यां मध्ये  
 ॥ ८ ॥ उदकांस्पेऽश्मानं ब्रीहीन्यवान्वाऽभ्य परिषिञ्चति—  
 स्योनापृथिविभवेति द्वाभ्याम् । सुत्रामाणमिति द्वाभ्याम् ॥  
 शमीशाखया च सपलाशयोदञ्चं त्रिः समुन्मार्ष्टि—स्योना

दाभ आदि ओषधियों के मूल मौजूद हों ऊपर भूमि न हो वहां घर बनावे  
 ॥१॥ जो अधिक अन्न चाहता हो वह दक्षिण के भाग में नीची भूमि में घर  
 बनावे पर वैसी भूमि के घर में सन्तान उत्पन्न हो २ कर मर जाते हैं इस से  
 ऐसे स्थल में घर बनाना मना है ॥२॥ जिस स्थल के सब ओर करना आदिक  
 से जल निकलता वा सब ओर नदी झील आदि हों वहां बनावे ॥ ३ ॥ अथ-  
 वा जहां से निकल कर पूर्व वा उत्तर को जल बहता हो उस स्थल में घर ब-  
 नावे ॥४॥ अथवा गर्त्त (गढ़ा) खोद के उसी खोदी मही से फिर से भरे जिससे  
 नीचे की शुद्ध मही ऊपर हो जाय उस में घर बनावे ॥५॥ परन्तु जिस भूमि  
 में गिरा जल शीघ्र ही सूख जाये उस में घर बनावे ॥६॥ (इदमहं०) मन्त्र पढ़  
 के घर बनाने के स्थल को सूत्र से नाप कर घेरा खेंचे । उन के बीच मध्यय  
 खम्भ का गढ़ा खोदकर उस में सुवर्ण धर (के उस पर (अच्युताय०) मन्त्र से  
 संस्कार किये घी की एक आहुति स्त्रया से ढोड़े ॥ ७ ॥ फिर (समीचीना०)  
 इत्यादि दिशाओं के पर्याय वाचक शब्दों से प्रत्येक दिशा में मुख कर २ प्र-  
 दक्षिण उपस्थान करे और दो पर्यायों से बीच में उपस्थान करे ॥८॥ फिर कांसे  
 के पात्र में जल लेके उस में पत्थर धान और ली डाल के उस जल से (स्यो-  
 नापृथिवि०) इत्यादि दो २ मन्त्र पढ़ २ दो बार सब घर को सींचे ॥ ९ ॥  
 फिर पत्तों सहित शमीवृक्ष की शाखा से (स्योनापृथिवि०) दो से एक बार

पृथिविभवेति द्वाभ्याम् । सुत्रामाणमिति द्वाभ्याम्—नमो-  
ऽअस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिश्च ॥ १० ॥ इदं तत्सर्वतोभ-  
द्रमयमूर्जोऽयं रसः । प्राप्यैवं मानुषान्कामान्यदशीर्णीत-  
दलप्स्यसि ॥ इति मध्यमां स्थूणामासिच्य गत्तं आसिञ्च-  
ति ॥ ११ ॥ इहैव तिष्ठानितरा तिल्वलास्थिरावती । मध्ये-  
पोषस्यपुण्यतामात्वा प्रापन्नघायवः ॥ आत्वा कुमारस्तरुण  
आत्वा परिसृतः कुम्भः । आवत्सो जगता सह, आदध्नः कल-  
शमैरयम् ॥ इति मध्यमां स्थूणामामन्त्रयते ॥ १२ ॥ वसू-  
नां स्वावसुवीर्यस्याहोरात्रयोश्चेति गत्तं स्थूणामवदधाति ॥ १३ ॥  
ऋतेऽवस्थूणा अधिरोहवंशो अग्नेचिराजमुपसेधशक्रम् ॥ इ-  
ति मध्यमं वंशमवदधाति ॥ १४ ॥ तूष्णीं शिष्टाः स्थूणा  
वंशाश्च ॥ १५ ॥ प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वा मापयित्वा । गृ-  
हानहंसुमनसः प्रपद्ये वीरं हीत्येतया प्रपद्यते यथा पुरस्ताद्-  
व्याख्यातम् ॥ १६ ॥ प्रैतुराजावरुणो रेवतीभिरस्मिन्स्थाने-

( सुत्रामा० ) दो से द्वितीय वार तथा ( नमोऽअस्तु० ) इत्यादि तीन मन्त्रों  
से तृतीय वार सब घर को उत्तर की ओर तीन वार भाड़े ॥ १० ॥ फिर  
( इदं तत्सर्वं० ) मन्त्र को पढ़ के बीच के खम्भ का मार्जन कर विना मन्त्र  
तूष्णीं गत्त में जल सेचन करे ॥ ११ ॥ ( इहैव तिष्ठ० ) इत्यादि मन्त्र पढ़  
के मध्यम स्थूणा का आमन्त्रण करे ॥ १२ ॥ ( वसूनां स्वा० ) मन्त्र पढ़ के उस  
मध्यम स्थूणा को गत्त में रखे ॥ १३ ॥ ( ऋतेऽवस्थूणा० ) मन्त्र पढ़ के  
बीच के वंश ( बड़ेरा ) को खम्भ पर धरे ॥ १४ ॥ बाकी सब स्थूणाओं को  
उन २ के गत्त में तथा बाकी वंशों को उन २ के स्थानों पर विना मन्त्र रखे  
॥ १५ ॥ इस प्रकार पूर्व या दक्षिण की द्वार वाला घर तयार करके उस में  
( गृहानहं० ) मन्त्र पढ़ के ( पु० १ खं० १४ सू० ३-६ ) तक में कहे अनुसार  
घर में प्रवेश करे और पूर्व कहा अग्नि स्थापन भी इसी अवसर में करे ॥ १६ ॥

तिष्ठतु पुण्यमाणः । इरां बहन्ती घृतमुक्षमाणास्तेष्वहंसुमनाः  
 संवसाम ॥ इत्युत्तरपूर्वस्यां दिशि प्रातिपानमुदकुम्भमव-  
 स्थापयति ॥ १७ ॥ समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छ-  
 त । अरिष्टा अस्माकं वीरामापरासेचिमत्पयः ॥ इत्युदञ्च-  
 नम् ॥ १८ ॥ वास्तोष्पत्यं पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य  
 जुहोति-अमीवहावास्तोष्पते । वास्तोष्पत इत्येताभ्याम् ।  
 वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।  
 अजरा सस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रतिनोजुषस्व ॥ वास्तो-  
 ष्पतेशमया संसदाते सक्षीमहिरण्ययागा तु मत्या । पाहि क्षे-  
 म उत योगे वरं नो यूयं पातस्व स्तिभिः सदानः ॥ इति ॥ १९ ॥  
 जयप्रभृति समानम् ॥ २० ॥ इत्येकादशः खण्डः समाप्तः ॥  
 वैश्वदेवस्य सिद्धस्य सायंप्रातर्वलिं हरेत् ॥ १ ॥ अग्नीषो-

पश्चात् ( प्रैतु राजा० ) इत्यादि मन्त्र पढ़ के घरके ईशान कोण में जल से भ-  
 रा हुआ बड़ा मटका स्थापित करे ॥ १७ ॥ ( समुद्रं वः० ) मन्त्र से बड़े मटका  
 में से जल लेने के लिये मटका के समीप एक छोटा पात्र स्थापन करे ॥ १८ ॥  
 फिर पु० २ खं० २ में लिखे अनुसार दूध में वास्तोष्पति देवता के निमित्त  
 स्थालीपाक पकाकर पवित्रादि का आसादनादि आचाराज्य भाग पर्यन्त कर-  
 करके ( अमीवहा० ) ( वास्तोष्पते० ) ( वास्तोष्पते प्रतर० ) ( वास्तोष्पते  
 शमया० ) इन चार मन्त्रों से वास्तोष्पति देवता के लिये स्थालीपाक से  
 चार प्रधानाहुति करे ॥ १९ ॥ तदन्तर जया होमादि यहां भी पूर्ववत् करे ।  
 यह वास्तोष्पति यज्ञ वा वास्तुप्रतिष्ठा कर्म कहाता है ॥ २० ॥

यह ग्यारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः-घर बनाने का प्रकार कह कर उस के स्थानविशेषों में बलि-  
 हरणरूप वैश्वदेव नामक कर्म का व्याख्यान दिखाते हैं । विश्वेदेवों के सद्देश  
 से पकाया अन्न वैश्वदेव कहाता है उस अन्न से गृहस्थ सायं प्रातःकाल बलि  
 कर्म करे ॥ १ ॥ इन पञ्चमहायज्ञों में यहां पहिले देवयज्ञ दिखाते हैं । १। अग्नि

मौ धन्वन्तरि विश्वान्देवान्प्रजापतिमग्निं स्विष्टकृतमित्ये-  
वं होमो विधीयते ॥ २ ॥ अथ बलिं हरत्यग्नये नमः । सो-  
माय । धन्वन्तरये । विश्वेभ्यो देवेभ्यः । प्रजापतये । अग्न-  
ये स्विष्टकृत इत्यग्न्यागार उत्तरामुत्तराम् ॥ ३ ॥ अद्भ्य इत्युद-  
कुम्भसकाशे ॥ ४ ॥ ओषधिभ्य इत्योषधिभ्यो वनस्पतिभ्य  
इति मध्यमायां स्थूणायाम् ॥ ५ ॥ गृह्याभ्यो देवताभ्य इति  
गृहमध्ये ॥ ६ ॥ धर्माया धर्मायेति द्वारे ॥ ७ ॥ मृत्यव आका-  
शायेत्याकाशे ॥ ८ ॥ अन्तर्गोष्ठायेत्यन्तर्गोष्ठे ॥ ९ ॥ बहि-  
र्वैश्रवणायेति बहिः प्राचीम् ॥ १० ॥ विश्वेभ्यो देवे-  
भ्य इति वेश्मनि ॥ ११ ॥ इन्द्रायेन्द्रपुरुषेभ्य इति पुरस्तात्  
॥ १२ ॥ यमाय यमपुरुषेभ्य इति दक्षिणतः ॥ १३ ॥ वरुणा-  
य वरुणपुरुषेभ्य इति पश्चात् ॥ १४ ॥ सोमाय सोमपुरुषे-

२ सोम । ३ धन्वन्तरि । ४ विश्वेदेव । ५ प्रजापति । ६ अग्निस्विष्टकृत । इन  
छः देवताओं के लिये ( अग्नये स्वाहा ) इत्यादि प्रकार छः आहुति हविष्यान्न  
की अग्नि में देवे ॥ २ ॥ अब भूतयज्ञ कहते हैं । ( अग्नये नमः । सोमाय नमः )  
इत्यादि मन्त्रों से अग्निस्थान यज्ञशाला में उत्तर २ को छः ग्राम धरे ( अद्भ्यो-  
नमः ) से जल भरे मटका के समीप ॥ ३ । ४ ॥ ( ओषधिभ्योनमः ) ओष-  
धियों के समीप ( वनस्पतिभ्योनमः ) बीच के खम्भ के पास ( गृह्याभ्यो देव-  
ताभ्योनमः ) से घर के बीच ॥ ५ । ६ ॥ ( धर्माया धर्माय नमः ) से द्वार पर ( मृ-  
त्यव आकाशाय नमः ) से आकाश में बलि फेंके ॥ ७ । ८ ॥ ( अन्तर्गोष्ठाय नमः )  
से कोठा के भीतर ॥ ९ ॥ ( बह्वैश्रवणाय नमः ) से घरसे बाहर पूर्व में  
( विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ) से घरके बीच में ॥ १० । ११ ॥ ( इन्द्राय नमः । इ-  
न्द्रपुरुषेभ्यो नमः ) से घरसे पूर्व में ( यमाय नमः । यमपुरुषेभ्यो नमः ) से घर के द-  
क्षिण भाग में एक बलि धरे ॥ १२ । १३ ॥ ( वरुणाय नमः । वरुणपुरुषेभ्यो नमः ) से घर

भ्यइत्युत्तरतः ॥ १५ ॥ ब्रह्मणे ब्रह्मपुरुषेभ्यइतिमध्ये ॥ १६ ॥ प्राची-  
मापातिकेभ्यः सम्पातिकेभ्य ऋक्षेभ्यो यक्षेभ्यः पिपीलिकाभ्यः  
पिशाचेभ्योऽप्सरोभ्यो गन्धर्वेभ्यो गुह्यकेभ्यः शैलेभ्यः प-  
न्नगेभ्यः ॥ १७ ॥ दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यइति दिवा । नक्तंचा-  
रिभ्यो भूतेभ्यइति नक्तम् ॥ १८ ॥ धन्वन्तरये धन्वन्तरित-  
र्पणम् ॥ १९ ॥ अग्निः संसृज्य पितृभ्यः स्वधेति शेषं द-  
क्षिणा भूमौ निनयेत् ॥ २० ॥ पाणी प्रक्षाल्याचम्यातिथिं  
भोजयित्वाऽवशिष्टस्याशनीयात् ॥ २१ ॥

इति द्वादशः खण्डः समाप्तः ॥

अथातः षष्ठीकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ शुक्लपक्षस्य पञ्च-

के पश्चिम भाग में (सोमायनमः । सोमपुरुषेभ्यो नमः ) से घरके उत्तर भाग में  
॥ १४ । १५ ॥ (ब्रह्मणेनमः । ब्रह्मपुरुषेभ्यो नमः ) से घर के मध्यभाग में ॥ १६ ॥  
(आपातिकेभ्योनमः) इत्यादि ग्यारह वाक्यों से ग्यारह बलि भी पूर्व में धरे  
( दिवाचारिभ्यो भूतेभ्योनमः ) से दिन में ( नक्तं चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः )  
से रात में एक २ बलि बीच में धरे ( धन्वन्तरये नमः ) से एक बलि धन्व-  
न्तरि की वृत्ति के लिये धरे ॥ १८ । १९ ॥ जितना बलि कर्म के लिये अन्न  
लिया था उस में से शेष बचे अन्न में किंचित् जल मिला के अपसव्य दक्षिणा-  
भिमुख हो घर से दक्षिण में ( पितृभ्यः स्वधा ) कहकर एक बलि भूमि पर  
धरे ॥ २० ॥ फिर यथाविधि अतिथि को भोजन कराके हाथ पांख धोके शेष  
बचे अन्न को पति पत्नी खावें ॥ २१ ॥ पितरों के लिये जो एक बलि है वही  
पितृयज्ञ कहाता है ॥

यह बारहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—सैकड़ों हजारों गौआदि धन की चाहता हुआ गृहस्थ षष्ठी तिथि  
के दिन षष्ठीकृष्ण नामक कर्म को करे उस का व्याख्यान दिखाते हैं ॥ १ ॥  
जिस सहिने में यह कर्म करना इष्ट हो तब शुक्लपक्ष की पञ्चमी को पश्चिम की

म्यां प्रत्यङ्मुखो हविष्यमन्नमश्नीत ॥ २ ॥ अधः शयीत द-  
र्भेषु शालिपलालेषु वा प्राक्शिरा ब्रह्मचारी ॥ ३ ॥ श्वोभू-  
ते उदित आदित्ये स्नानं पानं भोजनमनुलेपनं स्रजो वासां  
सि न प्रत्याचक्षीत ॥ ४ ॥ यावद्दद्यात्तावदश्नीयात् । यद्यदुद-  
द्यात्तत्तदश्नीयादन्यत्रामेध्यपातकिभ्योऽभिनिविष्टवर्जम् ॥ ५ ॥  
अस्तमित आदित्ये पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा । अथैतै-  
र्नामधेयैर्जुहोति-धनदां वसुमीशानां कामदां सर्वकामिनाम् ।  
पुण्यां यशस्विनीं देवीं षष्ठीं शक्रजुषस्वमे ॥ नन्दीभूतिश्च लक्ष्मी-  
श्च आदित्याचयशस्विनी । सुमना वाक्चसिद्धिश्च षष्ठीमेदि-  
शतां धनम् ॥ पुत्रान्पशून्धनं धान्यं बहुश्वाजगवेडकम् । म-  
नसायत्प्रणीतं च तन्मेदिशतुहव्यभुक् ॥ कामदारं जनीं विश्व-  
रूपां षष्ठीमुपवर्त्ततु मे धनम् । सामेकामाकामपत्नीं षष्ठीमे-  
दिशतां धनम् ॥ आकृतिः प्रकृतिर्वचनी धावनिः पद्मचारिणी  
मन्मना भवस्वाहा ॥ गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषि-  
णीम् । ईश्वरीं सत्तर्भूतानां तामिहोपहूये श्रियम् ॥ नानापत्रका-  
सा देवी पुष्टिश्चातिसरस्वती । अरिं देवीं प्रपद्येयमुपवर्त्तय-

और मुख करके हविष्यान्न खावे ॥ २ ॥ खटिया छोड़के नीचे पृथिवी पर दाम  
वा पलाल बिछाके पूर्व को शिर पश्चिम को पग कर उस दिन सोवे ब्रह्मचारी  
रहे ॥ ३ ॥ अगले दिन प्रातःकाल सूर्योदय होने पर स्नान दुग्धपानादि भो-  
जन चन्दन केशरादि का अनुलेपन पुष्पादि की माला और उत्तम नये वस्त्रों  
को धरी होने पर भी प्राप्त हों तो त्याग न करे ॥ ४ ॥ जितना तथा जो २  
भोज्य पदार्थ प्राप्त हो उतने २ उस २ को खावे पर लहसुन आदि अभक्ष्य न  
खावे और जिन का अन्न धर्मशास्त्र में वर्जित लिखा है उसे भी गन्गाजल वा घासे  
अन्न को छोड़कर न खावे ॥ ५ ॥ फिर उस षष्ठी त्रिपि को सूर्य के अस्त होने  
पर दूध में स्थालीपाक पकाकर पवित्रासादनादि आचाराज्यभागपर्यन्त



तुमेधनम् । हिरण्यप्रकारादेविमांवर । आगच्छत्वायुर्यशश्च-  
स्वाहा ॥ अश्वपूर्णारथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम् । श्रियं  
देवीमुपहृये श्रीर्मादेवी जुषताम् ॥ उपयन्तुमां देवगणस्त्या-  
गाश्च तपसासह । प्रादुर्भूतोऽस्मिराष्टेऽस्मिन् श्रीः श्रद्धां द-  
धातुमे ॥ श्रियै स्वाहा ॥ ह्रियै स्वाहा ॥ लक्ष्म्यै स्वाहा ।  
उपलक्ष्म्यै स्वाहा । नन्दायै स्वाहा । हरिद्रायै स्वाहा । षष्ट्यै  
स्वाहा । समृद्ध्यै स्वाहा । जयायै स्वाहा । कामायै स्वा-  
हेति ॥ ६ ॥ जयप्रभृति समानम् ॥ ७ ॥ षण्मासान्प्रयुञ्जीत  
त्रीन्बोभयतः पक्षान् ॥ ८ ॥ शतसाहस्रसंयोग एकवरो वा ॥ ९ ॥  
गौरनड्वांश्च दक्षिणा ॥ १० ॥

इति त्रयोदशः खण्डः समाप्तः ॥

अथातो विनायकान् व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ शालकट-  
ङ्कटश्च कूष्माण्डराजपुत्रश्चोस्मितश्च देवयजनश्चेति ॥ २ ॥

कृत्य पूर्वोक्त रीति से करके (धनदा०) इत्यादि मन्त्रों से स्थालीपाक द्वारा प्रधान  
होम करे ॥ ६ ॥ इस प्रकार वींश २० प्रधानाहुति करके जय होमादि पूर्ववत् करे  
॥ ७ ॥ छः महिने तक छः बार शुक्ल पक्ष की पष्ठी तिथियों में वा तीन महिनों के  
दोनों पाखों में छहो पष्ठी तिथियों में छः बार इस कर्म का अनुष्ठान करे ॥ ८ ॥  
इस कर्म का फल सैकड़ों हजारों लाखों धन सुवर्णमुद्रादि वा गो आदि की  
प्राप्ति अथवा किन्हीं व्रतों में श्रेष्ठ पुत्रोत्पत्ति होना आदि है ॥ ९ ॥ इस में  
एक गौ तथा एक बैल आचार्य को दक्षिणा में देवे ॥ १० ॥

यह तेरहवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भाषार्थः—अब पष्ठीकृत्य कर्म के पश्चात् शालकटङ्कटादि चार प्रकार के  
विनायक नाम भूत प्रेत विशेष कहाते हैं ( विशेषेण भवन्ति प्रापयन्त्यनिष्ठा-  
नीति विनायका भूतविशेषाः ) विशेष कर अच्छे कामों में विघ्न पहुँचाने वा-  
ले चतुर्विध भूत विनायक कहाते हैं । विघ्न शान्ति के लिये जो विनायकों का  
पूजन किया जाता उस कर्म का नाम भी विनायक है ॥ १ । २ ॥ ये शाल क-

एतैरधिगतानामिमानि रूपाणि भवन्ति ॥ ३ ॥ लोष्टं मृ-  
द्वनाति ॥ ४ ॥ तृणानि छिनत्ति ॥ ५ ॥ अङ्गेषु लेखान्  
लिखति ॥ ६ ॥ अपः स्वप्नं पश्यति ॥ ७ ॥ मुण्डान्पश्यति  
॥ ८ ॥ जटिलान्पश्यति ॥ ९ ॥ काषायवाससः पश्यति ॥ १० ॥  
उष्ट्रान्सूकरान् गर्दभान् दिवाकीर्त्यादीनन्यांश्चाप्रयतान्स्व-  
प्नान्पश्यति ॥ ११ ॥ अन्तरिक्षं क्रामति ॥ १२ ॥ अध्वानं  
व्रजन्मन्यते पृष्ठतो मे कश्चिदनुव्रजति ॥ १३ ॥ एतैः खलु  
विनायकैराविष्टा राजपुत्रा लक्षणवन्तो राज्यं न लभन्ते ॥ १४ ॥  
कन्याः पतिकामा लक्षणवत्यो भर्तृन् न लभन्ते ॥ १५ ॥ स्त्रि-  
यः प्रजाकामा लक्षणवत्यः प्रजां न लभन्ते ॥ १६ ॥ स्त्रीणा-

टंकटादि विनायक जिन मनुष्यों को लगजाते हैं उन के चिह्न निम्न लिखित  
हैं ॥ ३ ॥ मही के ढेलों को वह फोड़ता है ॥ ४ ॥ तिनकों को तोड़ता है ॥ ५ ॥  
अपने शरीरांगों पर रेखा खेंचा करता है ॥ ६ ॥ सोते समय विशेष कर ज-  
लाशयों को देखता है ॥ ७ ॥ और सोते में मुँहो हुए सब वाल रखाये हुए औ-  
र गेहआवन्तों वाले साधु संन्यासियों को देखता है ॥ ८ । ९ । १० ॥ तथा  
कंट, सुअर ( मूकर ) गधा, भंगी ( चाण्डालों ) और ऐसे ही अन्य अपवित्र  
पतित नीच प्राणियों को भी वह भून ग्रस्त पुरुष स्वप्न में देखता है ॥ ११ ॥ रा-  
त में सोता हुआ शून्य आकाश में उड़ता है ॥ १२ ॥ मार्ग में चलता हुआ मा-  
नता है कि मेरे पीछे कोई चला आता है ॥ १३ ॥ इत्यादि विनायकों के चिह्न  
हैं और आगे कहे शुभफलों का नाश भी विनायकों का काम है । इन शाल  
कंटकटादि विनायकों से घरे हुए उत्तम आचार्यों वाले भी राजकुमार राज-  
गद्दी को नहीं पाते उन के राज्य लाभ में अनेक बिघ्न हुआ करते हैं ॥ १४ ॥  
उत्तम सती पतिव्रताओं के लक्षकों वाली पतियों की कामना रखने वाली क-  
न्या पतियों को प्राप्त नहीं होतीं ॥ १५ ॥ सती पतिव्रतादि शुभ लक्षणों से यु-  
क्त स्त्रियां सन्तानों को चाहती हुई भी पुत्रादि को प्राप्त नहीं होतीं ॥ १६ ॥

माचारवतीनामपत्यानि म्रियन्ते ॥ १७ ॥ श्रोत्रियोऽध्याप-  
कआचार्यत्वं न प्राप्नोति ॥ १८ ॥ अध्येतृणामध्ययने महा  
विघ्नानि भवन्ति ॥ १९ ॥ वणिजां वणिक्पथो विनश्यति  
॥ २० ॥ कृषिकराणां कृषिरल्पफला भवति ॥ २१ ॥ तेषां  
प्रायश्चित्तम् ॥ २२ ॥ मृगाखरकुलायमृत्तिकारोचनागुग्गुलाः  
॥ २३ ॥ चतुर्भ्यः प्रस्रवणेभ्यश्चतुर्दकुम्भानव्यङ्गानाहरेत् ॥ २४ ॥  
सर्वगन्धसर्वरससर्वौषधीः सर्वरत्नानि चोपकल्प्य प्रतिसर-  
दधिमधुघृतमिति ॥ २५ ॥ एतान्संभारान्संसृज्य-ऋषभचर्मा  
रोह्य-अथैनं स्नपयन्ति-सहस्राक्षंशतधारमृषिभिःपावनंकृ-  
तम् । ताभिष्ट्वाभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तुत्वा ॥ अग्निना-  
दत्ता । इन्द्रेण दत्ताः । सोमेन दत्ता । वरुणेन दत्ता । वायुना दत्ता ।  
विष्णुना दत्ता । बृहस्पतिना दत्ता । विश्वैर्देवैर्दत्ता सर्वैर्देवैर्दत्ता

धर्मानुकूल शुद्ध आचारवाली स्त्रियों के भी छोटे २ सन्तान भरजाते हैं ॥ १७ ॥  
वेदवेदाङ्ग पढ़ा विद्वान् अध्यापक हो जाने पर भी आचार्य पदवी को नहीं  
प्राप्त हो ता ( नचाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्त्तयन्ति ) जिन के बनाये सूत्रा-  
दि फिर लौटे न जाय वे आचार्य कहाते हैं ॥ १८ ॥ विनायकों से आक्रान्त  
विद्यार्थियों के विद्याध्ययन में बड़े २ विघ्न होते हैं ॥ १९ ॥ विनायकों से  
घरे वैश्यों का व्यापार नष्ट भ्रष्ट हो जाता है ॥ २० ॥ विनायकग्रस्त किसानों  
की खेती में बहुत कम पैदायश होने लगती है ॥ २१ ॥ इत्यादि विनायक ज-  
न्य विघ्नों की शान्ति के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ २२ ॥ वह विना-  
यकों से ग्रस्त पुरुष, वन के मृगों ने खोद कर बनाये बिलों की मट्टी, रोली  
और गुग्गुल ॥ २३ ॥ बड़ी नदियों में से निकले चार सोताओं से जो टेंढे बक्र  
बक्रुचे न हों ऐसे चित्र विचित्र चार घड़ों द्वारा (एक २ सोता से एक २ घड़ा ऐसे )  
चार घड़े जल लावे ॥ २४ ॥ केशरकस्तूरी आदि सब सुगन्धित वस्तु, मिट्टादि बहो  
रस, घ्राणी आदि सब उत्तम औषधि और पद्मरागादि सब रत्न, हाथ आदि  
में मङ्गलार्थ बांधने की रङ्गा हुआ सूत ( कलावा ) दही शहद इन सब चीजों

ओषधयआपोवरुणसंमिताः । ताभिष्ट्वाभिषिञ्चामि पाव-  
 मानीःपुनःतुत्वेति सर्वत्रानुषजति ॥ यत्तेकेशेषुदौर्भाग्यं सीम-  
 न्तेयच्चमूर्द्धनि । ललाटेकर्णयोरक्ष्णोरापस्तदुध्नन्तुतेसदा ॥  
 भगंतेवरुणोराजा भगंसूर्योबृहस्पतिः । भगमिन्द्रश्चवायुश्च  
 भगंसप्तर्षयोददुः ॥इति॥२६॥ अधिस्नातस्य निशायां सद्यः  
 पीडितसर्पपतैलमौदुम्बरेण खुवेण मूर्द्धनि चतस्रआहुतीर्जु-  
 होति ॥ ओंशालकटङ्कटाय स्वाहा ॥ कूष्माण्डराजपुत्राय  
 स्वाहा ॥ उस्मितायस्वाहा ॥ देवयजनाय स्वाहेति॥२७॥ अत  
 ऊर्ध्वं ग्रामचतुष्पथे नगरचतुष्पथे निगमचतुष्पथे वा सर्व-  
 तोमुखान्दर्भानास्तीर्य नयेशूर्पे बलिमुपहरति-फलीकृतांस्त-  
 ण्डुलानफलीकृतांस्तण्डुलानामं मांसं पक्वं मांसमामान्मत्स्या-

को एकत्र करके उन चार पहरों में डाल कर मिला देवे । फिर बिनायक नामक  
 भूतग्रस्त पुरुष को ( जो नपुंसक बधिया न किया गया हो ऐसे पुरुष ) बैल के  
 चर्म पर बैठा के उन चारों पहरों से जल ले २ कर कोई उस का आचार्य पु-  
 रोहित विद्वान् ( सहस्रालं शत० ) इत्यादि मन्त्रों से स्नान करावे उस के शिर  
 पर प्रत्येक मन्त्र के साथ जल धारा छोड़ता जावे । ( अग्निनादत्ता । वायु-  
 नादत्ता ) इत्यादि प्रत्येक वाक्यके साथ (ओषधय आयो०) से लेके (पावमानीः  
 पुनस्तुत्वा) पर्यन्त मन्त्र का भाग जोड़ २ के मन्त्र पढ़ २ स्नान करावे ॥२५॥२६॥  
 फिर स्नान कराये उस पुरुष को पीरेदार शुद्ध वस्त्र धारण कराके बैठावे उसी  
 दिन रातको तरकाल पीड़न करके निकाला सरसोंका तेल गूलर वृक्षकी लकड़ी  
 से बने खुवा में ले २ कर (ओंशालकटं०) इत्यादि चार मन्त्रोंसे उसके मूर्द्धापर  
 चार आहुति उस तेलकी छोड़े॥२७॥इसके पश्चात् ग्राम नगर वा निगम नाम बन  
 के चौराहे पर सब चारों दिशा के मार्गों की ओर अग्रभाग कर २ कुश बिछावे  
 उन कुशों पर पश्चिम की अग्रभाग करके एक नया सूप रखे उस पर नैवेद्य  
 घतासा आदि का बलिदान घर के निम्न लिखित मूल फल पर्यन्त वस्तु भेंट

न्पक्वान्मत्स्यानामानपूपान्पक्वानपूपान् पिष्टान्गन्धानपि-  
 ष्टान्गन्धान्गन्धपानं मधुपानं मैरेयपानं सुरापानं मुक्तं मा-  
 ल्यं ग्रथितं माल्यं रक्तं माल्यं शुक्लं माल्यं रक्तपीतशुक्रकृष्ण-  
 नीलहरितचित्रवासांसि माषकल्माषमूलफलमिति ॥२८॥ अथ  
 देवानामावाहनम् । द्विमुखः श्येनो वक्रो यक्षः कलहो भोरु-  
 र्विनायकः कूष्माण्डराजपुत्रो यज्ञाविक्षेपी कुलङ्गापमारी  
 यूपकेशी सूपरक्रोडो हैमवतो जम्भको विरूपाक्षो लोहि-  
 ताक्षो वैश्रवणो महासेनो महादेवो महाराज इति ॥ एते  
 मे देवाः प्रीयन्तां प्रीता मा प्रीणयन्तु । तृप्ता मां तर्पय-  
 न्त्विति ॥ २९ ॥ अधिष्ठितेऽर्धरात्राचार्यो गृहानुपतिष्ठते ।  
 भगवति भगं मे देहि ॥ वर्णवति वर्णं मे देहि । रूपवति  
 रूपं मे देहि । तेजस्विनि तेजो मे देहि । यशस्विनि यशो मे  
 देहि । पुत्रवति पुत्रान्मे देहि । सर्ववति सर्वान्कामान्मे दे-

समर्पितकरे । फटके चावल. भूषी सहित विन फटके चावल. कच्चासांस. पकासांस.  
 कक्षीमखली. पकीमखली. कण्ठे पुष्पा. पके पुष्पा. पिसे हुये केशरादि सुगन्ध. विन  
 पिसे सुगन्ध. सुगन्धघोराजल. मधुपान-महुआका-मैरेय-गुड़ का मद्य और सुरा  
 आटा का मद्य. विन गुंथी माला. लाल और सफेद माला. लाल पीला सफेद काला  
 नीला और हराइन सब रङ्गोंसे चित्रित वस्त्र. ठण्ड. कुलथी. मूली आदि की जड़  
 और नीबू आदि फल इन सबका बलि सूपमें उपहार धरे ॥२८॥ बलि भेंट करके  
 देवताओं का आवाहन करे । अर्थात् द्विमुख आदि वींश देवताओं के संबुद्ध-  
 च्यन्त नाम बोले सब के साथ (एहि) क्रिया लगावे जैसे (द्विमुखएहि ! श्येन  
 एहि) इत्यादि । और (एतेमेदेशः०) सब के आवाहन के अन्त में कहे ॥२९॥  
 फिर ठीक आधीरात होजाने पर आचार्य औराहे से घर पर जाकर गृहाधि-  
 ष्ठात्री अम्बिका देवता का (भगवति भगं मे०) इत्यादि मन्त्रों से उपस्थान करे  
 कोई लोग इसी अर्द्धरात्रि के समय (चत्वरपूजा) चौतरे की पूजा करना भी

हीति ॥३०॥ अत ऊर्ध्वमुदितआदित्ये विमले मुहूर्त्ते सूर्यपूजा  
पूर्वकमर्घ्यदानम् । उपस्थानं च । नमस्ते अस्तुभगवन् शत-  
रश्मेतमोनुद । जहिमेदेवदौर्भाग्यं सौभाग्येनमांसंयोजयस्व  
॥ इति-॥३१॥ अथ ब्राह्मणतर्पणम् ।३२। ऋषभो दक्षिणा ।३३।

इति चतुर्दशः खण्डः समाप्तः ॥

यदि दुःस्वप्नं पश्येद् व्याहृतिभिस्तिलान् हुत्वा दिश  
उपतिष्ठेत्---बोधश्चमाप्रतिबोधश्च पुरस्ताद्गोपायताम् ।  
अस्वप्नश्चमानवद्राणश्च दक्षिणतोगोपायताम् । गोपायमा-  
नंचमारक्षमाणंच पश्चाद्गोपायताम् । जागृविश्चमारुन्ध-  
तीचोत्तरतोगोपायताम् । विष्णुश्चमापृथिवीचनागाश्चा-  
घस्ताद्गोपायताम् । बृहस्पतिश्चमाविश्वेचमेदेवादीश्चो-  
परिष्ठाद्गोपायताम् ।१। एवं यस्मिंश्चोत्पन्नेऽनर्थाऽशङ्केत

इसीकर्म के साथ कहते हैं ॥ ३० ॥ इस के उपरान्त सूर्य का उदय होने पर  
अर्घात् ठीक २ प्रकाश हो जाने पर सूर्यनारायण का मन से ध्यान उपासना  
स्तुति आदिरूप पूजा करके अर्घ्य देवे और (नमस्तेअस्तु०) मन्त्र द्वारा सूर्य-  
देव का उपस्थान करे ॥ ३१ ॥ फूल दूर्वा तथा सरसों सहित जल की अंजुली  
भर कर विनायक के लिये अर्घ्य देकर अम्बिका और गणपति जी का पूजन  
करे । फिर ब्राह्मणों को भोजन करावे और आचार्य को एक बैल दक्षिणा में  
देवे ॥ ३२ । ३३ ॥ यह चौदहवां खण्ड समाप्त हुआ ॥

यदि अनिष्ट सूचक ऊंट गधादि पर चढ़ना आदि दुःस्वप्न दीखे तो जा-  
गने पर आचारादि सामान्य विधि के पश्चात् व्यस्त और समस्त चार व्या-  
हृतियों से घृत मिलाये तिलों का होम करके (बोधश्चमा०) इत्यादि छः मन्त्रों  
से क्रमशः पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर नीचे तथा ऊपर की छः दिशाओं के दे-  
वताओं का उपस्थान सब २ ओर मुख करके करे ॥१॥ इसी प्रकार लाल वस्त्र  
धारण की हुई स्त्री से स्वप्न में समागम आदि हो वा जागते में विना शिर के

१२। व्याहृतिभिस्तिलान् हुत्वा तपः प्रतिपद्येत द्वादशरात्रं  
षड्रात्रं त्रिरात्रमेकरात्रं वा । ३ । यदि समुत्पातं मन्येत  
तद्वा । ४। यदि पर्वसु मार्त्तिकं भिद्येत-पार्थिवमसिपृथिवी-  
हंह स्वयोनिं गच्छस्वाहेत्यप्सु प्रहरेत् । ५ । यद्यर्चा दह्येद्वा  
नश्येद्वा प्रपतेद्वा प्रभज्येद्वा प्रहसेद्वा प्रचलेद्वा । स्थाल्या वा  
स्थालीमासिच्य दक्षिणोत्तरा वा स्थाली भिद्येतोत्तरावोप-  
लाशे नियम्य । द्वारवंशो वा स्फुटेत् । गौर्वा गां धयेत् ।  
स्त्री वा स्त्रियमाहन्यात् । कर्त्तृसंसर्गे हलसंसर्गे मुसलसं-  
सर्गे मुसलप्रपतने मुसलं वाऽवशीर्येतान्यस्मिंश्चादुभुत-  
एताभिर्जुहुयात् । स्वस्तिनइन्द्रोवृद्धश्रवाःस्वस्तिनःपूषा-

पुरुष की छाया दीख पड़ना आदि अनिष्ट सूचक निमित्तों की श्रद्धा हो तो ॥२॥  
घी मिले तिलों से व्याहृतियों द्वारा होम करके वारह, छः, तीन वा एक दिन  
अनिष्ट सूचना के अनुसार ( अनिष्ट शकुन का न्यूनाधिक बल देख कर ) तप  
करने में लग जावे ॥ ३ ॥ यदि कोई सम्यक् बड़ा उत्पात अनिष्ट माने जैसे  
भयंकर वायु चले उस में कंकड़ी वर्षे वृक्षोंमें से रुधिर वर्षे इत्यादि हो तो  
पूर्वाक्त तिल द्वारा व्याहृति होम दिग्देवोपस्थान सहित करे अथवा वारह  
दिन आदि के तप के साथ तिल होम करे ॥ ४ ॥ यदि अमावास्यादि  
पर्व दिनों में सही की भीत आदि अकारण फट जावे तो फूटे घड़े का  
खम्पर आदि ( पार्थिवममि० ) मन्त्र से जल में फेंक देवे ॥ ५ ॥ अथवा  
यदि शिव विष्णु आदि देवताओं की सुवर्ण चांदी पीतल पत्थर का-  
ष्ठादि की बनी प्रतिमा जलने लगे वा स्वयं लुप्त होजावे वा फूट जावे वा  
अपने आसन से पृथक् गिर जावे वा बिना ही कारण टुकड़े २ हो जावे वा  
चेतन मनुष्य के तुल्य हंपने लगे वा जहां घरी हो वहां से अन्यत्र चली जावे  
एक बटलोईका जल दूसरीमें चला जावे और फिर सभीमें आजावे और उस दो  
नों में से दहिनी वा बायीं बटलोई आदि पात्र स्वयं भिड़कर टूट जावे अथ-  
वा बायीं बटलोई एक ही बिना कारण फूट जावे । द्वारकी खम्भ वा सर्दल

विश्ववेदाः । स्वस्तिनस्ताक्षर्योअरिष्टनेमिःस्वस्तिनोबृहस्प-  
तिर्दधातु ॥ स्वस्तिनोमिमीतामश्विनाभगः स्वस्तिदेव्य-  
दितिरनर्वणः । स्वस्तिपूषाअसुरोदधातुनः स्वस्तिद्यावाप-  
थिवीसुचेतुना ॥ स्वस्तयेवायुमुपब्रवामहै सोमंस्वस्तिभुवन-  
स्ययस्पतिः । बृहस्पतिसंवंगणंस्वस्तये स्वस्तयआदित्यासो-  
भवतुनः ॥ विश्वेदेवानोअद्यास्वस्तये वैश्वानरोवसुरग्निः-  
स्वस्तये । देवाअवन्त्वृभवःस्वस्तये स्वस्तिनोरुद्रःपात्वंहसः ।  
स्वस्तिनःपथ्यासुधन्वसु स्वस्त्यप्सुव्रजनेस्वर्वतः । स्वस्ति-  
नःपथ्याऋतेषुयोनिषु स्वस्तिरायेमरुतोदधातुनः ॥ त्रातार  
मिन्द्रं-मातेअस्यां । विनइन्द्र । मृगोनभीमः । तऽशंयोरा-  
वृणीमहइतिदशाहुतयः । ६ । जयप्रभृति समानम् । ७ ।

इति पञ्चदशः खण्डः समाप्तः ॥

सर्पेभ्यो विभ्यत् श्रावण्यां तूष्णीं भौममेककपालं श्र-  
पयित्वाक्षतसकून् पिष्ट्वा स्वकृतइरिणेदर्भानास्तीर्थ्याच्युता-

विना कारण टूट जाये अथवा उस में अङ्कुर निकल जावे । अथवा गी की  
गी चोंखे (गी का दूध गी पीवे) वा कोई स्त्री अन्य स्त्री को पीटे सारे वा पर-  
स्पर स्त्रियां बाहु युद्ध करें । खेतादिकाटने के समय दो दात्र (हंसिया वा दरांत)  
अकारण भिड़जावे कई इल खेत में चलते हों वे अकस्मात् भिड़ जावे । अ-  
थवा घानादि कूटने में दो मूसल भिड़जावे वा दात्रादि भिड़ के अकस्मात्  
टूट जावे । ऐसे ही अन्य कोई राहुदर्शनादि आश्चर्यजनक शकुन होने पर  
आचारादि सामान्यविधि के पश्चात् ( स्वस्तिमन्त्रो० ) इत्यादि पांच और  
( आसुरमन्त्रं० ) इत्यादि पांच इन दश मन्त्रों से घी की दश प्रधानाहुति  
करे ॥ ६ ॥ पश्चात् जयहोमादि यहां भी पूर्ववत् जानो ॥ ७ ॥ यह पन्द्रहवां  
खण्ड समाप्त हुआ ॥

भाषार्थः—सांपों से डराता हुआ मनुष्य आवली पीतमासी के दिन भूमि-  
पर तूष्णीं विना मन्त्र पढ़े एक कपालका पुरोडाश पका कर ( परन्तु होम प-



य ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति जुहोति ।१। समीची नामासीति  
 पर्यायरूपतिष्ठते प्रतिदिशं द्वाभ्यां मध्ये ॥२॥ अक्षतसक्तू-  
 नां सर्पबलिं हरति । ईशानायेत्येके । सर्पोसि सर्पाणामधिप-  
 तिस्त्वयि सर्वे सर्पाः । बलिहारोऽस्तु सर्पाणां माक्षिषुर्मा रीरि-  
 षुर्मा हिंसिषुर्मा दाड्क्षुः सर्पाः ॥ मा नो अग्ने विसृजो अ-  
 घायाविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै । मा दत्त्वते दशते मादते नो  
 मा रोपते सहसावन्परादाः ॥ सर्पोसि सर्पाणामधिपतिरन्येन  
 मनुष्यांस्त्रायसेऽपूपेन सर्पान् । त्वयि सन्तं मयि सन्तं मा-  
 क्षिषुर्मा रीरिषुर्मा हिंसिषुर्मा दाड्क्षुः सर्पाः ॥ नमो अस्तु  
 सर्पेभ्य इति तिसृभिश्च ।३। ध्रुवामुं ते परिददामीति सर्वा-  
 मात्यान्नामग्राहमात्मानं च ॥४॥ एतेन धर्मेण चतुरो मा-

र्यस्त श्रौत में कही पुरोडाश की कार्यवाही यहां न की जाय) स्वयं बनाये ऊ-  
 पर भूमिस्थ वेद्याकारस्थबिहल पर दर्भ बिहल के उस पर अग्निस्थापन प्रसवलनादि  
 आचम्यभागान्त करके प्रधान होमके स्थान में (अच्युताय०) इत्यादि मन्त्र पढ़के  
 पुरोडाश का होम कर देवे । और तिन कुटे भूसी सहित भुंजे जी पीस कर ॥१॥  
 ( समीचीनामासि० ) इन पर्यायवाची मन्त्रों से सब पूर्वादि दिशाओं में मुख  
 कर २ उपस्थान करे और दो मन्त्रों की पढ़ २ के बीच में ऊपर नीचे की दि-  
 शा का उपस्थान करे ॥ २ ॥ फिर उन पीसे हुये सप्तुओं की छः बलि  
 ( सर्पोऽसि० ) इत्यादि तीन और ( नमोऽग्नस्तुसर्पे० ) इत्यादि तीन मन्त्रों से  
 देवे । जिस जगह बलि देवे वहां पहिले जलसेवन करके ऊपर से बलि  
 धर के फिर जल सेवन करे । कोई लोग सूप में बलि धरना कहते हैं उन के  
 मतानुसार सूप में बलियों के नीचे ऊपर जल सेवन होना चाहिये ॥ ३ ॥  
 फिर ( ध्रुव ! यज्ञदत्तं ते परिददामि ) इत्यादि प्रकार अपने सब की पुत्रादि  
 की देवता के आधीन रखार्थ समर्पित करे और अन्त में यज्ञदत्त नाम के  
 स्थान में अपना नाम लेकर अपने की भी रखार्थ देवता के आधीन करे ॥४॥

सान्सर्पबलिं हृत्वा विरमति । १॥ तूष्णीमपि शूद्रा प्रक्षालित  
पाणिः । ६॥ इति षोडशः खण्डः समाप्तः ॥

अयूधिके भयार्त्ते कपोते गृहान्प्रविष्टे तस्याग्नौ पदं  
दृश्येत दधनि सक्तुषु घृते वा । देवाः कपोतइति प्रत्यृचं ज-  
पेज्जुहुयाद्वा । देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निऋत्या  
इदमाजगाम । तस्मा अर्चाम कृण्वाम निष्कृतिं शंनो अस्तु  
द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा  
देवा शकुनो गृहेषु । अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परिहेतिः  
पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मान्नाष्ट्रगं  
पदं कृणुते अग्निधाने । शंनोगोभ्यश्चपुरुषेभ्यश्चास्तु मानो  
हिंसीदिह देवाः कपोतः ॥ यदुलूको वदति मोघमेतद्यत्क-  
पोतः पदमग्नौ कृणोति । यस्य दूतः प्रहितएषएतत्तस्मै यमाय  
नमोअस्तु मृत्यवे ॥ ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः  
परिगां नयध्वम् । संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हि त्वा  
नऊर्जं प्रपतात्पतिष्ठः ॥ इति । १ । पदमादाय दक्षिणा प्र-

इसी प्रकार भादों द्वार कार्तिक और मार्गशीर्ष अगहन इन चार महिने तक  
मिथ्य सर्प बलि देकर विराम करे ॥५॥ यदि किसी ब्राह्मणादि द्विज के यहां  
शूद्रा स्त्री हो तो वह हाथ पांख धोके बिना सन्त्र तूष्णीं पूर्वोक्त सर्पबलि कर्म  
करे ॥६॥

यह सोलहवां खण्ड पूरा हुआ ॥

भाषार्थः—जो अपने भुख में से पृथक् बिकूरि गया हो श्येनादि हिंसक  
पक्षियों से डर गया हो ऐसा कबूतर अकस्मात् घर में आजावे उस कबूतर के  
पग का चिह्न अग्निशाला में दही या दूध दही सठा के पात्र में सत्तुओं में वा  
घी में इत्यादि में दीख पड़े तो (देवाः कपोतः) इत्यादि पांच ऋचाओं का जप  
करे वा सामान्यविधि के सहित इन पांच सन्त्रों से प्रधान होम घृत का करे ॥१॥

त्यग्हरन्ति । २ । सहाधिकरणैर्यन्ति । ३ । स्वकृतइरिणे पदं  
न्यस्याध्यधि । ४ । धाम्नोधाम्नइति तिसृभिः परोगोष्ठं मार्ज-  
यन्ते । ५ । अनपेक्षमाणाः प्रत्यायन्ति । ६ । अग्न आयूंषिपवसे ।  
अग्निर्ऋषिः । अग्ने पवस्वेति प्रत्येत्य जपन्ति ॥ ७ ॥

इति सप्तदशः खण्डः समाप्तः ॥

षाडाहुतं प्रतिपदि प्रतिपदि पुत्रकामः । १ । पयसि स्थालीपा  
कं श्रपयित्वा तस्य जुहोति । ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षो-  
हा बोधतामितः । अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥  
यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये । अग्निष्टं ब्रह्मणो  
सह निष्क्रव्यादमनीनश्च । यस्ते हन्ति पतयन्तं निपत्स्नुं

जिस वस्तु में कबूतर के पग का चिह्न पड़ा हो उस चिह्नित वस्तु को लेकर  
नैऋत दक्षिण दिशा में ( पु० २ खं० १ सू० ८ आदि में कहे अनुसार ) लेजावे  
॥ २ ॥ जिस वस्तु में कबूतर का पग पड़ा हो उस २ को वर्तन सहित लेकर  
नैऋत दक्षिण दिशास्थ जंगल में जावे ॥ ३ ॥ वहां स्वाभाविक ऊपर भूमि में  
ऊपर ऊपर पग के चिह्न युक्त वस्तु की तलाश अन्य वर्तनादि धर देवे ॥ ४ ॥  
फिर ( धाम्नोधाम्न० ) इत्यादि तीन श्रवाओं से द्वेय करने योग्य शत्रु के  
स्थान का मार्जन करे अर्थात् शत्रु के घर के उद्देश से मार्जन करे ॥ ५ ॥ फिर  
पीछे की न देखते हुए वहां से घर का लौट आवे ॥ ६ ॥ तदनन्तर घर में आकर  
अध्वर्यु ब्रह्मा और यजमान तीनों ( अग्न्यायूंषि० ) इत्यादि तीन श्रवाओं  
का जप करे ॥ ७ ॥ यह सत्रहवां खंड पूरा हुआ ॥

भाषार्थः—जिस के पुत्र न होते हों और उस को पुत्र की विशेष चाहना हो  
तो प्रत्येक सहिने की दोनों प्रतिपदा के दिन निम्न रीति से षाडाहुत कर्म करे ॥ १ ॥  
पूर्वाक्त प्रकार दूध में स्थालीपाक पका कर और ठीक २ सामान्य विधि आ-  
चाराद्यभाग पर्यन्त करके ( ब्रह्मणाग्निः० ) इत्यादि छः श्रवाओं से स्था-  
लीपाक की छः आहुति एक उपस्तार दो अवदान और एक अभिचारण कर

यः सरीसृपम् । जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ।  
 यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते  
 जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा  
 जारोभूत्वानिपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयाम-  
 सि ॥ ये ते धनन्त्यप्सरसो गन्धर्वा गोष्ठाश्च ये । क्रव्यादं सुरदेविनां  
 तमितो नाशयामसि ॥ यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दंपती शये ।  
 योनिं यो अन्तरारेदि तमितो नाशयामसि ॥ अभिन्नाण्डा  
 वृद्धगर्भा अरिष्टा जीवसूचरी । विजायतां प्रजायतामियं  
 भवतु तोकिनो ॥ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिं-  
 शतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ गर्भं  
 धेहि सिनीवलि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनौ  
 देवावायतां पुंकरस्रजा ॥ हिरण्ययी अरणीयं निर्मन्थतो  
 अश्विना । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे ॥ परं  
 मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् । चक्षु-  
 ष्मते शण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरा-  
 न् ॥ इति द्वादश गर्भवेदिन्यः । षडाद्याः स्थालीपाकस्य ।  
 षडुत्तराआज्यस्य । २ । जयप्रभृति समानम् । ३ ।

नैजमेषं स्थालीपाकं श्रपयित्वा यथा षाडाहुतम् । नैजमेष  
 परापत सुपुत्रः पुनरापत । अस्यै मे पुत्रकामायै पुनराधेहि

चतुरवत्त वा पञ्चावत्त की स्त्रुच् द्वारा करे और ( यस्त ऊरू ) इत्यादि छः  
 आहुति घी से करे ये बारह प्रधान आहुति गर्भ को प्राप्त कराने वाली हैं ॥ २।३॥  
 और जय होमादि सामान्य कृत्य यहां भी पूर्ववत् करे ॥ ३ ॥  
 यदि पूर्वोक्त काम को एक वर्ष तक प्रत्येक प्रतिपदा के दिन करने पर भी

यः पुमान् ॥ यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमाधेहि । एवं तं  
गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणा-  
स्यां नार्यां गवीन्याम् । पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि  
सूतवे ॥ ४ ॥ इत्यष्टादशः खण्डः समाप्तः ॥

पाकयज्ञान्समासाद्य एकाज्यानेकवर्हिषः ।

एकं स्विष्टकृतं कुर्यान्नाना सत्यपि दैवते ॥

नाना सत्यपि दैवतइति ॥ इति मैत्रायणीयमानवगृ-

ह्यसूत्रे द्वितीयः पुरुषाख्यो भागः समाप्तः ॥ २ ॥ इति

मानवगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

पुत्र उत्पन्न न हो तो दूध या जल में नैजमेष देवता के उद्देश से स्थाली पाक  
पकाकर सामान्य विधि के साथ प्रत्येक प्रतिपदा के दिन षाड़ाहुत कर्म के  
तुल्य ( नैजमेषपरा० ) इत्यादि तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की तीन आहुति  
दिया करे ॥ ४ ॥ यह अठारहवां खण्ड पूरा हुआ—

जिन पाक यज्ञों में प्रधान देवता अनेक हों उनमें भी एक ही घी रक्खे  
एक पर्त कुश विछावे और सब की एक ही स्विष्टकृत आहुति करे । किन्तु  
कई देवताओं के लिये इन कामों को पृथक् न करे । अन्तिमवाक्य को ग्रन्थ स-  
माप्ति दिखाने के लिये द्विवचन किया है । यह परिभाषा सूत्र सर्वत्र के लिये है ।

इति श्री भीमसेनशर्मनिमितायां मानवगृह्यसूत्रस्य नागरीभाषावृत्तिः

द्वितीयः पुरुषः समाप्तः समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥



## अथसनातनधर्मपुस्तकालयस्यसूचीपत्रम् ॥

|                                                                |                                                |
|----------------------------------------------------------------|------------------------------------------------|
| १-वाचिनीय अष्टाध्यायीसंस्कृतभाषा<br>वृत्ति सोदाहरण २)          | २४ सत्योपदेश भजन ॥                             |
| २-ब्राह्मणसर्वस्वभाषिकपत्र १ भाग १४)                           | २५ शुक्रयजुर्वेदी सूत्री ६)                    |
| ३-ब्राह्मण. भाषिकपत्र २ भाग १४)                                | २६ पारस्कर गृह्य सूत्र हरिहर<br>भाष्य सहित १४) |
| ४-गणरत्नमहोदधि (व्याकरण गणपाठ-<br>रक्षोक्तबद्धव्याख्या सहित १) | २७ पद्यतन्त्र भाषाटीका २)                      |
| ५ दर्शपौर्णमासपद्धति भाषाटीका ४)                               | २८ विनय पत्रिका तुलसीदासरक्त १०)               |
| ६ इतिहास पद्धति भा० टी० ४)                                     | २९ सामुद्रिक भाषाटीका १)                       |
| ७ स्मार्तकर्म पद्धति भाषाटीका १)                               | ३० जातकालंकारज्योतिषभाषाटीका १०)               |
| ८ उपनयन पद्धति भाषाटीका १)                                     | ३१ कर्मविपाक भाषाटीका ११)                      |
| ९ गर्भाधानादि नवसंस्कार पद्धति<br>भाषाटीका ३)                  | ३२ सारस्वत मूल ॥                               |
| १० त्रिकाल सन्ध्या भाषाटीका -)                                 | ३३ दुर्गासप्तशतीपाकिटबुक (ताबीज) ६)            |
| ११ कातीयतर्पण भाषाटीका -)                                      | ३४ भगवद्गीता (ताबीज) २॥                        |
| १२ शिवस्तोत्र भा० टी० ॥                                        | ३५ कहावत कवचपत्र म ॥                           |
| १३ हरिस्तोत्र भा० टी० ॥                                        | ३६ मन्दालसाख्यान भाषा १०)                      |
| १४ मर्तृ हरितीनों शतक भा० टीका ॥                               | ३७ श्री सुबोधिनी ११)                           |
| १५ मानवगृह्यसूत्र भा० टी० ॥                                    | ३८ भक्तमालनाभाकीकृत सटीक ११)                   |
| १६ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र १)                                      | ३९ प्रभाती संग्रह २)                           |
| १७ दयानन्दतिमिर भास्कर ४)                                      | ४० तुलसीदासरक्त रामायण गुटका १)                |
| १८ सरयार्थप्रकाश समीक्षा २)                                    | ४१ " " रत्न कागज ॥                             |
| ( स० प्र० की १५० प्रशुद्धि )                                   | ४२ शिवमहिम्नस्तोत्र मूल छोटा -)                |
| १९ विधवा विवाह निराकरण द्विती-<br>य भाग -)                     | ४३ चर्यटपञ्जरीस्तोत्र ॥                        |
| २० मुक्ति प्रकाश भाषा ( दयानन्दीय-<br>क सङ्ग्रह ) -)           | ४४ शिव सहस्र नाम मूल २)                        |
| २१ दयानन्द लीला भाषा में ॥                                     | ४५ विष्णुसहस्रनामगुटकासूत्र २॥                 |
| २२ भक्तमयी ॥                                                   | ४६ कृष्णस्तोत्ररत्नाकर गुटका ॥                 |
| २३ दयानन्द वृद्ध ॥                                             | ४७ दुर्गासप्तशती छोटा गुटका १०)                |
|                                                                | ४८ दुर्गासप्तशती भा० टी० ॥                     |
|                                                                | ४९ नाथविनिर्दान (वैद्यक) भा० टी० १॥            |
|                                                                | ५० अमरकोश मूल छोटा १)                          |
|                                                                | ५१ अमरकोश भाषाटीका १॥                          |
|                                                                | ५२ अभिमन्युनाटक ॥                              |

सूचीपत्र II

|                              |       |                                   |       |
|------------------------------|-------|-----------------------------------|-------|
| ५३ द्रौपदी वन हरसनाटक        | II)   | ७२ भातुरुपावलीलघुपातुपाठसहित      | 3)    |
| ५४ प्रलहाद नाटक              | I=)   | ७३ आर्यसमालकायादमनवीनरूपाहो       | 1)    |
| ५५ मोरध्वज नाटक              | II)   | ७४ सिद्धान्त कौमुदी पंचपाठी स० २) |       |
| ५६ रम्भाशुक संवाद            | =)    | ७५ सिद्धान्त कौमुदीसत्यवोधिनी टी- |       |
| ५७ गङ्गालहरी भा० टी०         | I)    | का सहित                           | ५)    |
| ५८ रघुवंशमञ्जिकृत टीका सहित  | १I)   | ७६ लघुकौमुदीटिप्पणीसहितकोटी I)    |       |
| ५९ भोजप्रबन्धमूल             | I=)   | ७७ साध्यन्दिनीयाह्निक             | १II)  |
| ६० धनुर्वेद संहिता भा० टी०   | II=)  | ७८ पार्वणश्राद्धपद्धति भा० टी०    | I)    |
| ६१ होडाचक्र (ज्योतिष)        | -)    | ७९ दशकर्म पद्धति                  | I=)   |
| ६२ जैमिनीसूत्रज्योतिषसटीक ४  |       | ८० हरिश्चन्द्रोपाख्यान भा० टी०    | I=)   |
| अध्याय                       | I=)   | ८१ सत्यनारायण कथा                 | =)    |
| ६३ शीघ्रबोध भा० टी०          | I-)   | ८२ मनुस्मृति भाषाटीका             | २)    |
| ६४ लघुपाराशरी भा० टी०        | =)    | ८३ वाल्मिकीयरामायण सटीक           | ८)    |
| ६५ वाल्मिकीय ज्योतिष         | =)    | ८४ श्रीमद्भागवतसटीकचूर्णिकासहित   | ८)    |
| ६६ ज्योतिषसार भा० टी०        | १)    | ८५ श्रीमद्भागवत गुटका             | १III) |
| ६७ वर्षदीपकपत्रीमार्ग        | I)    | ८५ मार्कण्डेयपुराण भा० टी०        | ६)    |
| ६८ मुहूर्त चिन्तामणि भा० टी० | १)    | ८६ जैमिनीयाश्वमेधमूल              | २)    |
| ६९ तर्क संग्रह मूल           | -)    | ८७ गरुडपुराण भा० टी० प्रेतकल्प    | १)    |
| ७० समासचक्र                  | -)    |                                   |       |
| ७१ शब्दरूपावली               | -)II) |                                   |       |

मिलने का पता:-ब्रह्मदेव शर्मा मैनेजर  
सनातन धर्म पुस्तकालय इटावा



